History of Ancient India Upto 1000 A.D

DHIS101

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

HISTORY OF ANCIENT INDIA

Copyright © 2012 Laxmi Publications (P) Ltd.
All rights reserved

Produced & Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

DLP-7762-143-PRACHIN BHARAT KA ITIHAAS
Typeset at : Excellent Graphics, Delhi

C—4706/012/02
Printed at : Sares Graphics (P) Ltd., Delhi

(SYLLABUS)
(History of Ancient India)

उद्देश्य

- प्राचीन भारतीय सभ्यता में सिंधु और वैदिक सभ्यता को समझ प्रदान करने में।
- प्राचीन काल में भारतीय धर्म और समाज में विकास एवं ऐतिहासिक विकास को समझने में।
- प्राचीन भारत में राजनीतिक विकास, साम्राज्यवाद और राजकीय राजनीति समझने में।
- विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं में छात्रों को मदद करने में।

(Objectives)

- To provide an understanding to Ancient Indian Civilization such as Indus and Vedic.
- To understand the historical developments and changes in the Indian religion and society during Ancient times.
- To understand the political developments, imperialism and monarchial polity of ancient India.
- To help the students to prepare for various competitive exams.

Sr. No.	Topics
1.	**Evidences of Ancient Indian History**: Literature, archaeology, Epigraphy, Numismatics, foreign travellers account. **Physical Features:** Physical features of India and their influence on the Indian history
2.	**The Pre-Historic Cultures:** Palaeolithic, Mesolithic, Neolithic, Chalcolithic.
3.	**Indus Valley Civilization:** Extent, Chronology, Origin, Society, Religion and Causes of decline.
4.	**The Vedic Age**: Original homelands, The Aryans, Political, Social, Religious and Economic Life, Difference and similarities between Indus Civilization and Vedic culture.
5.	**The Later-Vedic Age:** Political, Social, Religious and Economic Life.
6.	**The Mauryas**: ChandraGupta, Bindusara, Ashoka (Ashoka dhamm: its nature and propagation), Successors of Ashoka
7.	**The Golden period:** Guptas and their successors(to c.750 A.D.):Changes in political organization of empire, Economy and Society, Literature and Sciences, Arts. Samuragupta 'The Indian Napoleon': Extent of the empire, battles and Administration, Disintegration of the Gupta Empire.
8.	**Religious movements:** Jainism and Buddhism, Vardhamana Mahavira's and Gautama Buddha's contribution. Causes of decline of Jainism, Factors for the spread of Buddhism, Stupa architecture, Buddhist customs and manners.
9.	**Bhagvatism, Shaivism and Brahmanism:** Main Characteristics, important leaders, extent in India.
10.	**State Formation and Urbanization**: Urbanization, Society, political history, Mahajanapadas, Monarchies and Republics, Administration in Monarchies, Maps:- Important Historical places of Indus Valley Civilization, Ashoka's Empire, Empire of Samundragupta, Extent of Gupta's Empire

(Units) **(CONTENTS)** (Page No.)

1.	प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत (Evidences of Ancient Indian History)	1
2.	प्रागैतिहासिक काल (पाषाण काल) [The Pre-Historic Age (Stone Age)]	20
3.	सिन्धु घाटी की सभ्यता (3250 ई॰ पू॰ से 1750 ई॰ पू॰ तक) (Indus Valley Civilization)	33
4.	वैदिक काल (The Vedic Age)	60
5.	उत्तरवैदिक काल (The Later-Vedic Age)	79
6.	मौर्यकाल : चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक (Mauryas Period : Chandragupta, Bindusara, Ashoka)	96
7.	अशोक : सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक सुधार (The Ashoka : Social, Economic and Religious Reforms)	143
8.	गुप्त साम्राज्य (The Gupta's Empire)	155
9.	गुप्तकालीन भारत (India in Gupta's Age)	190
10.	धार्मिक आन्दोलन (Religious Movement)	212
11.	जैन धर्म और बौद्ध धर्म (Jainism and Buddhism)	218
12.	भागवतवाद, शैववाद एवं ब्राह्मणवाद (Bhagvatism, Shaivism and Brahmanism)	251
13.	राज्यों का संगठन एवं नगरीकरण (State Formation and Urbanization)	272
14.	मानचित्र (Maps)	307

नोट

इकाई–1: प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोत (Evidences of Ancient Indian History)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
1.1 प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोत (Sources of Ancient Indian History)
1.2 भौगोलिक परिवेश (Geographical Setting)
1.3 भारतीय इतिहास पर भूगोल का प्रभाव (Effects of Physical Features on Indian History)
1.4 प्राचीन जातीय-भाषायी समूह (Ancient Ethnos-Linguistic Groups)
1.5 सारांश (Summary)
1.6 शब्दकोश (Keywords)
1.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
1.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोतों को जानने में।
- भारतीय इतिहास के भौगोलिक परिवेश को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्रत्येक देश का इतिहास उसकी भावी सन्तति के लिए मार्गदर्शक धरोहर होता है। अपने पूर्वजों के महान कार्यों से भावी पीढ़ियां प्रेरणा प्राप्त करती हैं। उनकी भूलों का विश्लेषण करके भावी मार्ग निर्धारित करती हैं तथा गौरवशाली इतिहास की पुन: प्रतिष्ठा का प्रयास होता है। प्राचीन इतिहास से कटकर कोई समाज अपनी सांस्कृतिक धरोहर को नष्ट होने से नहीं बचा सकता। अत: प्रत्येक समाज अपने अतीत से जुड़ा रहना चाहता है और उक्त अतीत के आधार पर महान भविष्य के निर्माण की योजना बनाता है। यही कारण है कि सभी देशों में प्राचीन इतिहास के अध्ययन पर बहुत बल दिया जाता है।

जब हम प्राचीन भारत के इतिहास के महत्त्व पर विचार करते हैं तब हमारे सामने उस काल की अनेक श्रेष्ठ विशेषताएं उजागर हो जाती हैं जो किसी दूसरे देश की प्राचीन संस्कृति से हमें प्राप्त नहीं होतीं। **सर्वप्रथम**, भारत संसार का एकमात्र ऐसा प्राचीन देश है जिसने मानव को सबसे पहले सभ्य व सुसंस्कृत बनाया। जिस समय वर्तमान संसार के अत्यन्त सभ्य व प्रगत देशों के लोग जंगलों में रहकर पशुओं का सा जीवन व्यतीत कर रहे थे, उस समय

नोट

तक भारत ने अत्यन्त उन्नत संस्कृति का विकास कर लिया था। **दूसरे,** भारत ही संसार का एकमात्र ऐसा देश है जिसकी सांस्कृतिक जीवनधारा अत्यन्त प्राचीन काल से निरन्तर बहती चली आई है। संसार के अनेक देशों में जिन विशिष्ट प्राचीन संस्कृतियों का विकास हुआ वे सब काल के प्रवाह में विलीन हो गईं और उनका अस्तित्व समाप्त हो गया। आज वे इतिहास की वस्तु बन कर रह गई हैं। उर्दू के प्रसिद्ध कवि मोहम्मद इकबाल ने कहा भी है कि 'यूनान, मिस्र, रोमां सब मिट गए जहां से', कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।' अर्थात यूनान, मिस्र व रोम आदि देशों में जिन महान प्राचीन संस्कृतियों का विकास हुआ वे संस्कृतियां नष्ट हो गईं, उनका अस्तित्व समाप्त हो गया और उनके स्थान पर ऐसी नई संस्कृतियां स्थापित हो गईं जिनका प्राचीन संस्कृतियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु संसार में मात्र भारत ही ऐसा देश है जिसकी प्राचीन संस्कृति नष्ट नहीं हुई और वह आज भी अपने श्रेष्ठ मूल्यों के साथ जीवित है। इकबाल महोदय का कहना है कि भारत की हस्ती व पहचान नष्ट न हो पाने के मूल में अवश्य कुछ श्रेष्ठ तत्व विद्यमान हैं। इतिहास के विद्यार्थी के लिए इन श्रेष्ठ मूल्यों व तत्वों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है अन्यथा भारत का भारत के रूप में अध्ययन नहीं किया जा सकता और यह अध्ययन प्राचीन भारत के इतिहास से ही सम्भव है। **तीसरे,** यह केवल प्राचीन भारतीय संस्कृति की ही विशेषता है कि यह मनुष्य को भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सुख देने की क्षमता रखती है अर्थात वह मनुष्य का सर्वांगीण विकास करने की क्षमता रखती है। इसी की छत्रछाया में भारत एक ओर 'सोने की चिड़िया' कहलाया और दूसरे ओर इसे विश्व गुरू का पद प्राप्त हुआ। **चौथे,** भारत की प्राचीन संस्कृति विश्व में शांति स्थापित करने की क्षमता रखती है क्योंकि इसी ने सम्पूर्ण विश्व समाज को एक परिवार के रूप में देखा है और भारतवासियों को इस वृहद परिवार की सुख-समृद्धि के विकास के लिए प्रयास करने की प्रेरणा दी है। इस कारण यहाँ के लोगों ने विश्व के लोगों को श्रेष्ठ बनाने का महान उपक्रम किया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. संसार का एकमात्र ऐसा प्राचीन देश जिसने मानव को सबसे पहले सभ्य व सुसंस्कृत बनाया .....
2. यूनान, मिस्र रोमां सब मिट गए जहां से, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी, ... का कथन है
3. ..... को इतिहास का पिता कहा जाता है।

उपरोक्त गुणों से युक्त भारत की महान प्राचीन संस्कृति के संदर्भ में हम प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन के महत्त्व का आकलन कर सकते हैं। इस अध्ययन के अभाव में भारत का विद्यार्थी यह जान ही नहीं सकता कि उसे किस महान संस्कृति की विरासत प्राप्त है। इस अध्ययन से विद्यार्थी में भारत की गौरवशाली श्रेष्ठ संस्कृति व परम्परा के प्रति स्वाभिमान जागृत होगा। अंग्रेजों द्वारा भारत के इतिहास को योजनापूर्वक तोड़-मरोड़ कर इस प्रकार रखा गया है जिससे भारतीय विद्यार्थी में हीनता के भाव उत्पन्न हों और उसका पौरुष नष्ट हो जाए। भारत के गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास के अध्ययन से भारतीय विद्यार्थी में महान कार्य करने की प्रेरणा की जा सकती है और भारत के प्राचीन गौरव को पुर्नप्रतिष्ठित करने की आकांक्षा जगाई जा सकती है।

1.1 प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोत (The Sources of Ancient Indian History)

भारत एक प्राचीन देश है। अनेक **भारतीय विद्वानों के अनुसार** भारत की सभ्यता संसार की प्राचीनतम सभ्यता है। भारतवासियों ने जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया और लेखन-कला में पारंगत होने के कारण उन्होंने काव्य, दर्शन, कला, विज्ञान व अन्य विषयों पर श्रेष्ठ ग्रंथों की रचना की। **विदेशी विद्वानों के मतानुसार** भी भारतीय सभ्यता मिस्र, मेसोपोटामिया व चीन आदि प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास से अधिक प्राचीन है। भारत जैसे प्राचीन सभ्य देश में विभिन्न विषयों के प्रखर विद्वानों के रहते हुए भी यहाँ का क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास नहीं लिखा गया, यह

नोट

सामान्यतया आश्चर्यचकित करने वाली बात ज्ञात होती है। कुछ विदेशी इतिहासकारों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि प्राचीन भारतवासियों में **ऐतिहासिक चेतना** (Historical Sense) का अभाव था। इससे यह निष्कर्ष निकालना भी सर्वथा अनुचित है कि प्राचीन भारत में ऐतिहासिक साहित्य का सृजन इस कारण नहीं हुआ कि उस काल में कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना ही घटित नहीं हुई, जिसका वर्णन किया जाता। वास्तव में सत्याँश इस दृष्टिकोण में है कि भारत के लोग इस काल में राजनीति व इतिहास के प्रति उदासीन रहे होंगे और वे इन विषयों का अध्ययन समाज के अन्य अनुशासनों के अन्तर्गत ही करते थे। **डॉ. आर. सी. मजूमदार** का कथन है कि **"भारतीय संस्कृति का एक गम्भीर दोष इतिहास लेखन के प्रति भारतवासियों की विमुखता है। भारतीयों ने साहित्य की सभी शाखाओं से सम्बन्ध स्थापित किया और अनेकानेकों में श्रेष्ठता भी प्राप्त की, किन्तु उन्होंने कभी भी गम्भीरतापूर्वक इतिहास लेखन का कार्य नहीं किया।"** (One of the greatest defect of Indian culture is the aversion of Indian to writing history. They applied themselves to all conceivable branches of literature and excelled in many of them, but they never seriously took to the writing of history.—Dr. R.C. Majumdar) इस सम्बन्ध में अलबरूनी का कथन है कि **"हिन्दू लोग घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम की ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं।"** (The Hindus do not pay much attention to the historical order of things.—Alberuni)

जहाँ तक भारतीय इतिहास के स्रोतों (Sources) का प्रश्न है ई. पू. छठी शताब्दी (600 B.C.) से पहले के इतिहास को जानने के साधन सीमित हैं बाद के स्रोत पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। अब तक होने वाले शोध प्रयासों ने प्राचीन भारत के ऐतिहासिक स्रोतों को पर्याप्त मात्रा में खोज निकाला है। इतना होते हुए भी भारतीय प्राचीन इतिहास का क्रमबद्ध वर्णन उस प्रकार सम्भव नहीं है जिस प्रकार संसार के अन्य प्राचीन देशों में सम्भव है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में **यूनान के हेरोडोटस** (Herodotus), जिसे इतिहास का पिता कहा जाता है। **रोम के लिवी** (Livy) **या तुर्की के अलबरूनी** (Alberuni) जैसे इतिहास लेखक नहीं हुए।

इतिहास के प्रति भारतीयों की उदासीनता के कारण—प्राचीन भारत के साहित्य में क्रमबद्धता के अभाव में ऐतिहासिक चेतना के अभाव को देखना उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में इतिहास की क्रमबद्धता के अभाव के अनेक कारण हो सकते हैं। नीचे संक्षेप में उनका वर्णन किया गया है—

(1) **इतिहास के लेखक ब्राह्मण थे**—भारत में सम्पूर्ण साहित्य के रचयिता ब्राह्मण थे जो राजनीति के प्रति उदासीन थे। उनकी रुचि काव्य, दर्शन, विज्ञान व कला आदि में अधिक थी। समाज का यह वर्ग अधिकांशतया आध्यात्मिक चिन्तन में संलग्न रहता था और सामाजिक जीवन के मूल्यों की प्रस्थापना करने में लगा रहता था। भौतिक जीवन में इनकी साधारणत: अरुचि थी। इन्होंने राजाओं व सम्राटों के क्रिया कलापों का वर्णन करने के स्थान पर उनके राज्यों में बसने वाले समाज का मार्ग दर्शन करने के लिए विभिन्न अनुशासनों का अध्ययन किया। यही कारण है कि उनकी दृष्टि ऐतिहासिक घटनाओं के क्रमबद्ध वर्णन की ओर नहीं गई।

(2) **इतिहासकारों ने घटनाओं के स्थान पर विचारधाराओं को महत्त्व दिया**—प्राचीनकाल की रचनाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उस काल के विद्वानों की दृष्टि में विशिष्ट विचारधाराओं का प्रतिपादन अधिक महत्त्वपूर्ण था। वे समाज में घटित होने वाली घटनाओं को महत्त्व नहीं देते थे। उनका विचार था कि विभिन्न घटनाओं के घटित होने के पीछे जो शक्ति कार्य करती है, उसका अध्ययन आवश्यक है। घटनाएँ स्वयं में महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। अत: घटनाओं की उपेक्षा के कारण क्रमबद्ध इतिहास की उपेक्षा हो गई।

(3) **विद्वानों का विशाल दृष्टिकोण**—यह मान लेना कि प्राचीन काल में भारत के लोग इतिहास के प्रति पूर्णत: उदासीन थे, उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन से उस काल के इतिहास की सामग्री हमें प्राप्य है। वास्तव में प्राचीन भारतीयों का इतिहास के प्रति विशाल दृष्टिकोण था और उन्होंने उसे विस्तृत ज्ञान का एक अंग माना। वे इतिहास को धर्म, नैतिकता, राजनीति, अर्थशास्त्र व साहित्य का अंग मानते थे। अत: क्रमबद्ध इतिहास लेखन की आवश्यकता ही प्रतीत नही हुई।

नोट

(4) **इतिहास लेखन के प्रति उदासीनता**–इतना होते हुए भी प्राचीन भारतीय विद्वानों की इतिहास लेखन के प्रति उदासीनता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यद्यपि संसार की किसी भी जाति ने उस प्रकार इतिहास की रचना नहीं कि जिस प्रकार वर्तमान काल में की जाती है फिर भी भारतवासियों की तुलना में इतिहास को पृथक शाखा के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति विदेशियों में अधिक दिखाई देती है।

1.1.1 प्राचीन भारतीय इतिहास की खोज (Search of Ancient Indian History)

यह सर्वविदित है कि विषय के अध्ययन के लिए इतिहास पूर्णत: स्रोतों पर आश्रित है। यही कारण है कि विदेशी व भारतीय विद्वानों ने कठिन परिश्रम व तपस्या से प्राचीन भारत के इतिहास की बिखरी कड़ियों को जोड़ने का सफल प्रयास किया है। प्राचीन भारत के इतिहास को जानने के स्रोतों को खोज निकालने का कार्य अंग्रेजी विद्वानों के द्वारा प्रारम्भ हुआ। उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार उनकी व्याख्या की। परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास के बारे में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गईं। बाद में, भारतीय विद्वानों ने जब-जब यह कार्य अपने हाथ में लिया तो अनेक भ्रान्तियों का निराकरण सम्भव हो गया और भारतीय इतिहास को उसका उचित स्थान प्राप्त हुआ।

प्राचीन भारत के इतिहास की खोज का कार्य अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ। मैक्समूलर ने वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जिससे भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता सम्पूर्ण पाश्चात्य जगत पर स्थापित हुई। इसके पश्चात अनेक अंग्रेज विद्वानों ने 'भगवद्गीता', 'हितोपदेश' व 'शकुन्तला' जैसे उत्कृष्ट रचना का अंग्रेजी में अनुवाद किया। अठारहवीं शताब्दी में ही **'बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी'** ने **एशिया में शोध कार्य** प्रारम्भ किया। इससे भारतीय विद्वानों में भी भारत के इतिहास की **खोज के प्रति रुचि** उत्पन्न हुई। 1862 में भारत में **'भारतीय पुरातत्व में लॉ विभाग'** की स्थापना हुई। लार्ड कर्जन ने इससे रुचि दिखाई और प्राचीन स्मारकों की खोज व सुरक्षा के कार्य को बढ़ावा मिला। विदेशी व भारतीय विद्वानों के अथक प्रयास से यह कार्य लगातार चलता जा रहा है। 1922 में जॉन मार्शल के नेतृत्व में हड़प्पा संस्कृति को खोज निकाला गया। यह कार्य बढ़ता ही जा रहा है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली खुदाई से इस संस्कृति के बिखरे हुए अंशों को जोड़ने में सफलता मिल रही है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास के ज्ञान को प्राप्त करने में हमें विशेष कठिनाई नहीं आती। यदि कोई कठिनाई है तो केवल उसके काल-क्रम के सम्बन्ध में है। वास्तव में इसके अध्ययन के स्रोतों की कमी नहीं है। ये स्रोत लगातार खोजों के परिणामस्वरूप इतिहास को अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट करने में सक्षम बनते जा रहे हैं।

नोट्स 1862 में भारत में 'भारतीय पुरातत्व विभाग' की स्थापना हुई। लार्ड कर्जन ने इसमें रुचि दिखाई और प्राचीन स्मारकों की खोज व सुरक्षा के कार्य को बढ़ावा मिला।

1.1.2 प्राचीन भारतीय इतिहास के मुख्य स्त्रोत (Main Sources of Ancient Indian History)

प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन से पूर्व उन प्रमुख स्त्रोतों का अध्ययन कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है, जिसके माध्यम से हम इसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन सम्पूर्ण स्त्रोतों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

1. पुरातत्व सम्बन्धी स्त्रोत (Archaeological Sources)
2. साहित्यिक स्रोत (Literary Sources)
3. विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त (Accounts of Foreign Travellers)

I. पुरातत्व सम्बन्धी स्त्रोत (Archaeological Sources)

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री ने बड़ी ही सहायता की है। वास्तव में वैज्ञानिक इतिहास लेखन में पुरातत्व सामग्री ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। पुरातत्व स्वयं एक स्वतन्त्र अनुशासन बन गया है। जहाँ साहित्यिक सामग्री मौन है या अस्पष्ट है वहाँ पुरातत्व सामग्री सहायक होती है। संदिग्ध परिस्थितियों में पुरातत्व सामग्री ही हमारी सहायता करती है और इतिहास के रिक्त स्थलों की पूर्ति करती है। यदि पुरातत्त्व सामग्री हमारी

नोट

सहायता न करती तो हम भारत के प्रागैतिहासिक काल के विषय में कुछ भी न जान पाते। प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. खुदाई (Excavation) से प्राप्त सामग्री
2. अभिलेख (Epigraphs or inscriptions)
3. स्मारक (Monuments)
4. मुद्राएँ (Coins)

(1) **खुदाई** (Excavation) **से प्राप्त सामग्री**–भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर खुदाई की गई है और प्राचीन कालीन नगरों, भवनों, मन्दिरों तथा अन्य अनेक किलों आदि के खण्डहर प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। इनसे भारत के प्राचीन इतिहास की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। हमारे इतिहास के अनेक धुँधले पृष्ठ स्पष्ट होकर सामने आए हैं, तिथियाँ स्पष्ट हुई हैं और अनेक बिखरे तथ्यों को क्रमबद्ध किया जा सका है। **मोहनजोदड़ो** व **हड़प्पा** की खुदाई में नगर, भवन, मनुष्य शरीर, पशुओं के ढाँचे, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, बर्तन, औजार, सड़कें और स्नानागार आदि अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनसे पाँच हजार वर्ष पूर्व की **सिन्धु घाटी की सभ्यता** का ज्ञान प्राप्त होता है। **तक्षशिला** की खुदाई से कुषाण वंश के काल-क्रम की संदिग्धता दूर हो गई है। **सांची** (भोपाल के पास) की खुदाई से बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, ये बौद्ध व जैन धर्मों के उत्थान-पतन के इतिहास की साक्षी हैं। इसी प्रकार **सारनाथ** में प्राप्त अवशेष बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. भारतीय पुरातत्व विभाग की स्थापना ..... में हुई
   (*a*) 1860 (*b*) 1862
   (*c*) 1740 (*d*) 1885
5. सांची (भोपाल के पास) की खुदाई से ..... की अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं
   (*a*) महावीर (*b*) बुद्ध
   (*c*) पार्श्वनाथ (*d*) आनन्द
6. यूनानी यात्री मेगस्थनीज किसके दरबार में आया था?
   (*a*) चन्द्रगुप्त मौर्य (*b*) बिम्बिसार
   (*c*) उदायिन (*d*) अजातशत्रु
7. जादू, तंत्र-मंत्र एवं टोना का उल्लेख है
   (*a*) ऋग्वेद (*b*) सामवेद
   (*c*) यजुर्वेद (*d*) अथर्ववेद

इस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास का अधिकांश अलिखित भाग इन्हीं खुदाई से प्राप्त सामग्री पर आधारित है और उसे इसी आधार पर लिपिबद्ध किया गया है।

(2) **अभिलेख** (Epigraphs)—प्राचीन भारत में राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण में अभिलेखों का विशेष महत्त्व है। इनसे इतिहास की अनेक कड़ियों को जोड़ने में सहायता मिली है। अभिलेखों के माध्यम से विद्वानों ने उस जानकारी का परिशोधन भी किया है जो उन्हें अन्य साधनों से प्राप्त हुई हैं। इतिहास जानने का स्रोत सर्वाधिक विश्वसनीय है। इनकी प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि ये धातुओं व पत्थरों पर अंकित हैं। ये अभिलेख पत्थर की शिलाओं, स्तम्भों, ताम्रपत्रों, मूर्तियों, गुहाओं व भवनों की दीवारों पर खुदे हुए हैं। इन अभिलेखों में अनेक भाषाओं का प्रयोग किया गया है। वास्तव में देश के जिस क्षेत्र के लोगों के लिए ये अभिलेख थे, उन लोगों की भाषा का उपयोग किया गया है। देश के विभिन्न स्थानों से प्राप्त होने वाले इन अभिलेखों की भाषा भी भिन्न-भिन्न ब्राह्मी, संस्कृत, पाली, तमिल, तेलुगू, मलयालम आदि अधिकांश अभिलेखों की लिपि ब्राह्मी है जो

नोट

देवनागरी व उत्तर भारत की अन्य लिपियों की जननी है। इसके साथ ही अनेक अभिलेख खरोष्ठी लिपि में भी मिले हैं जो दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी और भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में प्रचलित थी।

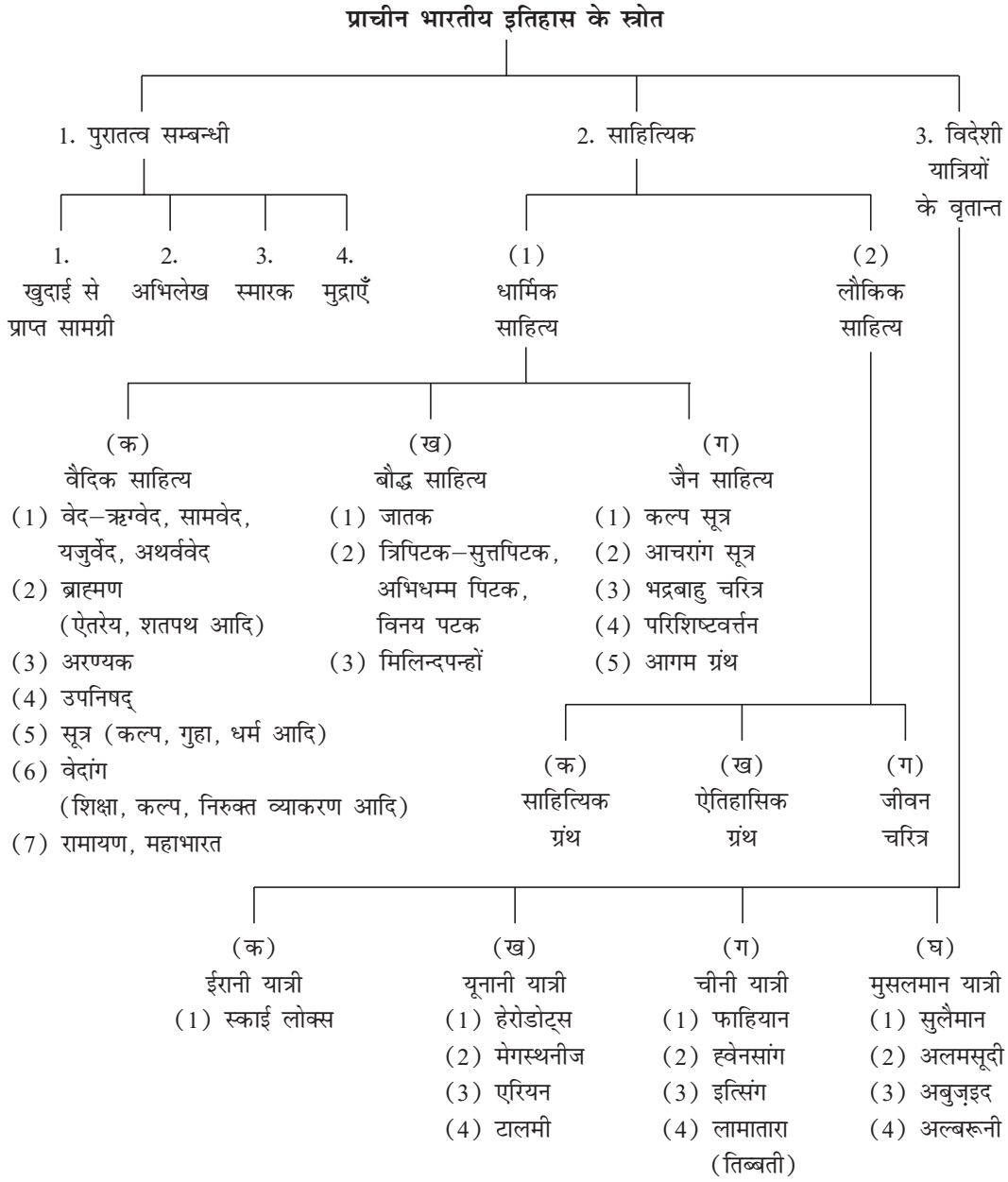

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त होने वाले अभिलेखों को **गुहालेख, शिलालेख, स्तम्भलेख** तथा **ताम्रपत्रलेख** के रूप में चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। अधिकतर लेख दानपत्रों, महत्त्वपूर्ण घटनाओं के स्मारकों के रूप में तथा राजाओं व विजेताओं की प्रशस्तियों के रूप में हैं। इनके माध्यम से तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व धार्मिक अवस्थाओं की जानकारी होती है।

'अभिलेखों में सर्वप्रथम स्थान **अशोक** का है।' उसके अभिलेख न केवल बड़ी संख्या में विद्यमान हैं बल्कि विविधतापूर्ण हैं। वास्तव में ये उसकी आत्मकथा और उसके काल की परिस्थिति का सजीव चित्रण प्रस्तुत करते हैं। ये लेख उसके सारे राज्य क्षेत्र में बिखरे पड़े हैं और मुख्यत: राजाज्ञाओं व घोषणाओं के रूप में कुछ अभिलेखों पर

नोट

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त पर, कुछ पर अशोक के जीवन के आदर्श अंकित हैं। ये मुख्यत: **ब्राह्मी** व खरोष्ठी लिपि में लिखे गए थे।

अशोक के काल के पश्चात् के जो अभिलेख मिलते हैं वे राजकीय व अराजकीय दोनों प्रकार के हैं। **राजकीय लेखों** में राजकवियों द्वारा राजाओं व सम्राटों की प्रशंसा की गई है। **समुद्रगुप्त** की ऐसी ही प्रशस्ति इलाहाबाद के किले में विद्यमान है, गुप्तकालीन इतिहास की जानकारी भी मुख्यत: इसी स्रोत पर आधारित है। एक ओर बंगाल में सेनवंश के विक्रमसेन की प्रशस्ति और दूसरी ओर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति प्रतिहारों के इतिहास के प्रमुख स्रोत हैं। चालुक्य वंशीय राजा पुलकेशिन द्वितीय की प्रशस्ति भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक धरोहर है। **अराजकीय लेखों** की संख्या बहुत अधिक है। अधिकाँश अराजकीय लेख देवताओं की मूर्तियों व मन्दिरों आदि पर अंकित हैं। इनके माध्यम से एक ओर तत्कालीन धार्मिक जीवन व कला का ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरी ओर उस समय की भाषा शैली व साहित्य पर प्रकाश पड़ता है। विदेशों में भी अनेक ऐसे अभिलेख मिले हैं, जो भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। जावा, सुमात्रा, चीन, जापान, तिब्बत व श्रीलंका में मिलने वाले लेख **भारत के विदेशों से सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं।**

इस प्रकार ये अभिलेख सम्राटों की वंशावली, शासनकाल व उनके साम्राज्य विस्तार की जानकारी देते हैं, साथ ही देश व काल की परिस्थितियों से भी अवगत कराते हैं। इन अभिलेखों के अभाव में प्राचीन भारत के अनेक पृष्ठ अधूरे ही रह जाते।

(3) **स्मारक** (Monuments)—जिस प्रकार अभिलेखों के माध्यम से प्राचीन भारतीय इतिहास के राजनीतिक पक्ष की जानकारी में सहायता मिली है, उसी प्रकार स्मारकों के द्वारा प्राचीन भारत के सांस्कृतिक व धार्मिक जीवन का ज्ञान प्राप्त होता है। इन स्मारकों में भवन, मूर्तियाँ, कलाकृतियाँ, स्तूप, मठ, विहार, चैत्य, मन्दिर तथा चित्रकारी आदि को सम्मिलित किया जाता है। अध्ययन की दृष्टि से इन्हें देशी स्मारकों व विदेशी स्मारकों में विभाजित किया जा सकता है।

देशी स्मारकों में प्रमुख स्मारक तक्षशिला, मथुरा, कोसम, सारनाथ, पाटलिपुत्र, राजगिरी, झाँसी, नालन्दा आदि स्थानों पर हड़प्पा व मोहनजोदड़ो में विद्यमान हैं। तक्षशिला क्षेत्र की खुदाई में प्राप्त स्मारकों से **कुषाणकालीन तिथि भ्रम का निवारण** सम्भव हुआ है। इसी प्रकार **हड़प्पा व मोहनजोदड़ो** में खुदाई से सिन्धु-घाटी की पाँच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता की जानकारी प्राप्त हुई है। सारनाथ की खुदाई से अत्यन्त उत्कृष्ट नक्काशी प्रकाश में आई है जिसकी समता संसार में अन्यत्र सम्भव नहीं है। इनके अतिरिक्त अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी, झांसी जिले के देवगढ़ में पत्थर का मन्दिर, भीतरगांव (कानपुर) का ईंटों का मन्दिर और नालंदा में प्राप्त हुई बुद्ध की ताँबें की मूर्ति जो कि स्मारक नहीं है प्राचीन भारतीय मूर्तिकला की श्रेष्ठता की परिचायक है।

विदेशों में जो स्मारक मिलते हैं उनमें भारत के वैदेशिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। ये स्मारक देवालयों व मूर्तियों आदि के रूप में होने के कारण वहाँ पर भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रचार की जानकारी देते हैं। जावा व कम्बोज में प्राप्त स्मारकों से भारतीय कला मुखरित हो उठी है। जावा के अनेक देवालय व अन्य स्मारक प्रकाश में आए हैं। मलाया, लंका व बाली आदि द्वीपों में भी मन्दिरों, मूर्तियों व अन्य स्मारकों की भरमार है। ये स्मारक यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि भारत के लोग इन देशों में अपने धर्म व संस्कृति के प्रचार व प्रसार के लिए गए। उन्हें अपने विचारों से भारतवासियों ने प्रभावित किया और अपना सांस्कृतिक साम्राज्य प्रस्थापित किया। हिन्दू लोग बड़ी संख्या में वहाँ जा बसे भी थे।

4. **मुद्राएँ** (Coins)—प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में मुद्राओं, सिक्कों व मोहरों का भी बड़ा महत्त्व है। भारत के विभिन्न भागों से विविध प्रकार की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। 206 ई. पू. से 300 ई. तक का इतिहास तो मुख्यत: मुद्राओं से प्राप्त जानकारी पर ही लिखा गया है। इस काल की मुद्राओं के अभाव में यह युग अन्धकारमय ही बना रहता। भारतीय मुद्राओं पर पहले देवताओं के चित्र ही अंकित होते थे, राजाओं के चित्र व तिथियाँ आदि नहीं होती थीं। भारत के उत्तर-पश्चिम में बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं ने जब भारत पर शासन करना प्रारम्भ किया तो उनके सम्पर्क में आकर भारतीय राजाओं ने भी मुद्राओं पर अपने चित्र व तिथियाँ देनी आरम्भ कीं। शक, पल्लव व कुषाण राजाओं

नोट

ने भी यूनानी राजाओं का अनुसरण किया। **शक राजाओं और मालव व** यौधेय गणराज्यों पर तत्कालीन मुद्राएँ पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। इन मुद्राओं पर देवी-देवताओं के चित्रों से तत्कालीन धार्मिक स्थिति की जानकारी मिलती है। विशिष्ट घटनाओं पर जारी किए जाने वाले सिक्कों पर जो चित्र अंकित हैं उनमें उन घटनाओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। राजाओं के सीमा विस्तार का ज्ञान भी मुद्राओं से सम्भव हुआ है। जैसे समुद्रगुप्त के सिक्कों पर अश्वमेघ पराक्रम शब्द अंकित हैं जो सिद्ध करता है कि उसने अश्वमेघ यज्ञ करवाया था। वंश विशेष के शासकों की संख्या की जानकारी भी मुद्राओं से प्राप्त होती है। भारत में **रोमन मुद्राएँ** भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुई हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि किसी समय भारत का रोमन साम्राज्य से पर्याप्त व्यापारिक सम्बन्ध था।

अधिकाँश मुद्राएँ सोने, चाँदी व ताँबे या दो धातुओं के मिलाने से बनी हैं। सोने या सोने में ताँबें की मिली मात्रा से तत्कालीन आर्थिक-स्थिति का अनुमान लगाना सरल है। पूर्णत: सोने या सोने में थोड़ा अंश ताँबें का मिली हुई मुद्राएँ आर्थिक समृद्धि की परिचायक हैं जबकि मुद्राओं में ताँबे का अधिक भाग आर्थिक संकट को प्रकट करता है।

रुद्रघोष, अश्वमित्र व योगसेन ई. पूर्व के तीन पांचाल राजाओं की ताँबें की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले में 110 ताँबे की मुद्राएँ और आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले में नागार्जुन कोण्ड के इक्ष्वाकु राजाओं की 277 मुद्राएँ मिली हैं। इन मुद्राओं में वासिष्ठिपुत्र चांतमूल की एक ऐसी मुद्रा प्राप्त हुई है, जिसमें एक घोड़े को यूप (वह प्रस्तर या खंभा जो किसी के बलिदान की स्मृति के रूप में बनाया गया हो) के रूप में खड़ा किया हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि इस राजा ने अश्वमेघ यज्ञ किया होगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. हड़प्पा व मोहनजोदड़ो की खुदाई से सिन्धु-घाटी की पाँच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता की जानकारी प्राप्त हुई।
9. सामवेद ग्रन्थ सर्वाधिक प्राचीन है।
10. सुत्तपिटक में महात्मा बुद्ध के सिद्धांतों का संग्रह है जो पाँच निकायों (संग्रहों) पर आधारित है।
11. पातंजलि का महाभाष्य शुंग वंश के प्रारम्भिक काल की जानकारी देता है।
12. अल्बरूनी मुहम्मद गौरी के साथ भारत आया था।

II. साहित्यिक स्त्रोत (Literary Sources)

प्राचीन भारत की जानकारी देने वाले साहित्यिक स्रोत में हम उस समस्त सामग्री को सम्मिलित करते हैं, जो हमें ग्रंथों के रूप में प्राप्त है। इस समस्त सामग्री को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) धार्मिक साहित्य (Religious Literature)

(2) लौकिक साहित्य (Secular Literature)

(1) धार्मिक साहित्य (Religious Literature)—भारत धर्म प्रधान देश है अत: प्राचीन भारतीय साहित्य का रूप भी धार्मिक ही रहा है। इस साहित्य की विशेषता यह है कि यह न केवल धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन करता है बल्कि इसमें तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनीतिक परिस्थितियों का भी परिचय मिलता है। इस प्रकार यह साहित्य इतिहास की महत्त्वपूर्ण धरोहर बन गई है। सम्पूर्ण भारतीय धार्मिक साहित्य को प्रमुख तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) वैदिक साहित्य, (ख) बौद्ध साहित्य, (ग) जैन साहित्य।

(क) वैदिक साहित्य–वैदिक साहित्य भारत का ही नहीं, संसार का सर्वाधिक प्राचीन साहित्य है। वैदिक साहित्य में भी सर्वाधिक महत्त्व **वेदों** का है। वेद चार हैं : **ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद** और **अथर्ववेद** यद्यपि, वेद धार्मिक साहित्य में गिना जाता है किन्तु इसकी ऐतिहासिक उपादेयता भी कम नहीं है। ऋग्वेद व अथर्ववेद का महत्त्व अधिक है। ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है, इसमें आर्यों के जीवन की सम्पूर्ण जानकारी मिली है और सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। अथर्ववेद आर्यों की सांस्कृतिक प्रगति का सजीव चित्रण उपस्थित करता

नोट

है। वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं जो वैदिक मन्त्रों का विस्तार से वर्णन करते हैं इतना ही नहीं, ये तत्कालीन आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक जीवन का भी उल्लेख करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतरेय, शतपथ, गोपथ व पंचदिश आदि महत्त्वपूर्ण हैं, जो ऐतिहासिक सामग्री के रूप में महत्त्वपूर्ण आरण्यक और **उपनिषद्** ब्राह्मण ग्रंथों के अन्तिम भाग हैं जिनमें दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया गया है। ये आरम्भिक हिन्दुओं के धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन पर भी प्रकाश डालते हैं।

उपरोक्त साहित्य के पश्चात सूत्र आते हैं जो तीन भागों–**कल्प सूत्र, गृह्य सूत्र तथा धर्म सूत्र**–में विभक्त हैं। वैदिक कालीन यज्ञों का शास्त्रीय वर्गीकरण और विस्तृत वर्णन **कल्प सूत्र** की विषय सामग्री है। गृहस्थ से सम्बन्धित विभिन्न संस्कारों और विभिन्न यज्ञों का वर्णन **गृह्य सूत्र** में है। इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन का वर्णन भी मिलता है। **धर्म सूत्र** में राजनीतिक, सामाजिक व वैधानिक व्यवस्थाओं का उल्लेख है। सूत्र साहित्य के साथ-साथ छः **वेदांगों–शिक्षा कल्प, निरुक्त, व्याकरण तथा ज्योतिष**–का भी पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व है।

महाकाव्य काल में भी महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना हुई। इसमें **रामायण व महाभारत** दो महाकाव्य प्रमुख हैं। इन दोनों महाकाव्यों की तिथि क्रम पर विवाद है क्योंकि वे स्पष्ट नहीं हैं। ये आर्यों के सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं। रामायण में अवध के कौशलों और विहार के विदेहों का चित्रण है जबकि महाभारत में भारत के कोने-कोने से आए राजाओं के कुरुक्षेत्र में एकत्रित होकर कौरवों व पांडवों के मध्य हुए महायुद्ध का वर्णन है। महाकाव्यों के अतिरिक्त पुराण व **समृतियाँ** भी वैदिक साहित्य के अंग हैं और इनमें भी पर्याप्त ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है। पुराणों की संख्या अठारह है जैसे विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण व वायु पुराण आदि। पुराणों में अनेक ऐसे राजवंशों का विस्तार से वर्णन है जो अन्यत्र प्राप्य नहीं हैं, विष्णु पुराण में मौर्य वंश और मत्स्य पुराण में दक्षिण के आन्ध्रवंश से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। **स्मृतियाँ** भी आर्यों के साहित्य का विशिष्ट अंग हैं, विभिन्न ऋषियों के नाम से प्रचलित ये स्मृतियाँ भी ऐतिहासिक महत्त्व की जानकारी देती हैं। मनु-स्मृति, नारद स्मृति व बृहस्पति स्मृति आदि प्रमुख स्मृतियाँ हैं।

(ख) बौद्ध साहित्य–आर्यों द्वारा रचित विभिन्न साहित्य के समान ही बौद्ध साहित्य भी ऐतिहासिक महत्त्व का है। **जातक** महात्मा बुद्ध के पूर्व जीवन की अतिशयोक्तिपूर्ण घटनाओं का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। यद्यपि इसमें कल्पना का सहारा भी लिया गया मालूम पड़ता है किन्तु फिर भी ये बुद्ध के पूर्व की सामाजिक स्थिति को जानने का उत्तम स्रोत हैं।

बौद्धों के धर्म ग्रंथ त्रिपिटक के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनमें बौद्ध धर्म सिद्धान्तों का सविस्तार वर्णन मिलता है। प्रत्येक पिटक में पृथक-पृथक विषय का विवेचन है। **सुतपिटक** में महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों का संग्रह है जो पाँच निकायों (संग्रहों) पर आधारित है। दूसरे **अभिधम्म पिटक** में वेदान्तिक सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। तीसरा **विनय पिटक** बौद्ध मठों के संगठन व अनुशासन का वर्णन करता है।

बौद्ध साहित्य में पाली व संस्कृत भाषा में अन्य भी बहुत-सा साहित्य मिलता है। पाली भाषा के **मिलिन्द पन्हों** में यूनानी राजा मिलिन्द व बौद्धभिक्षु नागसेन का वार्तालाप है, इसके अतिरिक्त **दीपवंश** और **महावंश** में भी ऐतिहासिक वर्णन है, जो मुख्यतः लंका से सम्बन्धित है किन्तु इससे भारत के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में बहुत से तथ्य इन्हीं बौद्ध ग्रन्थों से प्राप्त हुए हैं। बौद्ध साहित्य संस्कृत भाषा में भी मिलता है, जो हीनयान व महायान सम्प्रदायों से सम्बन्धित है। महावस्तु, ललित विस्तार, बुद्ध चरित्र, मंजू श्री मूलकल्प आदि संस्कृत के अंग हैं।

(ग) जैन साहित्य–प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन में जैन साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन साहित्य इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इसमें हमें इतिहास के कुछ ऐसे पक्षों की जानकारी भी मिलती है, जो वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में प्राप्य नहीं है। ई. पूर्व पाँचवीं व छठी शताब्दी में लिखे गए जैन ग्रंथों में **कल्पसूत्र, आचाराँगसूत्र** और **भद्रबाहु चरित्र** महत्त्वपूर्ण हैं जैन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि इनमें कथाओं को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है जिससे इतिहासकार को तथ्य संकलित करने में कठिनाई नहीं होती। आचाराँगसूत्र में जैन भिक्षुओं के आचार नियमों का उल्लेख है **परिशिष्ट पर्वन** की रचना आचार्य हेमचन्द्र ने की। महावीर स्वामी के समय से राजाओं व

नोट

जैन सम्राटों का विस्तृत वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। अशोक का पौत्र सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) जैन था, जिसका वर्णन इस ग्रंथ में तथा अन्य जैन ग्रंथों में मिलता है। **भद्रबाहु चरित्र** में सम्राट सम्प्रति के गुरु आचार्य मद्रबाहु का चरित्र है। **जैन आगम ग्रन्थों** में बारह अंगों का प्रमुख स्थान है।

(2) लौकिक साहित्य (Secular Literature)—प्राचीन भारत के इतिहास के स्रोतों में लौकिक या धर्मेत्तर साहित्य का भी अपना स्थान है। इस सम्पूर्ण साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–

(क) साहित्यिक ग्रंथ, (ख) ऐतिहासिक ग्रंथ तथा (ग) जीवन चरित्र।

(क) **साहित्यिक ग्रन्थ** (Literary Works)—प्राचीन भारतीय साहित्य ऐसे ग्रंथों का भण्डार है जो इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। **पातंजलि का महाभाष्य** शुंग वंश के प्रारम्भिक काल की जानकारी देता है। मौर्यवंश का विवरण **पाणिनि के अष्टाध्यायी** से मिलता है। इसी प्रकार चालुक्य वंशीय सम्राट विक्रमाँक देव की प्रशंसा में रचित **विल्हण का विक्रमाँक देव चरित्र** उस काल की प्रमुख घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है। शुंग कालीन भारत की राजनीतिक दशा का वर्णन **कालीदास के मालविकाग्निमित्र** से भी प्राप्त होता है। नन्द वंश के अन्तिम काल और मौर्य वंश के प्रारम्भिक काल की राजनीतिक दशा का चित्र **विशाखदत्त के मुद्राराक्षस** नाटक से मिलता है। **दण्डी की दशकुमार चरितम्** के माध्यम से **सातवीं शताब्दी** में बौद्ध धर्म की अवनति का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसी संदर्भ में **राजेश्वर** का प्रबन्ध कोष, सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी व अरिसिंह की सुकृत संकीर्तन महत्त्वपूर्ण हैं।

(ख) **ऐतिहासिक ग्रन्थ**–ऐतिहासिक ग्रंथों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व **विश्वसनीय कौटिल्य का अर्थशास्त्र** है। इसमें सम्राट चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य ने उस काल की राजनीतिक स्थिति, शासन पद्धति और सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कश्मीरी पण्डित **कल्हण की राजतरंगिणी** है। इसमें कश्मीर के बारहवीं शताब्दी के मध्य के इतिहास पर समुचित प्रकाश पड़ता है। **बाणभट्ट रचित हर्ष चरित्र** का भी बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है, इसमें सातवीं शताब्दी के इतिहास को चित्रित किया गया है। दक्षिण भारत के राज्यों का वर्णन तमिल और प्राकृत भाषाओं में लिखित ग्रंथों से मिलता है। प्राकृत **भाषा के वाक्पति** द्वारा रचित ग्रन्थ **गौडवहो** में कन्नौज नरेश यशोवर्मा के शासनकाल का वर्णन है।

(ग) **जीवन चरित्र**–बाण के **हर्ष चरित्र** में हर्षकालीन भारत, **सन्ध्याकर नन्दी के रामचरित** में पालवंश का वर्णन, आनन्द भट्ट के **बल्लाल चरित्र** में सेनवंश का वर्णन व जयनाद की पृथ्वीराज विजय तथा चन्दबरदाई का पृथ्वीराज रासो तत्कालीन भारत की राजनीतिक स्थिति के वर्णन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार **विक्रमाँक देव चरित्र में** चालुक्य वंश का वर्णन किया गया है। **नवसाहसांक चरित्र** में परमार वंश का इतिहास मिलता है।

III. विदेशी यात्रियों के वृतान्त (Accounts of Foreign Travellers)

प्राचीन भारत के इतिहास की जानकारी के लिए भारत में आए विदेशी यात्रियों का वर्णन भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन विदेशियों से भारत की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा नहीं की जा सकती। उनके वर्णन अधिकांशत: निष्पक्ष दिखाई देते हैं, किन्तु भारतीय समाज व उसकी भाषा की जानकारी न होने के कारण उन्होंने कुछ स्थानों पर कल्पित बातें भी लिखी हैं। कुल मिलाकर ये वृत्तान्त भारतीय इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इन यात्रियों में **(क) ईरानी (ख) यूनानी (ग) चीनी व (घ) मुसलमान यात्रियों के वृतान्त** मिलते हैं, जो उस काल की भारत की परिस्थिति का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं।

(क) **ईरानी यात्री**–जब भारत की समृद्धि की चर्चा पश्चिमी देशों में जोर-शोर से होने लगी तो ईरान के राजा ने ई. पूर्व छठी शताब्दी के प्रारम्भ में **स्काईलैक्स नामक विद्वान को** भारत भेजा, उसने सेना सहित भारत आकर यहाँ की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन किया। उसका भारत वृत्तान्त बड़ा रोचक है। इतना ही नहीं ईरान के सम्राट डेरियम ने भी भारत के बारे में लेख लिखे हैं। इन लेखों से भारत तथा ईरान के सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। भारतवासियों की युद्ध कला का व यहाँ की खेती का भी वर्णन उसके लेखों में विद्यमान है। ईरान के राजवैद्य टेशियस ने भी भारत का वर्णन किया है किन्तु वह अधिक विश्वसनीय नहीं है।

नोट

(ख) यूनानी यात्री—सिकन्दर के साथ आए विद्वानों के भारत वर्णन अधिक विश्वसनीय व उपयोगी हैं। इनमें **नियार्कस** (Nearckus) नामक एक जन सेनापति था, दूसरा विद्वान सह-नाविक **एरिस्टोबुलस** (Aristobulus) था, जिसने अपनी वृद्धावस्था में अपनी यात्रा का वर्णन लिखा है किन्तु उनके वृतान्त अब उपलब्ध नहीं हैं। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापति सेल्युकस ने उसके पूर्वी साम्राज्य पर अधिकार कर लिया था। उसने भारत में मौर्य सम्राटों के दरबार में अपने राजदूत भेजे। चन्द्रगुप्त मौर्य से पराजित होकर उसने सन्धि कर ली और **मेगस्थनीज** (Megasthenes) को राजदूत बनाकर भेजा गया। वह लम्बे समय तक भारत में रहा और अपने ग्रन्थ **'इण्डिका'** में भारत के शासन प्रबन्ध तथा भारतीय सामाजिक जीवन पर प्रकाश डाला, यद्यपि अब यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है। किन्तु बाद के लेखकों—एरियन, अप्पियन (Appian), स्ट्रैबो व जस्टिन आदि ने मेगस्थनीज की पुस्तक से अनेक उद्धरण लिए हैं। **एरियन** के ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है। **टॉलमी** (Ptolomy) ने भारत के भूगोल तथा **प्लिनी** ने पशुओं व वनस्पति का वर्णन किया है।

(ग) चीनी यात्री—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनेक धर्म प्रचारक मध्य एशिया में भेजे, कहाँ से भारतीय संस्कृति व बौद्ध धर्म का प्रचार सम्पूर्ण चीन में हो गया और चीनी लोग भारत को बड़े आदर से धर्म भूमि समझने लगे। अपनी धार्मिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए तथा बौद्ध धर्म के साहित्य का अध्ययन करने के लिए अनेक चीनी यात्री भारत आए और वह लम्बे समय तक यहीं रहे। यद्यपि उनके वृतान्त अधिकांशत: धार्मिक हैं किन्तु उनमें तत्कालीन सामाजिक व राजनीतिक स्थिति का भी ज्ञान होता है। चीनी यात्रियों में सर्वाधिक महत्त्व **फाहियान, ह्वेनसांग** तथा **इत्सिंग** का है। **फाहियान** के द्वारा चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल के भारत का वर्णन मिलता है। वह मूलत: धार्मिक वर्णन तक अपने को सीमित रखता है फिर भी उसके वृतान्त का पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व है। **ह्वेनसांग** सम्राट हर्ष के काल में भारत आया, लम्बे समय तक भारत में रहा। उसने धार्मिक वर्णन के साथ-साथ तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति का भी वर्णन किया है। इत्सिंग सातवीं शताब्दी में भारत आया और बहुत समय तक विक्रमशिला व नालन्दा विश्वविद्यालयों में अध्ययन करता रहा। उसने भी उस समय की सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन किया है। एक अन्य चीनी लेखक **हुइली** का नाम भी उल्लेखनीय है, उसने ह्वेनसांग की जीवनी लिखी है। इस जीवनी से भी भारत की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। तिब्बती लेखकों में **लामातारा** नाम प्रसिद्ध है। उनके ग्रन्थों 'कंग्युर' तथा 'तंग्युर' में भारत का वर्णन मिलता है।

(घ) मुसलमान यात्री—नवीं शताब्दी के मध्य में एक अरब यात्री सुलेमान भारत आया, उसके वृतान्त में पाल व प्रतिहार राज्यों की जानकारी प्राप्त होती है। दूसरा, अलमसूदी दसवीं शताब्दी के मध्य में भारत में रहा और उसने राष्ट्रकूट राजाओं का वर्णन किया है। **अबुजइद** ने भारत व पूर्वी देशों के बीच होने वाले व्यापार के बारे में लिखा है। भारत के विषय में लिखने वाले अरबी विद्वानों में सबसे ऊँचा स्थान **अलबरूनी** का है जो महमूद गजनवी के साथ भारत में आया था। जब महमूद देश की लूटपाट में व्यस्त था तब अलबरूनी संस्कृत के अध्ययन में संलग्न था। संस्कृत के अध्ययन के बाद उसने विविध विषयों से संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया और यहाँ की संस्कृति व सभ्यता का परिचय प्राप्त किया। इसी अध्ययन के बाद उसने **'तहकीके हिन्द'** नामक ग्रंथ लिखा। यह भारत के विषय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि इस ग्रंथ में भारत की राजनीतिक दशा का वर्णन बहुत कम है फिर भी क्षेत्रीय विवरण की दृष्टि से यह अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पूर्वोक्त विवरण से सिद्ध होता है कि यद्यपि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इतिहास को अलग अनुशासन के रूप में नहीं लिया किन्तु उन्होंने इतिहास की उपेक्षा नहीं की। वर्तमान काल के इतिहासकार को प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन के लिए जो स्रोत प्राप्त हैं, वे महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हैं और उसे प्राचीन भारत का क्रमबद्ध अध्ययन करने में कठिनाई अनुभव नहीं होती।

क्या आप जानते हैं तिब्बती लेखकों में लामातारा नाम प्रसिद्ध है। उनके ग्रन्थों 'कंग्यूर' तथा 'तंग्यूर' में भारत का वर्णन मिलता है।

नोट

1.2 भौगोलिक परिवेश (Geographical Setting)

मनुष्य समाज तथा वातावरण–किसी देश की प्राकृतिक स्थिति अर्थात् वहाँ की जलवायु, खनिज पदार्थ, नदियाँ, पर्वत श्रृंखलाएँ तथा विभिन्न प्रकार की भूमि उस देश के भूगोल की अध्ययन सामग्री होती है। जबकि उस देश में निवास करने वाले मानव समाज के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व आध्यात्मिक आदि पहलुओं का दार्शनिक व वैज्ञानिक वर्णन इतिहास में होता है। इस दृष्टि से दोनों विषय भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु ऐसा नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि किसी देश के इतिहास पर उस देश की भौगोलिक परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। मनुष्य तथा उसके वातावरण में बहुत गहरा सम्बन्ध है। मानव के वातावरण का उसकी शारीरिक आकृति पर, उसके मानसिक विकास पर तथा उसके कार्यों पर विशेष प्रभाव दिखाई देता है। यह प्रभाव इतना सूक्ष्म होता है कि मनुष्य का ध्यान भी इस ओर नहीं जा पाता किन्तु कई बार मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति के बल पर प्रकृति को अनुकूल भी बना लेता है। इतना होते हुए भी भौगोलिक परिस्थितियों का निर्माण कर पाना मनुष्य की शक्ति के बाहर है।

इस प्रकार किसी निश्चित भू-खण्ड में बसने वाले मानव के जीवन को उस भू-खण्ड की भौगोलिक परिस्थितियाँ नियन्त्रित करती हैं और उसके राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व आध्यात्मिक विकास की नींव में उस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। मानव जीवन के इन विभिन्न पहलुओं का दार्शनिक व वैज्ञानिक वर्णन इतिहास की विषय-सामग्री है। अत: किसी समाज के इतिहास के अध्ययन से पूर्व उस देश की भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक होता है। भारतीय इतिहास के अध्ययन से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम वहाँ की उन भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन करें, जिन्होंने इस देश को संसार में एक विशेष स्थान दिया है।

टास्क इतिहास के प्रति भारतीयों की उदासीनता के कारणों पर अपने विचार व्यक्त करें।

1.2.1 देश का नाम (Nomenclature)

अति प्राचीन काल से इस देश को भारतवर्ष के नाम से पुकारा जाता रहा है। कहा जाता है कि राजा दुष्यन्त के पुत्र सम्राट भरत के नाम पर हमारे देश का नाम 'भारत' पड़ा। जब विदेशी आक्रमणकारी भारत में आये तो उन्होंने 'सिन्धु' नदी को पार किया और सिन्धु नदी के नाम पर इस देश को सिन्धुस्थान, हिन्दुस्थान या हिन्दुस्तान कहना प्रारम्भ किया। वास्तव में फारसी भाषा में 'स' का उच्चारण 'ह' होता है अत: विदेश आक्रमणकारी सिन्धु नदी पर बसने वाले लोगों को हिन्दु तथा सिन्धुस्थान के स्थान पर भारत को हिन्दुस्थान पुकारने लगे। हिन्दुस्थान शब्द भी भारत में बहुत प्रचलित हुआ और आज भी भारत हिन्दुस्थान नाम से संसार भर में पहचाना जाता है। यूनानियों ने इस देश को इन्डिका या इण्डिया के नाम से पुकारा, क्योंकि वे सिन्धु नदी को 'इन्डस' कहते थे। बाद में यूरोप की विभिन्न जातियों ने भी इसी 'इण्डिया' नाम को अपनाया। किन्तु इण्डिया भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग तक ही सीमित रहा और दूर ग्रामों में आज भी इस देश को 'भारत' या 'हिन्दुस्थान' या 'हिन्दुस्तान' नाम से ही पुकारते हैं। स्वतन्त्र भारत के संविधान में 'भारत' नाम को मान्यता प्राप्त हुई है और अब साधारण व्यवहार में 'भारत' नाम ही प्रचलित है।

सीमा, स्थिति, क्षेत्रफल एवं जनसंख्या (Boundary, Location, Area and Population)

भारत विश्व के मध्य में स्थित अति महत्त्वपूर्ण विशाल देश है, जो दक्षिण एशिया में पर्वतीय श्रृंखलाओं से तथा अन्य तीन दिशाओं में समुद्र से अलग है। यह त्रिकोण के आकार का है। भारत 68° तथा 97° पूर्वी देशान्तर तथा 8° और 37° अक्षांश के मध्य स्थित है। कर्क रेखा इसके मध्य से होकर जाती है। उत्तरी भारत शीतोष्ण कटिबंध में स्थित होने के कारण यहाँ की जलवायु ठण्डी व गर्म है जबकि दक्षिणी भारत उष्ण कटिबंध में स्थित होने के कारण उस क्षेत्र की जलवायु गर्म है। भारत का क्षेत्रफल लगभग 32.68 लाख वर्ग किलोमीटर है। क्षेत्रफल की दृष्टि से संसार में इसका सातवाँ स्थान है और रूस के अतिरिक्त शेष यूरोप के बराबर है। भारत की लम्बाई उत्तर से दक्षिण तक लगभग 3200 किलोमीटर है जबकि उसकी चौड़ाई पूर्व से पश्चिम तक लगभग 3000 किलोमीटर है।

नोट

प्राचीन भारत को जिसमें विभाजन से पूर्व का भारत अर्थात् आज का भारत, पाकिस्तान व बंगला देश तथा वर्मा सम्मिलित हैं, उपमहाद्वीप के नाम से भी पुकारा जाता है। इस प्राचीन भारत की उत्तरी सीमा पर हिमालय पर्वत की श्रेणियाँ स्थित हैं जो इसे पश्चिमी एशिया के अन्य देशों से पृथक् करती हैं। खैबर व बोलन आदि अनेक दर्रे इन पर्वत श्रेणियों के मध्य स्थित हैं। इन दर्रों का भारतीय इतिहास पर विशेष प्रभाव पड़ा है क्योंकि इन्हीं दर्रों के माध्यम से भारतवासियों ने प्राचीन काल में अपनी सभ्यता व संस्कृति का प्रचार विदेशों में किया था तथा इन्हीं दर्रों में से होकर विदेशी आक्रमणकारियों का ताँता लगा रहा। हिमालय की पूर्वी पर्वत शृंखलाओं ने भारत को हिन्द चीन, मलाया व श्याम आदि देशों से पृथक् किया है। दक्षिण में भारत तीन ओर समुद्र से घिरा हुआ है।

जनसंख्या की दृष्टि से भारत संसार का चीन के बाद सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश है। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 121 करोड़ हो गई है।

1.2.2 भारत के प्राकृतिक विभाग (Physical Division)

भारत भौगोलिक दृष्टि से एक पूर्ण इकाई है। यहाँ विभिन्न प्रकार की जलवायु, विभिन्न प्रकार की भूमि तथा विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थ प्राप्त हैं। कहीं संसार की सबसे ऊँची चोटियों वाला विशाल पर्वत है तो दूसरी ओर एक विस्तृत पठारी प्रदेश है। कहीं नदियों की लाई हुई मिट्टी से बना विशाल उर्वरा मैदान है तो कहीं दूर-दूर तक फैला हुआ रेगिस्तान है। इन सभी प्रदेशों ने भारत के रहने वाले लोगों के जीवन को प्रभावित किया है। भारतीय जनता के जीवन पर पड़ने वाले इस प्रभाव के अध्ययन के साथ-साथ नीचे भारत के प्राकृतिक विभागों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

भारत को प्राकृतिक दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है–(क) हिमालय पर्वत की शृंखलाएँ (ख) उत्तर का विशाल मैदान (ग) दक्षिण का पठार (घ) दक्षिण के मैदान।

(क) हिमालय पर्वत की शृंखलाएँ–भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत है, जिसकी विभिन्न श्रेणियाँ पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई हैं। असम से लेकर कश्मीर तक लगभग 1500 मील लम्बी ये पर्वत श्रेणियाँ लगभग 150 से लेकर 200 मील तक चौड़ी हैं। हिमालय पर्वत भारत को तिब्बत से पृथक् करता है। इस पर्वत की अनेक ऊँची-ऊँची चोटियाँ हैं जिनमें गौरी शंकर या एवरेस्ट संसार में सबसे ऊँची पर्वत श्रेणी है, इसकी ऊँचाई 29 हजार फुट से अधिक है। हिमालय के पश्चिमी भाग में अनेक प्रसिद्ध दर्रे हैं जिन्होंने भारत के इतिहास को बहुत प्रभावित किया है। इनमें खैबर, बोलन व कुर्रम आदि प्रसिद्ध हैं।

हिन्दुकुश पर्वत इसकी पश्चिमी सीमा है। पश्चिम की अन्य शाखाएँ सफेद कोह, सुलेमान व किरथर आदि हैं। इनके पश्चिम में अफगानिस्तान और बलूचिस्तान के राज्य हैं जो प्राचीन काल में भारत की सीमाओं में ही गिने जाते थे। 1947 के भारत विभाजन के पश्चात् ये पर्वत श्रेणियाँ पाकिस्तान का अंग बन गई हैं। पूर्व में इसकी शृंखलाएँ बर्मा से अलग करती हैं।

1.2.3 हिमालय पर्वत का प्रभाव (Effect of the Himalayas)

(1) पश्चिम से विदेशी जातियों के आक्रमण–भारत के उत्तर पश्चिम में हिमालय पर्वत की ऊँची शृंखलाओं में अनेक दर्रे हैं जिनमें खैबर, बोलन, गोमल, टोची व कुर्रम आदि से अनेक विदेशी जातियों–यवन, हूण, शक, तुर्क व मुगल आदि–ने भारत पर आक्रमण किये। कभी ये जातियाँ पराजित हुईं और कभी इन्होंने भारत की शान्ति को भंग किया। भारतीय संस्कृति पर इन जातियों की सभ्यता की छाप पड़ी। इस प्रकार भारत सदा अपनी इस उत्तर-पश्चिमी सीमा की ओर सजग रहा और जब कभी केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हुई तो विदेशियों ने आक्रमण करके सम्पूर्ण उत्तर भारत में अशान्ति उत्पन्न कर दी।

(2) भारत की सुरक्षा–हिमालय पर्वत ने भारत के प्रहरी के रूप में इसकी उत्तरी सीमा को सुरक्षा प्रदान की है। हिमालय की पश्चिमी व पूर्वी पर्वत श्रेणियाँ नीची हैं, किन्तु उत्तर में हिमालय अभेद्य दीवार के रूप में खड़ा है। चीन व तिब्बत जाने के लिए हिमालय पर्वत की श्रेणियों के दर्रे बहुत सँकरें हैं और अधिकांश हिम से ढके रहते हैं। अतः वर्तमान काल तक भारत की उत्तरी सीमा सुरक्षित बनी रही। 1962 में प्रथम बार चीन ने आक्रमण करके भारत को

नोट

अपनी इस सीमा की सुरक्षा के लिए भी सजग कर दिया। हिमालय की गोद में बसे नेपाल, भूटान तथा सिक्किम आदि देश हिमालय की छत्र-छाया में सदा से फल-फूल रहे हैं और भारतीय सभ्यता के प्रभाव से ओत-प्रोत हैं।

(3) ठण्डी हवाओं से रक्षा–हिमालय पर्वत ने न केवल उत्तरी सीमा की सुरक्षा का कार्य किया है बल्कि उत्तर से आने वाली ठण्डी हवाओं को रोक कर भारत की रक्षा की है। यदि हिमालय न होता तो ठण्डी हवाएँ सम्पूर्ण भारत को ठण्डा बना देतीं।

(4) भारत की समृद्धि में योग–इतना ही नहीं, हिमालय पर्वत जलयुक्त हवाओं को रोककर मैदानों में वर्षा की व्यवस्था भी करता है। हिमालय से निकल कर वर्ष भर बहने वाली अनेक बड़ी नदियाँ इस सम्पूर्ण प्रदेश को उर्वरा बनाती हैं। इन नदियों के माध्यम से एक ओर सिंचाई होती है और दूसरी ओर इनकी लाई हुई मिट्टी से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। यही कारण है कि यह क्षेत्र समृद्धि के लिए प्रसिद्ध है।

(5) भारतीय संस्कृति की पृथकता–हिमालय पर्वत ने भारत को शेष एशिया से पृथक बनाया है परिणामस्वरूप भारत में एशिया की विभिन्न संस्कृतियों से भिन्न एक विशिष्ट संस्कृति के विकास में सहायता दी है। आज भी भारत अपनी विलक्षण संस्कृति के लिए संसार में प्रसिद्ध है।

(6) आध्यात्मिकता के विकास में वृद्धि–हिमालय पर्वत की एकान्त शान्त घाटियों ने भारतीय जनता को यहाँ बैठकर जीवन व मृत्यु की जटिलतम समस्याओं पर गम्भीर अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। भारत के ऋषि मुनियों ने हिमालय की इन्हीं कन्दराओं में बैठकर आध्यात्मिक क्षेत्र में अनेक गम्भीर समस्याओं का मनन किया और सुख का मार्ग खोजा। भारत की आध्यात्मिकता पर आधारित संस्कृति की तुलना संसार में किसी दूसरी संस्कृति से नहीं की जा सकती। ऐसी महान संस्कृति के विकास के लिए भारत हिमालय का ऋणी है।

(7) पश्चिमी संसार से सम्पर्क–उत्तर पश्चिम में स्थित अनेक दर्रों ने जहाँ अनेक जातियों को भारत पर आक्रमण करने का मार्ग दिया, वहाँ भारत को इन दर्रों के माध्यम से पश्चिमी एशिया व मध्य एशिया देशों से सम्पर्क स्थापित करने का अवसर दिया। भारतीय संस्कृति का प्रचार सर्वाधिक इसी मार्ग से हुआ और आज भी इन दर्रों के पश्चिम में स्थित देश भारतीय सभ्यता के ऋणी हैं। इतना ही नहीं, भारत का व्यापारिक सम्पर्क भी इन दर्रों के द्वारा पश्चिमी जगत से दूर-दूर तक स्थापित हुआ।

(ख) उत्तर का विशाल मैदान–हिमालय के दक्षिण में तथा विंध्याचल पर्वत के मध्य तक फैला हुआ यह विस्तृत मैदान अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक लगभग 2000 मील लम्बा है और 150 से 200 मील तक चौड़ा है। यह प्रदेश मूलत: तीन नदियों–सिंधु, गंगा तथा ब्रह्मपुत्र व इनकी सहायक नदियों का विस्तृत क्षेत्र है।

(1) सिन्धु नदी का मैदान–गंगा के मैदान के पश्चिम में सिन्धु नदी का मैदान स्थित है। इन दोनों मैदानों को एक क्षेत्र विभाजित करता है जो दक्षिण से अरावली और उत्तर से शिवालिक की श्रेणियों के मिल जाने से बना है। दिल्ली नगर इन्हीं दोनों मैदानों के बीच बसा हुआ है। सिंधु नदी के मैदान में कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, पानीपत आदि स्थान प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहे हैं। इस क्षेत्र के पश्चिम में खैबर दर्रे तक विस्तृत मैदान है और कोई प्राकृतिक रुकावट न होने के कारण विदेशी आक्रमणकारियों ने इस क्षेत्र को अपने अधीन करके दिल्ली तक धावे बोले।

(2) गंगा का मैदान–गंगा का मैदान हिमालय के ठीक दक्षिण में स्थित है। यह उत्तरी भारत के मध्य का क्षेत्र है। यह आर्यवर्त भी कहलाता है क्योंकि यहाँ आर्य राजाओं ने शक्तिशाली राज्यों की नींव डाली और आर्य संस्कृति का यहाँ विकास हुआ। गंगा तथा यमुना की सहायक नदियों ने इसे बहुत उपजाऊ बनाया है। अत: यह क्षेत्र भारत की घनी आबादी वाले क्षेत्रों में से एक है। यहाँ के लोग बड़े समृद्ध हैं।

(3) ब्रह्मपुत्र का मैदान–गंगा के मैदान के पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी का मैदान है। ब्रह्मपुत्र वास्तव में एक पहाड़ी नदी है। इस कारण ब्रह्मपुत्र की घाटी प्राकृतिक दृष्टि से गंगा व सिन्धु नदियों की घाटियों से भिन्न है। यह क्षेत्र बहुत उपजाऊ भी नहीं है तथा यहाँ भूमि अधिकांशत: पथरीली है, वर्षा बहुत होती है। अत: यह क्षेत्र कम समृद्ध है।

1.2.4 उत्तर के विशाल मैदान का प्रभाव (Effect of Indo-Gangetic Plain)

इस विशाल मैदान का भारतीय इतिहास पर बड़ा दूरगामी प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–

नोट

(1) उपजाऊ मैदान—उत्तर का यह विशाल मैदान अनेक बड़ी नदियों तथा उनकी सहायक नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से उपजाऊ बना है। वास्तव में इस मैदान में नदियों का जाल-सा बिछा हुआ है। इस मैदान की उपजाऊ मिट्टी के कारण यहाँ के लोगों का मुख्य धन्धा कृषि है और यह भारत के सर्वाधिक समृद्ध क्षेत्रों में गिना जाता है।

(2) भारतीय सभ्यता का केन्द्र—इस मैदान की एक विशेषता यह रही है कि यह भारतीय सभ्यता व संस्कृति का केन्द्र बना रहा है। इन नदियों के किनारे अनेक सभ्यताओं ने जन्म लिया और इन सभ्यताओं की छाप न केवल भारत बल्कि संसार के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ी। दिल्ली, बनारस, लखनऊ, मथुरा, पाटलिपुत्र आदि स्थान अपनी-अपनी विशिष्टताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। नालन्दा, तक्षशिला व सारनाथ जैसे विश्वविद्यालय भी यहीं स्थापित हुए।

(3) विदेशी आक्रमणकारियों का आकर्षण—इस क्षेत्र की समृद्धि के कारण ही विदेशों में भारत 'सोने की चिड़िया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ की समृद्धि ने अनेक विदेशी जातियों को आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार इस क्षेत्र के लोग सदा संघर्षमय जीवन बिताने के लिए मजबूर हुए।

(4) अनेक साम्राज्यों की स्थापना—भारत का इतिहास वास्तव में अधिकांशत: उत्तरी भारत में होने वाली उथल-पुथल का ही दूसरा नाम है क्योंकि यहाँ की राजनीतिक घटनाओं ने सम्पूर्ण देश को प्रभावित किया है। इस क्षेत्र में देश के अति शक्तिशाली साम्राज्यों की स्थापना हुई। जिसमें मौर्य, गुप्त, खिलजी व मुगल साम्राज्य संसार प्रसिद्ध हैं। इन साम्राज्यों की राजधानियाँ इसी मैदान में स्थित थीं।

(5) महान् विभूतियों की जन्म-भूमि—इस क्षेत्र को अनेक महान् विभूतियों को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, नानक व परमहंस जैसी विभूतियों ने यहीं जन्म लिया और इसके कारण यह देश सदा के लिए अमर हो गया।

(ग) दक्षिण का पठार—उत्तर के विशाल मैदान के दक्षिण में विंध्याचल पर्वत है। इस विंध्याचल पर्वत तथा सतपुड़ा की शृंखलाओं को लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ तिकोना क्षेत्र दक्षिण का पठार कहलाता है। दक्षिण के पठार तथा उत्तर के विशाल मैदान को विंध्याचल पर्वत दो भागों में विभाजित करता है। यह पठार पश्चिम से पूर्व की ओर ढालू है। अत: नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, कृष्णा, महानदी तथा कावेरी आदि यहाँ की प्रमुख नदियाँ हैं। विंध्याचल पर्वत के मध्य में होने के कारण भारत के उत्तर व दक्षिण का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका। इसके लाभ भी हुए और हानियाँ भी। एक ओर विदेशी आक्रमणकारी आर्यावर्त तक ही सीमित रहे और विंध्याचल को पार करके दक्षिण की ओर नहीं गए। अत: दक्षिण अधिकांशत: विदेशी आक्रमणकारियों से अछूता रहा तो दूसरी ओर उत्तर व दक्षिण के जीवन में एकरूपता स्थापित न हो सकी और भारत में एकरूप जीवन स्थापित होने में बहुत देर लगी।

1.2.5 दक्षिण के पठार का प्रभाव (Effect of the Deccan Plateau)

(1) उत्तर से पृथकता—विंध्याचल पर्वत के बीच होने के कारण उत्तर भारत का प्रभाव शीघ्रता से दक्षिणी भारत पर न हो सका। दोनों क्षेत्रों की समस्यायें व परिस्थितियाँ भिन्न होने के कारण दोनों स्थानों पर भिन्न-भिन्न सभ्यताओं का विकास हुआ। उत्तर की विशिष्ट संस्कृति को दक्षिण तक पहुँचने में बहुत समय लग गया। मुस्लिम आक्रमणकारियों को भी दक्षिण को विजय करना कठिन प्रतीत हुआ। अत: दक्षिण भारत मुस्लिम सभ्यता के प्रभाव से भी अछूता रहा। दक्षिण की भाषाएँ तथा यहाँ की कलाकृतियाँ आदि आज भी उत्तर से भिन्न हैं और अपनी विशिष्टता बनाये हुए हैं।

(2) स्वतन्त्रता व युद्धप्रिय जातियाँ—दक्षिण के निवासी कठोर जीवन व्यतीत करने वाले व अध्यावसायी हैं क्योंकि यहाँ जीवकोपार्जन में पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है। यही कारण है कि यहाँ के लोग युद्धप्रिय हैं और कठिनाई में न घबराने वाले हैं। उत्तर के आक्रमणकारियों के प्रभाव से अछूते रहने के कारण इनमें स्वतन्त्रता की भावना बनी रही और जब उत्तर से किसी शक्ति ने इन्हें परतन्त्र बनाने का प्रयास किया तो ये निरन्तर युद्ध करते रहे और स्वतन्त्रता को बनाये रखा। यद्यपि औरंगजेब कुछ समय के लिए दक्षिण को अपने अधिकार में करने में सफल हो गया किन्तु इसके लिए उसे बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी।

नोट

(3) 'गुरिल्ला' युद्ध प्रणाली–यह क्षेत्र मुख्यत: पथरीला है तथा पर्वत श्रेणियों व जंगलों से घिरा हुआ है और यहाँ खुले मैदान में विशाल सेनाओं का आमने-सामने युद्ध हो पाना कठिन था अत: यहाँ के योद्धाओं ने 'गुरिल्ला युद्ध प्रणाली' को अपनाया। यह प्रणाली इस क्षेत्र के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। उत्तर की विशाल सेनाएँ यहाँ के छापामार युद्ध से बहुत आतंकित थीं। मराठों ने इस युद्ध प्रणाली में विशेष प्रवीणता प्राप्त की और मुगलों को आतंकित करने में सफलता प्राप्त की। उनकी युद्धप्रियता व स्वतन्त्रप्रियता ने भारत में एक विशाल मराठा साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

(4) शक्तिशाली साम्राज्यों की स्थापना–दक्षिण में विभिन्न कालों में अनेक शक्तिशाली साम्राज्यों की स्थापना हुई है। कभी कलिंग, आंध्र, चोल, चालुक्य व पल्लव राज्य स्थापित हुए तो कभी विजय नगर का साम्राज्य स्थापित हुआ। एक समय में बहमनी राज्य की शक्ति का सम्पूर्ण दक्षिण में लोहा माना जाता था तो कभी मराठे न केवल दक्षिण तक सीमित रहे बल्कि उत्तर में उन्होंने बहुत दूर तक धावे बोले और एक विशाल मराठा संघ की स्थापना की।

(5) कला के उत्कृष्ट नमूने–दक्षिण में उत्तर की अपेक्षा अधिक शान्ति स्थापित रही। जिन आक्रमणकारियों ने उत्तर पर आक्रमण किया वे दक्षिण की ओर न आ सके और दक्षिण में स्थापित राज्यों ने कला व साहित्य के क्षेत्र में बहुत प्रगति की। आज भी कला के ये उत्कृष्ट नमूने यहाँ की सभ्यता के साक्षी के रूप में विद्यमान हैं।

(घ) दक्षिण के मैदान–दक्षिण के पठार के पूर्व व पश्चिम में समुद्र के किनारे-किनारे लम्बे व **संकरे** मैदान हैं, इन मैदानों को पूर्वी व पश्चिमी घाट की पर्वत शृंखलाएँ दक्षिण के पठार से अलग करती हैं। ये मैदान उपजाऊ व सम-जलवायु वाले हैं, अत: घने आबाद हैं। समुद्र के कारण यहाँ के लोग परिश्रमी व निडर बन गए हैं।

दक्षिण के मैदानों का प्रभाव (Effect of Deccan Plains)

(1) उपजाऊ भूमि–दक्षिण के इन मैदानों की भूमि उपजाऊ है। समुद्र के किनारे स्थित होने के कारण यहाँ की जलवायु सम है। वर्षा भी पर्याप्त होती है। समुद्र का किनारा होने के कारण व्यवसाय के साधन भी पर्याप्त हैं, अत: यह घनी जनसंख्या वाले प्रदेश हैं और यहाँ के लोग समृद्ध हैं।

(2) कुशल नाविक–समुद्र के किनारे रहने के कारण यहाँ के लोग कुशल नाविक हैं और इसी कारण इन लोगों ने समुद्री मार्ग से संसार के विभिन्न देशों से व्यापार सम्बन्ध स्थापित किये। प्राचीन काल से ही भारत का व्यापार जल यातायात द्वारा पश्चिमी व पूर्वी देशों से होता रहा है।

(3) भारतीय संस्कृति का प्रसार–समुद्री मार्ग के द्वारा भारतवासियों ने न केवल विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये बल्कि भारतीय संस्कृति का प्रसार भी किया। पूर्व के अनेक देश जैसे जावा, सुमात्रा, स्याम व हिन्द चीन आदि देशों में भारतीय सभ्यता की छाप आज भी दिखाई देती है।

(4) विदेशी आक्रमणकारियों से रक्षा–समुद्र के किनारे के इन क्षेत्रों में विदेशी आक्रमणकारियों का भय यूरोपीय जातियों के आगमन से पूर्व तक नहीं था, अत: यहाँ भारतीय संस्कृति का विकास अक्षुण्य बना रहा।

1.3 भारतीय इतिहास पर भूगोल का प्रभाव (Effects of Physical Features on Indian History)

भारतीय इतिहास पर भूगोल का जो विशेष प्रभाव पड़ा है उसका थोड़ा-सा अभ्यास गत पृष्ठों में किए वर्णन से पाठकों को हो गया होगा। भारतीय इतिहास का वर्णन ज्यों-ज्यों विस्तार से किया जाएगा, भूगोल का यह प्रभाव अधिक स्पष्ट होता जाएगा। पाठकों की सुविधा के लिए भूगोल के कुछ प्रमुख प्रभावों को नीचे दिया जा रहा है–

(1) विभिन्न क्षेत्रों में विभाजन का प्रभाव–भारत भौगोलिक दृष्टि से अनेक क्षेत्रों में विभाजित है इसका कारण इसकी विशालता है। ये भौगोलिक क्षेत्र एक-दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से भिन्न क्षेत्रों ने राजनैतिक व सामाजिक दृष्टि से भी भिन्नता स्थापित करने में सहायता दी है। विभिन्न क्षेत्रों में राजनैतिक सत्ताएँ स्थापित हुई हैं और भारत राजनैतिक दृष्टि से विभाजित दिखाई देता रहा है किन्तु भारत की सीमाएँ बड़ी दृढ़ रही हैं और प्रत्येक राजनैतिक इकाई में भारतीय संस्कृति के विकास का ही प्रयास किया गया है। अत: इन विभिन्न क्षेत्रों का कोई विशेष

नोट

उल्टा प्रभाव भारत के जीवन पर नहीं पड़ा और न ही भारतीय जनता के मन पर, चाहे यह किसी भी क्षेत्र में निवास करती है। भारत की एकता का प्रभाव सदा अंकित रहा है और सम्पूर्ण भारतीय प्रदेश में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ है।

(2) सांस्कृतिक एकता—भारत जैसे विशाल देश में जो भौगोलिक दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में बँटा हुआ है, सांस्कृतिक एकता की स्थापना यहाँ की अपनी विशेषता है। यहाँ की जनता आध्यात्मवादी है। धर्म के क्षेत्र में सभी को स्वतन्त्रता प्राप्त होना, कुछ सनातन सत्य सिद्धान्तों में विश्वास करना तथा मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाकर सच्चा मानव बनाना, यहाँ की संस्कृति की विशेषता है और यह विशेषता सारे देश में एक समान पाई जाती है। इस प्रकार भारत प्राकृतिक दृष्टि से एक सम्पूर्ण भू-खण्ड है। इस सांस्कृतिक एकता ने भारतीय इतिहास को सदा प्रभावित किया है।

(3) प्राकृतिक विभागों का विशेष प्रभाव—भारत के प्रत्येक प्राकृतिक विभाग ने इस क्षेत्र के साथ-साथ सम्पूर्ण भारत के इतिहास को प्रभावित किया है। जैसे राजस्थान का मरुस्थल—गंगा व सिन्ध के मैदानों को पृथक् करता है। इस मरुस्थल के कारण विदेशी आक्रमणकारी एक मैदान से दूसरे में न जा सके और वे सदा उत्तर की ओर ही बढ़े, परिणामस्वरूप दिल्ली का महत्त्व सदा बना रहा। पंजाब ने अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भारत के प्रहरी व रक्षक के रूप में कार्य किया है। दक्षिण का क्षेत्र विदेशी आक्रमणकारियों से अछूता रहा। मराठों ने अपने क्षेत्र की विशेष स्थिति के कारण भारतीय इतिहास में अपना विशेष स्थान बनाया।

(4) आध्यात्मिक उन्नति—भारतीय जनता के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से हो जाने के कारण यहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति करने का प्रयास किया गया। भौतिकता को उन्होंने हेय माना, गुरु की प्राप्ति का प्रयास किया। हिमालय पर्वत की घाटियों में एकान्तवासी जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करने का प्रयास भारत के लोगों ने किया। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने भारतीय इतिहास को बहुत प्रभावित किया। भारतीय राजनीतिक आध्यात्मिक आधारों पर प्रतिभा रही, अत: वह कल्याणकारी सिद्ध हुई।

(5) साम्राज्यवाद का विरोध—आध्यात्मिकवादी होने के कारण भारतीय साम्राज्यवादी विरोधी रहे हैं। भारत के सम्राट भारतीय सीमाओं तक सन्तुष्ट रहे हैं। यद्यपि भारतवासियों ने संसार के विभिन्न क्षेत्रों में जाकर उपनिवेश स्थापित किए किन्तु उनके मन में कभी भी साम्राज्यवाद की भावना का उदय नहीं हुआ। वे शरीर के स्थान पर व्यक्ति के मन व हृदय को जीतना चाहते थे, अत: भारतवासियों ने सांस्कृतिक विजय प्राप्त की व सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किया और भारत जगत गुरु कहलाया।

(6) भौतिक क्षेत्र में विशेष उन्नति—एक ओर जहाँ भारत की भौगोलिक स्थिति ने यहां आध्यात्मिकता के गुणों के विकास को सहायता दी, वहाँ इसी भौगोलिक व प्राकृतिक स्थिति ने भौतिक क्षेत्र में उन्नति का भरपूर अवसर दिया। भारत ने कृषि, कला-कौशल, औद्योगिक उत्पादन व वैज्ञानिक आविष्कारों के क्षेत्र में इतनी प्रगति की कि यहाँ के निवासी संसार भर में अपनी समृद्धि के लिए प्रसिद्ध हो गए और भारत 'सोने की चिड़िया' कहलाने लगा। अनेक विदेशी आक्रमणकारियों ने इस समृद्धि से आकर्षित होकर भारत पर आक्रमण किए।

(7) विश्व से अलग-थलग होना—साम्राज्यवाद की भावना के विरोध के कारण तथा भारतीय सम्राटों के भारत भूमि तक सीमित रहने में सन्तोष अनुभव करने के कारण भारतवर्ष का विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से सम्पर्क न रह सका परिणामस्वरूप वह अलग-थलग पड़ गया। भारत की प्राकृतिक निश्चित सीमाओं ने भारतवासियों के मन में अपने देश तक सीमित रहने की भावना को दृढ़ किया, अत: विश्व में होने वाले परिवर्तनों से भारत अनभिज्ञ रहा। इसके अनेक दुष्परिणाम हुए। संसार में होने वाली विभिन्न क्षेत्रों की उन्नति व प्रगति से भारत अछूता रहा और जब विदेशी आक्रमणकारियों से उसका वास्ता पड़ा तो उसने अपने को समय से पिछड़ा हुआ पाया।

1.4 प्राचीन जातीय-भाषायी समूह (Ancient Ethnos-Linguistic Groups)

जाति तथा भाषाओं के आधार पर भारत की जातियों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है— (1) उत्तरी भारत, (2) दक्षिण का पठार, (3) सुदूर दक्षिण तथा (4) अन्य क्षेत्र। नीचे इन्हीं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है—

नोट

(1) उत्तरी भारत–हिमालय व विन्ध्याचल के मध्य भाग को उत्तरी भारत कहा जाता है, प्राचीन काल में इसी को आर्यावर्त कहते थे। इस भूखण्ड के एक ओर पश्चिम में सिन्धु नदी तथा उसकी सहायक नदियाँ हैं तो दूसरी ओर पूर्व में गंगा और उसकी सहायक नदियाँ हैं। इस प्रकार एक ओर कश्मीर, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पंजाब तथा सिन्ध हैं तो दूसरी ओर उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल प्रान्त हैं। भारत की पूर्वी सीमा बनाने वाला असम प्रदेश तथा भारत का मरुस्थल राजस्थान भी इसी क्षेत्र का भाग है। 1947 के पश्चात से सिन्ध व पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त भारत से पृथक् हो गए हैं और पंजाब तथा बंगाल का विभाजन होकर नए प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों का निर्माण हो गया है।

उत्तर भारत जो आर्यावर्त के नाम से प्रख्यात था, आर्यों की भूमि माना जाता है। यहाँ अब भी आर्य जो अभिजात वर्ग के थे उनकी सभ्यता का साम्राज्य है। यद्यपि प्राचीन काल में सबसे पहले द्रविड़ लोगों का ही उत्तर भारत में प्रभुत्व था किन्तु आर्यों के प्रसार ने द्रविड़ लोगों के प्रभाव को यहाँ से समाप्त कर दिया। आर्यों के बाद भी उत्तर भारत में अनेक विदेशी जातियों ने आक्रमण किए और यहाँ आकर बस गईं। शक, हूण, यवन व कुषाण आदि जातियाँ यहाँ आईं किन्तु वे यहाँ की संस्कृति में विलीन हो गईं और उनका कोई उल्लेखनीय प्रभाव दिखाई नहीं देता। किन्तु इसके विपरीत मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत को अत्यधिक प्रभावित किया और बड़ी संख्या में भारतवासियों को मुसलमान बनाया। इससे नई सभ्यता का विकास हुआ।

आज भी पंजाब, कश्मीर तथा राजस्थान के लोगों में आर्यों का रंग-रूप मिलता है। कद लम्बा, रंग गोरा, बाल काले व घने, आँखें काली, पतली व उठी हुई नाक तथा लम्बा सर आर्यों के वंशजों के प्रतीक हैं। जितना पूर्व में जाते हैं उतना ही आर्यों के रंग-रूप में कमी होती जाती है। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में मिश्रित जातियाँ विद्यमान हैं। बंगाल, असम व उड़ीसा में द्रविड़ व मंगोल जातियों का मिश्रण है। यद्यपि यहाँ भी उच्च जातियाँ उत्तर प्रदेश व बिहार के समान साधारणत: आर्यों से सम्बन्धित दिखाई देती हैं।

उत्तर भारत में भाषाएँ भी आर्य भाषाएँ हैं जिनमें मुख्यत: हिन्दी, बंगाली, गुजराती, असमिया, पंजाबी व कश्मीरी हैं। ये संस्कृत से सम्बन्धित हैं और कुछ तो उस पर आश्रित हैं। हिन्दी उत्तर भारत के एक विशाल प्रदेश की भाषा है जिसमें अनेक बोलियाँ हैं जैसे ब्रज, अवधी, मारवाड़ी व भोजपुरी आदि। हिन्दी का ही एक दूसरा रूप उर्दू है। उर्दू का विकास मुसलमानों, कायस्थों व कश्मीरियों के द्वारा हुआ है।

(2) दक्षिण का पठार–कृष्णा नदी तथा उसकी सहायक तुंगभद्रा नदी दक्षिणी भारत को दो भागों में बाँटती है। उत्तर भारत के दक्षिण का वह सम्पूर्ण प्रदेश जो दक्षिण में कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदी तक फैला हुआ है, दक्षिण का पठार कहलाता है। प्राचीनकाल में यह द्रविड़ों का प्रदेश था किन्तु आर्यों के आर्यावर्त से नीचे की ओर फैलने पर यहाँ भी उनका प्रभाव स्थापित हो गया। यहाँ के लोग भी मिश्रित प्रकार हैं और यहाँ की भाषाएँ जैसे गुजराती, मराठी उड़िया आदि भी आर्य परिवार की भाषाएँ हैं। इस क्षेत्र के उत्तर-पश्चिमी भाग में आर्यों व सीथियनों के रक्त का सम्मिश्रण दिखाई देता है। यद्यपि उच्च जातियाँ आर्यों की ही सन्तान हैं।

(3) सुदूर दक्षिण–भारत का सुदूर दक्षिण क्षेत्र जो कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित है, आज भी द्रविड़ सभ्यता के प्रभाव का क्षेत्र है। इस प्रदेश में जो चार भाषाएँ तमिल, तेलुगू, कन्नड़ व मलयालम प्रचलित हैं, वे द्रविड़ परिवार की हैं। यद्यपि ये सभी उन्नत भाषाएँ हैं किन्तु तमिल भाषा अपने साहित्य के उत्कर्ष के लिए विशेष प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में यहाँ चोल वाष्ड्य तथा केरल नामक सबल साम्राज्य स्थापित हुए थे। यद्यपि इस प्रदेश की भाषाएँ, सभ्यता व संस्कृति मूलत: द्रविड़ है किन्तु आर्य ब्राह्मणों के विस्तार से यहाँ की सभ्यता व संस्कृति पर आर्यों का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है और संस्कृत भाषा का भी प्रभाव यहाँ की भाषाओं पर पड़ा है।

इस प्रदेश के लोग मूलत: द्रविड़ हैं जो छोटे कद के श्याम वर्ण वाले हैं। इनकी नाक चपटी बाल घने व घुंघराले और सिर लम्बा है। इतना होते हुए भी यहाँ आर्यों के वंश के लोगों की भी संख्या पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

(4) अन्य क्षेत्र–उपरोक्त प्रमुख क्षेत्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे गिरिवासी तथा वनवासी भी हैं जिनकी बोली देश की प्रमुख भाषाओं से भिन्न है। ये मझोले कद के, श्याम वर्ण लोग हैं और मुख्यत: पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश व राजस्थान आदि क्षेत्रों के वनों में या पहाड़ियों में निवास करते हैं। इनमें मुख्य कोल, भील व सन्थाल आदि प्रमुख हैं।

नोट

इसके अतिरिक्त हिमालय की तराई के क्षेत्र में जिनमें गढ़वाल, भूटान, **सिक्किम** व असम प्रमुख रूप से आते हैं, विशिष्ट जाति के लोग रहते हैं। इनका रंग पीला, छोटी आँखें तथा चेहरा चपटा होता है। इनकी अनेक बोलियाँ भी देश की प्रमुख भाषाओं से भिन्न हैं।

1.5 सारांश (Summary)

- भारत संसार का एकमात्र ऐसा प्राचीन देश है जिसने मानव को सबसे पहले सभ्य व सुसंस्कृत बनाया।
- कवि मोहम्मद इकबाल ने कहा भी है कि 'यूनान, मिस्र, रोमां सब मिट गए जहां से, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।'
- भारत एक प्राचीन देश है। अनेक **भारतीय विद्वानों के अनुसार** भारत की सभ्यता संसार की प्राचीनतम सभ्यता है। भारतवासियों ने जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया और लेखन-कला में पारंगत होने के कारण उन्होंने काव्य, दर्शन, कला, विज्ञान व अन्य विषयों पर श्रेष्ठ ग्रंथों की रचना की। **विदेशी विद्वानों के मतानुसार** भी भारतीय मिस्र, मेसोपोटामिया व चीन आदि प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास से अधिक प्राचीन है।
- **सांची** (भोपाल के पास) की खुदाई से बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

1.6 शब्दकोश (Keywords)

- ऐतिहासिक चेतना (Historical Sense) : इतिहास की चेतना
- स्मारक (Monouments) : स्मारक

1.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. प्राचीन भारत की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. प्राचीन भारत के इतिहास जानने के प्रमुख स्रोतों का वर्णन कीजिए।
3. भारत के प्रमुख विभागों का वर्णन करो।
4. भारत की भौगोलिक स्थिति का यहां के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. भारत	2. मोहम्मद इकबाल	3. हेरोडोट्स	4. (*b*)
5. (*b*)	6. (*a*)	7. (*d*)	8. सही
9. गलत	10. सही	11. सही	12. गलत।

1.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास—*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास—*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण—*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास—*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास—*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*

नोट

इकाई–2: प्रागैतिहासिक काल (पाषाण काल)
[The Pre-Historic Age (Stone Age)]

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
2.1 पूर्व-पाषाण काल (Palaeolithic or Old Stone Age)
2.2 नव-पाषाण काल (Neolithic or New Stone Age)
2.3 ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ (Chalcolithic Cultures)
2.4 सारांश (Summary)
2.5 शब्दकोश (Keywords)
2.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
2.7 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- पाषाणकालीन सभ्यता को समझने हेतु।
- नव-पाषाण काल की विशेषताओं का वर्णन करने हेतु।
- ताम्रपाषाण संस्कृतियों को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मानव और उसकी सभ्यता का उदय व विकास इतिहास की एक बड़ी मनोरंजक कहानी है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मानव की उत्पत्ति कब हुई। विद्वानों का मत है कि करोड़ों वर्ष पूर्व हिमालय आदि अनेक पर्वतों का निर्माण हुआ। अनेक हिम युगों के बीतने के पश्चात आज से लगभग पाँच लाख वर्ष पूर्व मानव पृथ्वी पर रहने लगा। वह पशुओं के समान इधर-उधर घूम कर अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने लगा, किन्तु अन्य पशुओं की तुलना में उसका मस्तिष्क अधिक सचेत था। कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि मानव की उत्पत्ति सर्वप्रथम भारत में ही हुई। उसका मूल निवास दक्षिण भारत में था किन्तु पहले हिम युग के पश्चात वह पंजाब की ओर चला गया। उत्तर पश्चिमी पंजाब और शिवालिक की पहाड़ियों में इसके प्रमाण मिलते हैं।

मनुष्य की आदि अवस्था के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं। भारत के लोगों का विश्वास है कि अति प्राचीन काल में सतयुग था। यह वह काल था जिसमें सभी मनुष्य सुखपूर्वक रहते थे। धर्मपरायण थे तथा उच्च आदर्शों का अनुसरण करते थे। कुछ दार्शनिकों ने इसे 'प्राकृतिक अवस्था' की संज्ञा दी है। जब मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक

नोट

अपना जीवन व्यतीत करता था। उस समय किसी प्रकार की असुविधाएँ नहीं थीं। किन्तु इतिहासकार इन कल्पनाओं को मान्यता नहीं देते। उनका मत है कि मनुष्य का क्रमिक विकास हुआ है और वह धीरे-धीरे सभ्यता की ओर बढ़ा है। प्रारम्भिक मानव का जीवन पशु तुल्य था किन्तु हजारों वर्षों के व्यतीत होने के पश्चात उसने सभ्य जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। इस काल की जानकारी निश्चित प्रमाणों से प्राप्त होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अत: यह जानकारी अन्य साधनों पर आधारित है। सभ्यता से पूर्व के इस सम्पूर्ण लम्बे काल को प्रागैतिहासिक काल (Pre-historic Age) के नाम से पुकारा जाता है। प्रागैतिहासिक काल को इतिहासकार कई भागों में विभाजित करते हैं क्योंकि इस सारे काल में मानव जीवन एक समान नहीं था। उसके द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले हथियार और औजार जिन पदार्थों के बने उन पदार्थों के नामों पर ही विभिन्न कालों के नाम रखे गये हैं। इस सम्पूर्ण काल के अधिकांश भाग में मानव ने पत्थर के हथियारों व औजारों का उपयोग किया। अत: वह काल **पाषाण काल** (The Stone Age) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। धीरे-धीरे मानव ने ताँबे और लोहे के औजारों का उपयोग प्रारम्भ किया अत: यह बाद का काल **धातु काल** (Metal Age) कहलाता है।

सम्पूर्ण पाषाण काल में भी मानव जीवन का व्यवहार एक समान नहीं था। अत: इसे भी दो भागों **(क) पूर्व पाषाण काल** (Palaeolithic Age or Old Stone Age) तथा **(ख) नव पाषाण काल** (Neolithic Age or New Stone Age) में विभाजित किया जाता है। आगे इन दोनों कालों का विस्तार से वर्णन किया गया है–

2.1 पूर्व-पाषाण काल (Palaeolithic or Old Stone Age)

पूर्व-पाषाण काल मानव सभ्यता का पहला युग था जिसमें वह पशुओं के समान व्यवहार करता था और बर्बर व असभ्य था। भूख व सुरक्षा जैसी दो मूल प्रवृत्तियों पर उसका व्यवहार निर्भर करता था। वह अपना अधिकांश समय भोजन की खोज व जंगली पशुओं से रक्षा करने में व्यतीत करता था। वह हिंसक था और पशुओं को मार कर खाता था। इतिहासकारों की दृष्टि में यह काल आज से छ: लाख वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ और इसका अन्त दस हजार ई. पूर्व हुआ होगा।

इस लम्बे पूर्व-पाषाण काल को भी अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है, जिसका आधार उस काल के हथियारों व औजारों की बनावट है–

(1) प्रारम्भिक पूर्व-पाषाण काल (Early Old Stone Age)

(2) मध्य पूर्व-पाषाण काल (Middle Old Stone Age)

(3) उत्तर पूर्व-पाषाण काल (Later Old Stone Age)

(1) प्रारम्भिक पूर्व-पाषाण काल–सम्भवत: इस काल में अधिकांश भाग बर्फ से ढका रहता था। मनुष्य पूर्णत: प्रकृति पर आश्रित था। वह सामान्यत: पशुओं के समान व्यवहार करता था। किन्तु मस्तिष्क की चंचलता के कारण उसने पत्थर के कुछ औजार बना लिए। ये औजार पशुओं को मारने और जंगली पशुओं से रक्षा में उसकी सहायता करते थे। इस काल के कोर्स औजारों (Cores) की मुख्य पहचान यह है कि मनुष्य ने पत्थर को घिसकर व रगड़कर हाथ से ही उन्हें बनाया था और एक पत्थर के टुकड़े की परत उतारकर काम में लाया जाता था। विभिन्न स्थानों पर मिले इन औजारों का रूप कुल्हाड़ी या गंडासे (Choppers) के समान है जो काटने के काम आते होंगे। भारत में प्रारम्भिक पूर्व-पाषाण काल के अवशेष पंजाब में प्राप्त हुए हैं। उसके अतिरिक्त नर्मदा व गोदावरी नदियों के किनारों पर व सोन नदी की घाटी में भी प्राप्त हुए हैं।

(2) मध्य पूर्व-पाषाण काल–इस काल में औजारों में थोड़ा-सा सुधार होता हुआ दिखाई देता है। ये फ्लेक (Flake) औजार एक बड़े पत्थर में से एक बड़ी परत उतार कर उस परत को गढ़ कर बनाए जाते थे। इस प्रकार के औजार भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पाए गए हैं। ये अवशेष मुख्यत: सोन नदी की घाटी में प्राप्त हुए हैं। तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी भाग में भी ये औजार मिले हैं।

नोट

(3) उत्तर पूर्व-पाषाण काल–पूर्व-पाषाण काल के अन्तिम चरण में मानव ने विकास की एक और सीढ़ी पार की। यह बात इस काल के औजारों की बनावट से पता चलती है। अब जलवायु में भी पर्याप्त बदलाव हो गया था और मौसम कम नम था। इस काल में मानव तेज धार वाले पत्थर के हथियार प्रयोग में लाता था। इन हथियारों के अवशेष महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, छोटा नागपुर के पर्वतीय क्षेत्र तथा कर्नाटक में प्राप्त हुए हैं।

पूर्व-पाषाण काल की विशेषताएँ–भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पूर्व-पाषाण कालीन पत्थर के औजारों व हथियारों के अध्ययन से इतिहासकारों ने अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। ये निष्कर्ष इस काल की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(1) औजार (Tools)–इस काल का मानव असभ्य था और पशुओं के समान व्यवहार करता था। उसे न कृषि का ज्ञान था न पशुपालन का। छोटे-छोटे पशुओं को मार कर उसका माँस ही उसका मुख्य भोजन था। इन पशुओं को मारने के लिए और जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने के लिए उसने कुछ औजार व हथियार बना लिए थे। ये सभी औजार व हथियार क्वार्टजाइट (Quartzite) नामक सख्त पत्थर के बने होते थे, जो उसे रास्ते में इधर-उधर पड़े मिल जाते थे। ये औजार दो प्रकार के थे–कोर (Core) तथा फ्लेक (Flake) **कोर औजार** बनाने के लिए एक पत्थर के दो टुकड़ों को घिसकर या तोड़-फोड़कर इस प्रकार उसकी परत उतारी जाती थी कि शेष पत्थर का टुकड़ा एक उपयोगी औजार के रूप में प्रयोग किया जा सके। फ्लेक औजार सम्भवत: अधिक परिष्कृत थे क्योंकि एक बड़े पत्थर में से एक बड़ी परत उतार कर उसे घिस कर व रगड़ कर तथा पैनी बनाकर औजार के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। उनके हथियारों में कुल्हाड़ी, गंडासे, भाले, तीर के फल, काटने-फेंकने व छीलने के औजार आदि सम्मिलित थे। ये सभी

क्वार्टजाइट

आदिकाल के औजार और हथियार

औजार देखने में भद्दे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव ने पशुओं की हड्डियों का भी औजार बनाने में प्रयोग किया था। यह भी हो सकता है कि आवश्यकतानुसार पेड़ की बड़ी टहनियों का भी इस्तेमाल किया हो क्योंकि वह पेड़ के ऊपर व नीचे रहता था।

(2) सभ्यता के केन्द्र–भारत में पूर्व पाषाण काल के मानव की सभ्यता के केन्द्र अनेक स्थानों पर थे। पुरातत्व विशारदों ने इन केन्द्रों को खोज निकाला है। इन मानवों के द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले पत्थर के औजारों के आधार पर कहा जा सकता है कि मदुरा, त्रिचनापल्ली, धारवाड़, गुजरात, रीवा, तंजौर, मध्य प्रदेश व राजस्थान आदि प्रदेशों में ये लोग केन्द्रित थे। उत्तरी व पूर्वी भारत में इस काल के अवशेष प्राप्त न होने से यह अनुमान लगाया गया है कि यह मानव उन क्षेत्रों में नहीं रहता था। एक दूसरा अनुमान यह भी लगाया जा सकता है कि इन अवशेषों को नदियों ने नष्ट कर दिया हो या समुद्र में बह गए हों। कुछ विद्वान इसी आधार पर यह अनुमान लगाते हैं कि

नोट

पूर्व-पाषाणकाल के मानव की जीवन लीला मध्य व दक्षिण भारत में प्रारम्भ हुई और उसका विस्तार उत्तर व उत्तर पश्चिमी भारत तक हो गया।

(3) निवास स्थान–इस काल में आदि मानव जंगली पशुओं के समान इधर-उधर विचरण करते थे। वे वस्त्रों का भी उपयोग नहीं करते थे। उनका कोई निवास स्थान नहीं था और न घर की कल्पना ही पैदा हुई थी। साधारणत: वह वृक्षों के नीचे निवास करता था और आवश्यकता पड़ने पर वृक्षों पर चढ़ जाता था। वास्तव में ऋतुओं के अनुसार उसके निवास स्थान में परिवर्तन हो जाता था। वर्षा-धूप व शीत से बचने के लिए वह कन्दराओं में निवास करता था। नदियों व झीलों के किनारे भी वह रहता था। इन स्थानों पर मानव के बहुत से अवशेष व पशुओं के चित्र आदि भी मिले हैं, अत: यह अनुमान लगाया गया है कि वह इन स्थानों पर रहता होगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. हड्डी व लकड़ी के औजार मिलते हैं ..... काल में।
2. प्रागैतिहासिक काल के मानव ..... का उपयोग करते थे।
3. मध्यपूर्व पाषाण काल के अवशेष ..... की घाटी में प्राप्त हुए।

(4) आजीविका के साधन–उस काल का मानव पूर्णत: प्रकृति पर आश्रित 'प्राकृत प्राणी' था। पशुपालन व कृषि से अनभिज्ञ होने के कारण वह अपनी जीविका के लिए प्रकृति से प्राप्त होने वाले **कन्द, मूल** तथा **फल** पर निर्भर करता था। इसके साथ ही वह जानवरों को मारकर उनका माँस खाता था। आग जलाने की विद्या से अपरिचित होने के कारण वह कच्चा माँस ही खाता होगा।

पूर्व-पाषाण काल के उपकरण

(5) वस्त्र तथा आभूषण–प्रारम्भ में आदि मानव नग्नावस्था में रहता था, किन्तु सामूहिक जीवन की आवश्यकताओं ने तथा ठण्ड व गर्मी से बचने के लिए उसने वृक्षों की छाल, पत्ते तथा पशुओं की खाल से शरीर ढकना प्रारम्भ कर दिया। इस समय तक मानव की पहुँच केवल पत्थर व हड्डियों तक सीमित थी। अत: वह शंख, सीपी, पशुओं के दाँत तथा पत्थरों से बने आभूषण पहनता था। इन आभूषणों का उपयोग स्त्री व पुरुष दोनों करते थे। समूहों में रहना प्रारम्भ हो जाने के कारण उन्हें लज्जा अनुभव हुई होगी और उन्होंने अपने गुप्त अंगों को ढकना आरम्भ किया होगा।

नोट

(6) कला व संगीत–पूर्व-पाषाण काल के मानव के निवास स्थानों से कला के भी कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं। वह मिट्टी व कोयले से पशु-पक्षियों के चित्र बनाते थे। ये चित्र उनके औजारों पर भी बने हुए प्राप्त हुए हैं। खुदाई में हड्डी से बने हुए कुछ वाद्य यन्त्र मिले हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उनमें संगीत के प्रति भी रुचि रही होगी।

(7) सरल सामाजिक जीवन–इस काल के मानव को उसकी आवश्यकताओं ने सामूहिक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया होगा। जंगली पशुओं से रक्षा के लिए छोटे-छोटे समूहों में रहना आवश्यक हो गया होगा और सम्मिलित रूप में ही खाद्य सामग्री जुटाना सरल हो गया होगा। इस प्रकार छोटे-छोटे समूहों में रहना प्रारम्भ हुआ होगा। सामूहिक जीवन में लज्जा का अनुभव करके अपने गुप्त अंगों को छुपाने के लिए वृक्षों के पत्तों व छालों तथा पशुओं की छालों का उपयोग प्रारम्भ किया होगा। इस प्रकार उस काल का सामाजिक जीवन अत्यन्त सरल था।

(8) धार्मिक भावना का अभाव–पूर्व-पाषाण काल के मानव में धार्मिक भावना के विकास का कोई प्रमाण नहीं मिलता। शायद अभौतिक जगत के बारे में सोचने का उसे समय ही नहीं मिलता था। दैनिक जीवन की कठोरता तथा व्यस्तता के कारण सोचने व मनन करने का अवसर उसके पास नहीं था। उस काल की न कोई समाधि मिली है और न कोई ऐसे चिह्न जो सिद्ध करते हों कि वह देवी-देवताओं की उपासना करता हो। सम्भवत: वह मृतकों को खुले मैदान में पशु-पक्षियों के खाने के लिए छोड़ देता था।

2.2 नव-पाषाण काल (Neolithic or New Stone Age)

मानव ने हजारों वर्षों तक पूर्व-पाषाण काल में जीवन व्यतीत किया और उसके पश्चात उसने नव-पाषाण काल में प्रवेश किया। यद्यपि इस काल में भी मानव ने पत्थर के औजारों व हथियारों का उपयोग किया किन्तु ये औजार व हथियार अधिक उन्नत अवस्था में थे और **'क्वार्टजाइट'** (Quartzite) से भिन्न पत्थर के सुडौल और चिकने व विविध प्रकार के थे। इस काल के हथियार व औजार पूर्व काल की अपेक्षा अधिक सुन्दर थे, कुशलता से बनाए गए थे और इनमें अधिक तीखापन था। अत: जिस काल में पत्थर के इन परिष्कृत औजारों का इस्तेमाल हुआ, वह काल नव-पाषाण काल (Neolithic or New Stone Age) कहलाया।

वास्तव में पूर्व-पाषाण काल तथा नव-पाषाण काल के बीच में भी एक मध्य-पाषाण काल (Mesolithic Age) और भी था, जिसमें मानव ने पूर्व-पाषाण काल की अपेक्षा अधिक उन्नति कर ली थी। यहाँ अध्ययन की सुविधा के लिए पूर्व-पाषाण काल के पश्चात नव-पाषाण काल का वर्णन किया गया है, जिसमें मध्य-पाषाण काल के मानव को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

यद्यपि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि मानव ने कितना समय पूर्व-पाषाण काल में व्यतीत किया और कब नव-पाषाण काल में प्रवेश किया। वास्तविकता यह है कि परिवर्तन बहुत धीमी गति से हुआ। अत: दोनों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। यही कारण है कि विद्वानों ने अलग-अलग समय का उल्लेख नहीं किया है। **सामान्यत: दस हजार वर्ष ई. पूर्व से लेकर लगभग तीन हजार वर्ष ई. पूर्व तक का काल नव-पाषाण काल का समय माना जाता है।**

नव-पाषाण काल की मुख्य विशेषताएँ–नव-पाषाण काल का मानव अधिक उन्नत अवस्था में था। अब औजारों का विशिष्टीकरण किया गया। कृषि व पशु पालन प्रारम्भ हुआ। स्थायी निवास बन गया। वस्त्र व मिट्टी के बर्तन बनने लगे। इस प्रकार मानव ने सभ्यता के मार्ग पर अगला कदम रखा। उस काल की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं–

(1) औजार व हथियार (Tools)–पूर्व-पाषाण काल के पश्चात मानव ने अपने औजारों में उन्नति कर ली। मध्य पाषाण काल में बदली हुई जलवायु में नए मानव ने नए प्रकार के औजार बनाए। **ये औजार कालसिडोनी** (Chalcedonly), **जैस्पर** (Jasper), **चर्ट** (Chert) तथा **ब्लडस्टोन** (Bloodstone) **नामक पत्थरों से बनाए जाते थे और लकड़ी के हत्थे लगाकर इस्तेमाल किये जाते थे।** इन औजारों को अलग अन्यत्र कार्यों व उपयोगों के लिए बनाया गया था। जैसे फलक (Blades), पाइंट्स (Points), खुरचने के काम आने वाले (Scrapers), खुदाई के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले (Engravers), त्रिकोण (Triangles), अर्द्धचन्द्राकार (Crescents), छेद करने के लिए (Borer) तथा सीने के लिए सुआ (Awl) आदि।

नोट

पत्थरों पर खुदाई

नव-पाषाण काल के मानव ने औजारों के निर्माण में और अधिक कुशलता प्राप्त कर ली। पत्थर के ये औजार अधिक सुन्दर और चिकने थे। इन्हें रगड़-रगड़ कर चिकना, चमकदार व तेज बनाया जाता था। इस काल में हड्डी व लकड़ी के औजार भी बनाए गए। इन औजारों में सेल्ट, कुल्हाड़ी, फैब्रिकेटर, पालिशर व हेमरस्टोन अधिक उल्लेखनीय हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. प्रारम्भिक पूर्व-पाषाण काल में मनुष्य पूर्णत: ..... पर आश्रित था।
   (*a*) पशुपालन (*b*) प्रकृति
   (*c*) कृषि (*d*) वन
5. प्रारम्भिक पूर्व-पाषाण काल के अवशेष ..... से प्राप्त हुए हैं।
   (*a*) उत्तर प्रदेश (*b*) हरियाणा
   (*c*) बिहार (*d*) पंजाब
6. दस हजार ई. पूर्व से लेकर ..... ई. पूर्व तक का काल नव-पाषाण काल का समय माना जाता है।
   (*a*) दस हजार, तीन हजार (*b*) पाँच हजार, सात हजार
   (*c*) आठ हजार, चार हजार (*d*) दो हजार, पाँच हजार
7. कृषि व पशुपालन आरम्भ हुआ था
   (*a*) पुरापाषाण काल (*b*) मध्यपाषाण काल
   (*c*) नव पाषाणकाल (*d*) इनमें से कोई नहीं।

(2) निवास के क्षेत्र (Areas of settlement)—इस काल के मानव ने अपना निवास भारत के विभिन्न क्षेत्रों को बनाया। कश्मीर, दक्षिण भारत, उत्तर पूर्वी भारत तथा बलूचिस्तान में उस काल के मानव के औजार तथा अन्य अवशेष प्राप्त हुए हैं, अत: अनुमान लगाया गया है कि वह इन क्षेत्रों में निवास करता होगा। मध्य-पाषाण युग के मानव के औजार पेशावर जिले से लेकर तिनेवली जिले तक तथा करौंची से बिहार तक सब जगह प्राप्त हुए हैं। पंजाब, गुजरात व मध्य भारत के अतिरिक्त मैसूर में ब्रह्मगिरि नामक स्थान पर व कुर्नूल में ये औजार पर्याप्त संख्या में मिले हैं। महाराष्ट्र में नेवासा व काले गाँव में भी ये उपकरण प्राप्त हुए हैं। गुजरात में प्राप्त हुए अवशेषों के समान ही पश्चिमी बंगाल के वीरभानपुर में भी उपकरण मिले हैं।

नोट

नव-पाषाण काल के अवशेष कश्मीर, सिन्ध, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, असम, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, मैसूर आदि क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में मिले हैं। दक्षिण भारत के तेकरूल कोटा में भी नव-पाषाण काल के अवशेष मिले हैं। दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों की खुदाई से स्पष्ट होता है कि यहाँ की सभ्यताएँ नव-पाषाण काल की थीं, जिनका समय हड़प्पा की सभ्यता के समान ही था।

नोट्स मध्यपाषाण युग के मानव के औजार पेशावर जिले से लेकर तिनेवली तक तथा करांची से बिहार तक सब जगह प्राप्त हुए।

(3) स्थायी जीवन का प्रारम्भ–इस काल में मानव ने टोलियों में घूमने के स्थान पर स्थायी निवास की व्यवस्था कर ली। वृक्षों व कन्दराओं के स्थान पर, नदियों के किनारे निश्चित स्थान पर घर बनाकर स्थायी रूप से रहने लगा। उसके घुमक्कड़ जीवन का अन्त हो गया। वह पत्थरों को ऊपर-नीचे रख कर घर बनाता और छतों को वृक्षों की शाखाओं व पत्तों से तथा जानवरों की खाल व हड्डियों से ढक देता था। यह कार्य अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता था, अत: उसने सम्मिलित रूप से रहना प्रारम्भ कर दिया था।

(4) पशुपालन व कृषि–इस युग में मानव ने व्यवसाय के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति की। उसने शीघ्र ही जंगलों में कन्द, मूल, फल इकट्ठा करना अथवा शिकार करना बन्द नहीं कर दिया बल्कि उसमें अधिक प्रवीणता प्राप्त की। किन्तु धीरे-धीरे उसे अनुभव हुआ कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति इन साधनों से सम्भव नहीं है। हर कठिनाई को दूर करने के लिए **उसने पशुपालन की ओर ध्यान दिया।** पशुपालन द्वारा एक ओर शक्तिवर्धक दूध मिला और दूसरी ओर माँस भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार मानव ने गाय, भैंस व बकरी आदि दुधारू पशु पालने प्रारम्भ किए। धीरे-धीरे कृषि का भी उसे ज्ञान हुआ। उसने जंगल साफ करके भूमि को कृषि योग्य बनाया और कृषि करने लगा। इस प्रकार एक स्थान पर टिकना आवश्यक हो गया। यहीं से मानव ने शीघ्रता से सभ्य जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया।

(5) भोजन–इस काल में मानव ने कच्चा माँस खाना बन्द कर दिया था। वह मिट्टी के बर्तन में आग पर पका कर माँस खाता था क्योंकि आग का जलाना उसने सीख लिया था। वह जंगलों से लाए गए कन्द, मूल व फल भी खाता था। कृषि की जानकारी ने भी उसकी भोजन की समस्या सुलझा दी क्योंकि उसे अन्य खाद्य पदार्थ भी प्राप्त होने लगे।

(6) वस्त्र व आभूषण–इस काल के प्रारम्भ में मानव अपने गुप्त अंगों को वृक्षों की पत्तियों व छालों से अथवा जानवरों की खालों से ढकता था किन्तु धीरे-धीरे उसने कृषि के माध्यम से कपास उत्पन्न की। **कपास से कपड़े तैयार किए और उनका उपयोग करने लगा।** इतना ही नहीं वह पशुओं के ऊन से ऊनी वस्त्र तैयार करने लगा जिससे शीत काल में बचाव सम्भव हो सका। उस काल के मानव को रंगों का शौक था। वह वस्त्रों को वनस्पति से तैयार किए गए रंगों से रंगता था। कपड़े पहनने का उसका ढंग बड़ा सरल था वह आधे वस्त्र को कमर से लपेट लेता था और आधे को कंधे पर डाल लेता था। उस काल में पुरुष पगड़ी बाँधते थे और महिलाएँ लहंगे पहनती थीं। आभूषण के प्रति स्त्री व पुरुष दोनों का समान आकर्षण था। पत्थरों, हड्डियों, सीपियों व कौड़ियों की सहायता से बनाए गए आभूषण स्त्री व पुरुष दोनों पहनते थे। गले में माला, कान में बाली व उंगलियों में अंगूठी तथा हाथों में चूड़ियाँ पहनना भी प्रचलित था।

(7) भाषा का विकास–धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। सामूहिक जीवन में अपने विचारों से दूसरों को अवगत कराने के लिए माध्यम की आवश्यकता अनुभव हुई। प्राचीन काल में मानव भद्दे चित्रों का प्रयोग इस कार्य के लिए करता था किन्तु धीरे-धीरे बोलियों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, जिससे शब्द भण्डार बना और भाषा का विकास हुआ। इस समय के हथियारों पर स्वस्तिक (卐) तथा (×) के चिह्न मिलते हैं।

नोट

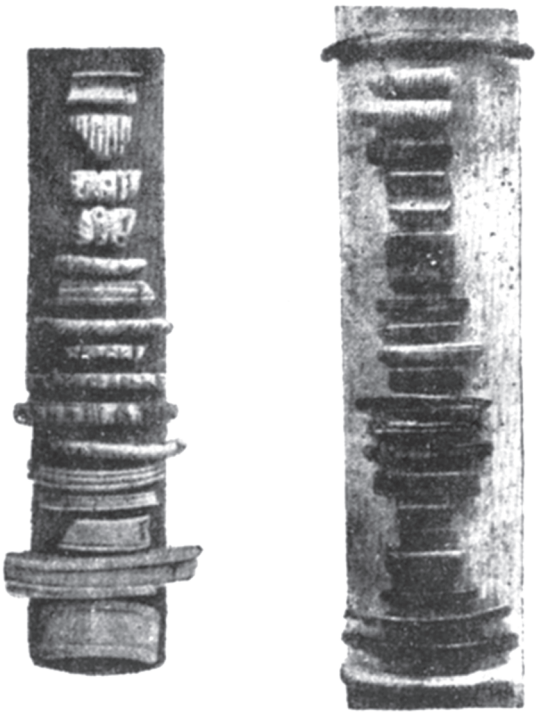

चूड़ियाँ

(8) कला का विकास तथा मिट्टी के बर्तन—नव पाषाण काल के मानव ने कला के क्षेत्र में भी उन्नति की। उसकी चित्रकला के नमूने भारत में सर्वत्र प्राप्त हुए हैं। ये कला का प्राचीनतम रूप हैं और यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि उस काल के मानव में कला के प्रति रुचि विद्यमान थी। उन्हें रंगों का भी ज्ञान था और वे चित्रों को रंग कर सुन्दर बनाते थे। इस काल के कला के नमूनों को देखने से लगता है मानो मानव प्रकृति का अनुकरण कर रहा हो। इन चित्रों में सजीवता भी विद्यमान है।

नव पाषाण काल के बर्तन

पंचमढ़ी, मिर्जापुर, मानिकपुर व होशंगाबाद की पर्वत कन्दराओं में इस युग के चित्र उपलब्ध हैं, जिनमें पशुओं व मनुष्यों दोनों के चित्र हैं। धनुषधारी, करवालधारी, घुड़सवार तथा आखेट के चित्र बहुतायत में मिलते हैं।

इस युग के मनुष्य चॉक पर मिट्टी के बर्तन बनाते थे और उन्हें रंगते थे। सामान्यत: काले रंग के मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग किया जाता था। इनमें से कुछ में टोंटी भी होती थी। ऐसे बड़े-बड़े मिट्टी के बर्तन भी मिले हैं जिनमें ये लोग मृतक के शव को काट-काट कर भर देते थे और उसे दफना देते थे। जमीन के नीचे इस युग के मिट्टी के मृतक-पात्र भी मिले हैं। इनसे अनुमान लगाया जाता है कि मृतक को जलाकर उसकी भस्म इन पात्रों में डाल कर गाड़ दी जाती होगी।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. उत्तर पश्चिम की गोमल घाटी में स्थित गुगला व रहमान ढेरी ताम्रपाषाण युग के मुख्य स्थल हैं।
9. पुरापाषाण काल में मनुष्य मिट्टी व कोयले से पशु-पक्षियों के चित्र बनाते थे।
10. मेहरगढ़ पाकिस्तान का सबसे पुराना स्थल है।
11. नवपाषाण कालीन स्थल 'नुर्जहोम' पंजाब में स्थित है।

(9) युद्ध व अस्त्र-शस्त्र–आत्म-रक्षा के लिए युद्ध भी होते थे। रक्षा के लिए दुर्ग व परकोटे भी बनाए जाते थे। सामान्यत: लोग लड़ाकू प्रकृति के थे और अन्यों पर अधिकार जमाने का प्रयास करते थे। युद्ध के लिए पत्थर, हड्डी, सींग व लकड़ी के अस्त्र-शस्त्र बनाए जाते थे। बर्छी, भाले, कुल्हाड़ी व धनुष-बाण अधिक उपयोग में लाए जाते थे।

(10) धार्मिक विचारों का उदय–धार्मिक क्षेत्र में भी उसने पूर्व-पाषाण काल के मानव से अधिक उन्नति कर ली थी। अब वह भौतिक पदार्थों में जीवन शक्ति का अनुभव करने लगा। अभी तक उसे अति भौतिक सत्ता का अनुभव नहीं हुआ था, यद्यपि जीवन-मरण के सम्बन्ध में उसके विचारों में कुछ स्थायित्व अवश्य दिखाई देता है। वास्तव में यह अंधविश्वास का काल था। लोग वृक्षों व पर्वतों में देवी शक्ति का निवास समझते थे और सम्भवत: इनकी उपासना भी करते थे। कुछ पाषाण खण्डों को देवी का रूप दे दिया गया था। अस्थि पात्र व उसमें रखी गई सामग्री को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे पितरों की पूजा करते होंगे। इस काल में शवों को जलाते भी थे और दफनाते भी थे। उपासना की विधि में चढ़ावे का प्रमुख स्थान था। दूध, दही, अन्न व माँस आदि पदार्थ देवी-देवताओं को भेंट किए जाते थे। धीरे-धीरे लिंग पूजा का भी विकास हो गया। **डॉ. राजबली पांडे** अपने ग्रन्थ **'भारतीय इतिहास की भूमिका'** में लिखते हैं कि "मृतकों की हड्डियाँ रखने के लिए अस्थि पात्रों तथा शव के ऊपर बनी हुई समाधियों से स्पष्ट होता है कि इस समय के लोग जीवन शृंखला तथा पुनर्जन्म में विश्वास करते थे और अपने पितरों की पूजा करते थे। भूतों से आविष्ट प्रस्तर खण्डों की पूजा आरम्भ हुई जो क्रमश: लिंग पूजा के रूप में विकसित हुई। चढ़ावे में अन्न, दूध, माँस आदि पदार्थ अर्पित किए जाते थे। देश के निम्न-स्तर के लोगों के धार्मिक विश्वास व पूजा पद्धति का ढांचा इस समय लगभग तैयार हो गया था।

2.3 ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ (Chalcolithic Cultures)

ताम्रपाषाण काल नवपाषाण काल के अन्त का वह काल खण्ड है जबकि कुछ स्थानों पर पाषाण के साथ-साथ सीमित स्तर पर धातु का इस्तेमाल किया जाता था। वास्तव में नवपाषाण काल धातुरहित स्तर माना जाता है क्योंकि इस काल में धातु के व्यापक उपयोग के संकेत नहीं मिलते, किन्तु जिन कुछ स्थानों पर पाषाण के साथ-साथ सीमित मात्रा में धातु के उपयोग के उदाहरण विद्यमान हैं। उन्हें पुरातत्ववेत्ता ताम्रपाषाण काल खण्ड के नाम से पुकारते हैं अर्थात वह काल खण्ड जिसमें पाषाण व ताम्र दोनों का उपयोग होता हो। नवपाषाण युग के इस काल खण्ड में विकसित हुई संस्कृतियां ताम्रपाषाण संस्कृतियां कहलाती हैं।

(क) उत्तर-पश्चिम भारत की ताम्रपाषाणकालीन बस्तियाँ
(Chalcolithic Settlements of North-West India)

भारत में नवपाषाण के अन्तिम काल खण्ड में जब धातु युग प्रारम्भ हुआ, तब अनेक स्थानों पर पत्थर के साथ-साथ तांबे का इस्तेमाल प्रारम्भ हो गया। कुछ स्थानों पर पत्थर के बाद सीधा लोहे का ही इस्तेमाल हुआ। भारत की प्रमुख ताम्रपाषाण बस्तियों का संक्षेप में नीचे वर्णन किया गया है–

(1) कश्मीर का 'बुर्जहोम'–कश्मीर ने नवपाषाण काल में एक समृद्ध संस्कृति को जन्म दिया था। श्रीनगर के निकट 'बुर्जहोम' नामक स्थान मिला है जहाँ नवपाषाण कालीन अनेक चीजें प्राप्त हुई हैं। इस युग के पहले काल खण्ड में हाथ के बने मिट्टी के बर्तन तथा आरियाँ, काँटे, छुरियाँ व सुईयाँ आदि हाथ से काम करने में इस्तेमाल

नोट

आने वाले औजार प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त फसल काटने वाले पत्थर के औजार भी मिले हैं। नवपाषाण काल के अगले चरण में गारे व कच्ची ईंट के घर, चाक से बनाए गए मिट्टी के बर्तन तथा सीमित मात्रा में तांबे का उपयोग मिलता है।

(2) मेहरगढ़—बलूचिस्तान का मेहरगढ़ सबसे पुराना स्थान है। ताम्रपाषाण कालीन वस्तुओं से पता चलता है कि यहाँ पत्थर के साथ-साथ ताँबे का इस्तेमाल होता था। इतना ही नहीं, मेहरगढ़ का ईरान, अफगानिस्तान तथा मध्य भारत से व्यापारिक सम्बन्धों की जानकारी भी मिलती है।

(3) 'किली गुल मुहम्मद' तथा 'दंब सादात'—क्वेटा घाटी में स्थित ये दो स्थान ताम्रपाषाण संस्कृति के केन्द्र थे। ईसा पूर्व 4000 के लगभग यहाँ विकासशील ग्रामीण जीवन विद्यमान था। नवपाषाण काल के दूसरे चरण में यहाँ विभिन्न प्रकार के हाथ के बने चित्रित बर्तन व हाथ के औजार मिले हैं। यहाँ पत्थर के साथ-साथ सीमित मात्रा में तांबे का भी इस्तेमाल किया जाता था। इस काल में इन स्थानों का अफगानिस्तान तथा ईरान से सम्पर्क स्थापित था।

क्या आप जानते हैं श्रीनगर के निकट बुर्जहोम नामक स्थान मिला है जहाँ नवपाषाण कालीन अनेक चीजें प्राप्त हुई हैं।

(4) राना घुंडाई—जोब लोरलाई क्षेत्र में स्थित राना घुंडाई नामक स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ चित्रित मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं। बाद में धातु के उपयोग के प्रमाण भी मिले हैं। राना घुंडाई का अन्त के चरण में ईरान से सम्बन्ध स्थापित था किन्तु ग्राम्य जीवन के विकास के स्पष्ट चिह्न नहीं मिलते हैं।

(5) 'कुल्ली व नाल'—दक्षिणी बलूचिस्तान में स्थित कुल्ली व नाल नामक स्थान दो विशिष्ट संस्कृतियों से जुड़े हुए हैं। यहाँ चित्रित मिट्टी के बर्तनों का इस्तेमाल होता था तथा धातु का व्यापक रूप में उपयोग किया जाता था। इन संस्कृतियों का फारस की खाड़ी के क्षेत्रों से सम्पर्क स्थापित था। पश्चिम से बड़ी मात्रा में व्यापार होने के पर्याप्त संकेत मिलते हैं।

कुल्ली व नाल संस्कृतियों की एक मुख्य विशेषता यह है कि ये हड़प्पा संस्कृति से भी पुरानी हैं।

(6) 'गुमला व रहमान ढेरी'—उत्तर-पश्चिम की गोमल घाटी में गुमला व रहमान ढेरी भी ताम्रपाषाण युग के मुख्य स्थल हैं। गुमला अपने पहले चरण में ययावर (घुमक्कड़) या अर्धययावर स्तर पर विद्यमान था क्योंकि यहाँ एक ओर थोड़े से मिट्टी के लिपे-पुते गड्ढे व अन्य छोटे-छोटे पत्थर के उपकरण मिले हैं और दूसरी ओर पशुओं की हड्डियाँ मिली हैं। किन्तु अगले चरण में ग्राम्य जीवन के प्रमाण मिलते हैं। कच्चे घर, चित्रित बर्तन, तांबे का उपयोग आदि यहाँ की अन्य विशेषताएँ थीं। 'रहमान ढेरी' का उत्खनन कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है किन्तु यहाँ हड़प्पा पूर्व की बस्ती विद्यमान थी इसके पर्याप्त संकेत विद्यमान हैं।

(7) 'सराय खोला तथा जलीलपुर'—पश्चिमी पंजाब में रावलपिण्डी के निकट **सराय खोला** तथा चेनाब व रावी नदियों के संगम के पास **जलीलपुर** दो महत्त्वपूर्ण ताम्रपाषाण कालीन स्थल हड़प्पा पूर्व युग के हैं। इनके पहले काल खण्ड में हाथ के बने मिट्टी के बर्तन, पत्थर की कुल्हाड़ियाँ, पत्थर के फलक आदि मिलते हैं किन्तु दूसरे काल खण्ड में हड़प्पा सभ्यता से पूर्व के विभिन्न उपकरणों के अतिरिक्त तांबे व कांसे के व्यापक उपयोग के प्रमाण मिले हैं।

(8) वैदिक सरस्वती नदी—हरियाणा, पंजाब, राजस्थान तथा गुजरात के क्षेत्रों में जो खुदाई हुई है उसने प्राचीन भारत के इतिहास पर विशेष प्रकाश डाला है। वैदिक वांगमय में जिस सरस्वती नदी का विस्तार से उल्लेख मिलता है वह पाषाण व ताम्रपाषाण युग के पश्चात लम्बे समय तक भारत के उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में बहती रही। वर्तमान काल में सूखी हुई घग्गर नदी के जो चिह्न मिलते हैं वह उस काल की सरस्वती नदी थी। बहावलपुर में यह 'हकरा'

नोट

के नाम से प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं सरस्वती नदी की सहायक नदियों के सूखे हुए मार्ग भी यहाँ **खोजे** जा चुके हैं। यद्यपि इस क्षेत्र का उत्खनन नहीं हुआ है किन्तु विभिन्न स्रोतों से जो खोजें हुई हैं उन्होंने यहाँ एक अत्यन्त विकसित सभ्यता को उजागर किया है। इस नदी के राजस्थान वाले क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थल **कालीबंगा** है, जहाँ सिन्धु सभ्यता के भरपूर अवशेष मिले हैं और इन अवशेषों के नीचे हड़प्पा पूर्व की सभ्यता के संकेत मिले हैं। यह सभ्यता अत्यन्त विकसित थी तथा यहाँ की बस्ती के चारों ओर कच्ची ईंटों की किलाबन्दी थी। पक्की ईंटों का भी इन्हें ज्ञान था। मकानों का स्वरूप आज के ग्रामों के मकानों से मिलता-जुलता था। घर में आंगन और उसके किनारे पर काम होते थे, आंगन में खाना पकाने का भी प्रबन्ध था। उस काल में जमीन के ऊपर तथा नीचे तंदूर मिले हैं जो आधुनिक तंदूर से मिलते हैं। खेती में हल का प्रयोग होता था। अन्न को भण्डार में इकट्ठा किया जाता था।

इस युग में पत्थर व तांबे दोनों का उपयोग होता था क्योंकि दोनों के उपकरण प्राप्त हुए हैं। पत्थर का अधिक इस्तेमाल किया जाता था। पत्थर के फलक में लकड़ी का हत्था लगाकर दरांती की तरह इस्तेमाल किया जाता था। इस युग में तांबे की चूड़ियां व तांबे के मनके भी बनाए जाते थे। सीपियाँ व पक्की मिट्टी का भी उपयोग होता था।

टास्क नव पाषाण काल की मुख्य विशेषताएँ बताइए।

(ख) भीतरी भारत की ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ (Chalcolithic cultures of Inner India)

भीतरी भारत की ताम्रपाषाण संस्कृतियाँ मुख्यत: निम्नलिखित थीं–

(1) अहाड़ संस्कृति या बनास संस्कृति–राजस्थान के उदयपुर, जयपुर, चित्तौड़गढ़, अजमेर, भीलवाड़ा तथा टोंक आदि जिलों में तथा मध्य प्रदेश के मंदसौर क्षेत्र में ताम्रपाषाण संस्कृति के विस्तृत अवशेष मिले हैं। यद्यपि यहाँ पर्याप्त खुदाई नहीं की जा सकी है किन्तु उदयपुर के निकट अहाड़ और गिलुंद में खुदाई से प्राप्त ताम्रपाषाण संस्कृति **'अहाड़ संस्कृति'** कहलाती है। बनास नदी घाटी में स्थित होने के कारण इसे **'बनास संस्कृति'** भी कहते हैं। अहाड़ व बनास दोनों बहुत बड़ी बस्तियाँ थीं। ये बस्तियाँ अत्यन्त विकसित प्रकार की थीं। मकान पत्थर व कच्ची मिट्टी के बने थे। नींव में पत्थर का इस्तेमाल होता था। छतें ढलवां होती थीं। मकानों में कई मुँह वाले तंदूर मिले हैं जो आज के तंदूरों के समान ही हैं। गिलुंद में पक्की ईंटों के उपयोग के साक्ष्य मौजूद हैं।

यहाँ तांबे का व्यापक इस्तेमाल होता था। यहाँ के लोग खानों से कच्चा तांबा लाकर घरों पर पिघलाते, साफ करते तथा उपकरण बनाते थे। तांबे की वस्तुओं में चूड़ियाँ, अंगूठियाँ, चाकू के फल, कुल्हाड़ियाँ तथा सुरमे की सलाइयाँ मिली हैं। पशुओं की मूर्तियाँ, मनके व मोहरें भी मिली हैं। यहाँ चावल की खेती होती थी व पशुपालन होता था। यह संस्कृति ईसा पूर्व 3000 वर्ष के आस-पास मौजूद थी और राजस्थान ताम्रधातु के काम का केन्द्र बना हुआ था।

(2) मध्य प्रदेश के मालवा पठार की संस्कृतियाँ–मालवा की उर्वरा भूमि में क्षिप्रा, बेतवा, केन, चम्बल तथा नर्मदा आदि नदियाँ बहती हैं। यहाँ के अनेक स्थानों की खुदाई में ताम्रपाषाण कालीन संस्कृतियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। **कायथा** तथा **नवदाटोली की खुदाई** में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। कायथा संस्कृति वाले क्षेत्र में चाक से बनाए मिट्टी के बर्तन तथा तांबे की कुल्हाड़ियाँ और चूड़ियाँ मिली हैं। कायथ के दूसरे काल खण्ड में अहाड़ संस्कृति से मिलते-जुलते अवशेष मिले हैं और तीसरे काल खण्ड को **मालवा ताम्रपाषाण संस्कृति** के नाम से पुकारा गया है। इसके साक्ष्य नवदाटोली में पाए गए हैं। इस काल के मकानों व बस्तियों के अवशेष भी प्राप्त हैं। यहाँ प्राप्त मिट्टी के बर्तन अन्य क्षेत्रों की संस्कृतियों के समान ही हैं। तांबे का भी उपयोग किया जाता था। तांबे की बनी छेनियाँ, चूड़ियाँ, अंगूठियाँ, सुए तथा कांटे आदि प्रमुख हैं। नवदाटोली ताम्रपाषाण युग का एक विस्तृत ग्राम था जहाँ आजकल जैसे गेहूँ, दालें, चना, मटर व चावल की फसलें होती थीं।

(3) महाराष्ट्र की ताम्रपाषाण युगीन बस्तियाँ–यहाँ का **दायमाबाद क्षेत्र** महत्त्वपूर्ण है। यहाँ के उत्खनन के आधार पर कहा गया है कि यहाँ के चौथे काल खण्ड में ताम्रपाषाण संस्कृति पाई गई है जो **जोखे संस्कृति** के नाम

नोट

से जानी जाती है। यही वर्तमान महाराष्ट्र की संस्कृति है। जोखे के उत्खनन में वर्गीकरण, आयताकार व वृत्ताकार घर मिले हैं। घरों की बनावट ग्रामों के कच्चे घरों जैसी थी। यहाँ भी तांबे की वही वस्तुएँ मिली हैं जो मालवा संस्कृति में मिली हैं। दायमाबाद में तांबे के बने रथ चलाते मनुष्य, सांड, गैंडे व हाथी मिले हैं। ये ठोस हैं और कई किलो के हैं। यहां भी भिन्न-भिन्न अनाज उगाए जाते थे और पशुपालन होता था।

(4) दक्षिण भारत की ताम्रपाषाण संस्कृति–उत्तर व मध्य भारत के समान दक्षिण भारत में भी बाद के चरणों में ताम्रपाषाण युगीन जीवन के संकेत मिलते हैं। कर्नाटक, आंध्र व तमिलनाडु के क्षेत्रों के उत्खनन से जो वस्तुएँ मिली हैं वह इस युग के जीवन को प्रदर्शित करती हैं। तुंगभद्रा व कृष्णा नदियों के बीच का रायचूर दोआब का क्षेत्र इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुख्यत: नागार्जुनकोंडा, ब्रह्मगिरि, उतनूर, यायमपल्ली मास्की व कोडेकल आदि में खुदाई हुई है। यहाँ के सांस्कृतिक विकास के तीसरे चरण में चाक निर्मित मिट्टी के बर्तनों के साथ-साथ धातु के बर्तन भी बनाए जाते थे। घरों की बनावट का आधार उत्तर जैसा ही था किन्तु स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप उनमें परिवर्तन कर लिए गए थे। इस काल में पत्थर व मिट्टी के साथ-साथ तांबे की वस्तुएँ बनती थीं तथा अन्य क्षेत्रों में भेजी जाती थीं। सम्भवत: इस काल में यहाँ सोने का इस्तेमाल होने लगा था।

(5) पूर्वी भारत तथा ताम्रपाषाण संस्कृति–यहाँ के स्थलों के उत्खनन के अभाव में ताम्रपाषाण युगीन संस्कृतियों का वर्णन प्राप्य नहीं है। पश्चिमी बंगाल के बीरभूम, बर्दवान, मिदनापुरी व बांकुरा से ताम्रयुगीन जीवन के संकेत अवश्य मिले हैं। जो साक्ष्य मिले हैं उनके माध्यम से चावल पर आधारित एक विस्तृत ताम्रपाषाण युगीन ग्राम-संस्कृति का पता चलता है जो ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व की है। बिहार के चिरांद व सोनपुर जैसे स्थलों के उत्खनन से ताम्रपाषाण युगीन जीवन के संकेत मिलते हैं जो बाद का कालखण्ड है।

2.4 सारांश (Summary)

प्रारम्भिक मानव का जीवन पशु तुल्य था किन्तु हजारों वर्षों के व्यतीत होने के पश्चात उसने सभ्य जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। इस काल की जानकारी निश्चित प्रमाणों से प्राप्त होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अत: यह जानकारी अन्य साधनों पर आधारित है। सभ्यता से पूर्व के इस सम्पूर्ण लम्बे काल को प्रागैतिहासिक काल (Pre-historic Age) के नाम से पुकारा जाता है।

2.5 शब्दकोश (Keywords)

- औजार व हथियार (Tools) : कारीगर का औजार
- पाइंट्स (Points) : बिन्दु

2.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. पूर्व-पाषाण काल का वर्णन कीजिए।
2. भारत में नव-पाषाण काल की विशेषताएँ लिखिए।
3. भीतरी भारत की ताम्र पाषाण संस्कृतियों का वर्णन कीजिए।
4. उत्तर-पश्चिम भारत की प्रमुख ताम्र पाषाण कालीन बस्तियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. नवपाषाण 2. पत्थर के हथियारों व औजारों 3. सोन नदी की घाटी
4. (*b*) 5. (*d*) 6. (*a*) 7. (*c*)
8. सही 9. सही 10. गलत 11. गलत।

नोट

2.7 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*

नोट

इकाई–3: सिन्धु घाटी की सभ्यता (3250 ई॰ पू॰ से 1750 ई॰ पू॰ तक) (Indus Valley Civilization)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
3.1 सिन्धु घाटी की सभ्यता का नाम एवं खोज (Name and Search of Indus Valley Civilization)
3.2 सिन्धु घाटी सभ्यता की विशेषताएँ (Characteristic of Indus Valley Civilization)
3.3 सिन्धु घाटी सभ्यता का पतन (Decline of Indus Valley Civilization)
3.4 सिन्धु घाटी सभ्यता की देन (Contribution of Indus Valley Civilization)
3.5 सारांश (Summary)
3.6 शब्दकोश (Keywords)
3.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
3.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सिन्धु घाटी की सभ्यता का उदय के वर्णन करने में।
- सिन्धु घाटी की सभ्यता के विशेषताओं की व्याख्या करने में।
- सिन्धु घाटी की सभ्यता के पतन और देन का वर्णन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

सिन्धु घाटी की सभ्यता जिसे हड़प्पा सभ्यता और सिन्धु सभ्यता के नाम से भी जाना जाता है, के काल निर्धारण के संबंध में कुछ विद्वानों का मत है कि यह सभ्यता नागरीय तथा व्यापार प्रधान होने के कारण वैदिक सभ्यता का परिवर्द्धित स्वरूप है। उपर्युक्त मत का विरोध करते हुए कुछ अन्य इतिहासकारों का कहना है कि यह सभ्यता वैदिक काल से बहुत प्राचीन है।

नोट

3.1 सिन्धु घाटी की सभ्यता का नाम एवं खोज (Name and Search of Indus Valley Civilization)

"सिन्धु सभ्यता", "सिन्धु घाटी की सभ्यता" और "हड़प्पा सभ्यता"–ये तीनों पर्यायवाची नाम साधारण तौर से इसी सभ्यता के लिए प्रयोग किये जाते हैं। 1921 से पहले प्राय: यही माना जाता था कि आर्यों के समय से ही भारतीय सभ्यता की कहानी शुरू होती है। लेकिन कुछ विद्वानों एवं भारतीय पुरातत्व विभाग के सहयोग से एक ऐसी प्राचीनतम सभ्यता की जानकारी हुई जिसने भारतीय इतिहास को और प्राचीन बना दिया। आरम्भ में जब 1921 ई॰ में आधुनिक पंजाब के पश्चिमी भाग में स्थित हड़प्पा नामक स्थान से इस प्राचीन सभ्यता की जानकारी हुई तो इसी स्थान के दक्षिण में स्थित मोहनजोदड़ो (मुर्दों का नगर) की खुदाई भी हुई। इसके फलस्वरूप यह मान लिया गया कि इस सभ्यता का प्रसार सिन्धु घाटी तक था। अत: शुरू में इसे सिन्धु घाटी की सभ्यता कहकर पुकारा गया। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं हुई इस सभ्यता पर खोज जारी रही। कुछ दिनों के बाद फिर पता चला कि यह सभ्यता सिन्धु घाटी तक ही नहीं बल्कि इस घाटी की सीमाओं से पार भी दूर-दूर तक फैली थी। इसका फैलाव आधुनिक राजस्थान, हरियाणा, पूर्व पंजाब और गुजरात तक पाया गया। इस भौगोलिक विस्तार को ध्यान में रखने के पश्चात ऐसा लगने लगा कि इसे केवल सिन्धु घाटी की सभ्यता कहना पर्याप्त नहीं। तब इसके लिए "हड़प्पा सभ्यता" का प्रयोग किया गया। हड़प्पा एक स्थान का नाम है जो आधुनिक पंजाब में रावी नदी के बायें तट पर स्थित है। यह सभ्यता लगभग नौ सौ पचास मील उत्तर से दक्षिण तक फैली थी। हड़प्पा नामक स्थल में ही सबसे पहले इस सभ्यता की जानकारी मिली। अत: इस सभ्यता का नाम हड़प्पा सभ्यता रख दिया गया।

विदेशों से सम्बंध–सिन्धु घाटी की सभ्यता के सम्बंध में जितने भी प्रश्न उठते हैं उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या इस सभ्यता के काल (2300 ई॰ पूर्व से 1750 ई॰ पू॰ तक) में जो दूसरी सभ्यताएं विश्व में थीं उससे इसका कोई सम्बंध था ? जब हम इस सभ्यता की तुलना सुमेर की सभ्यता से करते हैं तो दोनों में काफी मेल पाते हैं। दोनों क्षेत्रों का आपसी सम्बंध ही इसका प्रधान कारण हो सकता है। मिट्टी एवं अस्थि की बनी हुई अनेक प्रकार की वस्तुएं तथा मुहरें दोनों प्रदेशों में एक ही जैसी मिली हैं। फलत: हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सिन्धु घाटी एवं सुमेर के बीच काफी घनिष्ठ सम्बंध रहा होगा। प्रसिद्ध इतिहासकारों का भी यही मत है। **हॉल** नामक विद्वान के अनुसार सभ्यता के क्षेत्र में सुमेर भारत का ऋणी है। लेकिन कुछ दूसरे विद्वान जैसे **गोर्डन चाइल्ड** तथा **मैक्डोनल्ड** आदि का कहना है कि सिन्धु सभ्यता ही ऋणी है सुमेर सभ्यता की।

इन क्षेत्रों से प्राप्त ताम्बे की कुल्हाड़ियों के आधार पर ही इन क्षेत्रों के बीच एक-दूसरे से सम्बंध की बात इतिहासकारों के द्वारा बतायी गयी है। सिन्धु घाटी में पाये गये पिनों के समान इटली में भी खुदाई से ताम्बे की अत्यन्त प्राचीन पिन मिली है। खुदाई से प्राप्त इसी तरह की वस्तुओं के आधार पर विद्वानों का मत है कि सिन्धु क्षेत्र का सम्बंध मिस्र से भी था। उपर्युक्त देशों का सम्बंध सिन्धु क्षेत्र के साथ, जैसा कि पुरातात्त्विकों का कहना है, व्यापार के माध्यम से था। फलत: ये क्षेत्र निश्चित रूप से एक-दूसरे की संस्कृति से भी प्रभावित हुए होंगे।

सिन्धु सभ्यता का काल–सिन्धु घाटी में प्राप्त प्राचीन सामानों में ताम्बे और पत्थर के बने सामानों की मात्रा बहुत ज्यादा रहने के कारण इसे ताम्र पाषाणकालीन सभ्यता भी कहा जाता है।

सिन्धु सभ्यता के कालनिर्धारण के सम्बंध में कुछ विद्वानों का मत है कि यह सभ्यता नागरीय तथा व्यापार प्रधान होने के कारण वैदिक सभ्यता का परिवर्द्धित स्वरूप है। उपर्युक्त मत का विरोध करते हुए कुछ अन्य इतिहासकारों का कहना है कि यह सभ्यता वैदिक काल से बहुत प्राचीन है। ये विद्वान वैदिक काल को ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। चूंकि वैदिक काल से कम से कम पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता को माना जाता है। इसलिए ये विद्वान सिन्धु घाटी की सभ्यता का काल लगभग 3250 ई॰ पू॰ से 2750 ई॰ पू॰ तक मानते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ॰ आर॰ के॰ मुखर्जी का भी यही विचार है। **राजबली पाण्डेय** के अनुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता का काल ईसा के चार हजार वर्ष पूर्व है। वे बताते हैं, "इस स्थान की खुदाई में जल के धरातल तक प्राचीन नगरों के खण्डहरों के एक के ऊपर दूसरे सात स्तर मिले हैं। अनुमानत: यदि एक नगर के जन्म, विकास एवं पतन के लिए पांच सौ वर्ष का समय दिया जाये तो सात नगरों की उत्पत्ति, विकास और पतन में लगभग पैंतीस सौ वर्ष लगे होंगे। सबसे

नोट

नीचे का स्तर भी एक विकसित नगर का अवशेष है। अत: यदि भूगर्भ का पानी बाधा नहीं डालता तो सातवें स्तर के नीचे भी खण्डहरों के स्तर मिल सकते थे। इस प्रकार सिन्धु घाटी की सभ्यता कम से कम ईसा के पूर्व चार हजार वर्ष की है।" यदि यह विचार सच है तो यह सभ्यता मिस्र की नील नदी और मेसोपोटामिया की दजला-फुरात नदी की घाटियों की सभ्यताओं की समकालीन थी। कुछ अन्य विद्वानों ने प्राचीनता के दृष्टिकोण से सिन्धु सभ्यता को ही मानव सभ्यता का प्रथम केन्द्र माना है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सिन्धु सभ्यता का कालानुक्रम रेडियोकार्बन तिथियों पर आधारित है। रेडियोकार्बन एक रासायनिक प्रक्रिया को कहते हैं जिसके आधार पर खुदाई से प्राप्त पत्थरों एवं हड्डियों आदि का काल वैज्ञानिक ढंग से निर्धारित किया जा सकता है। रेडियोकार्बन तिथियों से सिन्धु घाटी की सभ्यता का काल ईसा पूर्व 2300 से 1750 ईसा पूर्व तक संकेत मिलता है। लेकिन सही ऐतिहासिक तिथियां जानने के लिए रेडियोकार्बन तिथियों को संशोधित करना पड़ता है। फलत: इसका काल ईसा पूर्व 2800/2900-2000 होता है। अनुमान किया जाता है कि सिन्धु घाटी की यह सभ्यता अपने परिधीय स्थलों पर कुछ बाद के काल में भी विद्यमान रही।

मेसोपोटामिया एवं सिन्धु घाटी की सभ्यता का आपस में मेल-जोल होने के आधार पर भी इसका काल निर्धारण करने का प्रयास विद्वानों के द्वारा हुआ है। सबसे प्राचीन प्रमाण ईसा पूर्व 2600 (सारगोनिक पूर्व युग) में मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह सभ्यता ईसा पूर्व 2800 में ही अस्तित्व में आ गई थी। अत: ईसा पूर्व 2800-2900-2000 की कालावधि को ही सिन्धु सभ्यता का आधुनिक तिथि निर्धारण मान सकते हैं।

नोट्स सिन्धु घाटी में मूर्तिपूजा की प्रथा थी। खुदाई से शिवलिंग मिले हैं। अत: वे लोग ज्यादातर शिव के भक्त थे। किन्तु आर्यों के काल में हम वायु, जल, अग्नि आदि की पूजा की चर्चा पाते हैं, लेकिन शिव की नहीं।

सिन्धु सभ्यता के निवासी एवं निर्माता—सिन्धु घाटी की सभ्यता के निवासी एवं निर्माता के बारे में विद्वानों में एक मत नहीं है। यहां के नगरों से पाये गये पुरातात्विक सामानों में भी यहां के निवासियों एवं निर्माताओं के बारे में निश्चित रूप से बताना मुश्किल है। कुछ इतिहासकारों ने इस सभ्यता को आर्येत्तर सभ्यता कहा है तो कुछ दूसरे विद्वान ने इसे द्रविड़ सभ्यता कहा है। सुमेरिया की सभ्यता से मिलता-जुलता रहने के कारण कुछ विद्वान इस सभ्यता को विकसित करने का श्रेय सुमेरियन लोगों को देते हैं। उपर्युक्त तथ्य अभी तक सच्चाई की कसौटी पर पूर्णत: सत्य नहीं साबित हो सके हैं। हाल के शोधों से ऐसा लगता है कि वे आर्य नहीं थे। आर्य तो सैन्धवों के शत्रु और संहारक थे। फिर हम पाते हैं कि सिन्धु सभ्यता के लोगों को लोहे तथा घोड़े की जानकारी नहीं थी। दूसरी तरफ हम पाते हैं कि आर्य लोग घोड़ा तथा लोहा से परिचित थे। खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर हम पाते हैं कि सिन्धु सभ्यता के लोगों का जीवन नागरीय था। उनके समाज में व्यापार की काफी प्रधानता थी। आर्यों के समाज में ग्रामीण व्यवस्था का मुख्य स्थान था। ऋग्वैदिक काल में इनके द्वारा व्यापार करने की कोई चर्चा नहीं पायी जाती है। हमें यह भी पता चलता है कि युद्ध में सुरक्षा की दृष्टि से सिन्धुवासी कवच एवं शिरस्त्राण नहीं रखते थे लेकिन आर्यों के पास कवच एवं शिरस्त्राण थे। पुरातात्विक दृष्टिकोण से हम पाते हैं कि सिन्धु घाटी में मूर्तिपूजा की प्रथा थी। खुदाई से शिवलिंग मिले हैं। अत: वे लोग ज्यादातर शिव के भक्त थे। किन्तु आर्यों के काल में हम वायु, जल, अग्नि आदि की पूजा की चर्चा पाते हैं लेकिन शिव की नहीं। सिन्धु घाटी सभ्यता में देवी पूजा का स्थान भी ऋग्वैदिक काल की देवी पूजा की तुलना में अधिक ऊँचा था। अग्नि की पूजा का महत्त्व अगर वैदिक काल में ज्यादा था तो सिन्धु काल में कम। इस तरह उपर्युक्त दृष्टिकोण से हम सिन्धु सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता में काफी अन्तर पाते हैं। कहा जाता है कि भारत के पश्चिम उत्तर प्रदेश में असुर रहा करते थे। इन्हीं असुरों की लड़ाई आर्यों के साथ हुई थी। ये असुर पश्चिम एशिया में भी जाकर निवास करने लगे। इस तरह सैन्धव असुर या द्रविड़ थे। उपर्युक्त विचार पर भी आधुनिक विद्वान एकमत नहीं हैं। बहुत से विद्वानों का कहना है कि ये अनार्य नहीं थे। सैन्धव को विद्वान सुमेरिया

नोट

के रहने वाले भी नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि सुमेरिया की सभ्यता सिन्धु सभ्यता से अधिक प्राचीन है। अगर खुदाई से दोनों स्थानों में एक ही तरह के सामान मिलते हैं तो इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि दोनों क्षेत्रों के बीच व्यापारिक सम्बंध था। अधिकांश विद्वान तो सिन्धु लोगों को द्रविड़ मानते ही हैं। असल में द्रविड़ों की एक भाषा ब्राहुर्द भी है और हम पाते हैं कि भारत के पश्चिमोत्तर भाग में आज भी कुछ लोग यह भाषा बोलते हैं। कहते हैं कि बहुत से लोग उत्तर भारत में आर्यों से युद्ध में परास्त होने के फलस्वरूप दक्षिण भारत में चले गए। बाकी जो लोग बच गए पश्चिमोत्तर भारत में वे ही ब्राहुई भाषा का प्रयोग बोलचाल में करते रहे। अत: कहा जा सकता है कि सैन्धव अवश्य ही द्रविड़ थे। कुछ विद्वान सैन्धव सभ्यता के निवासियों का सम्बंध मंगोलों से भी जोड़ते हैं, किन्तु इस तथ्य में जान नहीं है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिन्धु क्षेत्र में विभिन्न क्षेत्रों के लोग रहते थे और उनके सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप ही इस महान सभ्यता का विकास हुआ।

सिन्धु सभ्यता के विकास से पूर्व ही इस इलाके में कृषि का विकास हो चुका था। ईसा के तीन हजार वर्ष पूर्व ही सिन्धु और पंजाब के क्षेत्रों में कृषि का विकास हो चुका था। उसके बाद यह कृषि व्यवस्था पूर्व की ओर प्रसारित हुई। जिस कारण प्राचीन सरस्वती घाटी भी सिन्धु घाटी की सभ्यता की सीमा के अन्दर आ गई। नि:संदेह ही बलूचिस्तान एवं बृहत्तर सिन्धु घाटी में आरम्भ के इस कृषि व्यवस्था तथा बाद में चलकर उसी क्षेत्र में सिन्धु सभ्यता के विकास में निकट सम्बंध रहा है। सिन्धु सभ्यता इस प्राचीन आधार पर क्यों और कैसे विकसित हुई?–यह आज भी बताना सम्भव नहीं हो सकता है; लेकिन नये शोधों के आधार पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस सभ्यता की जड़ें स्थानीय भूमि पर गहरी जमी थीं। सभ्यता वाली बस्तियों के विस्तार के सम्बंध में अभी भी बहुत कुछ अज्ञात है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. हड़प्पा एक स्थान का नाम है जो आधुनिक पंजाब में ..... नदी के तट पर स्थित है।
2. हड़प्पा के टीले का सर्वप्रथम उल्लेख ..... में चार्ल्स मैसेन ने किया था।
3. सिन्धु घाटी सभ्यता में ..... शासन प्रणाली थी।

3.2 सिन्धु घाटी सभ्यता की विशेषताएँ (Characteristic of Indus Valley Civilization)

स्थापत्य एवं नगर निर्माण योजना

1946 के बाद से पाये गये पुरातात्विक अवशेषों से यह बात साफतौर पर प्रमाणित हो गयी है कि सिन्धु सभ्यता का प्रसार काफी लम्बे-चौड़े क्षेत्र में फैला हुआ था। 1958 की खुदाइयों से कई रहस्यों पर से पर्दा उठा है। इस समय ही यह पता चला कि पूर्व में आलमगीरपुर तक सिन्धु घाटी की सभ्यता फैली थी। आलमगीरपुर दिल्ली से बीस मील उत्तर-पूर्व और मेरठ से सत्तरह मील पश्चिम में स्थित है। लोथल (गुजरात), कालीबंगन (राजस्थान), कोटदिजी (मोहनजोदड़ो से पच्चीस मील पूर्व), चान्हूदड़ो (मोहनजोदड़ो से अस्सी मील दक्षिण और सिन्धु घाटी के बायें मैदानी इलाकों में स्थित) तथा नीमरी सिन्धु सभ्यता के महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। मोहनजोदड़ो (मुर्दों का नगर) और हड़प्पा में प्राप्त वस्तुओं के आधार पर कहा जाता है कि ये दोनों स्थान आज भी इस सभ्यता के प्रमुख केन्द्र माने जाते हैं। अब ये दोनों पाकिस्तान में हैं। सिन्धु क्षेत्र में बसे नगरों की बनावट का जहां तक प्रश्न है इसके लिए अलग-अलग नगरों का अध्ययन किया जा सकता है।

मोहनजोदड़ो–यह नगर सिन्ध के लरकाना जिले में स्थित था। वह लगभग एक वर्गमील में फैला हुआ था। योजना की सुविधा के लिए इसे पूर्वी और पश्चिमी दो भागों में बांटा गया था। पूर्वी खंड की अपेक्षा पश्चिमी खंड छोटा

नोट

है। यह क्षेत्र चबूतरा बनाकर ऊँचा उठाया गया है। चबूतरा गारे और कच्ची ईंटों से बना है। इसी चबूतरे पर निर्माण कार्य किया गया है। इसके चारों ओर किलेबन्दी की दीवार बनी है। यह दीवार कच्ची ईंटों की बनी है। इसमें मीनारें एवं बुर्ज भी बने हैं। इस किले में निश्चित ही कोई मुख्य प्रवेश द्वारा होगा लेकिन इसकी जानकारी अभी तक विद्वानों को नहीं हो पायी है। इस पश्चिमी खंड में अनेक सार्वजनिक भवनों की जानकारी होती है। इन भवनों से वहां के समृद्धि की जानकारी मिलती है। अनुमान किया जाता है कि अलग-अलग भवनों के अलग-अलग नाम थे, जैसे कि 'पुरोहितवास', 'अन्न भंडार', 'महाविद्यालय' भवन इत्यादि। लेकिन ऐसा कहना मात्र अटकलबाजी होगी क्योंकि अभी तक वहां की लिपि को पढ़ा नहीं जा सका है। यहां के भवनों की विशालता को देखते हुए इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि इन भवनों में साधारण किस्म के लोग नहीं रहते थे। मोहनजोदड़ो में एक ऐसे भवन का अवशेष मिला है जो खम्बे के सहारे खड़ा है। इसके बारे में अनुमान किया जाता है कि यह शहर का एक सार्वजनिक स्थान था जहां लोग इकटठे होकर सभा इत्यादि करते थे। एक दूसरा अनुमान विद्वानों के द्वारा यह लगाया गया है कि इस विशाल भवन का निर्माण बाजार लगाने के उद्देश्य से किया गया होगा। मोहनजोदड़ो के इस पश्चिमी क्षेत्रों में कुछ-कुछ मकानों के बीच में गलियां थीं। सड़कों की भी जानकारी मिलती है जिस पर से होकर एक जगह से दूसरी जगह जाया जा सकता था। उत्खनन से यहां कई छोटे-छोटे मकानों के अवशेष भी मिले हैं, जिससे पता चलता है कि यहां साधारण वर्ग के लोग रहते थे। मोहनजोदड़ो की इस पश्चिमी खंड में बहुत बड़ा तालाब भी मिला है। यह 39 फुट लम्बा और 23 फुट चौड़ा है। इस तालाब को बनाने के लिए ईंटों का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया गया है। ईंटों को तह लगाकर ऊपर से बिट्मन का लेप कर दिया गया है ताकि पानी तालाब से बाहर नहीं जा सके। इस विशाल तालाब की व्याख्या औपचारिक स्नानागार के रूप में की गई है।

मोहनजोदड़ो के पश्चिमी हिस्से की तुलना में पूर्वी खंड बड़ा है। पश्चिमी खंड के समान यह पूर्वी खंड भी चारो तरफ से दीवार से घिरा था। पश्चिमी खंड का तो सम्पूर्ण नगर ही ऊँचे चबूतरे पर खड़ा था लेकिन पूर्वी खंड में ऐसी बात नहीं। यहां अलग-अलग घर अलग-अलग चबूतरे पर बने थे। चबूतरे का इस्तेमाल शायद सुरक्षा के दृष्टिकोण से होता था। चूबतरे के कारण मोहनजोदड़ो का पश्चिमी भाग अधिक ऊँचे पर बसा था और पूर्वी खंड कम ऊँचा था। इसीलिए पूर्वी टीले को निचला टीला भी कहा जाता है। इस खंड में अनेक मकान थे।

यहां तीन फुट चौड़ी सड़कें पायी गई हैं। मोहनजोदड़ो के पूर्वी खंड, इन सड़कों के कारण वहां के मकान अनेक समूहों में बंट गये थे। बहुत ही दिलचस्प बात हम यहां के मकानों के साथ पाते हैं कि ये पक्की ईंटों से बने थे जबकि पश्चिमी खंड के मकान कच्ची ईंटों के। पूर्वी खंड के इन मकानों में से कुछ मकान तो दो मंजिले भी थे। इन मकानों में से गंदे जल को बाहर निकालने की भी व्यवस्था थी। यह गंदा जल घर से बाहर निकल कर नालियों में गिरता था। ये बड़ी-बड़ी नालियां मुख्य सड़कों के दोनों ओर थीं। ये नालियाँ ईंटों की बनी होती थीं। बहुत-सी नालियां मुख्य सड़कों के दोनों ओर थीं। बहुत-सी नालियां तो ऊपर से ढकी होती थीं। सिन्धु काल में पाई गईं योजनाबद्ध तरीके से ये नालियां आज भी हमारे लिए उदाहरणस्वरूप हैं। जो अवशेष हमें मिले हैं उनसे पता चलता है कि मुख्य सड़क के साथ-साथ जो नालियां थीं उनमें कुछ-कुछ दूरी पर गड्ढे होते थे। इनमें जब गंदा पानी भर जाता था तो निकालकर बाहर फेंक दिया जाता था। यहां पाये गये पुरातात्विक सामानों से तो साफ पता चलता है कि यहां के मकानों की स्वच्छता पर बहुत ध्यान दिया जाता था। इस पूर्वी खंड में सामान्य नागरिकों के इस्तेमाल के लिए अनेक कुएं भी बने थे। कुएं भी ईंटों के बने थे।

मोहनजोदड़ो के पूर्वी खंड के मकानों में एक-एक मुख्य दरवाजे होते थे। ये दरवाजे साथ वाली सड़कों पर खुलते थे। आज के समान ही उस काल में भी मकानों के बीच में एक आंगन होता था। इस आंगन के चारों ओर कमरे बने रहते थे। अवशेष के रूप में दरवाजे के चिह्न मिले हैं जिनसे अनुमान किया जाता है कि घर के प्रत्येक कमरे में एक-एक दरवाजा होता था। यहां के मकानों के कमरों में खिड़कियां भी होती थीं। ये खिड़कियां आजकल के शहरों के कमरों में लगी खिड़कियों के समान नीची नहीं होती थीं, बल्कि काफी ऊपर में लगी रहती थीं। इस तरह की खिड़कियां आज भी बिहार के गांवों में देखने को मिल सकती हैं जो जमीन से काफी ऊपर हैं। निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि मोहनजोदड़ो के घर देखने में काफी आकर्षक तो नहीं लगते लेकिन इन्हें बनाने के लिए जिन तरीकों का प्रयोग किया गया है उनसे एक ऊँचे स्तर की कार्यकुशलता की जानकारी हमें मिलती है।

नोट

हड़प्पा–यह स्थान आधुनिक पाकिस्तान–पंजाब में रावी नदी के बायीं ओर पर स्थित था। मोहनजोदड़ो के समान हड़प्पा शहर भी योजना के दृष्टिकोण से दो भागों में बंटा था। पहला खंड शहर के पूर्वी भाग में स्थित था तथा पश्चिम में दूसरा भाग। खेद की बात है कि ईंट चुराने के उद्देश्य से यहां के आस-पास के लोगों ने हड़प्पा के पूर्वी भाग को उजाड़ दिया है। फलत: इस भाग के अवशेष हमें ठीक से नहीं मिल पाये हैं।

जहां तक हड़प्पा के पश्चिम खंड का प्रश्न है, यह खंड चारों तरफ से दीवारों से घिरा था। यह खंड भी ऊँचे चबूतरे पर स्थित है। इस खंड की किलेबंदी के सम्बंध में संतोषप्रद रूप से कुछ बताना मुश्किल है क्योंकि इसके भीतरी भाग की दीवार की ईंटों को आस-पास के लोगों द्वारा चुरा लिया गया है। खुदाई से भी कोई ऐसी वस्तु नहीं मिली है जो सूचना हमें दे सके।

हड़प्पा के इस पश्चिमी खंड की किलेबंदी के अध्ययन से पता चलता है कि इसमें आने और जाने के लिए कई मार्ग बने हुए थे। इसमें एक मुख्य मार्ग होता था जो उत्तर में खुलता था। इस मुख्य प्रवेश द्वारा के सामने उत्तर के कुछ दूरी पर रावी नदी थी। इस रावी नदी एवं मुख्य प्रवेश द्वार के बीच खुदाई के द्वारा पता चलता है कि एक 'अन्न भंडार' था और मजदूरों को रहने के लिए घर बने हुए थे। ईंटों से जुड़े हुए गोल चबूतरों की भी जानकारी हमें मिलती है। इन चबूतरों में अनाज रखने के लिए कोटर बने थे। इस खंड के जिस भाग में सामान्य नागरिक रहते थे, उसके दक्षिण में एक कब्रिस्तान भी मिला है।

चान्हूदड़ो–इस स्थान की खुदाई अभी तक ठीक नहीं हो पायी है इसलिए इसमें छिपे बहुत–से रहस्यों का उद्घाटन अभी तक नहीं हो पाया है। इस स्थान में बहुत से सामानों के निर्माण से सम्बंधित अवशेष मिले हैं। खुदाई से पता चलता है कि यहां मनके बनाने का कारखाना भी था।

कालीबंगन–इस स्थान के भी दो खंड थे। पश्चिमी खंड को पश्चिमी टीला भी कहा जाता था, इस भाग में भी किलेबन्दी थी लेकिन यह किलेबन्दी दो भागों में बंटी थी। इन दोनों किलेबन्दी के बीच आपस में सम्बंध था। एक चहारदीवारी से दूसरी चहारदीवारी की किलेबन्दी में जाया जा सकता था। एक भाग में दो-दो किलेबन्दी का होना सम्भवत: यह प्रमाणित करता है कि इस शहर में रह रहे प्रतिष्ठित एवं धनी लोगों के रहने के लिए एक चहारदीवारी में व्यवस्था थी। दूसरे भाग का उपयोग ऊँचे-ऊँचे चबूतरों के लिए था। इन चबूतरों के ऊपरी भाग पर हवनकुंडों के अवशेष मिले हैं। हड़प्पा के आवास क्षेत्र के दक्षिण में लेकिन कालीबंगन के पश्चिम में कब्रिस्तान का साक्ष्य मिलता है। इस स्थान के पूर्व में कुछ ऐसे अवशेष मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि पूर्व के हिस्से में पूजा पाठ कार्य सम्पन्न किया जाता था।

उपर्युक्त विवरण कालीबंगन के पश्चिमी टीले के सम्बंध में है, इस स्थान के पूर्वी टीले के बारे में भी हमें जानकारी मिलती है। अवशेष के रूप में यहां एक दीवार मिली है, जो हमें इस स्थान की योजना के सम्बंध में जानकारी देती है। इस स्थान की योजना मोहनजोदड़ो की योजना से बहुत मिलती-जुलती है। फिर भी थोड़ा बहुत अंतर तो देखने को मिलता ही है। हम पाते हैं कि कालीबंगन के आवास में कच्ची ईंटों का प्रयोग हुआ है जबकि मोहनजोदड़ो के मकानों में पक्की ईंटों का। मोहनजोदड़ो के समान यहां योजनाबद्ध तरीके से घरेलू गन्दे जल को बाहर निकालने की प्रणाली नहीं थी। शहरी जल निकास प्रणाली का भी अभाव है। अत: कहा जा सकता है कि कालीबंगन बस्ती की स्थिति मोहनजोदड़ो की तुलना में काफी गरीब थी।

लोथल–सिन्धु क्षेत्र की ही एक प्रमुख बस्ती लोथल भी थी। यह आधुनिक गुजरात में स्थित थी। यहाँ से प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि यहां कालीबंगन आदि बस्तियों के समान दो भिन्न-भिन्न टीले नहीं थे, अर्थात यह दो खण्डों में विभाजित नहीं था। ऐसा ज्ञात होता है कि यह हड़प्पा सभ्यता का एक बन्दरगाह था। नक्शा के अनुसार यह नगर 360 मीटर लम्बा और 210 मीटर चौड़ा उत्तर-दक्षिण दिशा में फैला हुआ था। यह भी एक विशाल दीवार से घिरा हुआ था। ऐसा घेरा सम्भवत: नगर को बाहर से सुरक्षित रखने के लिए किया गया था। शहर का दक्षिण पूर्व भाग एक बड़े चबूतरे के समान है जो लगभग चार मीटर ऊँचा है। इस चबूतरे के ऊपर छोटे चबूतरों की कई कतारें हैं जिनके बीच से संकीर्ण रास्ते गुजरते हैं। इन चबूतरों की बनावट को देखकर मोहनजोदड़ो के अनाज घर का स्मरण होता है। यह चबूतरा 48.5 × 42.5 मीटर का है। नगर के इस भाग के पीछे और भी कई इमारतें हैं और

नोट

एक ही नाली से जुड़ी हुई हैं। शहर के अन्य भाग में अनेक घर और दुकानें बसी हुई थीं। इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण हार के दाने बनाने वालों का कारखाना, ठठेरों और सोनारों का उद्योग भी शामिल है। इस नगर की मुख्य सड़क उत्तर से दक्षिण की ओर गई थी।

परन्तु लोथल की सबसे आश्चर्यजनक उपलब्धि ईंट से निर्मित एक विशाल हौज है, जिसकी माप 219 × 27 मीटर है और 4.5 मीटर अपनी सतह से ऊँचा है। यह लोथल बस्ती के पूरब में और अनाज भंडार से सटा हुआ है। इस हौज के एक किनारे पर बांध के दरवाजे पर समान पानी के बहाव पर नियंत्रण रखने के लिए किसी प्रकार का फाटक रहा होगा। ऐसा लगता है कि यह लोथल का बन्दरगाह होगा, परन्तु यह विचार आमतौर पर स्वीकारा नहीं गया है लेकिन इस हौज बनाने के उद्देश्य को भी अभी तक नहीं समझा गया है। कुछ विद्वानों ने इसे गोदीबाड़ा कहा है लेकिन इस विचार को भी विद्वानों ने नहीं माना है। अन्य स्थलों की तरह इस शहर के निकट भी एक कब्रिस्तान पाया गया है।

सुरकोतदा—यहां केवल एक ही टीला मिला है। कालीबंगन के समान यह भाग भी चहारदीवारी से घिरा था। दो अलग-अलग चहारदीवारी मिली हैं जो आपस में एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। यहां भी लगता है कि एक भाग में धनी लोग रहते थे तथा दूसरे भाग में धार्मिक अनुष्ठान होते थे। जिस भाग में धार्मिक अनुष्ठान होने का अनुमान किया जाता है वहां का चबूतरा ऊँचा है। इसके पश्चिम भाग में कब्रिस्तान था। इस तरह कालीबंगन के पश्चिम टीले की योजना की पुनरावृत्ति ही यहां दिखाई देती है। इसका कोई पूर्वी टीला नहीं मिला है।

बनवाली—सिन्धु क्षेत्र में स्थित इस स्थान की योजना सुरकोतदा तथा कालीबंगन के पश्चिमी टीले से मिलती-जुलती है। यहाँ भी दो-दो किलेबन्दियाँ थीं जो आपस में एक-दूसरे से मिली हुई थीं। एक भाग में विशिष्ट वर्ग के लोग रहते थे तथा दूसरी चहारदीवारी में पूजा-पाठ का कार्य सम्पन्न किया जाता था।

भवन-निर्माण—उपर्युक्त नगरों की योजना के अध्ययन से हमें पता चलता है कि सिन्धु क्षेत्र के निवासी न केवल छोटे-बड़े और कच्चे-पक्के मकानों में रहते थे बल्कि स्वच्छता एवं सुन्दरता पर भी काफी ध्यान देते थे। मकानों के निर्माण में जिन ईंटों का प्रयोग होता था वे प्रबल, पक्की तथा लाल रंग की होती थीं। ईंटों को लकड़ी जलाकर पकाया जाता था। उत्खनन से प्राप्त ईंटों को नापने से पता चलता है कि छोटी ईंट सवा दस इंच लम्बी तथा पांच इंच चौड़ी होती थी। एक दूसरे प्रकार की भी छोटी ईंट मिली है जो पांच इंच लम्बी तथा सवा दो इंच चौड़ी है। बड़ी साइज की ईंट भी मिली है। यह सवा बीस इंच लम्बी, दस इंच चौड़ी और साढ़े तीन इंच मोटी है। पुरातात्विक अन्वेषण से पता चलता है कि सिन्धु घाटी की इमारतें योजनाबद्ध तरीके से बनायी जाती थीं। नगरों में जो मकानों के अवशेष मिले हैं उनके अनुसार एक साधारण मकान प्रायः तीस फीट लंबा और छब्बीस या सत्ताइस फीट चौड़ा होता था। समृद्धशाली लोगों के मकान इससे दुगने और कभी-कभी तिगुने बड़े क्षेत्रफल में पाये जाते थे। सिन्धु क्षेत्र में दो मंजिले और तीन मंजिले मकानों के भी अवशेष मिले हैं। सुरक्षा के दृष्टिकोण से मकानों की दीवार बहुत मोटी होती थी। कमरों को पाटने और लकड़ी की कड़ियां पाटने के अवशेष भी मिले हैं।

योजनाबद्ध तरीके से नगर का निर्माण करने में पानी के निष्कासन के लिए नालियों के निर्माण का बड़ा महत्त्व है। सिन्धु क्षेत्र में हमें नालियों की भी जानकारी होती है। मकान के अन्दर नीचे से ऊपर जाने के लिए लकड़ी या ईंटों की सीढ़ियां भी होती थीं। इन सीढ़ियों की चौड़ाई लगभग सवा फुट होती थी।

सिन्धु प्रदेश में बाढ़ों का डर हमेशा बने रहने के कारण वहां के मकान प्रायः ऊँचे चबूतरे पर बनाये जाते थे।

मकानों में आधुनिक काल जैसा खाना पकाने के लिए मिट्टी तथा ईंटों के चूल्हे होते थे। अलग से रसोई घर की व्यवस्था रहती थी, जिसमें बड़े-बड़े बर्तन भूमि में जड़े रहते थे।

मकानों में कई कमरे बने रहते थे। इन कमरों में लगभग पौने चार फुट के दरवाजे लगे रहते थे। कुछ बड़े मकानों में लम्बे-चौड़े दरवाजे भी लगाये जाते थे। एक दरवाजा एक पल्ले का होता था ताकि आदमी के अलावा घरेलू पशु या गाड़ियां भी आसानी से भीतर घुस सकें।

यहां के प्रायः सभी घरों में चौकोर स्नानागर बने होते थे। इसका फर्श चिकना होता था। यह पक्की ईंटों का बना होता था। स्नानागार में नहाने के लिए पानी की भी व्यवस्था रहती थी। पानी एक बड़े बर्तन में रखा रहता था।

नोट

स्नानागार के समीप ही शौचालय बना रहता था। स्नानागार से नाली के सहारे पानी शौचालय में जाता था। इसी पानी से शौचालय स्वच्छ रहता था। शौचालय का पानी सड़क की नाली में जाकर गिरता था। स्नानागार और शौचालय के बीच एक नाली होती थी। इसी तरह शौचालय से नाली तक के बीच में भी एक नाली होती थी। नाली से पानी इधर-उधर नहीं निकले इसके लिए नाली के पास के ईंट को घिस कर इतना चिकना कर दिया जाता था कि उसके जोड़ एक-दूसरे से बिल्कुल सट जाते थे।

सिन्धु घाटी में नगरों के योजनाबद्ध तरीके से निर्माण, पानी की समुचित व्यवस्था, स्वच्छता पर ध्यान आदि से पता चलता है कि नगर के प्रबंध के लिए कोई सार्वजनिक संस्था की अवश्य ही व्यवस्था होगी। सिन्धु सभ्यता से हमारे प्राचीनतम नगर जीवन एवं सभ्यता की जानकारी मिलती है।

सिन्धु लिपि–इस लिपि के लगभग 400 चिह्नों के बारे में जानकारी मिली है। ये सभी स्थानों में छोटे आकार में हैं। ये चिह्न साधारण तौर पर सेलखड़ी की नया पांच पैसा के समान आयताकार मोहरों के रूप में मिले हैं। ये ताम्बे की गुटिकाओं आदि पर अंकित हैं। इनकी लिखावट आधुनिक हिन्दी भाषा लेखन जैसा ही बांई से दांई ओर है। इससे पता चलता है कि सिन्धु घाटी के लोग लेखनकला से अनजान नहीं थे। लेकिन दु:ख एवं चिन्ता की बात यह है कि उनकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। आज भी विद्वानों के लिये यह रहस्य का विषय बना हुआ है। ये लेख एक प्रकार के चित्रलेख से निकले हैं जिसमें प्रत्येक चिह्न शब्दविशेष या वस्तु को प्रकट करता है। कई विद्वानों, जैसे–फादर हेरास आदि का कहना है कि इन मोहरों पर की लिखावटों से ज्ञात होता है कि इसकी भाषा द्रविड़ है। कुछ अन्य विद्वान इसे ब्राह्मी की पूर्ववर्ती आर्य लिपि और भाषा मानते हैं; परन्तु इसका प्रमाण कुछ भी नहीं है। इस तरह सिन्धुलिपि ने विद्वानों के समक्ष एक समस्या खड़ी कर दी है। **ह्वीलर** महोदय का कहना है कि "इस लिपि का अनुवाद करने के लिए आवश्यक साधन–एक द्विभाषी शिलालेख जिसमें एक भाषा का हमें पूर्ण ज्ञान हो या एक लम्बा शिलालेख जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण भाग बार-बार प्रयोग किये गये हों–अभी तक हमें नहीं मिल पाये हैं।" सिन्धु घाटी में पाये गये अधिकांश शिलालेख छोटे हैं और उनमें औसत छह अक्षर हैं। सबसे लम्बे शिलालेख में भी केवल सत्रह अक्षर हैं जिनकी आपस में भिन्नता के कारण हम इस बात की कल्पना तक करने में असमर्थ हैं कि उनका सम्बंध मुहरों पर पाये जाने वाले नमूनों से है या नहीं। अनुमान के ही आधार पर कहा जाता है कि ये शिलालेख शायद संज्ञाएं हैं और कभी-कभी पिता के नाम, उपाधि या व्यवसाय के नाम उनके साथ दिये गये हैं। लगता है, इस पहेली को सुलझाने के लिए 'रीजेट्टा स्टोन' की भांति किसी भाग्यशाली वस्तु की खोज करनी पड़ेगी। हमें तो मालूम ही है कि अगर पुरातत्ववेत्ताओं को बहिस्तान और रोजेट्टा के त्रिभाषी अभिलेख न मिले होते तो मिस्र और सुमेर की चिह्न संकेत अक्षर लिपियां बहुत समय तक अज्ञात ही रहतीं। अंत में, हमें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सैन्धव सभ्यता के निवासी लिखने की क्रिया से अनभिज्ञ नहीं थे और यह इतने प्राचीन काल में साधारण बात नहीं है।

इस भाषा के लगभग 700 चिह्न अक्षर थे लेकिन यह पता नहीं कि इण्डोग्राफिक, लोगोग्राफिक या किसी दूसरे प्रकार की लिपि थी। स्केण्डिनेविया के कुछ विद्वानों ने विशेषकर ए॰ पारपोला ने यह दावा किया है कि उन्होंने प्राचीन तमिल के आधार पर कई अभिलेखों को समझ लिया है किन्तु अन्य विद्वानों ने इस खोज को नहीं स्वीकारा है। कुछ ही दिन पहले फ्रांस में अंतर्राष्ट्रीय विद्वानों की गोष्ठी हुई थी, जिसमें एक भारतीय विद्वान ने सिन्धु लिपि को पढ़कर समझने का दावा किया लेकिन उनके सारे तर्क को एक चीनी विद्वान ने काट दिया।

शान्ति प्रधान–सिन्धु क्षेत्र से प्राप्त पुरातात्विक वस्तुओं के आधार पर हमें पता चलता है कि यहां के लोग बड़े ही शांतिप्रिय थे। खुदाई में कवच, ढाल, तलवार, शिरस्त्राण आदि युद्धोपयोगी सामानों के नहीं मिलने से लगता है कि यहां के निवासी युद्धप्रिय प्रवृत्ति के नहीं थे। उत्खनन से घनुष-बाण, भाला, कुल्हाड़ी आदि औजारों के मिलने से हम कह सकते हैं कि यहां के निवासी शिकार भी करते थे। दूसरी प्राचीन सभ्यताओं की तुलना में सिन्धु सभ्यता अधिक ऊँचे स्तर की थी। यहां के लोग कलाकौशल तथा वाणिज्य व्यापार की उन्नति कर देश को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए सदा तत्पर रहते थे।

लोकतांत्रिक सभ्यता–राजाओं और राजभवनों के नहीं मिलने के कारण विद्वानों का कहना है कि सिन्धु सभ्यता काल में राजतंत्रात्मक व्यवस्था नहीं थी। यहां पाये गये विशाल सभा भवन तथा स्नानागार उस काल के लोगों के

नोट

सामूहिक जीवन को बतलाते हैं। यह सभ्यता समष्टिवाहिनी तथा लोकतंत्रात्मक थी। यहां का शासन केन्द्रीय स्तर पर बहुत ही सशक्त था। सिन्धु क्षेत्र के दो प्रधान केन्द्र थे—हड़प्पा और मोहनजोदड़ो। अनुमान किया जाता है कि उत्तरी क्षेत्र की राजधानी हड़प्पा थी। जबकि मोहनजोदड़ो दक्षिणी क्षेत्र की राजधानी था।

नागरिक सभ्यता—सिन्धु घाटी की सभ्यता ग्रामीण एवं कृषि प्रधान नहीं थी। यह सभ्यता वास्तव में नागरिक थी। यहां के समाज में व्यापार की प्रधानता थी। व्यापार के ही कारण यहां बड़े-बड़े शहर थे। इन शहरों का व्यापार के दृष्टिकोण से विदेशों के साथ काफी सम्बंध था। ऐसा लगता है कि यहां के लोगों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार औद्योगिक विशिष्टीकरण था। यहां के निवासियों की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई महत्त्व था।

पुरानी सभ्यता—1921 के पहले विद्वानों का कहना था कि नील नदी तथा दजला-फरात नदियों की घाटियों में फैली है। सभ्यता ही विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यता थी। लेकिन सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेषों का जब अध्ययन किया गया तो विद्वानों की पुरानी धारणाएं बदल गयीं। भारत के पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष **सर जॉन मार्शल** के अनुसार, "सैन्धव घाटी का एक साधारण नागरिक भी सुखसामग्री एवं भोगविलास की वस्तुओं का जिस मात्रा में उपभोग करता था उसकी तुलना उस समय के सभ्य संसार के किसी भी देश से नहीं की जा सकती। आधुनिक काल की तरह सैन्धव काल में पक्की ईंटों का प्रयोग था। ढ़की हुई नालियों का इस्तेमाल किया जाता था। मनुष्य के सामूहिक स्नान के लिए ठंडा तथा गरम दोनों प्रकार के स्नानागारों का वृहत् पैमाने पर प्रचलन था। मिस्र और मेसोपोटामिया की सभ्यता में इस तरह की व्यवस्था का हम सर्वथा अभाव पाते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि सिन्धु सभ्यता दूसरे देशों की तुलना में काफी विकसित थी। इसीलिए बहुत से विद्वानों ने इसे मानव सभ्यता का प्रथम केन्द्र माना है।

राजनीतिक जीवन

राजनीतिक संगठन के बारे में सिन्धु क्षेत्र में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं। राजभवन जैसे कोई विशाल भवन भी अवशेष के रूप में यहां नहीं मिले हैं, जिसके आधार पर राजनीतिक अध्ययन किया जा सके। किसी विशाल मंदिर और उसके प्रधान देवता की भी जानकारी नहीं हो पायी है, जिसके आधार पर यह अनुमान किया जाए कि यहां का प्रधान शासक कोई पुरोहित था। अवशेष के रूप में जहां विशाल स्नानागार मिला है उसी के समीप कुछ भवनों के अवशेष भी मिले हैं। इसे कुछ लोग राजभवन की संज्ञा देते हैं लेकिन यह विचार ठीक नहीं लगता। असल में इन भवनों में मात्र एक विशाल कमरे की जानकारी होती है और एक ही विशाल कमरे के आधार पर इसे राजभवन कहना उचित प्रतीत नहीं होता। इसके बावजूद इतना तो कहा ही जा सकता है कि इतना विशाल क्षेत्र किसी न किसी राजनीतिक घेरे के अन्दर निश्चित ही होगा। इस तर्क के पक्ष में यह प्रमाण दिया जा सकता है कि सारे क्षेत्र में एक ही तरह की माप तथा तौल प्रचलित थी। भवनों का निर्माण भी यहां लगभग एक ही प्रकार का होता था। यहां पायी गयी मूर्तियों में भी एकरूपता पायी गयी है तथा लिपि का प्रचार भी एक ही तरह का था। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ऐसा लगता है कि यहां एक व्यवस्थित शासन संगठन था। इस क्षेत्र में पाये गये नगरों की योजनाओं को देखकर यह कहा जा सकता है कि यहां नगरपालिका संगठन भी था जो राजनीतिक व्यवस्था का ही एक अंग है। नगरपालिका होने के कारण ही वहां गलियों तथा सड़कों की रक्षा एवं नालियों की समुचित व्यवस्वथा थी। अतएव विद्वानों का मत है कि यहां एक विशाल राजनीतिक संगठन था।

ह्वीलर ने उत्खनन के आधार पर वहां की शासन व्यवस्था को मध्यवर्गीय जनतांत्रिक शासन कहा है। उसके अनुसार "चाहे कहीं से भी उपर्युक्त तथ्य ज्ञात हुआ हो, धार्मिक प्रवृत्ति की प्रमुखता तो स्वीकार करनी ही होगी। सुमेर और अक्कड़ के पुरोहित राजा के समान हड़प्पा के मालिक भी अपने नगरों पर शासन करते थे। मंदिर के मुख्य देवता के ही हाथ में सुमेर नगर का अनुशासन और धन रहता था। यहां के देवता को पुरोहित राजा कहा जाता था।" सुमेर की शासन प्रणाली को इतिहासकार **हण्टर** द्वारा राजतांत्रिक प्रणाली कहा गया है। सिन्धु घाटी सभ्यता में जनतांत्रिक शासन प्रणाली प्रचलित थी, इसका अनुमान सिन्धु क्षेत्र में पाये गये विशाल स्नानागार से सटे हुए भवनों के आधार पर किया जा सकता है। विद्वानों का कहना है कि यहां के नगर के व्यक्ति इस विशाल भवन में अपने प्रतिनिधियों

नोट

का निर्वाचन करने के लिए एकत्र हुआ करते थे। विशेष महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करने के लिए भी वे इस भवन में एकत्रित होते थे। वैसे यह स्पष्ट नहीं हो सका कि शासन की लगाम एक संवैधानिक राजा के हाथ में थी या जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में। शासन में विकेन्द्रीकरण जैसी व्यवस्था शायद थी।

क्या आप जानते हैं सिन्धु घाटी के निवासी ऋग्वैदिक काल के समान तलवार, कवच, चिरस्त्राण आदि का प्रयोग नहीं करते थे। इन सब औजारों से ये अनभिज्ञ थे।

सिन्धु घाटी के लोग युद्धप्रिय नहीं थे, यह प्रमाण तो उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर ही हो चुका है। उनकी सभ्यता शान्तिप्रधान थी। खुदाई से प्राप्त अस्त्र-शस्त्र का अध्ययन करने पर पता चलता है कि ये ताम्बे एवं कांसे के बने रहते थे। ये औजार अधिक तीक्ष्ण नहीं थे। सिन्धु घाटी के निवासी ऋग्वैदिक काल के समान तलवार, कवच, शिरस्त्राण आदि का प्रयोग नहीं करते थे। इन सब औजारों से ये अनभिज्ञ थे। यहां के निवासियों को शांतिमय जीवन व्यतीत करने में ज्यादा विश्वास था। फलतः कहा जा सकता है कि सिन्धु काल में शासन व्यवस्था अच्छी थी। अशान्ति एवं राजनीतिक अशांतियों से यह मुक्त था। युद्ध प्रिय नहीं रहने के कारण ही अगर बाहर की जातियों ने इन पर आक्रमण करके इन्हें परास्त कर दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

सामाजिक जीवन

सिन्धु सभ्यता के सामाजिक संगठन एवं जीवन के सम्बंध में निश्चित रूप से कुछ बताना मुश्किल है क्योंकि उसकी लिपि को विद्वान अभी तक नहीं पढ़ पाये हैं। लेकिन खुदाइयों से प्राप्त मूर्तियों, सोने-चांदी के आभूषण, हाथी दांत की बनी विभिन्न श्रृंगार सामग्री के आधार पर सिन्धु सभ्यता के सामाजिक जीवन के बारे में जानकारी मिलती है। भवन अवशेष के आधार पर वहां के लोगों के सामाजिक संगठन पर ठीक से प्रकाश नहीं डाला जा सकता है। सिन्धु घाटी में पाये गये सभी मकान एक समान हैं। अतः यहां के निवासियों का जीवन स्तर भी समान रहा होगा। जब हम आर्थिक दृष्टिकोण से सिन्धु सभ्यता के लोगों का अध्ययन करते हैं तो यहां के निवासियों का जीवन स्तर एक समान नहीं पाते हैं। यहां के लोग सामाजिक दृष्टिकोण से कई भागों में बंटे हुए थे। सुविधापूर्वक अध्ययन के दृष्टिकोण से इन्हें हम मुख्यतः चार भागों में बांट सकते हैं। **प्रथम** श्रेणी में व्यापारी, **दूसरे** में विद्वान, **तीसरे** में श्रमिक और **चौथी** श्रेणी में सैनिक थे। सिन्धु काल के बाद विश्व में एकमात्र देश चीन में भी हम पाते हैं कि सैनिकों का स्थान समाज में काफी नीचे था क्योंकि यह देश भी प्राचीन काल में शांतिप्रिय था। ऋग्वैदिक काल में तो लड़ने वाला वर्ग भारतवर्ष में द्वितीय श्रेणी में था।

पुजारी, ज्योतिषी तथा वैद्य विद्वान वर्ग में आते थे। मेहनत–मजदूरी करने वाले तथा घरेलू नौकर श्रमिक वर्ग में थे। इसके अलावा श्रमिक वर्ग में चमार, टोकरी बनाने वाले, मछुआरे आदि भी शामिल थे। विभिन्न तरह के उद्योग करने वाले लोग व्यापारी वर्ग में थे। सिन्धु घाटी के समाज में आर्थिक दृष्टिकोण से धनी, मध्यम एवं गरीब–तीनों वर्ग के लोग थे। यहां से दूर-दूर के देशों के साथ व्यापार होता था। अतः समाज में व्यापारियों की प्रतिष्ठा काफी थी।

पारिवारिक जीवन और स्त्रियों की दशा–परम्परागत परिवार सिन्धु घाटी सभ्यता काल में समाज की इकाई थी। पाये गये अवशेषों के आधार पर परिवारों के रहने की योजना मिलती है। द्रविड़ और आर्य सभ्यता के पहले के काल में समाज मातृसत्तात्मक था। अवशेषों के आधार पर हम कह सकते हैं कि यहां का समाज मातृप्रधान था। फलतः सिन्धु क्षेत्र के निवासी मातृदेवी का बड़ा आदर करते थे। यहां के समाज में स्त्रियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। इस काल में पर्दाप्रथा की बात नहीं पायी गयी है। स्त्रियों का मुख्य काम शिशुपालन और सूत काटना था। यहां खुदाई से कई स्त्रियों की मूर्तियाँ भी मिली हैं। इसमें सबसे ज्यादा आश्चर्य कांसे की बनी हुई नर्तकी की एक मूर्ति देखकर होता है। यह नर्तकी गले में कंठहार पहनी हुई है। यह सारी भुजाओं को ढंके हुए है तथा वलय समूह के अतिरिक्त नग्न है। उसकी वेणी एक सुन्दर केशावरण में सुसम्बद्ध है। इस नर्तकी की एक भुजा अपने कूल्हे पर रखी है। यह अर्द्धावनत जंघा के साथ उत्तेजनात्मक मुद्रा में खड़ी है। इसे देखने से ऐसा लगता है कि इसमें सजीव धृष्टता

नोट

का गर्व है। इस तरह की सजीव धृष्टता का गर्व विश्व की दूसरी प्राचीन सभ्यताओं में नहीं मिलता है। सिन्धु क्षेत्रों की खुदाई से कुछ प्रभावहीन देवियों की मूर्तियां मिली हैं। इससे पता चलता है कि सिन्धु समाज में औरतों की अवस्था बाद के काल अर्थात ऋग्वैदिक काल से भिन्न थी। विद्वानों का मत है कि ये देवियों की मूर्तियां वास्तव में नर्तकी, देवदासी एवं वेश्याओं की प्रतिनिधि थीं। मध्य पूर्व की सभ्यताओं में देवदासी और वेश्याएं थीं लेकिन सिन्धु क्षेत्र से प्राप्त मूर्तियों के बारे में निश्चय रूप से बताना कि वे वेश्याओं की प्रतिनिधि थीं, मुश्किल है। इतना तो निश्चित है कि सिन्धु समाज में देवीपूजा काफी प्रचलित थी क्योंकि खुदाई से बहुत-सी साधारण किस्म की मूर्तियां मिली हैं जो लगभग नग्न थीं। उनके शिरोपरिधान सुन्दर थे।

वेश-भूषा—सामाजिक दृष्टिकोण से वेशभूषा का आज भी महत्त्व है। सिन्धु क्षेत्र में खुदाई से कोई वस्त्र नहीं मिला है, वैसे पुरातत्व से वस्त्र मिलना सम्भव भी नहीं। वहां पाये गये दो-चार खंडित मूर्तियों तथा खिलौनों के वेशों से हम वहां के वस्त्रों के बारे में थोड़ा बहुत जान सकते हैं। शाल ओढ़े हुए एक मूर्ति मिली है जो किसी पुरुष की है। इसमें हम पाते हैं कि वह पुरुष शाल को बायें कुहने के ऊपर तथा दायें हाथ के नीचे से ओढ़े हुए है। इस पुरुष मूर्ति से यह पता नहीं चल पाता है कि शरीर पर चादर लपेटने के अलावे उसके भीतर वह और कोई वस्त्र पहनता था या नहीं। मूर्ति को देखने से लगता है कि शाल किसी पिन की सहायता से शरीर में लपेटा जाता था। स्त्रियों के लिये सिर पर पहनने के लिए खास तरह का वस्त्र होता था जो सिर के पीछे की ओर पंखे की तरह उठा रहता था। इस सिर के वस्त्र की तुलना आधुनिक काल में ईसाई औरतों के द्वारा शादी के अवसर पर सिर पर पहनने वाले उस वस्त्र से की जा सकती है जो पीछे की ओर पंखे की तरह उठा रहता है। सिन्धु सभ्यता में औरत एवं मर्द के वस्त्रों में विशेष अन्तर नहीं था। इस प्रदेश की खुदाई से प्राप्त सोना तथा ताम्बे के बटन मिलने से वहां के निवासियों की वेशभूषा के विषय में जानकारी मिलती है। इस क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार की ऋतुएं होती थीं। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के वस्त्र भी यहां के लोग पहनते थे। यहां के निवासी नोक वाली टोपी पहना करते थे। स्त्री-पुरुष दोनों टोपियों का व्यवहार करते थे। ऊंचे वर्ग के लोगों का वस्त्र साधारण आदमी से भिन्न था। कलात्मक ढंग से ऊँचे वर्गों के लोगों का वस्त्र सजाया गया रहता था। ये लोग दाढ़ी भी रखते थे। स्त्रियों एवं पुरुषों में लम्बे बाल रखने की प्रथा थी। ऊंचे घर की औरतें उत्सव के अवसर पर नये ढंग के वस्त्रों का इस्तेमाल करती थीं। ये वस्त्र देवी माता की मूर्तियों के कलात्मक शिरपरिधानों के समान होते थे। देवियां साधारणतया छोटा घाघरा पहना करती थीं, लेकिन एक ऐसी मुद्रा भी मिली है जिस पर कुछ नारियों का चित्र है। ये नारियां जो शायद पुजारिनें होंगी, बड़े-बड़े घाघरों में इनका प्रदर्शन किया गया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. मोहनजोदड़ो नगर सिन्ध के ..... जिले में स्थित है।
   (*a*) लरकाना (*b*) रोजदी
   (*c*) सुरकोटडा (*d*) इनमें से कोई नहीं
5. चन्हूदड़ो स्थल की खोज 1931 में ..... ने की थी
   (*a*) एम. एस. वत्स (*b*) एम. जी. मजूमदार
   (*c*) आर. एस. विष्ट (*d*) इनमें से कोई नहीं
6. लोथल हड़प्पा सभ्यता का एक ..... था।
   (*a*) नगर (*b*) प्रमुख पत्तन
   (*c*) बन्दरगाह (*d*) इनमें से कोई नहीं
7. लोथल स्थित है
   (*a*) गुजरात (*b*) बिहार
   (*c*) उत्तर प्रदेश (*d*) इनमें से कोई नहीं।

नोट

केश-विन्यास–आधुनिक काल की तरह उस समय भी सिर को सजाने की प्रथा औरतों में थी। चोटी गूंथने की परम्परा समाज में औरतों के बीच काफी प्रचलित थी। जूड़े के रूप में भी बालों को गूंथकर पीछे मोड़ लेने की प्रथा थी। अमीर स्त्रियां एवं पुरुष बाल बांधने के लिए सुनहरे नाड़ों को प्रयोग करते थे। अति आधुनिक औरतों की तरह उस समय की औरतें भी कटे हुए छोटे बाल रखती थीं। बिना गूंथे हुए बाल को भी पीछे फेंकने की बात खुदाई से प्राप्त मूर्तियों को देखने से पायी जाती है। वैसे मर्द जो दाढ़ी-मूंछ रखते थे मूर्तियों एवं मुद्राओं दोनों में सुव्यवस्थित ढंग से दिखाये गये हैं। शृंगार करने के लिए वहां के निवासी अस्तुरे, पाउडर, सिन्दूर आदि का प्रयोग करते थे। मुख तथा होठ को आकर्षक बनाने के लिए स्त्रियां एक विशेष प्रकार के पदार्थ का प्रयोग करती थीं। सिन्धु क्षेत्र के लोगों के शृंगार एवं विलासिता के सम्बंध में **सर जॉन मार्शल** का कहना है कि यहां एक साधारण नागरिक भी जिस तरह की सुविधा एवं विलासपूर्वक जीवन बिताता था उसकी तुलना इस काल के किसी भी अन्य देश से नहीं की जा सकती है।

आभूषण–अति सुन्दर दिखने के लिए तथा तंत्र-मंत्र एवं जादू-टोना से प्रभावित होकर हड़प्पावासी अनेक तरह के आभूषणों का प्रयोग करते थे। खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर पता चलता है कि यहां के लोग गले में हार, सिर पर आभूषण, सिरबन्द, पैर में पायल, हाथ की कलाई में कंगन, पैर में कड़े, कानों में बालियां तथा अंगुली में अंगूठी भी पहनते थे। समाज के गरीब लोग ताम्बा, हड्डी एवं मिट्टी के बने आभूषण पहना करते थे। धनी वर्ग के लोग सोना, चांदी तथा हाथी दांत के आभूषण पहनते थे। आभूषण औरत और मर्द दोनों के द्वारा पहना जाता था। अपने आपको संवारने के लिए पीतल का बना हुआ आईना एवं हाथी दांत की कंघियों का इस्तेमाल किया जाता था। आंखों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए सुरमे का भी प्रयोग लोग करते थे।

रहन-सहन–सिन्धु घाटी से प्राप्त अवशेषों के आधार पर वहां के निवासियों की रहन-सहन पर भी प्रकाश पड़ता है। धनी लोग अपने मकानों को सजाकर रखते थे। मकान के आगे में एक बैठका होता था जिसमें कुर्सी, पलंग और स्टूल रखा जाता था। सोने के लिए लोग चारपाई का इस्तेमाल करते थे। चारपाइयां प्रायः लकड़ी की बनती थीं। नरकुल की भी चटाइयां बनाई जाती थीं। घर में रोशनी के लिए दीपक जलता था। ये दीपक ताम्बे और मिट्टी के बनाये जाते थे। सीप को भी दीपक के रूप में प्रयोग किया जाता था। मोम और रूई की बत्तियां घरों में प्रकाश के लिए इस्तेमाल की जाती थीं। पत्थर के दीप भी बनाये जाते थे। सामान ढोने के लिए टोकरियों का प्रयोग किया जाता था। ये टोकारियां लकड़ी या बेंत की बनी होती थीं।

मनोविनोद के साधन–दिन भर के थके-हारे शहरी व्यक्ति के लिए मानसिक रूप से तरोताजा होने के लिए आधुनिक काल की तरह सिन्धुकाल में भी मनोविनोद का बड़ा महत्त्व था। मानसिक तनाव कम करने के लिए आज भी इसका काफी महत्त्व है। सिन्धु घाटी के निवासियों के मनोरंजन के कई साधन थे। यहां के लोग मुख्यतः शिकार करने, नाचने और गाने में बहुत रुचि रखते थे। खुदाई से यहां बहुत-सी नाचने वाली स्त्रियों की मूर्तियां मिली हैं जिनसे पता चलता है कि यहां के लोग नृत्य के शौकीन थे। शतरंज एवं जुआ खेलने की भी प्रथा समाज में थी। सिन्धु लोग रथदौड़ में भी भाग लेते थे। लखनऊ के नवाबों के समान चिड़ियां उड़ाना भी मनोरंजन का एक मुख्य साधन था। इसके लिए चिड़ियां पाली जाती थीं। गोली खेलना, पासा फेंकना तथा गेन्द खेलना लोगों के मनबहलाव के साधन थे। गोली खेलने की प्रथा सिन्धु घाटी के अलावे सुमेर एवं मिस्र में भी थी। पुरातत्व से काफी संख्या में पासा मिलने से लगता है कि सिन्धुघाटी के निवासी जुआ खेलने के बहुत शौकीन थे। ऋग्वैदिक काल में भी हम पाते हैं कि पासा खेलना काफी लोकप्रिय था। सिन्धुवासियों को शिकार करने का बहुत शौक था। इसकी जानकारी खुदाई से प्राप्त मुद्राएं देती हैं। इन सिक्कों पर बने चित्रों से पता चलता है कि यहां के लोगों को धनुष-बाण से बकरियों, हिरणों आदि का शिकार करना प्रिय था। बैलों से कुश्ती कराने की प्रथा भी प्रचलित थी। बच्चों के मनोरंजन के साधन के बारे में भी जानकारी मिलती है। छोटी-छोटी गाड़ियां बनाकर सिन्धु समाज के बच्चे खेला करते थे। मनुष्य तथा पशुओं के आकार के खिलौने भी बनते थे। ये मिट्टी के हुआ करते थे। बच्चों को खेलने के लिए मिट्टी के भेड़ भी बनाये जाते थे। एक बैल जैसा खिलौना मिला है जिसका सिर हिलता है। एक हाथी भी मिला है जिसका सिर दबाने से शब्द उत्पन्न होता है। सिन्धु क्षेत्र में एक ऐसे पशु का अवशेष मिला है जिसका सर तो भेड़ के समान है लेकिन शरीर चिड़ियां के समान है। कुछ पक्षियों की भी चर्चा मिलती है जो बन्द पिंजड़े में दिखाये गये हैं। मिट्टी

नोट

की चिड़ियां भी मिली हैं जिनमें टांगे अलग से जोड़ दी जाती थीं। बच्चों को खेलने के लिए मिट्टी के झुनझुने भी बनाये जाते थे। मुंह से बजाने वाली सीटियां भी मिली हैं। बच्चों के लिए मनुष्य आकृति के मिट्टी के खिलौने भी मिले हैं। बौनी के रूप में खिलौना भी बच्चों द्वारा खेला जाता था। मिस्र में भी ऐसे बौने खिलौने के रूप में मिले हैं। पहिए वाली गाड़ी का भी खिलौने रूप में उपयोग किया जाता था। ताम्बे की बनी एक छोटी-सी सुन्दर गाड़ी भी हड़प्पा की खुदायी में मिली है। उपर्युक्त खिलौने के आधार पर सिन्धुवासी के जीवन को समझने में हमें सुविधा मिलती है।

मृतक क्रिया—सिन्धुकाल में वैसे तो मृतक संस्कार के सम्बन्ध में कुछ बताना आसान नहीं लेकिन मोहनजोदड़ो से प्राप्त अवशेष के आधार पर पता चलता है कि मृतक संस्कार के तीन प्रकार थे—(क) शव को मांसभक्षी जानवरों के सामने फेंक दिया जाता था। मांस खाने के बाद जो हड्डियां जानवरों के द्वारा छोड़ दी जाती थीं उन्हें दफना दिया जाता था। (ख) लाश को उसी तरह दफना दिया जाता था। (ग) दाहक्रिया करने के बाद अस्थियों को दफना दिया जाता था। अस्थियाँ, कोयला तथा भस्म तीनों चीजों से भरे अनेक कलश सिन्धु क्षेत्र में मिले हैं। इससे पता चलता है कि दाहक्रिया करने के पश्चात अस्थियों को दफनाने की प्रथा ही अधिक प्रचलित थी। हड़प्पा से प्राप्त कुछ अवशेषों से पता चलता है कि लाश का सिर उत्तर की ओर रहता था। शव को लम्बा रखने की प्रथा थी। शव के साथ जेवरात और शृंगार की चीजें भी गाड़ दी जाती थीं। कुछ ऐसे भी शिव मिले हैं जिनके दाहिने हाथ की अंगुली में ताम्बे की अंगूठी मिली है। शव के पास पायल, हार, आईना आदि भी मिले हैं। एक स्थान पर खुदाई से एक साथ कई लाशें मिली हैं। अनुमान किया जाता है कि किसी युद्ध में मरे हुए लोगों को एक-साथ ही गाड़ दिया गया था। कहीं-कहीं स्त्री-पुरुष दोनों की लाशें एक साथ मिली हैं। ऐसे अवशेष हड़प्पा से मिले हैं। हड़प्पा के समान ही प्राचीन सुमेर में भी इसी तरह की प्रथा प्रचलित थी। हड़प्पा से एक ऐसा शव मिला है जिसकी बगल में एक बकरी की लाश भी है। विद्वानों का अनुमान है कि अंतिम संस्कार के अवसर पर शायद बकरे की बलि चढ़ाई गयी होगी।

औषधियों का प्रयोग—सिन्धुकाल में प्रयोग की गयी दवाइयों के बारे में बताना बहुत मुश्किल है। बीमारी तो होती ही होगी। फलतः कुछ न कुछ औषधियों का प्रयोग भी यहां के निवासियों द्वारा किया जाता था। मोहनजोदड़ो में खुदाई से शिलाजीत मिला है। यह काले रंग का है जिसे घोलने के बाद इसका रंग गहरे बादामी रंग का हो जाता है। इसका प्रयोग आज भी कई बीमारियों को ठीक करने के लिए किया जाता है। औषधि के रूप में समुद्र के फेन का भी प्रयोग लोग करते थे। **कर्नल स्यूयल** के अनुसार हिरण तथा बारहसिंगों के सींगों का प्रयोग भी औषधि बनाने के लिए किया जाता था। नीम की पत्तियों से भी औषधि आज की ही तरह बनायी जाती थी।

भोजन—सिन्धु प्रान्त में खुदाई से प्राप्त खाद्य सामग्री के आधार पर वहां के लोगों के भोजन के सम्बंध में जानकारी मिलती है। खाद्य सामग्री पैदा करने के लिए लोगों को प्राकृतिक सुविधाओं पर अधिक निर्भर रहना पड़ता था। आज भी भारत के किसान प्राकृतिक सुविधाओं पर ही ज्यादा निर्भर हैं। मोहनजोदड़ो की खुदाई से पता चलता है कि वहां के लोग भोजन में गेहूं तथा जौ का इस्तेमाल करते थे। वहां राई और मटर की भी पैदावार होती थी। हड़प्पा की खुदाई से भी कई खाद्य सामग्री के बारे में जानकारी होती है। यहां के लोग चावल, दाल एवं सब्जी के अतिरिक्त खजूर, तिल, फलियाँ और तरबूज भी खाते थे। पशुओं के दूध पीने से स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ता है, इसकी जानकारी हड़प्पावासियों को थी। दूध से घी भी बनाया जाता था। नींबू की भी जानकारी उन्हें थी। भोजन में वे मिठाई और रोटी से भी परिचित थे। अनाज को कूटा एवं पीसा जाता था। बड़े-बड़े गोदाम भी रहते थे जिसमें धनी लोग अपना अनाज रखते थे। गरीब व्यक्ति अपना अनाज साधारण लिपे हुए गड्ढे में रखते थे। यहां के लोग मांसाहारी भी थे। पत्थर के औजार मिले हैं जिनसें जानवर और बड़ी-बड़ी मछलियाँ काटे जाते थे। खाने के बर्तन के रूप में प्याला, चम्मच, तश्तरी, थाली आदि का प्रयोग होता था।

यातायात के साधन—इस काल में बैलगाड़ी यातायात का मुख्य साधन था। चक्के के विकास ने यातायात को महत्त्व प्रदान किया। ताम्बे से बनी हई गाड़ियां मिली हैं। गर्मी एवं बरसात से बचने के लिए इसमें ऊपर से छतरी लगायी जाती थी। उन्हें जानवरों के द्वारा एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता था। मस्तूल वाले जहाज की भी चर्चा मिलती है, जो व्यापारियों एवं अन्य यात्रियों को पानी के माध्यम से एक जगह से दूसरी जगह ले जाता था। इसमें पतवार लगी रहती थी और मल्लाह खेता था। नाव भी यातायात के साधन के रूप में इस्तेमाल की जाती थी।

नोट

जनसंख्या–एच॰ टी॰ लाम्ब्रिक ने यह अनुमान किया था कि मोहनजोदड़ो की जनसंख्या लगभग उन्नचालीस हजार रही होगी। एक दूसरे विद्वान **डब्लू॰ ए॰ फेयरसर्विस** के अनुसार इस स्थान की आबादी इकतालीस हजार दो सौ नब्बे के लगभग थी। फेयरसर्विस ने हड़प्पा की आबादी के सम्बन्ध में भी जानकारी दी है। हड़प्पा की आबादी वे लगभग तेइस हजार पांच सौ बताते हैं।

जातियां–पहले से चले आ रहे विचार के अनुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता में मेडिटरेनियन वालों की प्रधानता थी। इसके बाद यहां प्रोटोऑस्ट्रोल्वायड, मोंगोल्वायड और एल्फिन जातियां पायी जाती थीं। हड़प्पा क्षेत्र से प्राप्त हड्डियों को इधर हाल में फिर से जांचा गया है। इस जांच से पता चलता है कि जाति का अध्ययन करने के दृष्टिकोण से हमारा पहला ज्ञान बहुत ही अधूरा है। पहले सीमित उदाहरणों के आधार पर ही इसका अध्ययन किया जाता था। उदाहरण के लिए मोंगोल्वायड, प्रोटोऑस्ट्रोल्वायड इत्यादि में हड़प्पा के लोगों को बांट देना अर्थहीन लगता है। हड़प्पा सभ्यता के लोग जाति के दृष्टिकोण से बहुत अलग-अलग नहीं थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में निवास करने वाले लोगों की ऊँचाई लम्बी थी। उनके सिर भी लम्बे होते थे। वे लोग चौड़ी नाक वाले थे। लोथल नामक स्थान से पायी गई खोपड़ी का अध्ययन करने पर पता चला है कि इसकी खोपड़ी सिन्धु घाटी के अन्य स्थानों के लोगों की खोपड़ी की अपेक्षा अधिक चौड़ी नजर आती है। अत: प्रोफेसर एशिया के विचार से सहमत हुआ जा सकता है। उसके अनुसार सिन्धु घाटी की जनसंख्या को अनेक मानव जातियों का बताना तर्कसंगत मालूम नहीं पड़ता है।

धार्मिक अवस्था

खुदाइयों से प्राप्त सामग्री के आधार पर हमें हड़प्पा के लोगों के धर्म की विशेषताओं की जानकारी होती है। इस तरह की विशेषता प्राचीनतम धार्मिक साहित्य में नहीं है। उदाहरणस्वरूप हड़प्पा काल में देवी की पूजा होती है लेकिन इसके पतन के लगभग एक हजार वर्ष के बाद ही देवी की पुन: पूजा करने की बात पायी जाती है। लिखित साहित्य या स्मारक धार्मिक सूचना देने में असमर्थ हैं। इस सम्बन्ध में धातुपत्रों एवं मुहरों पर अंकित विभिन्न प्रकार के चित्रों का गहरा अध्ययन करके ही कुछ तथ्य निकाला जा सकता है।

मातृदेवी की पूजा–मिस्र, मेसोपोटामिया, क्रीट, साइप्रस, फिलिस्तीन, सीरिया, एशिया माइनर, बाल्कन, एल्म, पश्चिमी एशिया, इजियन सागर के आस-पास मिली देवियों की पूजा के समान ही सिन्धु क्षेत्र में भी देवी की पूजा होती थी। मातृपूजा की परंपरा की शुरुआत पृथ्वी की पूजा से हुई। इस पूजा का सम्बंध उत्पत्ति के महत्त्व से है। सिन्धु क्षेत्र से एक ऐसी स्त्री का चित्र मिला है। जिसके पेट से एक पौधा निकला है। इस चित्र का सम्बंध विद्वानों ने पृथ्वी, देवी, पौधे की उत्पत्ति एवं उनके विकास से लगाया है। हड़प्पा से खुदाई में एक और स्त्री का चित्र मिला है, वह पालथी मारकर बैठी है। स्त्री के दोनों ओर पुजारी भी बैठे हैं। फिर इस स्त्री के सिर के ऊपर पीपल की पत्तियों के चित्र हैं। इस तरह इस काल में शक्ति की पूजा प्रचलित थी। मातृ एवं देवी की उपासना होती थी। सिन्धु सभ्यता में अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न देवियों की पूजा प्रचलित थी। मातृदेवी के कई रूप थे। उनकी उपासना भिन्न-भिन्न रूपों में की जाती थी। मोहनजोदड़ो में खुदाई से एक अलग प्रकार की मातृदेवी की मूर्ति मिली है। इस मूर्ति के सिर के ऊपर एक पक्षी अपने पंख फैलाकर इस तरह बैठा है जैसे कि वह मातृदेवी की रक्षा कर रहा हो। इस काल में प्रकृति के सहारे ही मनुष्यों का पालन-पोषण होता था। अत: वहां के लोगों के द्वारा प्रकृति को मातृदेवी मानकर उपासना करना भी स्वाभाविक था।

पेड़-पौधों की उपासना–सिन्धु काल से ही वृक्षों की पूजा होती रही है। आज भी उत्तर भारत में पीपल, आंवला आदि के पेड़ों की पूजा होती है। दक्षिण भारत में इमली के पेड़ की पूजा का प्रचलन आज भी है। वृक्षों को देवी-देवताओं का रूप मानकर पूजा होती थी और होती है। उपर्युक्त बातों की पुष्टि सिन्धु क्षेत्र से प्राप्त कुछ मुद्राओं से होती है। इस तरह के अवशेष हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से मिले हैं। मोहनजोदड़ो में एक ऐसी मुद्रा मिली है जिसमें एक पशु के दो सटे हुए सिर हैं। इन दोनों जुड़वां सिरों से नौ पीपल की पत्तियां निकली हैं। इससे पता चलता है कि कुछ विशेष प्रकार के पशु और पीपल के पेड़ का समाज में धार्मिक महत्त्व था। अधिक दिनों तक जीवित रहने के कारण पीपल के पेड़ का आज भी महत्त्व है। पीपल का पेड़ स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से भी काफी महत्त्वपूर्ण है। यह एक ऐसा पेड़ है जो दूसरे भारतीय पेड़ों के समान रात में कार्बन डाइऑक्साइड गैस नहीं छोड़ता है बल्कि

नोट

ऑक्सीजन छोड़ता है जिसका स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से बड़ा महत्त्व है। दूल्हा तथा दुल्हन की उम्र काफी लम्बी हो इस भावना से प्रभावित होकर आज भी महिलायें शादी होने के पहले पीपल के पेड़ की पूजा करती हैं। इस पूजा का प्रधान उद्देश्य यही होता है कि वर एवं वधू—दोनों की उम्र पीपल के पेड़ के समान काफी लंबी हो। ऋग्वेद में अश्वत्थ वृक्ष की चर्चा है। इस वृक्ष के बारे में कहा गया है कि इस पर जल चढ़ाने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अश्वत्थ का पेड़ ही बाद में चलकर पीपल का पेड़ कहलाने लगा। पीपल के पेड़ के महत्त्व की चर्चा गीता में कृष्ण के द्वारा भी की गई है। पीपल के पेड़ के नीचे ही बौद्धधर्म के महान प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। सिन्धु काल में नीम और बबूल के पेड़ की भी पूजा होती थी। इस समय वृक्ष, देवी एवं देवताओं को खुश करने के लिए पशुओं की बलि भी चढ़ाई जाती थी।

पशुपति की उपासना—सिन्धु घाटी में पाये गये तीन मुख वाली मूर्तियों के आधार पर पता चलता है कि वहां शिव की पूजा समाज में प्रचलित थी। शिव पूजा का सम्बंध पशुओं की पूजा से जोड़ा जाता है क्योंकि शिव को पशुपति भी कहा गया है। इसके अलावा शिव पौरुषत्व के प्रतीक भी माने जाते हैं। सिन्धु घाटी में कुछ ऐसी मुहरें एवं ताम्रपट मिले हैं जिन पर तीन मुख वाली मूर्ति का चित्र अंकित है। तीन मुख वाले यह शिव ध्यान लगाये बैठे हैं। इनके दोनों हाथ दोनों घुटनों पर हैं। आज भी वैसी तस्वीर हमें देखने को मिलती है, जहां शिवजी तपस्या में लीन हैं। उसके दोनों ओर जानवरों के चित्र बने हुए हैं। शिव की छाती पर त्रिशूल जैसा कोई आभूषण का भी चित्र है। यहां की लिपि को अभी तक नहीं समझ पाने के कारण यहां की धार्मिक अवस्था को भी समझना अन्य अवस्थाओं के समान कठिन है। **जॉन मार्शल** का विचार कि सिन्धु घाटी में पायी गयी यह शिव की मूर्ति आधुनिक शंकर भगवान की ही है, माना जा सकता है। **मैके** महोदय तो निश्चित तौर से इसे शिव का रूप ही मानते हैं। पशुपति रूप की आकृति भी इसे कुछ विद्वानों ने माना है। सिन्धु क्षेत्र से कुछ और भी मूर्तियां मिली हैं। इनके हाव-भाव को देखकर ऐसा लगता है मानो शिव नृत्य मुद्रा में हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार शिव की इस नृत्य मुद्रा में ऊर्ध्वलिंग भी है। योग की मुद्रा में लीन एक और मूर्ति मिली है जिसके सामने दो तथा अगल-बगल में एक-एक सांप बैठे हैं। यह भी शिव का ही चित्र लगता है। तीर-धनुष चलाते हुए एक दूसरा चित्र मिला है। इसकी जंगली वेशभूषा को देखकर विद्वान शिव का ही अनुमान लगाते हैं। उपर्युक्त पुरातात्विक सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि शिव की पूजा की शुरुआत सिन्धु सभ्यता के काल से ही पायी जाती है। शिव से सम्बंधित दो-तीन तथ्यों को समझना यहां आवश्यक लगता है। शिव का रंग काला या सांवला है। आर्य लोग काले नहीं बल्कि गोरे थे। अत: शिव का यह काला रंग यहां के रहने वाले मूल निवासियों का प्रतिनिधित्व करता है। शिव के शरीर पर वस्त्र का अभाव तथा वस्त्र के रूप में जंगली जानवरों की छाल का उपयोग इस बात का द्योतक है कि शंकर जंगली कबीलों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। शिवलिंग की पूजा पौरुषत्व के महत्त्व को दर्शाती है। शिवलिंग जैसा कि **डी॰ डी॰ कौशाम्बी** का कहना है, उत्पादन का द्योतक है। शिव के साथ सांड का रहना भी पौरुषत्व दर्शाता है और सांड का धार्मिक महत्त्व सिन्धु क्षेत्र में था, ऐसा लगता है। सांड की पूजा की चर्चा मिस्र में भी मिलती है। कुछ मुहरें, जो सिन्धु क्षेत्र में पायी गयी हैं, पर मेसोपोटामिया की धार्मिक कथाओं का प्रभाव भी हम पाते हैं। जिस तरह सिन्धु क्षेत्र के शिव को सर्प जैसा जानलेवा जीव के बीच में दिखाया गया है उसी तरह मेसोपोटामिया के एक महाकाव्य के नायक गिलगमेश को दिखाया गया है कि वह बाघों से लड़ रहा है। सांप के समान बाघ भी जानलेवा जीव है। एरकिडू नामक एक अन्य विचित्र व्यक्ति का प्रमाण मिलता है जो मानव तो है लेकिन भैंस के समान उसे सींग तथा घोड़े के समान पूंछ थी। फिर मेसोपोटामिया में ही मिली मोहरों में से एक मोहर है जिस पर धार्मिक चिह्न बने हैं। उदाहरणस्वरूप एक देवता को योगासन की मुद्रा में दिखाया गया है जो चारों ओर से पशुओं द्वारा घिरा है। फिर एक वृक्ष के देवता को भी दिखाया गया है जिसके सामने सात व्यक्ति खड़े हैं।

लिंगपूजा—शिवपूजा का ही दूसरा तरीका लिंगपूजा है। मोहनजोदड़ो में खुदाई से बहुत-सी वस्तुएं मिली हैं जो लिंग के आकार की हैं। कहते हैं, देवताओं के चिह्नों की खोज के सिलसिले में अचानक लिंग मिल गये। पाषाण युग का एक लिंग दक्षिण भारत में भी मिला है। लिंगपूजा, भारत में ही नहीं बल्कि प्रस्तरताम्रयुग में कई देशों में भी प्रचलित थी। सिन्धु क्षेत्र में पाये गये लिंग चूना, पत्थर और घोंघे के बने हैं। अधिकांश बड़े लिंग चूना पत्थर के हैं तथा छोटे लिंग घोंघे के। कुछ विद्वानों के द्वारा अनुमान किया जाता है कि बड़े-बड़े लिंग की पूजा अलग-अलग

नोट

धार्मिक सम्प्रदाय के द्वारा भिन्न-भिन्न तरीके से की जाती थी। लिंग के साथ-साथ योनि पूजा भी सिन्धु समाज में प्रचलित थी। अधिकतर देवताओं की पूजा का सम्बंध मानव समाज में वर्तमान समस्याओं की जादुई प्रक्रिया से समाधान करने से रहा है। सिन्धु समाज में भी ऐसी-ऐसी बीमारियां होती थीं जिनका इलाज बहुत आसान नहीं था। फलत: आज की तरह उस समय के लोग भी इसके पीछे बुरी हवाओं को जिम्मेदार मानते थे। इसी भावना से प्रभावित होकर लोग स्त्रीलिंग धारण करते थे ताकि बुरे ग्रहों एवं भूतप्रेत से छुटकारा मिल सके। योगमुद्रा में मिली मूर्तियां बताती हैं कि योग करने की विधि का विकास सिन्धु काल में ही आरम्भ हो गया था। मूर्ति के अलावा छ: मुद्राओं पर अंकित कृतियां भी योग करने के सम्बंध में हमें बहुत कुछ बताती हैं। सिन्धु काल की यह योग विधि ही बाद में चलकर पाशुपत योग का पहला चरण बन गया। पुराने योग नियम के अनुसार योग साधना के लिये आंख, नाक एवं आसन का बड़ा महत्त्व था। इन पर ध्यान देते हुए कुछ विशेष प्रकार के नियमों का पालन योग में आज भी किया जाता है। इन्हीं नियमों से प्रभावित एक मूर्ति मोहनजोदड़ो में मिली है।

पशु-पूजा–सिन्धु क्षेत्र में बहुत-सी मुद्रायें पायी गयी हैं जिनके अध्ययन से अनेक पशुओं की आराधना की हमें जानकारी होती है। पशु पूजा के अध्ययन को अधिक तथ्यपूर्ण बनाने के लिए **मार्शल** ने इन पशुओं को तीन भागों में बांटा है और इनके पूजा करने के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। सिन्धु काल के लोगों का पुनर्जन्म में तो विश्वास था ही। उन लोगों का कहना था कि मनुष्य के रूप में देवताओं की पूजा बाद में शुरू हुई। चूंकि पहले देवता पशुओं के रूप में भी रहते थे इसलिए मनुष्य के पहले पशुओं के रूप में दो देवताओं की पूजा की प्रथा सिन्धु काल में प्रचलित थी। कहते हैं कि जब पशु देवता मनुष्यों का रूप धारण करने लगे तो उनके चिह्न के रूप में केवल सींग ही रह गये। फलत: जानवरों की सींग उस समय बहुत बड़ी शक्ति का प्रतीक माने जाते थे जिसके परिणामस्वरूप वास्तविक पशुओं की पूजा में हाथी, गेंडा, बैल, ऋषभ आदि पशुओं का चित्रण मुहरों पर मिला है। यहां ध्यान देने की बात है कि मिस्र में भी नन्दी या सांड की शक्ति को देखते हुए उसकी पूजा होने लगी थी। सिन्धु क्षेत्र से प्राप्त मुद्राओं के आधार पर पता चलता है कि कूबड़ तथा बिना कूबड़ के बैलों की भी पूजा प्रचलित थी। शिव की सवारी बैल की कल्पना की शुरुआत भी लगती है जो यहीं से हुई। देवताओं का वाहन पशुओं को ही क्यों बनाया गया, इसका ठोस जवाब बताना मुश्किल है लेकिन लगता है इस काल में अलग-अलग पशुओं को अलग-अलग देवताओं का दूत माना जाता था। इसलिए हम पाते हैं कि देवताओं के साथ-साथ पशुओं की भी पूजा प्राप्त होने लगी और बाद में चलकर तो कई पशुओं को प्रत्यक्ष रूप में ही देवता माना जाने लगा, जैसे–हनुमान, गणेश, नरसिंह इत्यादि। सिन्धु समाज में सांपों की पूजा होती थी। सिन्धु घाटी में एक मनुष्य की प्रतिमा मिली है जिसके दोनों ओर सांप फन फैलाये हुए हैं। बैल की पूजा तो लगभग सभी प्राचीन सभ्य देशों में लोकप्रिय थी। खुदाई से प्राप्त एक ताबीज पर लेटे हुए नाग को देखकर **मैके** महोदय का अनुमान सही लगता है कि नाग को पीने के लिए दूध दिया जाता था। आज भी शिवपंचमी के दिन नागों की पूजा हमारे समाज में प्रचलित है। कुछ ऐसी मुद्राएं मिली हैं जिन पर बत्तख का चित्र बना हुआ है। सिन्धु समाज में बत्तख की पूजा प्रचलित थी। बत्तख की एक प्रधान विशेषता यह है कि वह पानी में तैरता है और पानी में चल रहे छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़ों को मारकर खा जाता है। फलत: पानी स्वास्थ्यदायक रहता है। पानी का भी सिन्धु काल में काफी धार्मिक महत्त्व था।

अन्य धार्मिक विश्वास–सिन्धु प्रदेश के लोग मूर्त्तिपूजा में विश्वास करते थे। मंदिर तो यहां मिले नहीं हैं लेकिन **मार्शल** का कहना है कि लकड़ी के मंदिर होते थे। यहां से प्राप्त कुछ नारी मूर्तियों के आधार पर कहा जाता है कि ये मूर्तियां मंदिर से उपासना करने वालों की हैं। कुछ नारीमूर्तियां निर्वस्त्र की अवस्था में भी मिली हैं। इस सम्बंध में कुछ विद्वानों का कहना है कि ये मूर्तियां देवदासियों की हैं। ऐसा भी लगता है कि यहां के लोग देवताओं को मनुष्य के रूप में देखते थे। इसी कारण वहां से प्राप्त मुहरों तथा प्रतिमाओं में बहुत से देवी-देवताओं के चित्र मिले हैं। तार्किक विचार के अभाव में सिन्धु लोगों के बीच जादू-टोने एवं अन्य दूसरे अन्धविश्वासों का काफी बोलबाला था। खुदाई से प्राप्त बहुत से चकोर ताबीज मिले हैं जिन पर देवी-देवताओं की मूर्तियां तथा कुछ मंत्र अंकित हैं। ये सिन्धुवासी भूतप्रेत से अपनी रक्षा करने के लिए ताबीज धारण करते थे। ये तावीज ताम्बे के बने होते थे। कुछ मिट्टी के भी मिले हैं।

नोट

यहां धार्मिक उत्सव भी मनाये जाते थे। इस अवसर पर नारी एवं पुरुष दोनों देवताओं के समक्ष नृत्य करते थे। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर बना चित्र इस बात को आभाषित करता है कि नृत्य के अलावा देवी को संतुष्ट करने के लिए पशु बलि भी दी जाती थी। एक दूसरी मुद्रा मिली है जिसमें एक नर्तकी का चित्र है। यह नर्तकी ताल के आधार पर नृत्य करने जैसा लग रही है। जल की पूजा भी होती थी तथा स्नानकुंड में धार्मिक स्नान के समय स्नान किया जाता था।

आर्थिक जीवन

प्राचीन काल या आधुनिक काल में भी किसी देश की आर्थिक स्थिति का अच्छा या बुरा होना उत्पादन पर निर्भर करता है। आवश्यकता से जितना अधिक उत्पादन होगा आर्थिक अवस्था उतनी ही मजबूत होगी।

कृषि—भारत आज भी कृषि प्रधान देश है। सिन्धु काल में भी वहां के निवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। कृषि सम्बंधी बचत के आधार पर ही वहां के लोगों ने एक सुखदायी सभ्यता का निर्माण किया। इस काल का मानव प्रकृति से अधिक नजदीक था। जो कुछ भी वह पाता था उसमें प्रकृति का बहुत बड़ा हाथ रहता था। कृषि के लिए समतल मैदान एवं सिंचाई के लिए जल की आवश्यकता थी। सिन्धु नदी के समीप बाढ़ वाले समतल इलाकों में खेती की जाती थी। इस क्षेत्र में जल भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। आरम्भ में तो सिन्धु घाटी के बाढ़ वाले समतल भू-भाग पर मुलायम मिट्टी रहने के कारण खेती आसानी से कर ली जाती थी। लेकिन मुलायम मिट्टी नहीं रहने पर खेत जोतने में काफी दिक्कतों का सामना सिन्धुवासियों को करना पड़ता होगा। खेत जोतने के लिए जहां एक हल का प्रश्न है, कृषि के लिए मौलिक यंत्र का प्रमाण हमें कालीबंगन से पूर्व हड़प्पा काल से प्राप्त हुआ है। लेकिन हल के द्वारा खेत जोतने का प्रमाण हमें बिल्कुल नहीं मिलता है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि सिन्धु काल के पहले आधुनिक भारत-पाकिस्तान के इन क्षेत्रों में इतनी अधिक जनसंख्या एक क्षेत्र में कभी भी एकत्र नहीं हुई थी। फलतः एक विकसित कृषि व्यवस्था ही इतनी बड़ी आबादी का भरण-पोषण कर सकती थी। अतः अनुमान किया जा सकता है कि सिन्धुवासी खेती में हल का भी प्रयोग करते होंगे। हल लकड़ी के बनाये जाते होंगे, जो काल के साथ नष्ट हो गये होंगे। इस क्षेत्र की खुदाई से नहर की भी कोई जानकारी नहीं मिलती है। आधुनिक काल की तरह सिन्धु क्षेत्र की भूमि शुष्क एवं वृष्टिहीन नहीं थी। कुछ नदियों जैसे—सिन्धु, मिहरान और उनकी सहायक नदियों से सिंचाई का काम हो जाता था। अतः सिंचाई के लिए किसी औजार की आवश्यकता नहीं पड़ती थी और इसीलिए खुदाई से किसी प्रकार के औजार सिंचाई से सम्बंधित नहीं मिले हैं। विद्वानों का ऐसा भी मत है कि उस काल में यहां पर्याप्त वर्षा होने के कारण नहरों के निर्माण की आवश्यकता नहीं पड़ी हो। मुख्य अनाजों को बाढ़ का पानी हटने के तुरन्त बाद ही बो दिया जाता होगा। जब ये फसलें बढ़कर पक जाती होंगी तो मार्च—अप्रैल महीने में काट ली जाती होंगी। फिर अन्य फसलों को बांध से सुरक्षित खेतों में बोया जाता होगा। ऐसा प्रायः बाढ़ आने के पहले होता होगा ताकि बाढ़ के पानी से इसकी सिंचाई हो सके। इस समय की फसल को सितम्बर—अक्टूबर में काटा जाता होगा।

फल एवं अनाज—सिन्धु नगरों में दो प्रकार के गेहूं तथा तीन प्रकार के जौ पाये गये हैं। दो प्रकार के गेहूं में एक था गाँठदार तथा दूसरा बौने आकार का। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के क्षेत्रों में छह धारियों वाले जौ बौते थे। मटर एवं छुहारे के अलावे सरसों की भी खेती होती थी। लोथल नामक नगर में खुदाई से चावल पाया गया है परन्तु यह पता नहीं चल सका है कि यह कृषि द्वारा उपजाया जाता था या जंगली अवस्था में मिलता था। अनाजों को गोदामों में रखा जाता था। लोग कपास भी पैदा करते थे। हड़प्पावासी फलियां, तिल तथा तरबूज से भी परिचित थे। खुदाई से खजूर के बीज भी मिले हैं। झुमका नामक आभूषण खुदाई से मिला है। जिसका आकार नींबू के समान है। इससे पता चलता है कि यहां लोग नींबू तथा उसकी जाति, फूलों से भी परिचित थे। इस तरह इस क्षेत्र में विभिन्न तरह के अनाज, फल और तरकारियां पैदा की जाती थीं। सिन्धुवासी तरकारी और सागभाजी खाना बहुत पसंद करते थे। गेहूं या दूसरे अनाजों को पीसकर आटा बनाने के लिए पट्टियां होती थीं। अनाज कूटने के लिए हड़प्पावासी ओखली का प्रयोग करते थे। ओखली और मूसल के सहयोग से कूटने की प्रथा की शुरुआत का सम्बंध अप्रत्यक्ष रूप से विद्वानों ने लिंग और योनि की पूजा से लगाया है, जिसके संयोग से उत्पादन होता है। इसी भावना के आधार पर मिट्टी का बर्तन बनाने के लिए चाक का प्रयोग शुरू हुआ।

नोट

पशुपालन–आर्थिक दृष्टिकोण से पशुओं का बड़ा महत्त्व था। इसलिए सिन्धुवासी कई तरह के पशुओं जैसे–गाय, बैल, भैंस, सूअर आदि पालते थे। यहां के कई प्राचीन नगरों की खुदाई हुई है और भेड़, सूअर, हाथी, बैल, भैंस, गाय आदि की हड्डियां मिली हैं। खुदाई से प्राप्त हड्डियों के ही सहारे हमें पता चलता है कि वे लोग कुत्ता, गधा आदि से भी परिचित थे। सिन्धुवासी मांसाहारी थे। वे मछुआ, भेड़, बकरी, सूअर, घड़ियाल और गाय का मांस खाना अधिक पसंद करते थे। मांस ये लोग सीधे आग में डालकर भूनकर नहीं खाते थे बल्कि चकमक पत्थर को घिस कर उसकी धार को तेज किया जाता था और उसी से मांस को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटा जाता था। सिन्धु क्षेत्र में अनेक प्रकार के जंगली पशु भी पाये जाते थे। इन पशुओं में मुख्य थे–रीछ, चीता, गैंडा, बन्दर, दरियाई घोड़ा, शेर तथा खरगोश। इतना ही नहीं, ये सिन्धुवासी छोटे-छोटे जानवरों जैसे नेवला, बिल्ली, गिलहरी, मोर, तोता, मुर्गी आदि से भी परिचित थे। सम्भवत: वहां के निवासी घोड़ा से परिचित नहीं थे। पशुओं को मारने के लिए ये लोग शिकार भी करते थे। शिकार से प्राप्त पशुओं को ये मारकर खाया करते थे। अधिक दिनों तक कभी-कभी मांस को रख देने से वह विषैला हो जाता था। फलत: उसे खाने से लोगों की मृत्यु भी हो जाती थी। कभी-कभी कृषि की रक्षा के लिए भी पशुओं को मार दिया जाता था तथा उनकी हड्डियों से कई तरह के सामान बनाये जाते थे।

वस्त्र उद्योग–मोहनजोदड़ो में खुदाई से कपास से बना हुआ कपड़ा मिला है। सबसे पहले कपास इसी क्षेत्र में पैदा होने के कारण इसका नाम सिन्धु नदी के नाम पर सिन्ध पड़ गया। बाद में चलकर यूनानियों के द्वारा इसे **सिण्डन** कहा जाने लगा। यहां का सूती कपड़ा मेसोपोटामिया द्वारा आयात किया जाता था। सिन्धु क्षेत्र में कताई-बुनाई का प्रबन्ध बहुत उत्तम किस्म का था। हड़प्पा में पाये मिट्टी के बर्तनों तथा ईंटों पर यहां के बने हुए कपड़ों की छाप हैं। टूटी-फूटी अवस्था में कुछ मूर्तियां भी मिली हैं, जिनको देखने से यहां के लोगों की वेषभूषा के सम्बंध में थोड़ी बहुत जानकारी होती है। सिन्धु लोग ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों का भी निर्माण करते थे। इन वस्त्रों पर वे लोग कई तरह की आकृतियों का चित्र भी बनाते थे। कपड़ों की छपाई में ये लोग बड़े निपुण थे। कपड़ा बुनने का काम बुनकर करते थे, जिनको अपनी कला में गहरी पैठ थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. मोहनजोदड़ो से गोदीबाड़ा का साक्ष्य मिला है।
9. सिन्धुवासी संगीत एवं नृत्यकला के बहुत प्रेमी थे, इसकी जानकारी नृत्य करती हुई स्त्री की मूर्ति से प्राप्त होती है।
10. सिन्धुवासी भूत-प्रेतों में भी विश्वास करते थे और इनसे अपनी रक्षा के लिए रक्षात्मक ताबीज पहनते थे।
11. बनावली की खोज एम.एस. वत्स ने की थी।

शिल्पकला–सिन्धु घाटी सभ्यता में अनेक प्रकार की शिल्प कलायें देखने को मिलती हैं। कृषि एवं पशुपालन के अलावा शिल्पकला भी यहां विकसित थी। अनेक तरह के शिल्पकारों के बारे में खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर पता चलता है। खुदाई से प्राप्त सामग्री से ही हम जानते हैं कि यहां के लोग सोने, चांदी, मोती, बिल्लौर, नीलम, हाथी दांत आदि के आभूषण पहनते थे। ये आभूषण स्वर्णकारों के द्वारा बनाये जाते थे। इसकी जानकारी खुदाई से प्राप्त एक घड़े के आधार पर होती है जिसमें सोना-चांदी के अनेक आभूषण के टुकड़े मिले हैं। कुम्हारों द्वारा विभिन्न प्रकार के सामान बनाये जाते थे। ये लोग चाक पर आकर्षक तथा कलात्मक खिलौना बनाते थे। खाद्य पदार्थ रखने के लिए बर्तन तथा अनाज रखने के लिए मटके व नाद भी ये ही बनाते थे। इन शिल्पकारों द्वारा बनाये गये मिट्टी के बर्तनों की चित्रकला तथा पॉलिश अति उच्च कोटि की थी। मिस्र तथा सुमेर के निवासी भी इनकी कला का मुकाबला करने में असमर्थ थे। ये कुम्हार अपना बर्तन चाक पर बनाया करते थे। मिट्टी के खिलौने के अलावा ये चूहेदान तथा पिंजड़ा भी बनाया करते थे। लोहे का काम करने वाले लोहार भी भिन्न-भिन्न तरह का सामान बनाया करते थे। बढ़ईगिरी का काम भी होता था। लकड़ी के औजार तथा खिलौने बनाये जाते थे। ये बढ़ई बैल से चलने

नोट

वाली गाड़ी (बैलगाड़ी) भी बनाते थे, जिस पर सामान लादकर या बैठकर दूर-दूर तक सिन्धुवासी जाते थे। यह गाड़ी लकड़ी की बनी होती थी। कुछ शिल्पकार एवं बुनकर सूती कपड़ा भी काफी मात्रा में बनाते थे, जिन्हें पश्चिम के देशों में निर्यात किया जाता था। ये लोग ऊनी तथा रेशमी कपड़े भी बनाते थे। ऊनी तथा रेशमी कपड़ों पर सुन्दर-सुन्दर फूल तथा आकृतियां बनायी जाती थीं।

तकनीक तंत्र एवं धातु प्रयोग—सिन्धु क्षेत्र में अनेक प्रकार के धातुओं जैसे—सोना, चांदी, ताम्बा, पीतल आदि आभूषण एवं दूसरे प्रकार के सामान बनाये जाते थे। लेकिन इस सम्पूर्ण काल में ताम्बा और पीतल ही प्रमुख धातु थे। सिन्धु घाटी के निवासी ही सबसे पहले चांदी का उपयोग करना सीखे। सोने के अभाव में यह अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित था। चूंकि इस सभ्यता को पीतल बनाने का ज्ञान प्राप्त हो चुका था इसलिए इसे पीतल युग भी कहा जाता है। खंडहरों एवं खुदाई से जो कुछ भी अवशेष मिले हैं वे हैं—कुल्हाड़ियां, छुरियां, बर्छे, तीर, आरियां एवं अस्तुरे। ये सारे औजार साधारण तौर पर धातु को ढालकर या पीटकर बनाये जा सकते थे। इस काल में पीतल ताम्बे की तुलना में बहुत कम पाया गया है। पीतल का ज्ञान भी कुछ दिनों के बाद ही हुआ था। ताम्बे की तुलना में पीतल की जानकारी बाद में होने से पता चलता है कि पीतल बनाने की प्रक्रिया की जानकारी बाद में हुई। ताम्बे में टीन मिलाकर पीतल बनाने का ध्यान सिन्धु क्षेत्र में विकास का एक नया चरण था। हड़प्पा से प्राप्त ताम्बे और पीतल के बर्तन बहुत ही उच्च कोटि के हैं। बर्तन अधिकतर धातुओं को पीटकर बनाया जाता था। धातुओं की छोटी मूर्तियाँ ढालकर बनायी जाती थीं। इस ढालने की प्रक्रिया को बन्द ढलाई और लुप्त मोम प्रक्रिया कहा जाता है। उदाहरण के लिए भालों में मध्य शलाका नहीं है। मध्य शलाका के अभाव में भाला काफी मजबूत नहीं हो सकता।

सिन्धु समाज में रंगीन मिट्टी की वस्तुएं बनाने की कला भी विकसित थी। ऐसे पदार्थ को फेयाज कहा जाता है। फेयाज से अधिकतर हार के दाने, तावीज, मोहरे एवं छोटे बर्तन बनते थे। हार के दाने एवं मोहरें पत्थर के भी बनते थे। मोहरे अधिकतर वैसे-पत्थर से बनायी जाती थीं जिन पर ताम्बे की छेनी से चिह्न खोदा जाता था। हार के दाने कई पदार्थों से बनाये जाते थे। सीप एवं हाथी दांत पर भी काम किये जाते थे। हाथी दाँत एवं सीप के कंघी, ब्रासलेट इत्यादि बनाये जाते थे। ताम्बे के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण धातु पत्थर ही था। हड़प्पावासियों के लिए ताम्बे के बाद पत्थर का ही महत्त्व था। इस आधार पर इस काल को **चालकोलिथिक युग** कहा जाता है। चालको का अर्थ है ताम्बा और लिथिक का अर्थ पत्थर होता है। पत्थर की सिल्लियां सक्कर के निकट की पहाड़ियों से काटकर तैयार की जाती थीं। इन्हीं पत्थर की सिल्लियों से तेज औजार बनाये जाते थे। ऐसे औजार हड़प्पा सभ्यता के करीब सभी स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इन पत्थरों को अलवास्टर के बर्तन बनाने के काम में लाया जाता था। चूने पत्थर का भी प्रयोग होता था। नालियों के ढक्कन तो चूने पत्थर से ही बनाये जाते थे।

सिन्धु घाटी के बर्तनों को देखकर ऐसा लगता है कि इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर होता था। इन बर्तनों को चाक के माध्यम से बनाया जाता था। जिस प्रकार के चाक का प्रयोग सिन्धु वाले करते थे उसे फूटव्हिल कहा जाता है। आज भी ऐसे ही फूटव्हिल का प्रयोग दक्षिणी पाकिस्तान के ग्रामीण क्षेत्रों में किया जाता है। सिन्धु घाटी के बर्तन आग में पकाये हुए हैं। इनमें सुंदरता का अभाव है। हड़प्पा से प्राप्त मिट्टी के बर्तन की एक मुख्य विशेषता यह है कि इनके कनखे लाल रंग के हैं तथा मुख्य भाग काले रंग का। बर्तनों पर रंगीन चित्रकारी में अधिक अंतर देखने को नहीं मिलता है। बलूचिस्तान की त्रिकोणात्मक चित्रकारी हड़प्पा काल तक अधिक साधारण हो गयी और इस युग की अधिकांश चित्रकारी मछली के च्योंटे के समान है। जानवरों, चिड़ियों, मछली तथा अन्य आकर्षक चित्र काफी दुर्लभ हैं। विभिन्न प्रकार के बर्तनों में एक का आकार गोल, लम्बा और छिद्रयुक्त है। इन बर्तनों की उपयोगिता के बारे में संतोषप्रद रूप से कुछ पता नहीं चल सकता है।

माप-तौल के साधन—हड़प्पावासी अपने सम्पूर्ण क्षेत्र में वजन एवं माप की एक ही प्रणाली अपनाये हुए थे। खण्डहरों से प्राप्त कई वजनों का अध्ययन करने से पता चलता है कि छोटे अंकों के लिए दो गुणा या द्विभाजन प्रणाली का व्यवहार किया जाता था, जैसे—1, 2, 4, 8, 16, 32 इत्यादि। बड़े अंकों के लिए दशमलव प्रणाली का व्यवहार किया जाता था, जैसे—320, 620, 1600, 3200 इत्यादि। सिन्धु क्षेत्र में मापने के लिए कई स्केल पाये गये हैं। इनमें से एक दशमलव स्केल भी है। इसकी लम्बाई 13.2 इंच है। इसका एक भाग या इकाई 1.32 इंच का है।

नोट

यह माप लगभग समकालीन एशिया में पाये जाने वाले फूट के बराबर थी। एक दूसरी माप पीतल की छड़ है। इसकी इकाई 0.367 इंच है। यह एक नजर में एक क्यूबिट (52 + 0.5 से०मी०) की इकाई का आधा भाग है। क्यूबिट भी समकालीन एशिया में सामान्य रूप में प्रयोग में लाया जाता था। यह 2.7 इंच का होता था। पक्की माप के लिए कुछ विशेष यंत्र भी प्राप्त हुए हैं। लगता है, ये यंत्र भवन बनाने के समय उपयोग में लाये जाते थे।

मोहनजोदड़ो में सामान तौलने के लिए बाट का प्रयोग होता था। इनकी संख्या काफी है। ये स्लेटी पत्थर के बनाये गये हैं। कुछ विद्वानों ने सिन्धु क्षेत्र से पाये गये बाटों के बारे में अपना विचार देते हुए बताया है कि इन बाटों की तौल की समानता एल्म और मेसोपोटामिया के बाटों से भी अधिक सही है। इस क्षेत्र के कुछ बाट तो इतने बडे हैं कि उन्हें उठाने के लिए रस्सी का सहारा लेना पड़ता था। कुछ बाट इतने छोटे-छोटे मिले हैं जो कि जौहरी लोग आज भी उनका प्रयोग करते हैं। तौलने की तराजू की डंडी कांसे की बनी है तथा पलड़ा ताम्बे की। तराजू में मोटी लकड़ी का प्रयोग सम्भवत: भारी सामान तौलने के लिए किया जाता था।

व्यापार और बाह्य सम्पर्क–सिन्धु घाटी के निवासी कृषि, पशुपालन एवं विभिन्न प्रकार के कलाकौशल से परिचित होने के कारण माल उत्पादन के कार्यों में भी दिलचस्पी लेने लगे थे। व्यापार के क्षेत्र में यह इलाका विश्व के अन्य नगरों की तुलना में काफी उन्नतिशील था। इस तरह की उन्नति के लिए प्रशासनिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण सिन्धु प्रदेश में एकरूपता होगी क्योंकि व्यापार में उन्नति हो सके इसके लिए एक ठोस नियम एवं सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुओं के वास्तविक निर्यात के प्रमाण को आसानी से पाना सम्भव नहीं लेकिन इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर निर्मित अनेक वस्तुओं को देखने से लगता है कि यहां आवश्यकता से अधिक सामान बनाये जाते थे जो निर्यात होते होंगे। यहां के नगरों में चौड़ी-चौड़ी सड़कें पायी गयी हैं। इनके दोनों और छोटी-छोटी दुकानें होती थीं। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यापार काफी उन्नत अवस्था में था। सम्भवत: वे जल एवं थल दोनों मार्गों से व्यापार करते थे। जो कच्चा माल सिन्धु क्षेत्र में नहीं मिलता था उसे यहां के व्यापारी बाहर से मंगाते थे। सोना वे लोग दक्षिण भारत में स्थित आधुनिक कर्णाटक प्रान्त से मंगाते थे। आज भी कर्णाटक प्रांत के दक्षिण में स्थित कोलार क्षेत्र में सोने का भंडार है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यहां के व्यापारी पश्चिम में स्थित फारस एवं अफगानिस्तान से भी सोना आयात करते थे। चांदी का आयात वे लोग सम्भवत: ईरान और अफगानिस्तान से करते थे। चांदी दक्षिण भारत से भी मंगायी जाती होगी। यातायात के साधन एवं खनिज पदार्थों को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि चांदी की आयात अरब एवं बलूचिस्तान से भी होता था। बड़े-बड़े भवनों के निर्माण में सिन्धु क्षेत्र में **लजावर्त पत्थर** का इस्तेमाल पाया गया है। यह पत्थर अफगानिस्तान के पूर्व उत्तर हिस्से में स्थित बदक्शां नामक स्थान से आयात किया जाता था।

बहुमूल्य पत्थरों को भी मंगाया जाता था। पश्चिम भारत से गोमेद, मूंगा और लाल मंगाया जाता था। इन पत्थरों का एक दूसरा प्रसिद्ध बाजार सौराष्ट्र में भी स्थित था। यहां से भी मूंगा, लाल और गोमेद खरीदकर मंगाया जाता था। जम्बुमणि नामक पत्थर महाराष्ट्र से आता था। फिरोजा का आयात ईरान से किया जाता था। मध्य एशिया में हरे रंग का एक अति बहुमूल्य पत्थर पाया जाता था। जिसे **संगयशब** कहते हैं। यह पत्थर भी सिन्धु के व्यापारियों द्वारा मध्य एशिया से आयात किया जाता था। सिन्धु क्षेत्र के पूरब एवं पश्चिम में स्थित कई स्थानों से सेलखड़ी मंगाया जाता था। इस तरह सिन्धु क्षेत्र की औद्योगिक कला की विभिन्नता और विशेष पदार्थों के प्रयोग से ऐसा जान पड़ता है कि यहां के व्यापारियों ने बाहर के लोगों से आर्थिक सम्पर्क किया था। ऐसे व्यापार दो प्रकार के होंगे। एक सिन्धु घाटी के आस-पास में बसे ग्रामीण समुदायियों से और जंगली कबीलों से। यह व्यापार विशेषकर कच्चे पदार्थों की प्राप्ति के लिए होगा। कच्चे माल के लिए व्यापार का आन्तरिक जाल भी विस्तृत पैमाने पर बिछा था। उपर्युक्त विवरणों के अलावा हम यह भी जानते हैं कि यहाँ के लोग अपने लिए कुछ ताम्बा राजस्थान में स्थित खेत्री नामक स्थान की खानों से अवश्य ही मंगाते थे। टिन का आयात तो बाहर के देशों से किया जाता था। उपर्युक्त सामानों का आयात जल तथा थल दोनों भागों से होता था। सिन्धु काल की एक मुद्रा पर जहाज बना हुआ है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि विदेशों से सामान जहाज पर लादकर जल के माध्यम से यहां पहुंचता था। जहां से स्थल मार्ग की सुविधा होती थी वहां से माल बैलगाड़ियों पर लादकर मंगाया जाता था। ऐसा लगता है कि मोहनजोदड़ो एक अन्तर्देशीय बन्दरगाह के रूप में अपना स्थान बनाये हुए था। इसका व्यापार उर, किश, मिस्र आदि के साथ

नोट

चलता था। इस क्षेत्र के व्यापारी बारहसिंगा एवं लकड़ी कश्मीर से मंगाते थे। कच्चे माल एवं विलास की वस्तुओं को बाहर से मंगाने के अलावा यहां के लोग खाने के लिए अरब सागर के तट से मछली भी मंगाते थे। निर्यात के दृष्टिकोण से हम पाते हैं कि यहां से सूती कपड़े तथा बर्तन सुबर, मिस्र तथा बेबीलोन भेजे जाते थे। यहां की निर्मित सामग्री दजला-फरात अर्थात मेसोपोटामिया के बाजारों में बिकती थीं। खरीद-बिक्री में विनिमय का माध्यम क्या था, इसकी जानकारी नहीं हो पायी है। मूल्य मापने के लिए कौन-सी प्रणाली अपनाई गयी थी, इसकी भी जानकारी हमें नहीं है। यहां पाये गये अनेक गोदाम से सुसंगठित एवं समृद्धशाली व्यापारियों की जानकारी मिलती है। व्यापारियों की सम्भवत: अपनी मुहर होती थी। हुंडी एवं साख प्रथा भी व्यापार में प्रचलित थी। निर्यात के दृष्टिकोण से सम्भवत: अकीक के हार के दाने के विशेषकर भारतीय गुर्दे के आकार के दाने, सीप आदि मेसोपोटामिया को निर्यात किये जाते थे। जूं निकालने के लिए हाथी दांत की कंघी, मोती और कश्मीर से मंगायी गई बहुमूल्य लकड़ियों का भी निर्यात होता था। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए **सर जॉन मार्शल** का कथन सत्य ही प्रतीत होता है। वे लिखते हैं, "सिन्धु घाटी के साधारण नागरिक भी उस काल में जिस प्रकार की सुख-सुविधा एवं विलास की सामग्रियों का उपभोग करते थे उनकी तुलना उस काल के सभ्य संसार के किसी भी भाग के निवासियों से नहीं की जा सकती।"

कला कौशल

सिन्धु घाटी के खंडहरों से कला के अनेक प्रमाण मिले हैं। इन उपलब्धियों का अपना अलग महत्त्व है। इसके सहारे उस काल के लोगों के जीवन, सोचने के ढंग तथा धार्मिक विश्वास के विषय में जानकारी मिलती है।

संगीत एवं नृत्यकला—सिन्धुवासी संगीत एवं नृत्यकला के बहुत प्रेमी थे, इसकी जानकारी हमें नृत्य करती हुई एक स्त्री की मूर्ति से होती है। धातु की बनी यह मूर्ति नृत्यकला की विशेष उन्नति पर प्रकाश डालती है। बालों की सुन्दरता के लिए इसे संवारा भी जाता था। प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि यहां के लोग वाद्ययंत्र के भी प्रेमी थे। कुछ ऐसी मूर्तियां मिली हैं जो पत्तियों की हैं। इन पत्तियों की पूंछ से सीटी या बांसुरी बजाई जा सकती है। तबले एवं ढोल के भी चित्र मिले हैं।

बर्तन निर्माण कला—अवशेष बताते हैं कि सिन्धुवासी बर्तनों का इस्तेमाल घरेलू कार्यों में करते थे। सुन्दर-सुन्दर बर्तनों का निर्माण चाक के सहारे किया जाता था। कुम्हारों के आधुनिक चाक के समान यह चाक होता था। इस समय जो बर्तन बनते थे उनको रंगने की कला भी इन्हें मालूम थी। इन बर्तनों को सुन्दर एवं टिकाऊ बनाने के लिए चमकाया भी जाता था। बर्तनों के रंगने के लिए काले, नीले तथा पीले रंग का प्रयोग होता था। बर्तन चमकाने की कला उस समय मिस्र, सुमेर आदि देशों के लिए आश्चर्यजनक बात थी। बर्तन रंगने एवं चमकाने के अलावा ये लोग उस पर नक्काशी भी करते थे। तरह-तरह के चित्रों वाले टूटे बर्तन अवशेष के रूप में मिले हैं। कुछ ऐसे भी बर्तन मिले हैं जिन पर कुछ लिखा है। शायद उन बर्तनों पर कारीगरों के नाम हों।

चित्रकला—सिन्धु प्रदेश में कुछ ऐसी सामग्रियाँ मिली हैं जिनके आधार पर यह मानना पड़ता है कि यहाँ के लोग चित्रकला से भी परिचित थे। कुछ ऐसी मुहरें मिली हैं जिन पर अनेक तरह के आकर्षक चित्र बने हैं। भैंसों एवं सांडों के चित्र तो कला के जीते-जागते उदाहरण हैं। यहाँ के चित्रों को देखकर ऐसा लगता है कि चित्रकार ने बड़ी दृढ़ता एवं विश्वास के साथ चित्रों को बनाया है। इसमें भावनाओं की कोमलता का अभाव तो बिल्कुल दिखाई ही नहीं देता है। अलग-अलग मुहरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों को देखकर विद्वानों का कहना है कि ये भिन्न-भिन्न आर्थिक व्यवसायों की पहचान हैं। मुहरों के कुछ चित्र तो धार्मिक महत्त्व के भी लगते हैं। ताबीजों पर भी अनेक चित्रों के प्रमाण मिले हैं।

मुहर निर्माण कला—सिन्धु प्रदेश के लगभग विभिन्न स्थानों से पांच सौ से अधिक मुहरें मिली हैं। इन मुहरों का महत्त्व कई दृष्टिकोणों से है। जानवरों के अध्ययन के दृष्टिकोण से यहां की मुहरों में दो प्रकार के पशुओं का चित्र पाया गया है। पहले प्रकार के पशु कूबड़ वाले हैं। ये विशेष भारतीय जेबू या ककुदमान प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार के पशुओं की पीठ सपाट है। ये पशु उस्स भी कहे जाते हैं, जो भारत में प्राय: लुप्त हो चुके हैं। मुहरों पर भैंसों के भी चित्र और एक मुहर पर पशुओं से घिरे हुए शिव का चित्र मिला है। कुछ अन्य मुहरों पर देवी के चित्र बने हुए हैं। चप्पू और पतवार सहित जहाज का चित्र भी मुहरों पर मिला है। दो ऐसी मुहरें मिली हैं जिनमें बाघ का गला

नोट

घोंटते हुए एक वीर पुरुष की आकृति है। लगता है, सिंहों का गला दबाते हुए सुमेर के गिलगमेश से यह बाघ वाला चित्र नकल किया गया है। इराक में पाये गये वृषभमानव एनकिडु की आकृति भी सिन्धु सभ्यता की एक मुहर पर मिली है। इससे भारत और इराक के बीच सम्बंध स्थापित होने का पता चलता है। उपर्युक्त बातों से मुहरों की धार्मिक सार्थकता का भी आभास मिलता है।

कुछ छाप लगाने वाली मुहरें भी मिली हैं। लगता है, इनका प्रयोग माल की पेटियों को सुरक्षित रखने के लिए किया जाता था। ऐसी मुहरों से भरे हुए कलश भी सुरक्षित रखे जाते थे। चीन एवं इराक में तो कागज पर दस्तखत करने के उद्देश्य से मुहरों का उपयोग होता था लेकिन सिन्धु घाटी में इस उद्देश्य से मुहरों के प्रयोग की बात हम नहीं पाते हैं। सिन्धु क्षेत्र में मिली मुहरों में किसी तरह की रस्सियों या गांठों के चिह्न नहीं मिले हैं। इससे पता चलता है कि मुहर पेटियों पर नहीं लगायी जाती होगी।

लेखनकला–सिन्धु क्षेत्र में खुदाई से प्राप्त कई मुहरों पर कुछ न कुछ लिखा हुआ है, जिसके आधार पर विद्वानों का कहना है कि सिन्धु घाटी की अपनी लिपि थी। वैसे तो इस लिपि को पढ़ने का प्रयत्न आज भी जारी है लेकिन विद्वानों को इसमें अभी तक सफलता नहीं मिल पायी है। यह भाषा इन्डोयूरोपियन समूह की लगती ही नहीं है। यह सुमेरियन, हुरियन या इलामाइट भाषाओं से भी सम्बंध नहीं रखती है। भारत की आधुनिक मुंडा भाषा से भी इसका कोई सम्बंध नहीं लगता। अनुमान किया जाता है कि इस लिपि का सम्बंध कुछ हद तक भारत की द्रविड़ भाषा से है। उर्दू की तरह हड़प्पा लिपि भी दाँयें से बाँये की ओर लिखी जाती थी। इस बात की पुष्टि हमें दो हजार अभिलेखों के अध्ययन से मिलती है।

इस भाषा के लगभग चार सौ चिह्न अक्षर थे लेकिन यह अभी तक पता नहीं चल पाया कि ये इन्डोग्राफिक थे या लोगोग्राफिक या और किसी तीसरे प्रकार की लिपि थी। स्केनडिनेविया के ए॰ परपोला नामक एक विद्वान ने दावा किया है कि प्राचीन तमिल भाषा के आधार पर कई अभिलेखों को पढ़ लिया गया है लेकिन इनकी खोज विद्वानों को मान्य नहीं हो पायी है।

कताई तथा रंगाई–सिन्धु प्रदेश की खुदाई से टेकुये तथा टेकुओं की मेखलाएं मिली हैं। इससे पता चलता है कि यहां के लोग कताई एवं बुनाई के काम में दिलचस्पी रखते थे। सिन्धुवासी रंगाई की कला से भी परिचित थे। खुदाई से रंगीन बर्तन एवं रंगीन वस्त्रों की जानकारी होती है। कपड़ों को रंगसाजों द्वारा कठौतियों में रंगा जाता था।

भवन निर्माण–ऊपर बताये गये तथ्यों के आधार पर साफ पता चलता है कि सिन्धु निवासी गृह निर्माण की कला में निपुण थे। भवनों की बनावट के कला का अभाव होने के बावजूद भी यहां के घर सुन्दर एवं स्वच्छ होते थे। भवन निर्माण योजना की जानकारी यहां के लोगों को थी, इसका ज्वलन्त उदाहरण बड़े-बड़े हॉल, स्नानागार आदि हैं।

मूर्त्तिकला–यहां के लोग मूर्तिकला के महत्त्व को भी समझते थे। अवशेष के रूप में पायी गयी मूर्तियों के द्वारा यहां के लोगों के जीवन, सोचने विचारने का ढंग और धार्मिक विश्वास की जानकारी होती है। पत्थर की मूर्तियां यहां बहुत कम पायी गई हैं। अधिकतर मूर्तियों का धार्मिक महत्त्व ही ज्यादा झलकता है। इन मूर्तियों के रूप में बैठे हुए आदमी, जानवरों एवं नृत्य की मुद्राएं चित्रित की गयी हैं। इनमें से कुछ मूर्तियां उत्तम कोटि की हैं। छोटी-छोटी कुछ मूर्तियां पीतल को ढालकर बनायी जाती थीं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण नाचती हुई लड़की, रथ एवं बैलगाड़ियां तथा कुछ जानवर भी हैं। लेकिन इस सभ्यता की लोकप्रिय कला पकाई गयी मिट्टी की मूर्तियाँ जान पड़ती हैं। इनमें से अधिकांश खड़ी हुई स्त्रियों की मूर्तियाँ हैं जिन्हें आभूषण पहने हुए दिखाया गया है। इनमें से कुछ मूर्तियां खड़े हुए पुरुषों की हैं जिनमें से कुछ को दाढ़ी और सींग के साथ दिखाया गया है। इतिहासकार इस बात पर सहमत हैं कि मूर्तियां महान देवी और देवताओं की हैं। इनमें से जो स्त्रियां बच्चों के साथ दिखाई गयी हैं वे खिलौने-सी लगती हैं। आग में पकाई गई या टेराकोटा के अनेक जानवर, गाड़ियां एवं खिलौने मिले हैं। एक बन्दर को धागे पर चढ़ता हुआ दिखाया गया है। एक बैल को सर हिलाते हुए भी दिखाया गया है।

आमोद-प्रमोद–जुआ खेलने में हड़प्पा वालों की रुचि अवश्य रही होगी, इसकी जानकारी खण्डहरों से प्राप्त पाशों से मिलती है। फिर शतरंज के समान किसी खेल का भी प्रमाण मिला है। नृत्य में भी ये लोग विशेष रुचि रखते थे। यह बात नाचती हुई लड़की की मूर्ति मिलने से प्रमाणित होती है।

नोट

कब्रें–सिन्धु प्रदेश में कब्रें भी मिली हैं। इससे पता चलता है कि हड़प्पावासी मरने के बाद भी एक अन्य जीवन में विश्वास करते थे। अधिकतर मुर्दों को सीधा चित्तकर गाड़ा जाता था। मुर्दे का सिर उत्तर दिशा की ओर रखा जाता था। लोथल में कुछ कब्रों में दो–दो हड्डियां पायी गयी हैं जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि सम्भवत: सती-प्रथा इसी सभ्यता से आरम्भ हुई थी।

3.3 सिन्धु घाटी सभ्यता का पतन (Decline of Indus Valley Civilization)

लगभग 2300 ई॰ पू॰ में जन्मी सिन्धु घाटी की सभ्यता करीब 1750 ई॰ पूर्व तक जीवित रही। ईसा पूर्व अठाहरवीं सदी के अंत तक आते-आते तो इस प्रदेश के दो प्रमुख नगर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का तो बिल्कुल नाश हो चुका था। इस प्रदेश के अन्य केन्द्रों ने भी धीरे-धीरे हमेशा के लिए अपने पूर्व अस्तित्व को खो दिये। इस सभ्यता के अन्त होने का कारण निश्चित तौर पर अभी ज्ञात नहीं हो पाया है।

अनुमान किया जाता है कि इस सभ्यता को विदेशी लोगों ने आक्रमण करके बर्बाद कर दिया। विद्वानों द्वारा ये मत दो बातों के आधार पर बताये जाते हैं–(क) मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तर पर पाये गये लगभग अड़तालीस नरकंकालों का अन्वेषण और (ब) ऋग्वेद में वर्णित वैदिक देवता इन्द्र का उल्लेख जिसने कई दुर्गों को बर्बाद किया। इस प्रदेश में पाये गये नरकंकालों का अध्ययन करने से पता चलता है कि इन पर तलवार जैसे किसी तेज हथियार से आक्रमण किया गया था। ये कंकाल आभूषणों से अलंकृत हैं। ऐसा लगता है कि वहां के लोगों को आक्रमण के कारण अचानक भागना पड़ा था। जल्दबाजी के कारण ये लोग अपने आभूषण भी नहीं उतार पाये होंगे। लेकिन किसी भी स्रोत से इन आक्रमणकारियों के बारे में हमें जानकारी नहीं हो पायी है। कई विद्वानों का कहना है कि ये आक्रमणकारी कोई अन्य नहीं बल्कि आर्य थे। इन विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र ने ही अनेक दुर्गों को नष्ट किया। हरि युपीय नामक शहर की चर्चा ऋग्वेद में होने के कारण विद्वानों ने इसे हड़प्पा मान लिया है। सिन्धु क्षेत्र में स्थित इसी प्रसिद्ध हड़प्पा को आर्यों ने नष्ट किया। सिन्धु सभ्यता के पतन के सम्बंध में उपर्युक्त विवेचना तर्क की कसौटी पर सत्य नहीं उतरती। हड़प्पा संस्कृति के आखिरी चरण में कुछ नये लोग यहां आये जरूर क्योंकि इस क्षेत्र से नये प्रकार के मिट्टी के बर्तन एवं हथियार मिले हैं। लेकिन इसका यह अर्थ कि ये लोग आक्रमण करने के उद्देश्य से योजना बनाकर यहां आये, सत्य नहीं प्रतीत होता। अवशेषों से ऐसा नहीं लगता कि बाहरी लोग इतनी बड़ी संख्या में यहाँ आये कि सम्पूर्ण सभ्यता को पूर्णत: नष्ट कर दें। प्राचीन एवं मध्यकाल में कई शहरों के बारे में हमें जानकारी मिलती है कि आक्रमण होने से वही शहर हमेशा के लिए समाप्त हो गया जो केवल अपनी प्रशासनिक या धार्मिक विशेषता एवं स्वभाव के दृष्टिकोण से प्रमुख रहा। वैसे शहर जो मुख्य रूप से व्यापार के केन्द्र रहे हों और उसके आस-पास के क्षेत्रों में व्यापारिक सामग्री काफी पैदा की जाती हो या यातायात की सुविधा के कारण यहाँ व्यापारिक वस्तुएं बाहर से मंगाई जाती हों तो वैसे शहर पर आक्रमण का कोई विशेष असर अधिक दिनों तक नहीं पड़ेगा, क्योंकि किसी भी शहर की जिन्दगी का मुख्य आधार धन होता है। चालुक्यों की राजधानी कल्याणी पर आक्रमण जब हुआ तो मुख्य रूप से केवल प्रशासनिक विशेषता के कारण उसने हमेशा के लिए अपना पूर्व स्थान खो दिया लेकिन दक्षिण भारत में ही स्थित गोवा पर भी कई बार आक्रमण हुआ लेकिन व्यापारिक दृष्टिकोण से इसका इतना महत्त्व था कि इस पर आक्रमण होने और दुश्मनों द्वारा आग लगा देने पर भी यह न तो हमेशा के लिए बर्बाद हुआ और न इसकी शान-शौकत में कोई कमी आयी। सिन्धु लोगों एवं आर्यों के बीच तो बड़े पैमाने पर युद्ध के अवशेष भी नहीं मिलते हैं। मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तर के नरकंकाल किसी एक ही काल से सम्बंध नहीं रखते हैं। अत: उनसे बड़े पैमाने पर जनसंहार का कोई संकेत नहीं मिलता। यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है कि सिन्ध ु प्रदेश पर आक्रमण बड़े पैमाने पर हुआ या नहीं। अगर आक्रमण हुआ तो ये आक्रमणकारी कौन थे? प्रसिद्ध इतिहासकार **आर॰ एस॰ शर्मा** (प्राचीन भारत, पृ॰ 41) के अनुसार, सिन्धु प्रदेश पर आक्रमण करने वालों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं थी। प्रोफेसर शर्मा की यह उक्ति सही लगती है और परिणामस्वरूप हम कह सकते हैं कि बाहरी आक्रमण इस सभ्यता के पतन का एकमात्र कारण नहीं था। आक्रमणकारी तो आर्य ही लगते हैं जो इस समय पश्चिम से ईरान होते हुए भारत आकर यहां के सिन्धु के प्रदेश में बसने का प्रयास कर रहे थे। इनके आगमन से इनका सिन्धु

नोट

के मूल निवासियों के साथ युद्ध होना स्वाभाविक लगता है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक लगता है कि उपर्युक्त तथ्य के आधार पर नहीं कहा जा सकता है कि वैदिककाल के आर्यों के साथ सिन्धु प्रदेश के नये आर्यों के बीच कोई सम्बंध लगातार बना रहा।

इस सभ्यता के पतन के सम्बंध में विद्वानों ने एक दूसरा मत भी दिया है। उनके अनुसार बड़े पैमाने पर आग लगने के कारण ही इस सभ्यता का विनाश हुआ है। अपने इस विचार के पक्ष में उन्होंने यह तर्क दिया कि सिन्धु प्रदेश के अधिकांश मकानों में लकड़ी का प्रयोग बड़े पैमाने पर होता था। लकड़ी तो स्वाभाविक रूप से आग का दुश्मन होती है। अत: किसी कारणवश वहां आग लगी होगी और देखते-देखते इसने विशाल अग्निकांड का रूप ले लिया। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण प्रदेश जलकर राख हो गया होगा, तो कोई आश्चर्य नहीं। उपर्युक्त तथ्यों की सार्थकता खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर भी होती है। ईसा पूर्व 1700 ई॰ में ब्लूचिस्तान में स्थित नाल, घुंडई, राणा, डावरकोट आदि स्थानों से बड़े पैमाने पर राख पायी गयी है। इससे आग लगने वाली बात को कुछ हद तक प्रमाणित किया जा सकता है। वैसे सिन्धु घाटी में इस तरह का कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता।

टास्क सिन्धु सभ्यता के पतन के कारणों पर अपने विचार व्यक्त करें।

बड़े पैमाने पर महामारी जैसे प्लेग, मलेरिया आदि फैलने के कारण भी जैसा कि कुछ विद्वानों का कहना है, इस सभ्यता का पतन हुआ होगा। इस महामारी के चलते उन्नति का मार्ग अवरूद्ध हो गया होगा और धीरे-धीरे इसका पतन हो गया होगा। लेकिन अफसोस इस बात का है कि इस प्रदेश में महामारी वाली बात किसी भी तरह प्रमाणित नहीं हो पाती है। कुछ लोगों का कहना है कि इस प्रदेश के लोग कुछ विषैली वस्तु को फल समझकर खाते गये और कुछ दिनों के पश्चात मौत के शिकार हो गये। लेकिन यह तथ्य भी बिना आधार का लगता है।

इस तरह टुकड़े-टुकड़े जोड़कर सिन्धु सभ्यता के पतन का एक साफ चित्र बनाने का जो प्रयास है, वह सफल होता नहीं जान पड़ रहा है। बड़ा आश्चर्य होता है यह देखकर कि इसी सिन्धु प्रदेश के पड़ोसी देश मिस्र में बिना किसी विशेष परिवर्तन में कोई-न-कोई राजा शासन करता रहा। वैसे कुछ आक्रमणकारी मिस्र में भी थे। ये लोग आर्य ही थे। इराक में भी आक्रमण हुए। आक्रमणकारियों के साथ यहां भाषा और पूजा करने की विधि में परिवर्तन भी हुआ लेकिन नगर बर्बाद नहीं हुए। ज्यादा से ज्यादा यही हुआ कि विशेष प्रकार की मान प्रतिष्ठा एक नगर से दूसरे नगर को मिलती रही। यहां एक बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगती है कि जब किसी राजा के द्वारा भूमि में सिंचाई की व्यवस्था को ठीक से बरकरार रखने के लिए विशेष ध्यान नहीं दिया गया तो परिणामस्वरूप हम पाते हैं कि वह ऊपजाऊ भूमि फिर से रेगिस्तान बन गयी। रेगिस्तान होने से वहां पैदावार नहीं हुई होगी। पैदावार रुकने से आस-पास के लोगों को नया सामान बनाने के लिए कच्चा माल या खाने के लिए अन्न मिलेगा नहीं। फलस्वरूप उस भूमि के आधार पर अपना भरण-पोषण करने वाले लोग वह स्थान नहीं चाहने के बावजूद भी छोड़ देंगे।

क्या यह सम्भव नहीं कि उपर्युक्त स्थिति में ही सिन्धु प्रदेश के शहरों का विनाश हुआ हो? क्या ऐसा नहीं हुआ होगा कि व्यापार की बढ़ोत्तरी के कारण कृषि व्यवस्था का ह्रास हुआ हो? उपर्युक्त बात पर प्रकाश डालते हुए **डी॰ डी॰ कोसाम्बी** (प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता; पृ॰ 97-98) का कहना है कि इस प्रदेश में नहरों की कमी का पता चलता है। ऐसा लगता है कि जिन नदियों के किनारे ये नगर बसे हुए थे उन नदियों ने अपना मार्ग बदल लिया हो, क्योंकि नदियों द्वारा मार्ग बदलने की बात सर्वविदित है। इसके कारण नदियों के किनारे बसे हुए व्यापारिक शहर उजड़ गये। खाने की वस्तुओं का भी अभाव होने लगा। फिर अगर आक्रमणकारियों द्वारा इस प्रदेश पर विजय पा लेने के दृष्टिकोण से इस पर विचार किया जाये तो कहा जा सकता है कि ये आक्रमणकारी कृषक नहीं थे। फलत: निर्दयी होकर इन्होंने बांधों को भी तोड़ दिया। बांधों के कारण ही बाढ़ की मिट्टी बहुत बड़े क्षेत्र में जमा होती थी और इस तरह उपजाऊ जमीन बन जाती थी। इस तरह यह प्रक्रिया अनाज के उत्पादन के अन्त का सूचक थी। इसी के कारण नगरों का भी अन्त हुआ। उत्पादन में कमी के कारण लोगों में गतिहीनता की बात पायी जाने लगती है और तब शहरी लोग विघटित होने लगे।

नोट

कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस सम्बंध में अपने विचार प्रकट किये हैं। इसके अनुसार समुद्रतल में भौगोलिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप समुद्र का जलस्तर काफी ऊँचा उठ गया। जलस्तर ऊँचा हो जाने के कारण सिन्धु प्रदेश के नगरों में पानी इतना चला गया कि यह सम्पूर्ण क्षेत्र ही डूब गया और इसका अन्त में विनाश हो गया।

कहते हैं, 1700 ई॰ पू॰ के लगभग सिन्धु प्रदेश के आस-पास के देशों, जैसे, मिस्र, मेसोपोटामिया आदि की आर्थिक स्थिति काफी खराब हो गई। आर्थिक स्थिति खराब होने के पीछे राजनीतिक अस्थिरता को जिम्मेदार ठहराया गया है। इसके कारण सिन्धु प्रदेश के नगरों का व्यापारिक सम्बंध आस-पास के इन देशों से रुक गया या बिल्कुल कम हो गया। किसी भी नगर के लिए सबसे आवश्यक चीज व्यापार होता है क्योंकि उसी से धन की काफी प्राप्ति होती है। जब व्यापार पर ही आघात पहुंच जाएगा तो किसी भी नगर को बहुत दिनों तक अपना अस्तित्व बनाये रखना असम्भव है। **आर॰ एस॰ शर्मा** के अनुसार, जनसंख्या में वृद्धि एवं प्राकृतिक साधनों की कमी ने ही यहां के आर्थिक आधार को कमजोर कर दिया।

उपर्युक्त तथ्यों का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि सिन्धु सभ्यता के पतन के लिए किसी एक कारण को ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। लेकिन आर्थिक संकट ने इस सभ्यता का विनाश किया, यह मत सबसे ज्यादा सत्य के करीब लगता है।

3.4 सिन्धु सभ्यता की देन (Contribution of Indus Valley Civilization)

इस सभ्यता के काल में शहरी सभ्यता की ओर तीव्र गति से विकास की प्रक्रिया को देखा जाता है। यह विकास बहुत हद तक आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक स्थानीय समस्याओं को सुलझाने के कारण हुआ। मेसोपोटामिया के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्पर्क होने के कारण सिन्धु सभ्यता के विकास में मेसोपोटामिया के नागरिक जीवन का प्रभाव तो कुछ न कुछ पड़ा ही, लेकिन विकास की प्रक्रिया स्वदेशी ही थी। अनेक विद्वानों ने भी इस मत को स्वीकारा है। घरेलू स्नानगृहों और नालियों पर इस सभ्यता में विशेष बल डाला जाता है। इन तत्वों का और मोहनजोदड़ो के विशाल स्नानगृहों (हमाम) का उत्तर भारतीय संस्कृति पर काफी असर पड़ा। इस सभ्यता में जैसी बैलगाड़ी और नाव पायी गई है उनमें आज भी कोई परिवर्तन नहीं पाया जाता है। रथ और चूड़ियों का प्रयोग भी इसी सभ्यता से शुरू हुआ। हड़प्पावासियों द्वारा इस्तेमाल किया गया गुणा; जैसे–1, 2, 4, 8, 16 इत्यादि आज भी हिसाब में पढ़ाया जाता है। इसी समय पायी गयी दशमलव प्रणाली हमें आज भी देखने को मिलती है। आज भी गांवों में मन, सेर, आधा सेर, पाव और छटांक तौलने के लिए प्रयोग किया जाता है, जो सिन्धु सभ्यता की देन है।

धार्मिक क्षेत्र में इस सभ्यता का प्रभाव आज भी देखने को मिलता है। उस काल में शुरू हुई शिव-पार्वती, चण्डी, काली, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की पूजा आज के समाज में भी हमें देखने को मिलती है। पवित्र और लम्बी उम्र एवं स्वस्थ रहने के उद्देश्य से शुरू हुई वृक्षों; जैसे–पीपल, तुलसी आदि की पूजा भी समाज में स्थान बनाये हुई है। सर्पों की पूजा सिन्धु सभ्यता की ही देन है। आज के समाज में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जादू-टोना, तंत्र-मंत्र तथा ताबीज में विश्वास करते हैं। अनेक प्रकार के आभूषण पहनने के पीछे भी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यही उद्देश्य रहता है कि किसी की बुरी नजर न लगे या किसी तरह के प्रकोप का शिकार न हों। गहना को तांत्रिक प्रभाव से सम्पन्न समझा जाता है। अत: अदृश्य शक्ति के प्रकोपों एवं अनेक खतरों, जादू-टोनों आदि में रक्षा करना ही आज भी बहुत से आभूषण पहनने का मुख्य उद्देश्य रहा है। उपर्युक्त सारी बातें सिन्धु सभ्यता के काल से ही पायी जाती रही है। सिन्धुवासी भूत-प्रेतों में भी विश्वास करते थे और इनसे अपनी रक्षा के लिए रक्षात्मक ताबीज पहनते थे जो कुछ समय के अनेक आभूषणों के रूप में सुन्दरता के प्रतीक बन गये। हड़प्पाकाल के ताबीज से तो प्रत्यक्ष रूप से आज भी हम परिचित हैं ही। सिन्धुकाल से आ रही इस तंत्र-मंत्र के सम्बंध में विस्तृत जानकारी हमें अथर्ववेद में भी मिलती है और बताया गया है कि कैसे तंत्रमंत्र के द्वारा अनेक रोगों एवं भूत-प्रेतों को समाप्त किया जा सकता है। इसके लिए ताबीज धारण करने का भी सुझाव दिया गया है।

नोट

सिन्धुकाल में आरम्भ हुई काली, चंडी आदि विविध मातृ-देवियों की चर्चा पुरानी एवं तांत्रिक साहित्यों में मिलती है। यह बहुत ही दिलचस्प बात है कि सिन्धुकाल या आधुनिककाल दोनों में ताबीज या आभूषण ज्यादातर औरतों और बच्चों को ही पहनाया जाता था और आज भी पहनाया जाता है। इसका निश्चित कारण बताना तो मुश्किल है लेकिन लगता है कि औसत औरतों के शारीरिक रूप से कमजोर एवं समाज में उन्हें घुलने-मिलने की पर्याप्त स्वतंत्रता नहीं रहने के कारण वे स्वत: काफी अंधविश्वासी हो जाती हैं और अदृश्य शक्तियों के षड्यंत्रों से डरी रहती हैं। इसी तरह की बात बच्चों के साथ भी पायी जाती है। बहुत कोमल एवं सुकुमार होने के कारण बच्चे आसानी से बीमारग्रस्त हो जाते हैं। इसका आरोप सिन्धुकाल की तरह आज भी केवल बुरी आत्माओं अथवा भूत-प्रेतों पर ही लगाया जाता है। इन्हीं खतरों से बचाने के लिए सिन्धुवासी स्त्रियों एवं बच्चों को ताबीज पहनाते थे तथा विभिन्न आभूषणों से पहले भी सजाते थे और आज भी सजाते हैं।

चूहा, हाथी, बैल, भैंसा, मोर, गरूड़, सिंह आदि अनेक प्रकार के पशु-पक्षी सिन्धुकाल में पूजे जाते थे और आज भी अनेक देवी-देवताओं के वाहन माने जाने के कारण ये पूजे जाते हैं।

विवाह एवं धार्मिक उत्सवों के समय ढोल बजाना सिन्धु सभ्यता की ही देन है। सोने, चाँदी, हाथीदांत, मोती, नीलम आदि के आभूषण सिन्धुकाल की तरह आज के समाज में प्रचलित हैं। अनेक प्रकार के अभूषण शरीर के विभिन्न भागों की भूत-प्रेत से रक्षा करने के लिए धारण किये जाते थे। सबसे ज्यादा आभूषण सिन्धुवासी गले में धारण करते थे : जैसे–कंठा, हार, माला इत्यादि। आज भी गले का आभूषण सबसे ज्यादा पाया जाता है। लगता है कंठ की रक्षा करने के लिए कंठा तथा सम्पूर्ण गले की रक्षा के लिए हार, माला आदि पहने जाते हैं और यह सिंधु सभ्यता की ही देन है।

आज का शतरंज एवं पासों का खेल सिन्धु सभ्यता की ही देन है। हिन्दू धर्म में प्रचलित पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी सिन्धुकाल से ही पाया जाता है।

इस तरह हम पाते हैं कि जीवन को अधिक आकर्षक बनाने के लिए सिन्धुवासियों ने अथक प्रयास किये और अपने उद्देश्य में सफल भी रहे हैं। इनके द्वारा अपनाये गये सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक तौर तरीके आज तक हम भारतीयों को प्रभावित किये हुए हैं। नगरों की योजना और मकान की बनावट तो आज भी हमारे लिए अद्वितीय है। यहां के लोगों का शहरीकरण कितना ज्यादा हो चुका था, वह इसी से प्रमाणित होता है कि प्रत्येक वस्तु को ये उपयोगिता के दृष्टि से देखते थे। आधुनिक युग के समान अपने आर्थिक विकास के लिए ये लोग देश-विदेश से अपना सम्बन्ध बनाये हुए थे।

3.5 सारांश (Summary)

सिन्धु सभ्यता के कालनिर्धारण के सम्बंध में कुछ विद्वानों का मत है कि यह सभ्यता नागरीय तथा व्यापार प्रधान होने के कारण वैदिक सभ्यता का परिवर्द्धित स्वरूप है। उपर्युक्त मत का विरोध करते हुए कुछ अन्य इतिहासकारों का कहना है कि यह सभ्यता वैदिक काल से बहुत प्राचीन है। ये विद्वान वैदिक काल को ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। चूंकि वैदिक काल से कम से कम पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता को माना जाता है। इसलिए ये विद्वान सिन्धु घाटी की सभ्यता का काल लगभग 3250 ई॰ पू॰ से 2750 ई॰ पू॰ तक मानते हैं।

3.6 शब्दकोश (Keywords)

- संगठन (Orgnization) : संस्था-संगठित करने की प्रक्रिया
- शासन (Rule) : सत्ता

नोट

3.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सिन्धु सभ्यता से क्या समझते हैं? इसकी नगर निर्माण योजना, कला कौशल एवं धार्मिक विश्वासों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. सिन्धु घाटी सभ्यता की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. सिन्धु घाटी सभ्यता के पतन के प्रमुख कारणों का उल्लेख कीजिए?
4. सिन्धु घाटी के निवासियों के सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. रावी	2. 1826	3. जनतांत्रिक	4. (*a*)
5. (*b*)	6. (*c*)	7. (*a*)	8. गलत
9. सही	10. सही	11. गलत।	

3.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*

नोट

इकाई–4: वैदिक काल
(The Vedic Age)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
4.1 आर्यों की उत्पत्ति एवं मूल निवास स्थान (Origination of Aryas and their Basic Nature Place)
4.2 वैदिककालीन सभ्यता एवं संस्कृति (Civilization And Culture of the Vedic Age)
4.3 सिन्धु सभ्यता और वैदिककालीन संस्कृति की असमानताएँ एवं समानताएँ (Differences and Similarities between Indus Civilization and Vedic Culture)
4.4 सारांश (Summary)
4.5 शब्दकोश (Keywords)
4.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
4.7 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आर्यों की उत्पत्ति एवं उनके मूल निवास स्थान को समझने में।
- वैदिककालीन सभ्यता एवं संस्कृति का वर्णन करने में।
- सिन्धु सभ्यता और वैदिककालीन संस्कृति की तुलना करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सिन्धु सभ्यता के पतन के बाद भारत में जिस सभ्यता का उदय हुआ उसे आर्य सभ्यता या वैदिक काल कहते हैं। चूँकि इस काल के निर्माता आर्य थे इसलिए इसे आर्य सभ्यता भी कहते हैं। इस सभ्यता की जानकारी हमें वेदों से प्राप्त होती है अत: इसे वैदिक सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। लगभग दो हजार ई. पू. में आर्यों ने सिन्धु सभ्यता का अन्त कर भारत में एक उच्च-कोटि की सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य का विकास किया। प्रश्न यह उठता है कि आर्य कौन थे? उनका आदि स्थान कहाँ था? और उनका भारत में किस प्रकार प्रसार हुआ? यह सभी प्रश्न बहुत ही विवाद से पूर्ण हैं।

नोट

4.1 आर्यों की उत्पत्ति एवं मूल निवास स्थान (Origination of Aryas and their Basic Nature Place)

अभी तक यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि आर्य कौन थे और वे भारत में कहाँ से आये। 'आर्य' शब्द का अर्थ होता है–"पवित्र वंश या जन्म वाला।" दूसरे शब्दों में आर्य शब्द श्रेष्ठता का द्योतक है। कुछ विद्वानों का कहना है कि संस्कृत, लैटिन ग्रीक तथा अन्य इण्डो-यूरोपीय भाषाओं के शब्दों में पर्याप्त समानता पायी जाती है। अत: इन भाषा-भाषियों के पूर्वज सम्भवत: एक ही मूल जाति के रहे होंगे। आर्य शब्द उस जन-समूह या प्रजाति को सम्बोधित करता है, जिसका शारीरिक गठन एक विशेष प्रकार का होता है। आर्य लोग लम्बे कद और अच्छे डील-डौल के होते हैं। इनका रंग गोरा एवं नाक लम्बी होती है।

सर्वप्रथम 'आर्य' शब्द का प्रयोग वेदों के लिखने वालों ने किया। उन्होंने अपने को आर्य (श्रेष्ठ) तथा विरोधियों को दस्यु या दास कहा है। वे अपने को अनार्यों से अधिक श्रेष्ठ और कुलीन समझते थे। आर्य लोग शीतोष्ण-कटिबन्ध के निवासी थे। दूध, मांस तथा गेहूँ इनके मुख्य खाद्य-पदार्थ थे। वे बड़े ही साहसी, युद्ध प्रिय तथा परिश्रमी थे।

आर्यों की उत्पत्ति एवं मूल निवास स्थान के विषय में आज भी विद्वानों में मतभेद बना हुआ है। कुछ विद्वान उन्हें विदेशी मानते हुए भारत के मूल निवासी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस सम्बन्ध में विभिन्न तर्क दिए जाते हैं। इतिहास, भाषा-विज्ञान, पुरातत्व, शरीर-रचना-शास्त्र और शब्दार्थ विकास शास्त्र के आधार पर विद्वान आर्यों के मूल निवास के सम्बन्ध में मतों का प्रतिपादन करते हैं। (क) आर्यों का आदि देश यूरोप (ख) मध्य एशिया, (ग) आर्कटिक प्रदेश और (घ) भारत।

यूरोपीय मत के पोषक–बहुत से विद्वानों का मत है कि आर्यों का मूल निवास स्थान यूरोप था। सर्वप्रथम इस विचार को व्यक्त करने वाला फ्लोरेंस फिलिप्पी निवासी सेसेटी था। पाँच वर्षों तक वह गोआ में रहा। उसने संस्कृत और विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में साम्यता दिखलाने की कोशिश की। आगे चलकर सर विलियम जोन्स ने भी इस तर्क को समर्थन दिया। उन्होंने ग्रीक, लैटिन, गोथिक, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं में समानता दिखलायी। उदाहरण स्वरूप संस्कृत में पिता को पितृ, लैटिन में पटेर, अंग्रेजी में फादर, जर्मन में वटर कहा जाता है। यही समानता माता शब्द में भी मिलती है। भाषा सम्बन्ध इस साम्यता के आधार पर विद्वान आर्यों का मूल निवास स्थान यूरोप मानने लगे। तत्पश्चात् वानस्पतिक, भौगोलिक परिस्थितियाँ और नस्लों को आधार बनाकर भी इस मत को बल दिया गया। प्रसिद्ध विद्वान **पी. गाईल्स** के विचारानुसार वैदिक साहित्य में वर्णित पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सभी भारत में नहीं मिलते हैं, अत: आर्य किसी ऐसी जगह से आए जहाँ के लोगों को इन सारी चीजों की जानकारी थी। संभवत: यह जगह हंगरी, ऑस्ट्रिया, बोहेमिया या डैन्यूब नदी की घाटी रही हो। **पी. गाईल्स** के मत में अनेक कमजोरियाँ हैं अत: विद्वान उनके मत को नहीं मानते हैं। एक अन्य विद्वान **पेन्का** का विचार है कि जर्मनी और मुख्यतया स्केण्डिनेविया ही आर्यों का मूल निवास स्थान था। उन्होंने नस्ल एवं शारीरिक गठन की समानता के आधार पर इस मत को बल दिया है। इस मत की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि ऐसी समानता (जर्मन एवं भारतीय आर्यों में) न सिर्फ जर्मनी बल्कि दक्षिणी रूस, पोलैण्ड और यूक्रेन में भी देखने को मिलती है। नेहरिंग ने वानस्पतिक समानता के आधार पर दक्षिणी रूस को आर्यों का आदि स्थान माना है। अन्य विद्वानों ने उत्तर-पश्चिमी किरगिज या स्केण्डिनेविया को आर्यों का स्थान माना है। इस प्रकार भाषा जातिगत साम्यताओं के आधार पर अनेक विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारत में आर्य यूरोप से आकर बसे।

परन्तु आलोचक इस मत को अधिक महत्त्व नहीं देते हैं। उनका कहना है कि भाषा सम्बन्धी समानता बहुत निश्चयात्मक नहीं है। एक ही स्थान पर लम्बे समय तक एक साथ रहने से ऐसी समानता विरोधी जातियों में भी पायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त यूरोपीय साहित्य में ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो वेदों के समकालीन हो और न ही इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण है जिसके आधार पर किसी वस्तु, पशु अथवा वनस्पति की मूल उत्पत्ति यूरोपीय प्रमाणित की जा सके तथा जिनके समान नाम हों (पूर्वी तथा पश्चिमी आर्य भाषाओं)। नस्ल या जातिगत समानता का तर्क भी बहुत मान्य नहीं है क्योंकि प्राचीन काल में या अभी भी ऐसी समानताएँ विभिन्न जातियों में पायी जा सकती हैं। आलोचकों का यह मत है कि प्रागैतिहासिक काल के जो बर्तन मध्य जर्मनी या दक्षिणी रूस से प्राप्त हुए

नोट

हैं वैसी सामग्रियाँ अन्य जगहों यथा पश्चिमी वाल्टिक समुद्र तट, यूकेराईन, न्यूजीलैंड, रूसी तुर्किस्तान आदि अनेक जगहों से प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ जगह यूरोप को बाहर हैं अत: यूरोप को आर्यों का मूल निवास प्रदेश नहीं माना जा सकता।

मध्य एशिया के समर्थक–यूरोपीय मत के विपरीत अनेक विद्वान यह मत प्रतिपादित करते हैं कि आर्यों का भारत में आगमन मध्य एशिया से हुआ, अत: मध्य एशिया ही आर्यों का मूल निवास स्थल हो सकता है। यह मत काफी प्रचलित है। इस मत के समर्थक धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि आर्य मध्य एशिया से ही भारत में आकर बसे। इस मत के प्रमुख प्रवर्तक प्रो. मैक्समूलर हैं। इनका विचार है कि भारतीय आर्यों के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद और ईरानी आर्यों का प्रथम ग्रन्थ **जेन्द अवेस्ता** में अद्‌भुत समानता है। यह समानता सिद्ध करती है कि प्रारम्भ में ईरानी और भारतीय आर्य किसी एक ही जगह रहते होंगे, परन्तु कालान्तर में अलग-अलग आकर बस गये होंगे। वह स्थान भारत तथा ईरान के मध्य में कहीं स्थित था। यहीं से आर्यों की एक शाखा भारत, दूसरी ईरान और तीसरी यूरोप में जा-कर बस गई। इन विद्वानों के मत में मध्य एशिया में कृषि कर्म तथा पशुपालन जो आर्यों का मुख्य व्यवसाय था, उनके अनुकूल वातावरण भी यहाँ उपलब्ध था। प्रारम्भ में आर्य अपने वर्ष की गणना 'हिम' से करते थे जो इंगित करता है कि वे किसी शीतप्रधान देश में रहते थे। परन्तु आगे चलकर आर्य वर्ष की गणना 'शरद' से करने लगे, जिससे प्रमाणित होता है कि वे दक्षिण की तरफ बढ़े जहाँ अपेक्षाकृत कम ठंडक पड़ती थी। वे घोड़े और नाव के प्रयोग से परिचित थे। उन्हें पीपल के पेड़ की भी जानकारी थी। ऐसी स्थिति मध्य एशिया में सम्भव है। यहीं से आर्य विभिन्न दिशाओं में गये।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. आर्यों का मूल निवास आर्कटिक प्रदेश या उत्तरी ध्रुव को माना ..... ने।
2. ..... से पता चलता है कि आर्यों को यह ज्ञात था कि एक लम्बे दिन और एक लम्बी रात एक वर्ष होता है तथा कई दिनों का प्रात: काल होता है।
3. भरत वंश अथवा भरत जन के राजा सुदास ने ..... नदी के तट पर दस राजाओं के संघ को पराजित किया।

मध्य एशिया के सिद्धान्त के समर्थकों का यह भी कहना है कि आर्यों के प्राचीनतम लेख एशिया में ही मिले हैं। एशिया-माइनर में **बोगजकोई** से प्राप्त अभिलेख जो लगभग 1400 ई. पू. का है, में कतिपय वैदिक देवताओं, जैसे–मित्र, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं का उल्लेख है। इन प्रमाणों के आधार पर अनेक विद्वानों का मत है कि आर्य मध्य एशिया में कहीं रहते थे और वहीं से भारत में उनका आगमन हुआ। विद्वानों के अनुसार संभवत: पामीर प्रदेश, रूसी तुर्कीस्तान या खिरगिर क्षेत्र आर्यों का मूल निवास स्थान रहा होगा।

आर्कटिक प्रदेश या उत्तरी ध्रुव आर्यों का मूल निवास–इस मत को मानने वाले प्रसिद्ध भारतीय विद्वान लोकमान्य बालगंगाधर तिलक हैं। उन्होंने ***ऋग्वेद*** और **अवेस्ता** का गहन अध्ययन किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्यों का मूल निवास या आदि देश उत्तरी ध्रुव था। वेद में जो भौगोलिक वर्णन है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य उत्तरी ध्रुव से आये। उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्यों को यह ज्ञात था कि एक लम्बे दिन और एक लम्बी रात एक वर्ष होता है तथा कई दिनों का प्रात:काल होता है। कई दिनों का प्रात:काल यह दर्शाता है कि वहाँ हिमपात बहुत अधिक होता था। हम यह भी जानते हैं कि उत्तरी ध्रुव प्रदेश में बहुत अधिक बर्फ पड़ती है। ऐसे हिमपात का वर्णन **अवेस्ता** में भी मिलता है। सम्भवत: इसी हिमपात के चलते आर्य उत्तरी ध्रुव से निकल कर मध्य एशिया पहुँचे।

परन्तु आलोचक तिलक के मत को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि यदि आर्य उत्तरी ध्रुव प्रदेश के निवासी रहे होते तो वे सप्त सिन्धु प्रदेश को 'देवकृत योनि' कह कर नहीं पुकारते। ऋग्वेद में उत्तरी ध्रुव का स्पष्ट जिक्र नहीं

नोट

मिलता है। आलोचकों का यह भी तर्क है कि साहित्यिक प्रमाण बहुत ठीक एवं प्रमाणिक नहीं हैं, उनमें अतिशयोक्तियां हैं। इस प्रकार बहुत से विद्वान लोकमान्य तिलक के मत को नहीं मानते हैं।

भारत आर्यों का मूल निवास स्थान–अनेक विद्वानों का मत है कि आर्य भारत में कहीं बाहर से नहीं आए बल्कि वे यहीं के निवासी थे। इस मत के प्रसिद्ध समर्थकों में श्री अविनाश चन्द्र दास, श्री गंगानाथ झा, श्री डी.ए. व्रिवेद, डॉ. राजबली पाण्डेय, श्री एल. डी. कल्ला आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों का तर्क है कि वेद में सप्त सिन्धु का गुणगान किया गया है। अत: यही आर्यों का निवास स्थान रहा होगा। इनका यह भी कहना है कि आर्यों का कहीं अन्यत्र निवास स्थान न होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आर्य परिवार की भाषाओं में अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत शब्दों की संख्या अधिक है; परन्तु यूरोपीय भाषाओं में उन शब्दों की संख्या काफी कम है। इसके साथ-साथ ऋग्वेद में जिन भौगोलिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक वातावरण का वर्णन है, वह सब भारत के सप्त सिन्धु प्रदेश का है। अत: भारत ही आर्यों का मूल निवास स्थान रहा होगा। डॉ. गंगानाथ झा भारत के ब्रह्मर्षि प्रदेश को ही आर्यों का आदि देश मानते हैं। एस. सी. दास और सम्पूर्णानन्द सप्त सिन्धु प्रदेश को आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान मध्य देश को, काश्मीर या हिमालय प्रदेश को आर्यों का निवास स्थान मानते हैं।

बहुत से आधुनिक विद्वान इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि यदि भारत आर्यों का देश रहा होता तो आर्यों के भारत से बाहर जाने के पहले ही सम्पूर्ण भारत का आर्यीकरण हो चुका रहता, परन्तु ऐसी बात नहीं है। पुन: यह कैसे सम्भव है कि हड़प्पा सभ्यता के निवासी आर्य नहीं थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यों के मूल निवास का प्रश्न काफी पेचीदा एवं विवादास्पद है। ऊपर जितने भी मत दिये गए हैं उनकी कुछ विशेषताएँ एवं कमजोरियाँ हैं; परन्तु कोई मत शंका से परे नहीं है। विद्वानों का अधिकांश समुदाय यह स्वीकार करता है कि आर्य मध्य एशिया से आकर लगभग 1500 ई. पू. के आस-पास भारत में बस गए। अत: हम कह सकते हैं कि सम्भवत: आर्यों का आदि निवास मध्य एशिया में ही कहीं स्थित था।

भारत में आर्यों का आगमन–भारत में आर्यों ने कब प्रवेश किया और कब आक्रमण किया इसकी कोई निश्चित तिथि नहीं है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेद का रचना काल 1000 ई. पू. के लगभग माना जाता है। अत: स्वाभाविक है कि आर्यों के आगमन के पश्चात् शान्ति और सुव्यवस्था के समय इस वेद की रचना की गई होगी। तात्पर्य यह है कि आर्य 1000 ई. पू. पहले भारत में प्रविष्ट हुए होंगे। सिन्धु सभ्यता का अन्त 2500 ई. पू. के लगभग माना गया तो निश्चय ही आर्यों के भारत में प्रविष्ट होने का काल इन दोनों तिथियों के मध्य में होना चाहिए। ऋग्वेद को पढ़ने से विदित होता है कि आर्य एक ही परिवार और कबीले के नहीं थे। इनके अनेक कबीले थे जो समय-समय पर कृषि भूमि तथा चारागाहों की खोज करते हुए भारत में प्रविष्ट हुए। ये कबीले यहाँ पर आक्रमण करने के उद्देश्य से नहीं आये थे, वरन् शान्तिपूर्वक बसने के लिए आये थे। इनके प्रसार की गति धीमी रही होगी। जिसमें सैकड़ों वर्ष लगे होंगे, तभी तो उनके आगमन की बिल्कुल निश्चित तिथि निर्णीत नहीं होती है। वे अपने जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की सामग्री भी साथ लाये थे।

सप्त सिन्धु प्रदेश में आर्यों का निवास–ऋग्वेद में हमें यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि आर्य कहाँ के निवासी थे, वे किस प्रदेश से किस प्रदेश में गये, फिर भी ऋग्वेद की जिस प्रदेश में रचना हुई उसका उल्लेख इस वेद में किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि इसका रचना-स्थल सप्त सिन्धु प्रदेश था। प्रारम्भ में आर्यों ने यहीं रहना आरम्भ किया। यह प्रदेश आधुनिक अफगानिस्तान से प्रारंभ होकर गंगा के पश्चिमी क्षेत्र तक जाता है। इस प्रदेश में आधुनिक अफगानिस्तान की कुछ नदियों के नाम मिलते हैं जैसे–कुम, सुंवास्तु, क्रुमु और गोमती। अन्य नदियों में सरस्वती, सिन्धु और पंजाब की पाँचों नदियाँ वितस्ता, अस्किनी, परूष्णी, विपासा और शतुद्रि का वर्णन भी मिलता है। इन सात नदियों के कारण इसे सप्त सिन्धु का प्रदेश कहा गया है। यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ थी तथा पशुपालन की दृष्टि से भी बहुत अच्छी थी। इसीलिये आर्यों ने इस स्थान को ही अपने निवास के लिए चुना होगा। इस वेद में गंगा और यमुना नदी का कम वर्णन आता है, अत: वे दोआब के प्रदेश में नहीं रहे होंगे। सप्त सिन्धु प्रदेश के बारे में उन्हें अधिक जानकारी थी तभी उसका उन्होंने बारीकी से वर्णन किया है, जो इस बात को प्रमाणित करता है कि आर्य सप्त सिन्धु प्रदेश में निवास करते थे। यहीं से वे भारत के अन्य प्रदेशों में फैल गये।

नोट

भारत के अन्य क्षेत्रों में आर्यों का प्रसार–भारत में आर्यों को अपने प्रसार की प्रारम्भिक अवस्था में अनार्यों से काफी संघर्ष करना पड़ा। इस काल में वे आपसी संघर्ष में भी व्यस्त रहे, इसका ऋग्वेद में व्यापक वर्णन किया गया है। यह पहले भी लिखा जा चुका है कि आर्यों के विभिन्न कबीले अलग-अलग समय पर भारत में प्रविष्ट हुए। जैसे–यदु, भरत, अनु, पुरू, क्रिबि और त्रिसु। ये कबीले उपजाऊ और चारागाह के योग्य भूमि को देखकर वहाँ बसने का प्रयास करते थे। विभिन्न कबीले होने के कारण इनका संघर्ष हो जाया करता था। इन कबीलों के प्रधान, नेता या राजा कहलाते थे। इनका भी कभी-कभी संघर्ष हो जाया करता था। ऐसा वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। भरत कबीले के राजा दिवोदास ने अनार्यों के नरेश को परास्त किया था। दिवोदास के पुत्र सुदास ने दस राजाओं के संघ को परास्त करके आर्य कबीलों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस तरह उसने यमुना नदी के किनारे अनार्य नरेशों के एक संघ को और परास्त किया था। ऋग्वेद का यह वर्णन सिद्ध करता है कि आर्यों के कबीलों का कहीं-कहीं प्रारम्भ में संघर्ष चलता रहता था।

आर्यों का जब भारत में आगमन हुआ तो उस समय भारत में अनार्यों के भी कई राज्य थे। आर्यों का जब भारत में प्रसार हुआ तो उन्हें इन अनार्यों से संघर्ष करना पड़ा।

आर्य-अनार्य संघर्ष–भारत में आर्यों का प्रसार एक भयानक संघर्ष का इतिहास है। ऋग्वेद में आर्यों के पारस्परिक तथा अनार्यों के साथ निरंतर संघर्ष की झाँकी मिलती है। आर्यों के अपने प्रसार काल में यहाँ के द्रविड़ आदि निवासियों से भयानक संघर्ष करना पड़ा। द्रविड़ लोगों ने आर्यों के प्रसार को रोकने के लिए तथा अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए आक्रमणकारी आर्यों का डटकर मुकाबला किया। संभवत: यह संघर्ष कई सौ वर्षों तक चलता रहा। यह संघर्ष केवल दो जातियों के बीच नहीं था, वरन् दो सभ्यताओं एवं दो जीवन पद्धतियों के बीच था। आर्य अपनी सभ्यता और संस्कृति प्रसार करने के लिए निरंतर पूर्व एवं दक्षिण की ओर बढ़ते जा रहे थे। अंत में, अपनी कुशल रणनीति, शारीरिक बल एवं उत्साह तथा अश्वारोही सेना की प्रचुरता से आर्यों ने अनार्यों को पराजित किया। पराजित अनार्यों को उन्होंने दास वर्ण के रूप में अपनी सामाजिक व्यवस्था के रूप में सम्मिलित कर लिया। इन्हीं दासों की संतान को वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र की संज्ञा प्राप्त हुई पर अनार्यों में बहुत बड़ी संख्या में पराजित होने वाले जंगलों और पहाड़ों में भाग गये, जहाँ वे लुक-छिपकर बहुत दिनों तक आर्यों से संघर्ष करते रहे। अन्त में आर्यों की शक्ति से पराभूत होकर ये सदा के लिए वन्य तथा पर्वतीय प्रदेशों में बस गये।

ऋग्वेद के अध्ययन से आर्यों एवं अनार्यों के शारीरिक भेद और सांस्कृतिक विभिन्नता का भी ज्ञान प्राप्त होता है। आर्यों का रंग गोरा, कद लम्बा, नाक ऊंची तथा चेहरा सुन्दर होता था। अनार्य का रंग काला, नाक चपटी, कद नाटा तथा सिर छोटा होता था। दोनों के धार्मिक विश्वास एवं पूजा-पद्धति में भी गहरा भेद था। आर्य, सूर्य, चन्द्र, अश्विन, उषा, इन्द्र, वरुण आदि देवी-देवताओं की पूजा मंत्र एवं यज्ञ के सहारे करते थे। इसी कारण आर्यों ने उनकी पूजा-पद्धति पर उपहास करते हुए अनार्यों को देवताओं को अपवित्र करने वाला (देवपीय), देवताविहीन (अदेवयु:), लिंगपूजक (शिश्नेदेवा:), यज्ञ न करने वाला (अयज्वान्) तथा अन्य प्रकार की धार्मिक पद्धति अपनाने वाला (अन्यव्रता:) आदि नामों से सम्बोधित किया। उनकी चपटी नाक पर व्यंग्य करते हुए नाक-रहित (अनास:) कहा। अनार्यों की भाषा को समझना आर्यों के लिए कठिन था, अत: उनकी बोली का उपहास करते हुए उनको मृध्रवाक अर्थात न समझने वाली भाषा को बोलने वाला कहा है। धार्मिक रूप से अनार्यों को 'दस्यु' अथवा 'दास' के नाम से पुकारा।

नोट्स आर्यों ने ऋग्वेद के श्लोकों में अनार्यों की शारीरिक बनावट, रंग तथा पूजा-पद्धति की खिल्ली उड़ाई है।

ऋग्वेद में कुछ अनार्य जातियों के नाम तथा उनके सरदारों के नाम भी उल्लिखित हैं। उदाहरणार्थ सिम्यु, पिशाच, किकात आदि उनकी जातियाँ थीं तथा पिषु, धुनि, चुमुटि, शंबर आदि उनके नेता थे। वे लोग नगरों में दुर्ग बनाकर रहते थे। सम्भवत: वे लोग आर्यों से अधिक शान्तिप्रिय थे तथा भारत की जलवायु ने उन्हें विलासी और आलसी बना दिया था। वे सभ्य एवं सुखी थे, पर उनकी सैनिक पद्धति, रणनीति एवं अस्त्र-शस्त्र आर्यों की अपेक्षा निम्न कोटि

नोट

के थे। अत: यद्यपि अनार्यों ने तीर-धनुष के द्वारा जी-जान लगाकर आर्यों का मुकाबला किया, पर वे आर्यों की अश्वारोही सेना से पराजित होते गये तथा एक-एक करके उनके दुर्ग एवं पुर ध्वस्त होते गये। संभवत: यही कारण है कि ऋग्वेद के विख्यात देवता इन्द्र को पुरन्दर अर्थात् नगरों का दलन करने वाला कहा गया। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में इन्द्र आदि देवताओं से शत्रुओं के साथ संघर्ष में सहायता माँगी गई है। निस्संदेह, भारत-भूमि के विशाल भू-भाग पर अनार्यों का विनाश कर आर्य अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की ध्वज फहराने में सफल रहे। साथ ही, हम देख चुके हैं कि जिन अनार्यों ने उनके आगे आत्मसमर्पण किया, उन्हें इन लोगों ने दास-वर्ग तथा शूद्र वर्ण रूप में अपनी सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया।

आपसी संघर्ष—ऋग्वेद में आर्यों के आपसी संघर्ष की झाँकी भी मिलती है। आर्यों में अनेक जन अथवा कबीले थे, जो कृषि योग्य भूमि अथवा शक्ति-विस्तार के लिए आपस में युद्ध करते रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों के सभी कबीलों ने एक साथ भारत में प्रवेश नहीं किया। कुछ कबीले सैकड़ों वर्ष बाद तक आते रहे। अत: यहाँ आने पर बसने योग्य एवं कृषि-योग्य भूमि के लिए संघर्ष होता था। ऋग्वेद में आर्यों की प्रमुख जातियों का उल्लेख पंचजन: के रूप में किया गया है। आर्यों के ये प्रमुख जन या कबीले थे—अणु द्रुह्यु, यदु, तुर्बसु और पुरू। किन्तु इनके अतिरिक्त भरत त्रित्सु, श्रृंजय तथा क्रिवी आदि गौण जन भी थे। इन जातियों के एक प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है, जिसे दस राजाओं का युद्ध कहा जाता है। इस युद्ध में भरत-वंश अथवा भरत जन के राजा सुदास ने परूष्णी अथवा रावी नदी के तट पर दस राजाओं के संघ को पराजित किया था। इस संघ का नेतृत्व सुदास का पदच्युत पुरोहित विश्वामित्र कर रहा था। इस विजय के पश्चात् आर्यजनों पर सुदास का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस विजय का अभिनन्दन सुदास के पुरोहित वशिष्ठ ने ऋग्वेद में एक ऋचा के द्वारा किया है। इस युद्ध के शीघ्र पश्चात् भरतवंशी सुदास ने यमुना के तट पर अनार्य नरेशों के एक संघ को भी पराजित किया था। इस प्रकार के युद्ध आर्यजनों में शक्ति-विस्तार की दृष्टि से होते रहते थे। संभवत: साम्राज्यवाद की भावना भी उन्मुख होने लगी थी। सुदास को साम्राज्यवादी प्रवृति का राजा माना जाता है।

4.2 वैदिककालीन सभ्यता एवं संस्कृति (Civilization and Culture of the Vedic Age)

(1) वैदिक साहित्य

वैदिक युग—भारतीय आर्यों के इतिहास के प्राचीनतम युग को वैदिक युग कहते हैं। इसका कारण यह है कि वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और उनके अनुशीलन से हम इन आर्यों की सभ्यता, संस्कृति व धर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वैदिक सूक्तों में आर्य ऋषियों के विचार और कथन अविकल रूप से उनकी अपनी भाषा विद्यमान हैं। जिस प्रकार पौराणिक अनुश्रुति प्राचीन आर्यों के राजनीतिक वृतान्त को सूचित करती है, वैसे ही वैदिक संहिताएँ उनके धर्म व सभ्यता का परिचय देती हैं। वैवस्वत मनु से महाभारत तक के काल को हम वैदिक युग कह सकते हैं। क्योंकि इस सुदीर्घ (1500 वर्ष के लगभग के) काल में वैदिक सूक्तों का निरन्तर निर्माण होता रहा, वेदों के अनुशीलन से जिस सभ्यता और संस्कृति का परिचय मिलता है, वह इसी युग की है।

वैदिक संहिता—आर्य जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है। वेद का अर्थ है—ज्ञान। वेद मुख्यतया पद्य में हैं, यद्यपि उनमें गद्य भाग भी विद्यमान है। वैदिक पद्य को ऋग् या ऋचा कहते हैं, वैदिक गद्य को यजुष् कहा जाता है, वेदों में जो गीतात्मक (छन्द रूप) पद्य हैं, उन्हें साम कहते हैं। ऋचाओं व सामों के एक समूह का नाम सूक्त होता है, जिसका अर्थ है—उत्कृष्ट उक्ति या सुभाषित। वेद में इस प्रकार के हजारों सूक्त विद्यमान हैं। प्राचीन समय में वेदों की 'त्रयी' भी कहते थे। ऋचा, यजुष् और साम—इन तीन प्रकार के पदों में होने के कारण ही वेद की 'त्रयी' संज्ञा भी थी।

पर वैदिक मन्त्रों का संकलन जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे 'संहिता' कहते हैं। विविध ऋषि-वंशों में जो मन्त्र श्रुति द्वारा चले आते थे, बाद में उनका संकलन व संग्रह किया गया। पहले वेद मन्त्रों को लेखबद्ध करने की परिपाटी शायद नहीं थी। गुरु-शिष्य परम्परा व पिता-पुत्र परम्परा द्वारा ये मन्त्र ऋषि-वंशों में स्थिर रहते थे और

नोट

उन्हें श्रुति (श्रवण) द्वारा शिष्य गुरु से या पुत्र पिता से जानता था। इसी कारण उन्हें श्रुति भी कहा जाता था। विविध ऋषि वंशों में जो विविध सूक्त श्रुति द्वारा चले आते थे, धीरे-धीरे बाद में उनको संकलित किया जाने लगा। इस कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेदव्यास को है। ये महाभारत युद्ध के समकालीन थे और असाधारण रूप से प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वेदव्यास ने वैदिक सूक्तों का संहिता रूप में संग्रह किया। उनके द्वारा संकलित वैदिक संहिताएँ चार हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

चार वेद–ऋग्वेद में कुल मिलाकर 1017 सूक्त हैं। यदि 11 बालखिल्य सूक्तों को भी इनमें अन्तर्गत कर लिया जाये, तो ऋग्वेद के कुल सूक्तों की संख्या 1028 हो जाती है। ये 1017 या 1028 सूक्त 10 मण्डलों में विभक्त हैं। वेद के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मन्त्र) के साथ उसके 'ऋषि' और 'देवता' का नाम दिया गया है। ऋषि का अर्थ है, मन्त्रद्रष्टा या मन्त्र का दर्शन करने वाला। जो लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उनके अनुसार वेदों का निर्माण तो ईश्वर द्वारा हुआ था, पर इस वैदिक ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले ये ऋषि ही थे। पर आधुनिक विद्वान् वैदिक ऋषियों का अभिप्राय यह समझते हैं कि ये ऋषि ही मन्त्रों के निर्माता थे। वैदिक देवता का अभिप्राय उस देवता से है, जिसकी उस मन्त्र में स्तुति की गयी है या जिसके सम्बन्ध में मन्त्र में प्रतिपादन किया गया है।

ऋग्वेद के ऋषियों में सर्वप्रथम गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ हैं। इन छः ऋषियों और इनके वंशजों ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें मण्डलों का दर्शन या निर्माण किया था। आठवें मण्डल के ऋषि कण्व और आंगिरस वंश के हैं। प्रथम मण्डल के पचास सूक्त भी कण्व-वंश के ऋषियों द्वारा निर्मित हुए। अन्य मण्डलों और प्रथम मण्डल के अन्य सूक्तों का निर्माण अन्य विविध ऋषियों द्वारा हुआ, जिन सबके नाम इन सूक्तों के साथ मिलते हैं। इन ऋषियों में वैवस्वत मनु, शिवि और औशीनर, प्रतर्दन, मधुछन्दा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद के इन ऋषियों में कतिपय स्त्रियाँ भी हैं, जिनमें लोपामुद्रा प्रमुख है। लोपामुद्रा राजकुल में उत्पन्न हुई थी। वह विदर्भ-राज की कन्या थी और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूप इस समय मिलते हैं, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं, जिसकी दो शाखाएँ उपलब्ध हैं–काण्व और माध्यन्दिनीय। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ प्राप्त होती हैं, काठक संहिता, कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी संहिता और तैत्तिरीय संहिता। विविध ऋषि-वंशों व सम्प्रदायों में श्रुति द्वारा चले आने के कारण वेदमन्त्रों के मूल पाठ में भेद का हो जाना असम्भव नहीं था। सम्भवतः, इसी कारण यजुर्वेद की ये विविध शाखाएँ बनीं। इन शाखाओं में अनेक स्थानों पर मन्त्रों में पाठभेद पाया जाता है। इनमें यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता सबसे महत्त्वपूर्ण है, बहुत से विद्वान् उसे ही असली यजुर्वेद मानते हैं। यह चालीस अध्यायों में विभक्त है। इसमें उन मन्त्रों का पृथक्-पृथक् रूप से संग्रह किया गया है, जो विविध याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त किये जाते थे। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् है, जिसका सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ न होकर अध्यात्म-चिन्तन के साथ में है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ऋग्वेद ..... सूक्त तथा ..... मण्डलों में विभक्त है।
   (*a*) 1028, 10 (*b*) 1040, 15
   (*c*) 1020, 30 (*d*) इनमें से कोई नहीं।
5. समिति और सभा को प्रजापति की 'दुहिता' कहा गया है।
   (*a*) वेदों में (*b*) आरण्यकों में
   (*c*) उपनिषदों में (*d*) इनमें से कोई नहीं।
6. वैदिक युग के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार थे।
   (*a*) कृषि और पशुपालन (*b*) उद्योग धन्धे
   (*c*) वनों पर आधारित उद्योग (*d*) इनमें से कोई नहीं।

नोट

7. सिन्धु-घाटी की प्राचीन सभ्यता के निवासियों में ..... की पूजा प्रचलित थी।

(*a*) वरुण (*b*) यम

(*c*) शिश्न (लिंग) (*d*) इनमें से कोई नहीं।

सामवेद की तीन शाखाएँ इस समय मिलती हैं, कौथुम शाखा, राणायनीय शाखा और जैमिनीय शाखा। इनका आधार भी पाठभेद हैं। सामवेद के दो भाग हैं पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। दोनों की मंत्र-संख्या 1810 है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ इस समय मिलती हैं, शौनक और पिप्पलाद। इनमें शौनक शाखा अधिक प्रसिद्ध है और उसे ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है। अथर्ववेद में कुल मिलाकर 20 काण्ड और 732 सूक्त हैं। सूक्तों के अन्तर्गत मंत्रों की संख्या 6000 के लगभग है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ—वैदिक साहित्य में चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया जाता है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में उन अनुष्ठानों का विशद रूप से वर्णन है, जिनमें वैदिक मन्त्रों को प्रयुक्त किया जाता है। अनुष्ठानों के अतिरिक्त इनमें वेदमन्त्रों के अभिप्राय व विनियोग की विधि का भी वर्णन है। प्रत्येक ब्राह्मण-ग्रन्थ का किसी वेद के साथ सम्बन्ध है, और उसे उसी वेद का ब्राह्मण माना जाता है। यहाँ यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक वेद के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों का संक्षेप के साथ उल्लेख करें, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों का परिचय दिये बिना वैदिक-साहित्य का वर्णन पूरा नहीं हो सकता।

ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थ ऐतरेय है। अनुश्रुति के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता महीदास ऐतरेय था। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी या सांख्यायन-ब्राह्मण है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय हैं। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में मुख्य भेद यह है कि जहाँ शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र भाग है, वहाँ कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण-भाग भी अन्तर्गत है। उसमें मन्त्रों के साथ-साथ विधि-विधान व याज्ञिक अनुष्ठान के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण भाग को भी दे दिया गया है। अत: तैत्तिरीय ब्राह्मण रचना की दृष्टि से कृष्ण यजुर्वेद से बहुत भिन्न नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है, जो अत्यन्त विशाल ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर सौ अध्याय हैं, जिन्हें चौदह काण्डों में विभक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में न केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का बड़े विशद रूप से वर्णन किया गया है, पर साथ ही इस बात पर भी विचार किया गया है कि इन विविध अनुष्ठानों का क्या प्रयोजन है और इन्हें क्यों यज्ञ का अंग बनाया गया है। शतपथ ब्राह्मण का रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि माना जाता है। सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं, ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। अनेक विद्वानों के अनुसार ये तीनों ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है। अनेक विद्वानों की सम्मति में यह बहुत प्राचीन नहीं है, इसमें उस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानों का भी वर्णन नहीं है, जैसे कि अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है।

आरण्यक तथा उपनिषद्—इसमें सन्देह नहीं कि भारत के प्राचीन आर्यों के धर्म में यज्ञों की प्रधानता थी। यज्ञ के विधि-विधानों में अनुष्ठानों को वे बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिये याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादन व उनमें वैदिक मन्त्रों के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना की थी। पर साथ ही, वैदिक ऋषि आध्यात्मिक, दार्शनिक व पारलौकिक विषयों का भी चिन्तन किया करते थे। आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि किन तत्वों से बनी है, इस सृष्टि का कर्ता व नियामक कौन है, जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन सत्ता है उसका क्या स्वरूप है—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वे विचार किया करते थे। इन गूढ़ विषयों का चिन्तन करने वाले ऋषि व विचारक प्राय: जंगलों व अरण्यों में निवास करते थे, जहाँ वे आश्रम बनाकर रहते थे। वहीं उस साहित्य की सृष्टि हुई, जिसे आरण्यक तथा उपनिषद् कहते हैं। अनेक आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही भाग हैं। ऋषियों ने अरण्य में स्थापित आश्रमों में जिन उपनिषदों का विकास किया, उनकी संख्या दो सौ से भी ऊपर हैं। पर प्रमुख उपनिषदें निम्नलिखित हैं—

(1) ऐतरेय उपनिषद्—यह ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का एक भाग है। ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी ब्राह्मण के अन्त में भी आरण्यक भाग है, जिसे कौशीतक आरण्यक या कौशीतकी उपनिषद् कहते हैं। (2) यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् के रूप में है। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग भी

नोट

आरण्यक रूप से है, जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत कठ उपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद् और मैत्रायणीय उपनिषद् हैं। (3) सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के साथ सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदें केन और छान्दोग्य हैं। (4) अथर्ववेद के साथ मुण्डक उपनिषद् और माण्डूक्य उपनिषद् का सम्बन्ध है।

(2) वैदिक युग का राजनीतिक जीवन

वैदिक संहिता, ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषदों के अध्ययन से वैदिक युग के आर्यों की सभ्यता, राजनीतिक संगठन, धर्म, आर्थिक दशा और संस्कृति आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। उनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना उपयोगी होगा।

राजनीतिक संगठन–जब आर्यों ने पहले-पहल भारत में प्रवेश किया, तो वे सभ्यता के क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर चुके थे। वे शिकारी की दशा से आगे बढ़कर पशुपालक और कृषक की दशा को पहुँच चुके थे। राजनीतिक दृष्टि से वे 'जनों' में संगठित थे। जन को हम कबीला या ट्राइब समझ सकते हैं। जन का संगठन एक बड़े परिवार के समान था, जिसमें यह विचार विद्यमान था कि उसके सब व्यक्ति एक आदि पुरुष की सन्तान हैं और एक ही परिवार के अंग हैं। जिस प्रकार एक परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति शासन करता है, उसी प्रकार जन रूपी बड़े परिवार में भी एक पिता या मुखिया का शासन होता था। इस मुखिया को राजा कहते थे और इसकी नियुक्ति परम्परागत प्रथा के अनुसार या निर्वाचन द्वारा होती थी। प्रत्येक जन की सम्पूर्ण विशः (जनता) इस राजा का वरण करती थी। यह समझा जाता था कि जनता राजा के साथ एक संविदा (इकरार) करती है, जिसके अनुसार राजा यह जिम्मा लेता है कि वह अपनी प्रजा की सब बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करेगा और उसका न्यायपूर्वक पालन करेगा। इसी कार्य के लिए राजा को प्रजा 'बलि' (कर) प्रदान करती थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा धर्मपूर्वक प्रजापालन की प्रतिज्ञा करता था। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोड़े, तो प्रजा को अधिकार था कि वह उसे पदच्युत कर सके। राजा किसी दैवी अधिकार से शासन करता है, यह विचार वैदिक संहिताओं में कहीं नहीं पाया जाता। इसके विपरीत, वहाँ यह विचार स्पष्ट रूप से विद्यमान है कि 'विशः' राजा को शासन कार्य के लिए वरण करती है। वरण द्वारा जब कोई व्यक्ति राजा के पद पर नियत होता था, तो उससे यह आशा की जाती थी कि वह जीवन-पर्यन्त अपने पद पर ध्रुव (स्थिर) रहेगा। अथर्ववेद में लिखा है कि यह द्यौः और पृथ्वी सब ध्रुव हैं। यह सारा विश्व ध्रुव है, ये पर्वत ध्रुव हैं। इसी प्रकार विशः का यह राजा भी ध्रुव रहे। सब 'विशः' इसको चाहें, और यह राष्ट्र में अपने पद से कभी च्युत न हो।

राजा को वरण करने का कार्य 'विशः' के जिन प्रमुख व्यक्तियों के सुपुर्द था, उन्हें 'राजकृतः' (राजा को नियत करने वाले) कहते थे। 'राजकृतः' स्वयं भी राजा कहलाते थे, राजा के पद पर वरण किया गया व्यक्ति इन 'राजाश्रयः राजकृतः' का मुखियामात्र माना जाता था। ये 'राजकृतः' कौन होते थे, वेदों से यह स्पष्ट नहीं होता। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'रत्नियों' का उल्लेख आया है, जो राज्याभिषेक के समय पर राजा से हवि ग्रहण करते थे। इन रत्नियों के सम्बन्ध में हम उत्तर-वैदिक काल (प्राग्-बौद्धकाल) की सभ्यता का विवरण करते हुए अधिक विस्तार के साथ लिखेंगे। सम्भवतः, ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिन्हें 'रत्नी' कहा गया है, वैदिक काल में वे ही 'राजकृतः राजानः' कहे जाते थे, क्योंकि वैदिक युग के ये राजकृतः राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को एक 'पर्णमणि' प्रदान करते थे, जो राजत्व का चिह्न समझी जाती थी। सम्भवतः, यह पर्णमणि (पर्णों द्वारा निर्मित रत्न) पलाश वृक्ष की शाखा होती थी। पलाश को पवित्र मानने की कल्पना वैदिक काल में भी विद्यमान थी। 'राजकृतः राजनः' के अतिरिक्त सूत, ग्रामणी, रथकार, कर्मार आदि जनता के विविध व्यक्ति भी राज्याभिषेक में हाथ बँटाते थे और 'विशः' की ओर से राजा का वरण किया करते थे।

समिति और सभा–जनता द्वारा वरण किये जा चुकने पर राजा अकेला शासन-कार्य का संचालन करता हो, यह बात नहीं थी। वैदिक युग में समिति और सभा नामक दो संस्थाएँ भी थीं, जो न केवल राजकार्य में राजा की सहायता करती थीं, अपितु उस पर नियन्त्रण भी रखती थीं। अथर्ववेद के जिस सूक्त में राजा के ध्रुव रहने की प्रार्थना की गयी है, उसी में यह भी कहा गया है कि राजा की समिति भी ध्रुव रहे। समिति के सदस्य कौन होते थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः, वह सम्पूर्ण विशः की संस्था थी और उसमें 'जन' के सब लोक एकत्र होते

नोट

थे। यह भी सम्भव है कि वैदिक युग के जनपदों में जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ सब लोग इस समिति में एकत्र न होते हों, कतिपय प्रमुख व्यक्ति ही इसमें सम्मिलित होने का अधिकार रखते हों। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की लोकसभाओं (यथा एथेन्स की एक्लीजिया) में सब नागरिक सदस्य रूप से सम्मिलित होते थे। जब नगर-राज्यों की जनसंख्या लाखों में हो गयी थी, तब भी प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार था कि वह अपने राज्य की लोकसभा में उपस्थित होकर विचार में हाथ बँटा सके और अपनी सम्मति दे सके। सम्भवत:, वैदिक युग के आर्य जनपदों (जिनका स्वरूप नगर-राज्य के समान ही था) की समिति का भी यही रूप था। उसमें जनपद की सम्पूर्ण 'विश:' एकत्र हो सकती थी। वहाँ एकत्र हुए व्यक्ति सब विचारणीय विषयों पर वाद-विवाद करते थे। विवाद व भाषण में प्रवीणता प्राप्त करना एक अत्यन्त महत्त्व की बात समझी जाती थी। अथर्ववेद के एक सूक्त में एक व्यक्ति यह प्रार्थना करता है कि वह बहुत कुशल वक्ता बने, अपनी युक्तियों, ज्ञान और भाषण कला द्वारा सबको वशीभूत कर ले। वाद-विवाद में अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने और भाषण द्वारा सबको अपने पक्ष में कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के लिए अनेक प्रार्थनाएँ वेदों में विद्यमान हैं। नि:सन्देह, समिति में विविध विषयों पर खुला विवाद होता था और विविध व्यक्ति वहाँ अपनी वक्तृत्वशक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया करते थे। समिति में केवल राजनीतिक विषयों पर ही विवाद नहीं होता था, अपितु साथ ही आध्यात्मिक व गूढ़ विषयों पर भी उनमें विचार हुआ करता था। छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषद में 'समिति' में ब्रह्म-विद्या-विषयक विचारों का उल्लेख आया है। श्वेतकेतु पांचाल जनपद की इसी प्रकार की समिति में उपस्थित हुआ था और वहाँ उसने अध्यात्म-विषयक विचार में हाथ बँटाया था। समिति का अपना अध्यक्ष होता था, जिसे 'ईशान्' कहते थे। ईशान् के सभापतित्व में ही समिति का कार्य चलता था। पर राजा भी विविध अवसरों पर समिति में उपस्थित होता था। जब श्वेतकेतु पांचाल-जनपद की समिति में गया, तो वहाँ का राजा प्रवाहण जाबालि उसमें उपस्थित था।

क्या आप जानते हैं वेदों में समिति और सभा को प्रजापति की 'दुहिता' कहा गया है और यह प्रार्थना की गयी है कि दोनों राजा की रक्षा में सदा तत्पर रहें।

समिति के समान सभा भी वैदिक युग के जनपदों की एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी। सभा और समिति के संगठन में क्या भेद था, यह वैदिक संहिताओं द्वारा भली-भाँति स्पष्ट नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि सभा समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी, उसके सदस्य केवल बड़े लोग (पितर: व वृद्ध) ही होते थे और उसका प्रधान कार्य न्याय करना था। अथर्ववेद में सभा को 'नरिष्ट' कहा गया है। सायणाचार्य ने नरिष्ट शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "बहुत-से लोग एक साथ मिलकर जो एक बात कहें उसका दूसरों को उल्लंघन नहीं करना चाहिये। क्योंकि बहुतों की बात का उल्लंघन नहीं किया जा सकता, अत: सभा को 'नरिष्ट' कहते हैं।" नरिष्ट का शब्दार्थ है—अनुल्लंघनीय। बहुमत से जो कुछ सभाओं में निर्णीत होता था, उसे अनुल्लंघनीय माना जाता था और इसी कारण सभा को नरिष्ट कहते थे। प्रतीत होता है कि वैदिक युग की सभा में भी विविध विषयों पर विवाद होता था और विविध वक्ता सभासदों को अपने पक्ष में करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहते थे। इसीलिए अथर्ववेद में प्रार्थना की गयी है—"हे सभा! हम तेरे से भली-भाँति परिचित हैं, तेरा नाम नरिष्ट (अनुल्लंघनीय) भी है। तेरे जो भी सभासद् हैं, वे मेरे साथ 'सवाचस्' (मेरे कथन के साथ सहमति रखने वाले) हों। यहाँ (सभा में) जो लोग बैठे हैं, मैं उन सबके नेत्र और ज्ञान को ग्रहण करता हूँ (सबको अपने पीछे चलाता हूँ)। हे इन्द्र! मुझे इस प्रयत्न में सफल बनाओ। तुम लोगों (सभासदों) का जो मन किसी और पक्ष में गया हुआ है, या किसी पक्ष के साथ इधर-उधर बंध गया है, उसे मैं लौटाता हूँ, तुम सबका मन मेरे पक्ष में हो।" सभा में उपस्थित सभासदों को अपने पक्ष में करने, उन सबको वशीभूत करने और अपने पीछे चलने की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है और अत्यन्त उत्तम रीति से उस युग की सभा पर प्रकाश डालती है। सभा के सदस्यों को 'सभासद्' कहा जाता था। वेदों में इन्हें 'पितर' भी कहा गया है। बाद के साहित्य में इनके लिए 'वृद्ध' शब्द का उपयोग किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि सभा में सम्पूर्ण 'विश:' एकत्र नहीं होती थी, अपितु उसके कतिपय प्रतिष्ठित व वृद्ध (बड़े) लोग ही उसमें सम्मिलित होते थे।

नोट

सभा का एक मुख्य कार्य न्याय करना था। न्याय के लिए अभियुक्त रूप में जिस व्यक्ति को सभा के सम्मुख पेश किया जाता था, उसे 'सभाचर' कहते थे। यजुर्वेद में सभाचर का उल्लेख पुरुषमेध के प्रकरण में किया गया है। आलंकारिक रूप से विचार करने पर अभियुक्त व्यक्ति को 'मेध्य' (बलि योग्य) समझ सकना कठिन नहीं है। यजुर्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में सभा में किये गये पाप के प्रायश्चित का उल्लेख किया गया है। न्याय कार्य को करते हुए सभासद् लोगों से अनजाने में या जान-बूझकर जो भूल हो जाती थी, उसे यजुर्वेद में पाप कहा गया है और उससे छूटने के लिए प्रार्थना की गयी है। सूत्रग्रन्थों और धर्मशास्त्रों के समय में भी 'सभा' न्याय का कार्य करती थी। "या तो सभा में जायें नहीं, जायें तो वहाँ सोच-समझकर अपनी बात कहनी चाहिए, सभा में जाकर जो अपनी सम्मति नहीं कहता या गलत बात कहता है, वह पापी होता है," यह धर्मशास्त्रों का वचन जिस सभा के विषय में है, वह सम्भवत: न्याय का भी कार्य करती थी।

(3) सामाजिक जीवन

पंच जन–वैदिक युग के भारतीय आर्य अनेक जनों (कबीलों या ट्राइब) में विभक्त थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजना:' और 'पंचकृष्ट्य:' का उल्लेख आता है, जो नि:सन्देह उस युग के आर्यों की पाँच प्रमुख जातियों (कबीलों) को सूचित करते हैं। ये पंचजन अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वशु और पुरु थे। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, श्रृंजय आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वेदों में आया है, जिनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ज्यों-ज्यों आर्य लोग भारत में फैलते गये, उनमें विविध जनों का विकास होता गया। आर्य जाति के प्रत्येक जन में सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान होती थी और सबको एक ही 'विश:' (जनता) का अंग माना जाता था।

आर्य और दास–आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व यहाँ जिन लोगों का निवास था, वेदों में उन्हें 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। इनकी अनेक समृद्ध बस्तियाँ भारत में विद्यमान थीं। आर्यों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन किया और ये आर्यभिन्न लोग आर्य-जनपदों में आर्य-राजाओं की अधीनता में रहने लगे। यह स्वाभाविक था कि इन दासों व दस्युओं की सामाजिक स्थिति आर्यों की अपेक्षा हीन रहे। आर्य लोग इनसे घृणा करते थे, इन्हें अपने से हीन समझते थे और इन्हें अपने समान स्थिति देने का उद्यत नहीं थे। इस दशा का यह परिणाम हुआ कि आर्य-जनपदों में निवास करने वाली जनता दो भागों में विभक्त हो गई–(1) आर्य, और (2) दास। दास-जाति की हीन स्थिति के कारण इस शब्द का अभिप्राय ही संस्कृत भाषा में गुलाम हो गया, यह हम पहले लिख चुके हैं। दास जाति के ये लोग शिल्प में अत्यन्त चतुर थे। ये अच्छे व विशाल घरों का निर्माण करते थे, शहरों में रहते थे और अनेक प्रकार के व्यवसायों में दक्ष थे। आर्यों द्वारा विजित हो जाने के बाद भी शिल्प और व्यवसाय में इनकी निपुणता नष्ट नहीं हो गई। ये अपने इन कार्यों में तत्पर रहे। विजेता आर्य योद्धा थे। वे याज्ञिक अनुष्ठानों को गौरव की बात समझते थे और भूमि के स्वामी बनकर खेती, पशुपालन आदि द्वारा जीवन का निर्वाह करते थे। विविध प्रकार के शिल्प दास जाति के लोगों के हाथ में ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में प्राचीन काल से ही शिल्पियों को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। आर्यों और दासों में परस्पर सामाजिक सम्बन्ध का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं थी। प्राच्य भारत में जहाँ आर्यों की अपेक्षा आर्य–भिन्न जातियों के लोग अधिक संख्या में थे, उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होता रहता था। उन प्रदेशों में ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्णसंकर थे। ऐसे वर्णसंकर लोगों को ही सम्भवत: व्रात्य कहा जाता था। अथर्ववेद में व्रात्य जातियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। बाद में व्रात्य-स्तोम-यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यों को आर्य जाति में सम्मिलित करने की भी व्यवस्था की गई। पर इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग में आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था और उस काल के आर्य-जनपदों में ये दो वर्ण ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।

वर्ण-व्यवस्था–आर्य-विश: के सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी। पर धीरे-धीरे उनमें भी भेद प्रादुर्भूत होने लगा। दास-जातियों के साथ निरन्तर युद्ध में व्याप्त रहने के कारण सर्वसाधारण आर्य जनता में कतिपय ऐसे वीर सैनिकों (रथी, महारथी आदि) की सत्ता आवश्यक हो गई, जो युद्ध-कला में विशेष निपुणता रखते हों। इनका कार्य ही यह समझा जाता था कि ये शत्रुओं से जनता की रक्षा करें। क्षत (हानि) से त्राण करने वाले होने के कारण इन्हें 'क्षत्रिय' कहा जाता था। यद्यपि ये क्षत्रिय आर्य विश: के ही अंग थे, पर तो भी इन्हें विश: के

नोट

सर्वसाधारण लोगों (वैश्यों) से अधिक सम्मानित व ऊँचा समझा जाता था। क्षत्रिय सैनिकों के विशिष्ट कुल 'राजन्य' कहलाते थे। सम्भवत:, ये राजन्य ही वे 'राजकृत: राजान:' थे, जो अपने में से एक को राजा के पद के लिए वरण करते थे। जिस प्रकार क्षत्रियों की सर्वसाधारण आर्य विश: में एक विशिष्ट स्थिति थी, वैसे ही उन चतुर व्यक्तियों की भी थी, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष रूप से दक्ष थे। जब आर्य लोग भारत में स्थिर रूप से बस गये, तो उनके विधि-विधानों व अनुष्ठानों में भी बहुत वृद्धि हुई। प्राचीन समय का सरल धर्म निरन्तर अधिक जटिल होता गया। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि कुछ लोग जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष निपुणता प्राप्त करें और याज्ञिकों की इस श्रेणी को सर्वसाधारण आर्य-विश: द्वारा क्षत्रियों के समान ही विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाए। इस प्रकार वैदिक युग में उस चातुर्वर्ण्य का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो आगे चलकर भारत में बहुत अधिक विकसित हुआ और बाद के हिन्दू व भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गया। पर वैदिक युग में यह भावना होने पर भी कि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण विश: (वैश्य जनता) से उत्कृष्ट व भिन्न हैं, जातिभेद या श्रेणीभेद का अभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय है, इसका आधार योग्यता या अपने कार्य में निपुणता ही थीं। कोई भी व्यक्ति अपनी निपुणता, तप व विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार आर्य जन का कोई भी मनुष्य अपनी वीरता के कारण क्षत्रिय व राजन्य बन सकता था। वैदिक ऋषियों ने समाज की कल्पना एक मानव-शरीर के समान की थी, जिसके शीर्ष-स्थानीय ब्राह्मण थे, बाहुरूप क्षत्रिय थे, पेट व जंघाओं के सदृश स्थिति वैश्यों की थी और शूद्र पैरों के समान थे। आर्य-भिन्न दास लोग ही शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित वाक्यों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. वैदिक काल में पशुओं में गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी कुत्ते और गधे विशेष रूप से पाले जाते थे–
9. ऋग्वेद का सातवां मण्डल 'वरुण' की स्तुति में लिखा गया है–
10. वैदिक युग के आर्यों को धातुओं का ज्ञान नहीं था–
11. ऋग्वेद में बुनकर को 'वाय' करघे को 'वेमन' चरखी को तसर कहा जाता है–

पारिवारिक जीवन–वैदिक युग के सामाजिक जीवन का आधार परिवार था। महाभारत में संकलित प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार एक ऐसा समय था, जब विवाह-संस्था विकसित नहीं हुई थी, जब स्त्रियाँ 'अनावृत्त', 'स्वतन्त्र' और 'कामाचार-विहारिणी' होती थीं। पर यदि सचमुच कोई ऐसा समय आर्यों में रहा था, तो वह वैदिक युग से अवश्य ही पहले का होगा, क्योंकि वेदों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विवाह-संस्था उस समय भली-भाँति विकसित हो चुकी थी और वैदिक युग के आर्य वैवाहिक बंधन में बंधकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते थे। साधारणतया, एकपत्नीव्रत का अनुसरण किया जाता था, यद्यपि बहुपत्नीत्व की प्रथा भी कहीं-कहीं प्रचलित थी। संभवत:, ये प्रथाएँ आर्य–भिन्न जातियों में थीं, आर्यों में नहीं। बहिन और भाई में विवाह निषिद्ध था। विवाह बाल्यावस्था में नहीं होते थे। लड़कियाँ भी लड़कों के समान ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती थीं और युवावस्था में विवाह करती थीं। स्त्रियों को अशिक्षित नहीं रखा जाता था। 'स्त्रियों और शूद्रों को शिक्षा नहीं देनी चाहिये', यह विचार वैदिक युग में विद्यमान नहीं था। अनेक स्त्रियाँ इतनी विदुषी थीं, कि उनके बनाये हुए मंत्रों को वैदिक संहिताओं में भी संकलित किया गया है। लोपामुद्रा, अपालात्रेयी आदि अनेक स्त्रियाँ वैदिक सूक्तों की ऋषि हैं। गोधा, घोषा, विश्ववारा, अदिति, सरमा आदि कितनी ही ब्रह्मवादिनी महिलाओं (ऋषियों) का उल्लेख प्राचीन साहित्य में आया है। गार्गी, मैत्रेयी आदि तत्वचिन्तक स्त्रियों का उपनिषदों में भी जिक्र किया गया है। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर जो स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं, वे परदे में नहीं रह सकती थीं। उन्हें पारिवारिक जीवन में पति की सहधर्मिणी माना जाता था। विवाह-सम्बन्ध स्वयं वरण करने से ही निर्धारित होता था। स्त्रियाँ स्वयं अपने पति का वरण करती थीं। राजकुमारियों के अनेक स्वयंवर-विवाहों का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। न केवल राजकुमारियाँ ही, अपितु सर्वसाधारण आर्य-कन्याएँ भी अपने पति का स्वयमेव वरण किया करती थीं और वैदिक युग के समाज में उन्हें इसके लिये पूर्ण अवसर मिलता था।

नोट

(4) धर्म

वैदिक वाङ्मय प्रधानतया धर्मपरक है, अत: इस युग के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में हमें बहुत विशद रूप से परिचय मिलता है। वैदिक युग के आर्य विविध देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि उनके अनेक देवता थे, जिन्हें तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिए वे अनेक विधि-विधानों का अनुसरण करते थे। संसार का स्रष्टा, पालक व संहर्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यों में भली-भाँति विद्यमान था। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम हैं और उस एक सत्ता को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र आदि विविध नामों से पुकारते हैं। सम्भवत:, एक ईश्वर की यह कल्पना बाद में विकसित हुई, प्रारम्भ में आर्य लोग प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मानकर उन्हीं की उपासना किया करते थे। प्रकृति में हम अनेक शक्तियों को देखते हैं। वर्षा, धूप, सरदी, गरमी सब एक नियम से होती हैं। इन प्राकृतिक शक्तियों के कोई अधिष्ठातृ-देवता भी होने चाहिए और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकता है, यह विचार प्राचीन आर्यों में विद्यमान था। प्राकृतिक दशा को सम्मुख रखकर वैदिक देवताओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है–(1) द्युलोक के देवता यथा सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु, वरुण और मित्र। (2) अन्तरिक्ष स्थानीय देवता, यथा इन्द्र, वायु, मरुत् और पर्जन्य। (3) पृथ्वी स्थानीय देवता, यथा अग्नि, सोम और पृथिवी। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकृति की जो शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबको देवता रूप में मानकर वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति में विविध सूक्तों व मन्त्रों का निर्माण किया। अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप में वेदों में अनेक देवियों का भी उल्लेख है और उनके स्तवन में भी अनेक मन्त्रों का निर्माण किया गया है। यद्यपि बहुसंख्यक वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों व सत्ताओं के मूर्त्तरूप हैं, पर कतिपय देवता ऐसे भी हैं, जिन्हें भाव-रूप समझा जा सकता है। मनुष्यों में श्रद्धा, मन्यु (क्रोध) आदि की जो विविध भावनाएँ हैं, उन्हें भी वेदों में दैवी रूप प्रदान किया गया है।

इन विविध देवताओं की पूजा के लिए वैदिक आर्य अनेक विविध यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर दूध, घी, अन्न, सोम आदि विविध सामग्री की आहुतियाँ दी जाती थीं। यह समझा जाता था कि अग्नि में दी हुई आहुति देवताओं तक पहुँच जाती हैं और अग्नि इस आहुति के लिए वाहन का कार्य करती है। वैदिक युग में यज्ञों में माँस की आहुति दी जाती थी या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। महाभारत में संकलित एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पहले यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी। बाद में राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन प्रबल हुआ। इस बात में तो सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं है कि बौद्ध-युग से पूर्व भारत में एक ऐसा समय अवश्य था, जब यज्ञों में पशुहिंसा का रिवाज था। पर वेदों के समय में भी यह प्रथा विद्यमान थी, यह बात संदिग्ध है। वेदों में स्थान-स्थान पर धृत, अन्न व सोम द्वारा यज्ञों में आहुति देने का उल्लेख है, पर अश्व, अजा आदि पशुओं की बलि का स्पष्ट वर्णन प्राय: वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता।

आर्यों ने दास, दस्यु आदि जिन आर्य–भिन्न जातियों को विजय कर अपनी सत्ता की स्थापना की, उनके धर्म का भी उन पर प्रभाव पड़ा। ऋग्वेद के एक मंत्र में यह प्रार्थना की गयी है कि 'शिश्नदेव' हमारे यज्ञ को न बिगाड़ें। हम पहले लिख चुके हैं कि सिन्धु-घाटी की प्राचीन सभ्यता के निवासियों में शिश्न (लिंग) की पूजा प्रचलित थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में ऐसे अनेक शिश्न (जो पत्थर के बने हैं) उपलब्ध भी हुए हैं। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर शिश्नदेवों के पुर के विजय का भी उल्लेख है। वैदिक युग के आर्य लिंग के रूप में प्रकृति की प्रजनन-शक्ति के उपासकों से घृणा करते थे। पर बाद में आर्य-जाति ने पूजा की इस विधि को भी अपना लिया और शिवलिंग के रूप में शिश्नदेव की पूजा आर्यों में भी प्रचलित हो गयी। इसी प्रकार अथर्ववेद में अनेक जादू-टोने पाये जाते हैं, जो आर्य-भिन्न जातियों से ग्रहण किये गए थे। साँप का विष उतारने के मन्त्रों में तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगुला आदि अनेक शब्द आये हैं। अनेक विद्वानों के मत में ये शब्द वैदिक भाषा के न होकर कैल्डियन भाषा के है। कैल्डियन लोग ईराक के क्षेत्र में निवास करते थे और भारतीय आर्यों से भिन्न थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगों का पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था, यह हम पहले ही लिख चुके हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि तैमात आदि ये शब्द पश्चिमी एशिया से सिन्धु सभ्यता में आये हों और बाद में आर्यों ने इन्हें सिन्धु-सभ्यता के दास व दस्यु लोगों से ग्रहण किया हो।

नोट

यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है कि हम वैदिक देवताओं के स्वरूप का विशद रूप से वर्णन कर सकें। पर इतना लिख देना आवश्यक है कि देवताओं के रूप में प्राचीन आर्य प्रकृति की विविध शक्तियों की पूजा करते थे, यह विचार उनमें भली-भाँति विद्यमान था कि ये सब देवता एक ही सत्ता की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। वैदिक आर्य केवल देवताओं की पूजा और याज्ञिक अनुष्ठान में ही तत्पर नहीं थे, अपितु वे उस तत्व-चिन्तन में भी लगे थे, जिसने आगे चलकर उपनिषदों और दर्शन-शास्त्रों को जन्म दिया। यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, सृष्टि से पहले क्या दशा थी, जब सृष्टि नहीं रहेगी तो क्या अवस्था होगी—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वैदिक युग में विचार किया जाता था। वैदिक संहिताओं में ऐसे अनेक सूक्त आते हैं, जिनमें इस प्रकार के प्रश्नों पर बहुत सुन्दर व गम्भीर विचार किया गया है। यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, जो इसका धारण करता है, जो इसका अन्त कर प्रलय करता है, जो इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी व पालनकर्ता है, हे प्रिय मनुष्य! तू उसको जान, अन्य किसी को जानने का प्रयत्न न कर। इस विश्व में पहले केवल तम (अन्धकार) था, अत्यन्त गूढ़ तम था। तब सृष्टि विकसित नहीं हुई थी, सर्वत्र प्रकृति अपने आदि रूप में विद्यमान थी। उस सर्वोच्च सत्ता ने अपनी तप:शक्ति द्वारा तब इस सृष्टि को उत्पन्न किया। भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ भी इस संसार में है, वह सब उसी 'पुरुष' में से उत्पन्न होता है—इस प्रकार के कितने ही विचार वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं और उस तत्व-चिन्तन को सूचित करते हैं, जिसमें वैदिक युग के अनेक ऋषि व विचारक संलग्न थे।

क्योंकि वैदिक युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप थे, अत: उनकी मूर्ति बनाने और इन मूर्तियों की पूजा करने की पद्धति सम्भवत: वैदिक युग में विद्यमान नहीं थी। वैदिक आर्य देवताओं की पूजा के लिए ऐसे मन्दिरों का निर्माण नहीं करते थे, जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हों। वैदिक युग में देवताओं की पूजा का ढंग प्रधानतया याज्ञिक अनुष्ठान ही था।

(5) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार कृषि और पशुपालन थे। पशुओं में गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ते और गधे विशेष रूप से पाले जाते थे। आर्यों के आर्थिक जीवन में गाय का इतना अधिक महत्त्व था कि उसे अघ्न्या (न मारने योग्य) समझा जाता था। आर्य लोग इन पशुओं को बड़ी संख्या में पालते थे और इनसे उनकी आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिलती थी। इस युग में आर्य लोग कतिपय निश्चित प्रदेशों पर बस गये थे और कृषि के क्षेत्र में उन्होंने अच्छी उन्नति कर ली थी। जमीन को जोतने के लिए बैलों का प्रयोग किया जाता था। खेतों की उपज बढ़ाने के लिए खाद भी प्रयुक्त होता था। सिंचाई के लिए झील, जलाशय, नदी और कुएँ का जल काम में लाया जाता था। खेतों में पानी देने के लिए छोटी-छोटी नहरें व नालियां बनाई जाती थीं। भारत के ग्रामों में जिस ढंग से आजकल किसान लोग खेती करते हैं, जिस प्रकार वे अब लकड़ी और धातु के बने हलों को बैलों से चलाते हैं, जिस तरह वे खेती को सींचते, नलाते व काटते हैं, प्राय: उसी ढंग से वैदिक युग के आर्य भी करते थे। खेतों में उत्पन्न होने वाले अनाजों में जौ, गेहूँ, धान, माष व तिल प्रमुख थे। यद्यपि वैदिक आर्यों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि था, पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार के शिल्पों और व्यवसायों का भी विकास हो रहा था। तक्ष्मन् (बढ़ई), हिरण्यकार (सुनार), कर्मार (धातु-शिल्पी), चर्मकार (मोची), वाय (तन्तुवाय या जुलाहा) आदि अनेक व्यवसायियों का उल्लेख वेदों में आया है। उस युग में आर्य लोग रथों का बहुत उपयोग करते थे। ये रथ न केवल सवारी और माल ढोने के काम में आते थे, अपितु युद्ध के लिए भी इनका बहुत उपयोग था। आर्य-भिन्न दास लोग तो विविध शिल्पों का अनुसरण करते ही थे, पर आर्य लोगों ने भी कारु (शिल्पी), भिषक् (चिकित्सक) आदि अनेक प्रकार के व्यवसायों का संचालन प्रारम्भ कर दिया था। दास-शिल्पियों को अपनी नौकरी में या गुलाम रूप में रखकर आर्य गृहपति अनेक प्रकार के व्यवसायों का भी संचालन करने लग गये थे।

वैदिक युग के आर्य अनेक धातुओं का प्रयोग जानते थे। सभ्यता के क्षेत्र में वे प्रस्तर युग से बहुत आगे बढ़ चुके थे। सुवर्ण और रजत का प्रयोग वे आभूषणों और पात्रों के लिए करते थे, पर 'अयस्' नामक एक धातु को वे अपने औजार बनाने के लिए काम में लाते थे। संस्कृत भाषा में 'अयस्' का अर्थ लोहा है, पर अनेक विद्वानों का यह विचार है कि वेदों में जिस अयस् का उल्लेख है, वह लोहा न होकर ताँबा है। अयस् का अभिप्राय चाहे लोहे से हो और

नोट

चाहे ताँबे से, इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग के आर्य इस उपयोगी धातु के प्रयोग को भली-भाँति जानते थे और कर्मार लोग अनेक प्रकार के उपकरणों के निर्माण के लिए इसका उपयोग करते थे।

आर्य लोग अपने निवास के लिए सुन्दर शालाओं निर्माण करते थे। वेद में एक शलासूक्त है, जिसमें शाला (मकान या घर) का बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है। सम्भवत:, इन शालाओं के निर्माण के लिये लकड़ी का प्रयोग प्रधान रूप से किया जाता था।

वस्त्र-निर्माण का शिल्प भी इस युग में अच्छा उन्नत था। ऊन और रेशम कपड़े बनाने के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे। यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रुई से भी आर्य लोग भली-भाँति परिचित थे। सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन का विवरण देते हुए हमने उन प्रमाणों का उल्लेख किया है, जिनसे उस सभ्यता के लोगों का रुई से परिचय सिद्ध होता है। आर्य लोगों के लिए यह बहुत सुगम था कि वे अपने से पूर्ववर्ती सिन्धु-सभ्यता के लोगों से रुई की खेती और उपयोग को भली-भाँति सीख सकें। सूत कातने और उससे अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने के व्यवसाय में आर्य लोग अच्छे कुशल थे। वे सिर पर उष्णीय (पगड़ी) धारण करते थे, नीचे एक अधोवस्त्र (धोती या साड़ी) पहनते थे और ऊपर के लिए उत्तरीय (चादर) का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण पहनने का शौक रखते थे। कुण्डल, केयूर, निष्क्रग्रीव आदि अनेक प्रकार के आभूषण इस युग के लोग प्रयोग में लाते थे।

व्यापार के लिए इस युग में वस्तुविनिमय (चार्टर) का प्रयोग होता था। पर बहुधा वस्तुओं के मूल्य का अंकन गौओं द्वारा करके और गौ को मूल्य की इकाई मान कर विनिमय का काम चलाया जाता था। धातु द्वारा निर्मित किसी सिक्के का चलन इस युग में था या नहीं, यह बात संदिग्ध है। निष्क नामक एक सुवर्ण मुद्रा का उल्लेख वैदिक साहित्य में आया है। पर सम्भवत:, उसका उपयोग मुद्रा की अपेक्षा आभूषण के रूप में अधिक था। वैदिक संहिताओं में नौकाओं का भी अनेक स्थलों पर वर्णन आया है। इनमें से कतिपय नौकाएँ बहुत विशाल भी हैं। सम्भवत:, वैदिक युग के लोग स्थल और जल मार्गों द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिए आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के काल में भी सामुद्रिक व्यापार का प्रारम्भ हो चुका था। इस युग में यह और भी अधिक विकसित हुआ।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर 'पणि' नामक व्यापारियों का उल्लेख आया है, जिन्हें असुर कहा गया है। सम्भवत:, ये पणि फिनीशियन लोग थे, जिन्हें लैटिन भाषा में 'पूनि' कहा जाता था। फिनीशियन लोगों की बस्ती पैलेस्टाइन के समुद्रतट पर थी, जहाँ से वे सुदूर देशों में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। भारत के आर्यों का इनसे परिचय था। सम्भवत:, वैदिक युग में भारत का पैलेस्टाइन के फिनीशियन (पूनि या पणि) लोगों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था।

4.3 सिन्धु सभ्यता और वैदिककालीन संस्कृति की असमानताएँ एवं समानताएँ (Differences and Similarities between Indus Civilization and Vedic Culture)

सामान्यत: वैदिक संस्कृति को सैन्धव सभ्यता के अनुवर्ती काल में विकसित माना जाता है। वैदिक संस्कृति से तात्पर्य उस संस्कृति से है, जिसका निरूपण वैदिक साहित्य में मिलता है। सैन्धव सभ्यता के उत्कर्ष काल के पश्चात वैदिक युग के आगमन के साथ एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। इसमें नगरीय सभ्यता समाप्त हो गयी और बड़े ग्राम्यीकरण का आविर्भाव हुआ। सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में वैदिक जन पशुचारण की अवस्था वाले समाज के सदस्य के रूप में दिखाई पड़ते हैं जो कृषि कर्म से भी परिचित थे। कालान्तर में स्थाई रूप से बस जाने के साथ वे प्रमुख रूप से कृषि कार्य में संलग्न हो गये और उत्तर वैदिक काल के अन्तिम चरण में हम पुन: नगरीकरण होते हुए देखते हैं।

इस प्रकार वैदिक संस्कृति एवं सैन्धव सभ्यता में कुछ आधारभूत असमानताओं को दृष्टिगत रखते हुए उन्हें भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की उपज माना जाता है। मार्शल और कुछ अन्य विद्वानों ने सैन्धव सभ्यता और वैदिक संस्कृति में परस्पर असमानताओं की चर्चा की है। वैदिक संस्कृति एक ग्रामीण संस्कृति थी, ऋग्वेद में नगरों का उल्लेख नहीं मिलता। उत्तर वैदिक काल में नगरों का विकास हुआ, तत्कालीन साहित्य में काम्पिल, कारपशव,

नोट

कारोटी, कौशाम्बी, नैमिष आदि का उल्लेख मिलता है। परन्तु उक्त नगरों का विकास बहुत बाद में हुआ। इन नगरों को किसी योजनाबद्ध तरीके से विकसित किया गया, सड़कों का पूर्व से प्रावधान किया जाता था एवं समुचित प्रणाली व्यवस्था थी, इसका उल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रतिध्वनि होता है कि वैदिक जनों को प्रारम्भ में नगर निर्माण योजना का अभिज्ञान नहीं हो पाया था। दूसरी ओर हम देखते हैं कि सैन्धव सभ्यता एक नगरीय सभ्यता थी। सैन्धव नगरों में प्रचलित प्रणाली व्यवस्था आधुनिक नगरों के समान थी। शहर वार्डों में विभक्त था। सड़कें बिछाने की कार्रवाही पूर्व से निष्पादित की जाती होगी।

मार्शल ने दूसरी असमानता की चर्चा करते हुए लिखा है कि आर्य धातुओं में सोने तथा चांदी से परिचित थे। ऋग्वेद में स्वर्ण आभूषणों का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में 'अयस्' नामक धातु का विवरण आया है। विद्वानों की मान्यता है कि अयस् का अर्थ ताँबा है जिसे ठोक-पीटकर बढ़ाते हुए बर्तन बनाये जाते थे। अथर्ववेद में लोहे को "श्याम अयस्" कहा गया है जबकि ताँबे को लाल (लोहित) अयस् की संज्ञा दी गई है। सीसा (लेड) को एक स्थान पर लोहा तथा सोना से भिन्न बताया गया है। काणे ने लिखा है कि वैदिक साहित्य में 'अयस्ताप' (अयस् को गर्म करने वाला) शब्द मिलता है। जबकि सैन्धव जन ताम्र एवं कांस्य के विभिन्न आयुधों तथा उपकरणों का निर्माण करना जानते थे, किन्तु लोहे से परिचित नहीं थे।

आर्यों के जीवन में अश्व का बड़ा महत्त्व था। घोड़ा शक्ति एवं गति का प्रतीक होने के साथ-साथ अग्नि एवं सूर्य का प्रतीक था। आर्य जनों द्वारा लड़े जाने वाले युद्धों में प्रयुक्त रथ घोड़ों द्वारा खींचे जाते थे। सम्भवत: बोझा ढोने के लिए तथा हल खींचने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता था। किन्तु सैन्धव लोग अश्व से परिचित थे, इसके निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। मोहनजोदड़ो से प्राप्त हड्डी का साक्ष्य ऊपरी स्तर से प्राप्त होने के कारण बहुत प्रमाणिक नहीं माना गया है। सुरकोटड़ा में भी घोड़े की हड्डियाँ मिली हैं किन्तु एक मात्र साक्ष्य के आधार पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार लोथल से प्राप्त एक मृण्मूर्ति के विषय में यह नहीं स्वीकार किया गया है कि यह घोड़े का प्रतिरूप बनाई गई है। आलचिन दम्पत्ति की धारणा है कि प्राप्त अवशेषों के आधार पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि पूर्व हड़प्पा एवं हड़प्पा काल में घोड़े का उपयोग किया जाता था।

वेदों में व्याघ्र का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु सैन्धव मुद्राओं पर व्याघ्र का पर्याप्त मात्रा में अंकन देखा जाता है। मार्शल् एवं मैक्डॉनल आदि ने यह विचार व्यक्त किया है कि हाथी का उल्लेख ऋग्वेद में केवल दो स्थानों पर हुआ है एवं इसके लिए 'हस्ति मृग' शब्द का प्रयोग किया जाता था, जो अधिक परिचित पशु नहीं था। प्रो. अविनाश चन्द्र दास ने यह प्रतिपादित किया है कि हाथी के लिए 'इभ' तथा 'वारण' शब्द का प्रयोग किया गया। अत: मार्शल के इस विचार से सहमति प्रकट नहीं की जा सकती है कि ऋग्वैदिक आर्य हाथी से अधिक परिचित नहीं थे।

मोहनजोदड़ो के उत्खनन से एक मुद्रा (मार्शल, स. 420) प्राप्त हुई, जिसमें त्रिमुखी पुरुष आकृति अंकित है। पूर्व में जैसा उल्लेख किया गया है कि उक्त आकृति को शिव पशुपति का प्राग् रूप माना गया है। उक्त आकृति के दाँयीं ओर हाथी और बाघ तथा बाँयीं ओर गेंडा एवं महिष और आसन के नीचे दो हरिण दिखलाये गये हैं। इससे यह प्रतिभासित होता है कि सैन्धव उक्त सभी पशुओं से परिचित थे। आर्य गाय को विशेष आदर देते थे। ऋग्वेद के दशम् मण्डल का 19वाँ एवं 169वां सूक्त गायों की स्तुति में लिखे गये हैं। इनकी समृद्धि के लिए रुद्र, पर्जन्य, प्रजापति आदि देवताओं से प्रार्थना की गई। याज्ञिक अनुष्ठान के अवसर पर भी पुरोहित को दी जाने वाली दक्षिणा में मूलत: गाय ही दी जाती थी। दूसरी ओर सैन्धव स्थलों से प्राप्त मुद्राओं तथा अन्य कलाकृतियों से लगता है कि गाय की विशेष महत्ता नहीं थी अर्थात् गाय की अपेक्षा वृषभ अधिक महत्त्वपूर्ण था। सैन्धव स्थलों से प्राप्त मुद्राओं में बैल की विभिन्न आकृतियों का अंकन मिलता है। कूबड़वाला बैल, छोटे सींग वाला बैल आदि। यद्यपि हड़प्पा सभ्यता में बैल 'शिव-पशुपति' (प्राग् देव) से सम्बद्ध था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। विद्वानों की मान्यता है कि कुछ मुद्राओं पर अंकित छोटे सींग वाले बैल को क्रुद्ध मुद्रा में दिखाने का कारण यह हो सकता है कि सम्भवत: उसकी कल्पना एक संहारकारी देवता (शिव) के वाहन रूप में की गई हो।

आर्य सम्भवत: मूर्ति पूजक नहीं थे, जबकि प्राप्त अवशेषों के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि सैन्धव लोग मूर्ति पूजक थे। यह भी कहा गया है कि सैन्धव लोग लिंग पूजा भी करते थे, परन्तु आर्यों में इसका अभाव ही नहीं था, बल्कि इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था एवं शिश्न देव या लिंग पूजा की भर्त्सना की गई। प्रागार्यों को लिंग पूजक कहा गया।

नोट

सैन्धव स्थलों से प्रभूत संख्या में उपलब्ध नारी मूर्तियों से प्रतिभासित होता है कि सैन्धव देवताओं में मातृदेवी को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त उक्त नारी मूर्तियों को मातृदेवी की संज्ञा प्रदान की गई है एवं इस आधार पर कुछ विद्वानों ने सैन्धव समाज को मातृसत्तात्मक होने की सम्भावना व्यक्त की है। इसके विपरीत हम देखते हैं कि आर्य जनों के लिए पुरुष देवता अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं। इन्द्र की स्तुति में लगभग 250 ऋचायें लिखी गई हैं, अर्थात् वेद की सम्पूर्ण ऋचाओं का चौथा भाग एकमात्र इन्द्र की स्तुति से भरा है। ऋग्वेद का सातवां मण्डल 'वरुण' की स्तुति में लिखा गया है। अन्य वैदिक देवों में सूर्य, विष्णु, अग्नि, सोम आदि प्रमुख हैं। ऋग्वेद में उषा, अदिति, पृथ्वी, सरस्वती आदि देवियों की स्तुति भी मिलती है परन्तु इन्हें अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया गया।

टास्क सिन्धु सभ्यता और वैदिककालीन संस्कृति की समानता और असमानता पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

मार्शल ने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में अग्नि कुण्डों के अवशेषों का न मिलना इस तथ्य का प्रमाण माना है कि सैन्धव सभ्यता में यज्ञादि का प्रचलन नहीं रहा होगा। यद्यपि परवर्ती उत्खननों में अग्नि वेदियों के अवशेष प्राप्त हुई हैं। कालीबंगा में एक चबूतरे पर कुएं के पास सात आयताकार अग्निवेदियां एक कतार में मिली हैं, इन्हें धार्मिक अनुष्ठान का प्रतीक माना जाता है। एच. डी. सांकालिया की मान्यता है कि सम्भवत: हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो में भी ऐसे उदाहरण रहे होंगे, किन्तु प्रारम्भ में तीव्र गति से किये गये उत्खननों में उसकी पहचान नहीं हो पाई। तथापि सैन्धव लोग आर्यों की भांति यज्ञ विधान से परिचित थे, अभिलिखित साक्ष्य के अभाव में कुछ कहना कठिन है। किन्तु वैदिक काल में आर्य देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों का सम्पादन करते थे। यज्ञ को देवताओं की प्रशस्ति कहा गया है। यज्ञ से देवता बली होते हैं एवं देवताओं को यज्ञ के योग्य माना गया।

सैन्धव स्थलों से प्राप्त मुद्राओं एवं उपकरणों से स्पष्ट होता है कि सैन्धव जन लेखन कला जानते थे। आर्यों के विषय में कुछ विद्वानों की मान्यता है कि उनकी भाषा संस्कृत थी, किन्तु लिपि का विकास बाद में हुआ अर्थात् आर्य लिखना नहीं जानते थे एवं अध्यापन मौखिक रूप से करते थे। दूसरी ओर अभी तक सैन्धव लिपि को पूरी तरह पढ़ा जाना संभव नहीं हो पाया है।

ऋग्वेद में दुर्गों का उल्लेख मिलता है। एक आर्येतर देश को सौ पुरों का भी विवरण आया है। वैदिक देव इन्द्र, को 'पुरन्दर' अर्थात् दुर्गों या पुरों का भेदन करने वाला कहा गया है। इतिहासकारों का विचार है कि ऋग्वेद में विवेचित दुर्ग सैन्धव नगरों एवं दुर्गों की ओर संकेत है क्योंकि वैदिक जन दुर्ग निर्माण कला से अनभिज्ञ ही नहीं थे, बल्कि आर्यों ने नगरों का निर्माण करना भी बहुत बाद में प्रारम्भ किया।

प्रगार्यों के विषय में भी ऋग्वेद से पर्याप्त जानकारी मिलती है–आर्येतर लोगों को अपरिचित भाषा में बोलने वाला (मृद्धवाक्), वैदिक कर्मों से रहित (अर्कमन्), वैदिक दैवों को न मानने वाले (अद्वेयु), यज्ञों से शून्य (अयज्वन), धार्मिक विश्वास से रहित (अब्रह्मन) एवं व्रतों से रहित (अव्रत) कहा है।

आर्य विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करते थे एवं अपनी रक्षा हेतु कवच (वर्म) बनाना भी जानते थे। परन्तु आर्यों के रक्षा साधन शिरस्त्राण और कवच आदि से सैन्धव लोग अनभिज्ञ थे। सैन्धव स्थलों के उत्खनन् से रक्षा सम्बन्धी कोई भी सामग्री प्राप्त नहीं हुई है।

उपरोक्त विवेचन से हम कह सकते हैं कि सैन्धव सभ्यता एवं वैदिक संस्कृति में ऐसे अनेक तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है जो दोनों प्रकालों एवं जीवन पद्धतियों को भिन्न सिद्ध करने में स्वत: सिद्ध प्रमाण है। ऋग्वेद कालीन संस्कृति सैन्धव सभ्यता के पश्चात विकसित हुई और उसका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ। यद्यपि इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता है कि संस्कृतियाँ पारस्परिक संघर्ष एवं समन्वय के परिणामस्वरूप समन्वित होकर नये रूप में सामने आती हैं।

नोट

समानताएँ—उपरोक्त असमानताओं के साथ-साथ कुछ समान दृष्टिकोण दोनों संस्कृतियों में पाये जाते हैं। उनका विवेचन करना युक्ति संगत होगा। 'पशुपति शिव' का अंकन सैन्धव मुद्राओं पर हुआ है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया गया है। ऋग्वेद में भी शिव अर्थात् रुद्र का वर्णन आया है। रुद्र की स्तुति में तीन मंत्र लिखे गये हैं। रुद्र को वन में निवास करने वाला जटाधारी तथा श्रेष्ठ भिषग कहा गया है। विद्वानों की मान्यता है कि सम्भवत: रुद्र की अवधारणा सैन्धव सभ्यता से ग्रहण की गई हो।

जैसा कि पूर्व में चर्चा की गई है कि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि स्थलों से स्त्री मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, पुराविदों ने इन्हें मातृदेवी की मूर्तियाँ माना है। सैन्धव स्थलों से प्राप्त मुद्राओं पर अंकित स्त्री आकृतियों के धार्मिक महत्त्व के विषय में कोई संशय नहीं किया जा सकता।

प्राचीन कालीन देवों में आकाश तथा पृथ्वी की पूजा सबसे पहले प्रारम्भ हुई होगी। ऋग्वेद में भी पृथ्वी एक दैव्य रूप में वर्णित है। ऋग्वेद काल में सर्वाधिक महत्त्व देवी अदिति को दिया गया। अदिति को सबकी उत्पत्ति का कारण एवं समस्त जगत की जननी कहा गया है। यह तथ्य सैन्धव स्थल से प्राप्त मुहर के उस चित्रांकन की ओर संकेत करता है, जिसमें एक सर्वथा नग्न स्त्री को अपने दोनों पैरों को फैलाये उल्टा लेटे हुए दर्शाया गया है तथा इसके गर्भ से एक वृक्ष निकलता हुआ दिखाया गया है। मुहर के दूसरे पक्ष पर हाथ में हंसिया जैसी वस्तु लिए हुए एक पुरुष तथा भूमि पर बैठी दोनों हाथों को ऊपर उठाकर प्रणाम करती हुई स्त्री आकृति अंकित है। इस अंकन को देखकर सहज ही यह विचार उठता है कि यह चित्रांकन मातृ शक्ति का पृथ्वी माता के रूप में उपासना को इंगित करता है। सम्भव है कि वैदिक ऋषियों ने अदिति रूप में सर्व जगत की जननी एवं पृथ्वी की देवी रूप में उपासना का विचार सैन्धव सभ्यता से ग्रहण किया हो।

इसी प्रकार कालीबंगा के गढ़ी, टीले, कोटडीजी के शहरी टीले पर चबूतरों पर अनियमित आकृति के गड्ढों को अग्नि पूजा का प्रतीक माना है। ऋग्वैदिक देवों में अग्नि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। अग्नि को पुरोहित की संज्ञा दी गई, उसे देवताओं की हवि पहुँचाने का माध्यम भी कहा गया है। इतना ही नहीं अग्नि को ज्ञान कर्म का प्रेरक एवं यशस्वी रूप में विवेचित किया गया है। इस तरह अग्नि का समान महत्त्व दोनों संस्कृतियों में किसी न किसी रूप में देखा जाता है।

मोहनजोदड़ो-हड़प्पा आदि से अनेक कुओं एवं स्नानागार के अवशेष प्राप्त हुए हैं। पुराविदों की मान्यता है कि सैन्धव जनों में जल पूजा तथा नदी पूजा का प्रचलन था। घड़ियाल का अंकन भी नदी देवता का निरूपण माना गया। धार्मिक अवसरों पर सामूहिक स्नान का प्रावधान था और विद्वानों ने प्रसिद्ध स्नानागार को इसी रूप में विवेचित किया है। वैदिक ऋषि भी 'पर्जन्य' एवं 'आप:' को जल देव के रूप में स्वीकार करते हैं। इन्द्र को भी वर्षा का देवता कहा है। सरस्वती नदी की देवी रूप में प्रार्थना की गई है।

सैन्धव स्थलों के उत्खनन से मिट्टी तथा प्रस्तर से बनी पशुओं की मूर्तियाँ मिली हैं। मुहरों पर भी विविध पशुओं का अंकन देखा जाता है—महिष, चीता, वृषभ, हाथी, गेंडा, हरिण आदि सम्भवत: ये किसी न किसी रूप में पूजा के विषय रहे हों। ऋग्वेद में भेड़, बकरी, कुत्ता, बैल, मृग, सिंह, हाथी का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है।

ऋग्वेद में स्वर्ण आभूषणों का वर्णन मिलता है। प्रमुख आभूषण हैं कान के कुण्डल (कर्ण शोभन), कंठे, नूपुर, हार, गले में मणियाँ आदि। इनमें से अधिकांश आभूषण सैन्धव जन भी उपयोग करते थे।

सैन्धव सभ्यता की अद्वितीय विशेषता रुई से वस्त्र बुनने की कला थी। ऋग्वेद कालीन आर्यों का भी यह एक सुपरिचित उद्योग था। ऋग्वेद में बुनकर को 'वाय', करघे को 'वेमन्', चरखी को 'तसर', ताने को ओतु एवं बाने को तन्तु कहा गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सैन्धव सभ्यता एवं वैदिक संस्कृति में अनेक तथ्य समान रूप से देखने को मिलता है। सैन्धव सभ्यता की अनेक परम्परायें, धार्मिक अवधारणायें, वैदिक युग में देखने को मिलती हैं। दूसरी ओर उनके नगर नियोजन एवं वास्तु शिल्प कला को ग्रहण करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। जहाँ वैचारिक आधार भूमि में निरन्तरता का आभास मिलता है, वहीं कलात्मक दृष्टि से इस प्रकार के प्रमाण का अभाव अभी भी रहस्यपूर्ण तथ्य बना हुआ है।

नोट

4.4 सारांश (Summary)

आर्यों की उत्पत्ति एवं मूल निवास स्थान के विषय में आज भी विद्वानों में मतभेद बना हुआ है। कुछ विद्वान उन्हें विदेशी मानते हुए भारत के मूल निवासी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस सम्बन्ध में विभिन्न तर्क दिए जाते हैं। इतिहास, भाषा-विज्ञान, पुरातत्व, शरीर-रचना-शास्त्र और शब्दार्थ विकास शास्त्र के आधार पर विद्वान आर्यों के मूल निवास के सम्बन्ध में मतों का प्रतिपादन करते हैं। (क) आर्यों का आदि देश यूरोप (ख) मध्य एशिया, (ग) आर्कटिक प्रदेश और (घ) भारत।

4.5 शब्दकोश (Keywords)

- दुर्ग (Fort) : किला
- धर्म (Religion) : देवताओं के अस्तित्व में विश्वास

4.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आर्य कौन थे? उनका मूल निवास स्थान कहाँ-कहाँ था?
2. वैदिक साहित्य का परिचय दीजिए?
3. वैदिक युग की विभिन्न शाखाओं के विषय और स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
4. सिन्धु सभ्यता और वैदिककालीन संस्कृति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. बालगंगाधर तिलक	2. ऋग्वेद	3. परुष्णी	4. (*a*)
5. (*a*)	6. (*a*)	7. (*c*)	8. सही
9. सही	10. गलत	11. सही।	

4.7 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*

नोट

इकाई–5: उत्तरवैदिक काल
(The Later-Vedic Age)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 उत्तरवैदिक काल की भौगोलिक सीमा : आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक एवं धार्मिक (Geographical Limitation of the Later-Vedic Age : Economical, Social, Political, Intellectual and Religious)

5.2 सारांश (Summary)

5.3 शब्दकोश (Keywords)

5.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.5 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- उत्तर-वैदिक काल की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक अवस्थाओं का वर्णन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

वैदिक काल का दूसरा एवं अंतिम चरण उत्तर वैदिककाल कहा जाता है। इस काल की अवधि ईसा पूर्व लगभग 1000 से आरम्भ होती है और 600 ईसा पूर्व के लगभग में समाप्त होती है।

उत्तरवैदिक काल के अध्ययन के लिए मुख्य ग्रन्थ **यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद** हैं। इनकी रचना ऋग्वेद के बाद हुई। यजुर्वेद में सूक्तों का संकलन है। सूक्तों के अलावा यजुर्वेद में धार्मिक अनुष्ठान भी वर्णित हैं। यजुर्वेद के अनुसार इन धार्मिक अनुष्ठानों को सस्वर पाठ के साथ करते जाने का नियम है। इन अनुष्ठानों से यजुर्वेद काल (1000–800 ईसा पूर्व) की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों की जानकारी हमें मिलती है। ऋग्वेद के मंत्रों को बाद में चलकर गाना के रूप में गाया जाने लगा। गाना के रूप में इसके मंत्रों को ठीक से गाने के लिए इन मंत्रों को सुरसंगति में बनाया गया। इस तरह जब ऋग्वेद के मंत्रों का रूप बदल गया तो गति वाले मंत्रों के संकलन का नाम **सामवेद** पड़ गया। **अथर्ववेद** में संकटों को दूर करने के लिए मंत्रों एवं तंत्रों की चर्चा की गई है। **अथर्ववेद** के आधार पर हमें वैदिक काल के बाद के धार्मिक विश्वासों एवं प्रथाओं की जानकारी होती है।

वैदिक संहिताओं की रचना के पश्चात कुछ विशेष प्रकार के ग्रन्थों की रचना फिर हुई, जिन्हें **ब्राह्मण** कहा जाता है। यह भी अनेक तरह के धार्मिक अनुष्ठानों का संकलन है। इन अनुष्ठानों की रचना धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर की गई है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थों के काल ईसा पूर्व 1000 से लेकर 600 ईसा पूर्व तक के बीच के हैं।

नोट

उपर्युक्त धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित बातों की पुष्टि हेतु कुछ विशेष प्रकार के ग्रन्थों की रचना फिर हुई जिन्हें **ब्राह्मण** कहा जाता है यह भी अनेक तरह के धार्मिक अनुष्ठानों का संकलन है। इन अनुष्ठानों की रचना धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर की गई है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थों के काल ईसा पूर्व 1000 से लेकर 6000 ईसा पूर्व तक के बीच के हैं।

उपर्युक्त स्त्रोतों के आधार पर हमें ऋग्वैदिक काल के बाद के पांच सौ वर्षों का इतिहास जानने में मदद मिलती है। सिन्धु एवं ऋग्वैदिक काल के बाद उत्तरवैदिक काल एक ऐसा चरण था जिसमें आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि दृष्टिकोण से समाज में परिवर्तन हो रहा था।

5.1 उत्तरवैदिक काल की भौगोलिक सीमा : आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक एवं धार्मिक (Geographical Limitation of the Later-Vedic Age : Economical, Social, Political Intellectual and Religious)

भौगोलिक सीमा–ऋग्वैदिक सभ्यता का केन्द्र पंजाब था लेकिन उत्तरवैदिक काल की सभ्यता का विस्तार पंजाब के अलावा हरियाणा, राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक हो गया था। इस काल में अनार्यों के साथ लड़ने की समस्या भी समाप्त हो चुकी थी। परिणामस्वरूप उत्तरवैदिक काल के लोगों को अपनी संस्कृति को उन्नतशील बनाने का संतोषप्रद वातावरण मिला। ऋग्वैदिक काल की तुलना में उत्तरवैदिक काल का विकास कई दृष्टिकोणों से अधिक हुआ। छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर बड़े राज्यों की स्थापना का भी वातावरण इस काल में तैयार हो गया।

कुरु राज्य–ग्रन्थों से हमें पता चलता है कि पुरु और भरत नाम के दो प्रमुख कबीले आपस में मिल गये और कुरुजन कहलाने लगे। इन्होंने आस-पास के बहुत से कबीलों को हराकर उनके राज्यों पर अधिकार कर लिया। इसके राज्य का विस्तार आधुनिक दिल्ली, थानेश्वर और गंगा-यमुना के पास के समतल क्षेत्र तक था। कुरु कबीला के नाम पर यह क्षेत्र कुरुक्षेत्र कहलाने लगा। शासन करने के दृष्टिकोण से कुरुजन ने अपनी राजधानी जिस स्थान पर बनायी वह हस्तिनापुर के नाम से जाना जाने लगा, यह आज मेरठ जिला में स्थित है। कुरु कबीले के इतिहास का महत्व इस समय और बढ़ जाता है जब पता चलता है कि भरतयुद्ध ही **महाभारत** नामक महाकाव्य की प्रमुख घटना हो गई। कहा जाता है कि महाभारत में वर्णित कौरव और पांडव के बीच की लड़ाई 950 ईसा पूर्व में हुई थी। पाण्डव एवं कौरव दोनों कुरुजन के ही सदस्य थे। कहते हैं, कुरुजन के बीच यह लड़ाई होने के कारण सम्पूर्ण कबीला लगभग नष्ट हो गया।

कुरुपंचालों की राजधानी हस्तिनापुर की खुदाई हुई है। यहाँ पर ईसा पूर्व 900 से लेकर 500 ईसा पूर्व तक के बीच के कुछ ऐसे सामान मिले हैं, जिससे यहां नागरीय जीवन के आरंभ होने की बात पायी गई है। लेकिन महाभारत के काल का हस्तिनापुर यह नहीं था क्योंकि खुदाई से ऐसी सामग्री नहीं मिली है जिसका सम्बन्ध महाभारत से जोड़ा जा सके। महाभारत को लिखने का काम गुप्तकाल में हुआ है और इसमें पक्के ईंट के मकान आदि की चर्चा है जबकि उत्तरवैदिक काल की पकायी हुई ईंट खुदाई से नहीं मिली हैं। विद्वानों का मत है कि हस्तिनापुर का विनाश बाढ़ से हुआ। अत: यहाँ के कुरु लोग उत्तर प्रदेश में स्थित आधुनिक इलाहाबाद के पास स्थित प्राचीन कौशाम्बी में जाकर बस गये थे।

विदेह–इस बात की हमें पूर्ण जानकारी है कि ईसा पूर्व सातवीं सदी के लगभग अर्थात उत्तरवैदिक काल के अंतिम चरण में आर्य कौशल और विदेह में बसना शुरू कर चुके थे। विदेह बिहार के उत्तरी भाग में स्थित था। इसकी राजधानी मिथिला नगर थी। विदेह शब्द का नामकरण किसी आर्य कबीले के सरदार के नाम पर पड़ा है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आग धरती को जलाती गई और पूरब की ओर बढ़ती गई। जब आग सदानीरा नदी के पास पहुँची तो वहाँ रुक गयी। सदानीरा आधुनिक गंडक नदी का नाम था। सदानीरा का शाब्दिक अर्थ होता है; वैसी नदी जिसमें हमेशा जल हो। जब सदानीरा के पश्चिम में ही आग रुक गई तो उसे पूरब की ओर आगे बढ़ने में मदद करने के लिए आर्य कबीले का सरदार विदेह माधव आया। उसकी मदद से (अर्थात नदी के उस पार उसने आग लगा दी।)

नोट

आग सदानीरा के उस पार पहुँची। अंत में आर्यों का विदेह पर अधिकार हो गया। कहते हैं जनक नामक व्यक्ति यहाँ का राजा था। याज्ञवल्क्य नामक प्रसिद्ध विद्वान भी इसके दरबार में रहते थे। ईसा पूर्व सातवीं सदी में यहाँ लोहे के औजार मिलने लगे।

कोशल—यह राज्य पूर्वी उत्तर-प्रदेश में स्थित था। इसकी राजधानी अयोध्या थी जो आर्य संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था। कहते हैं, कोशल का सम्बन्ध रामायण के राजा रामचन्द्र से है। लेकिन हमें यह जानना चाहिए कि राम शब्द के कोई उल्लेख वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिलता है।

कैकेय—कैकेय राजाओं का राज्य विस्तार वर्तमान शाहपुर, झेलम एवं गुजरात के क्षेत्र में था। अश्वपति नामक राजा अपने न्याय के लिए यहाँ प्रसिद्ध था।

काशी—उत्तर प्रदेश में स्थित आधुनिक वाराणसी का प्रदेश ही काशी राज्य था। प्राचीनकाल से ही यह एक पवित्र स्थान माना जाता था। काशी का सबसे महत्त्वपूर्ण राजा अजातशत्रु था जो काफी विद्वान था।

गंधार—आधुनिक पाकिस्तान में सिन्धु नदी के किनारे यह जनपद स्थित था। यहाँ तक्षशिला एवं पुष्करावती नामक दो नगर की चर्चा हमें मिलती है। इस प्रदेश में ईसा पूर्व ग्यारहवीं सदी से ही लोहे का इस्तेमाल होने का प्रमाण मिलने लगता है। खुदाई से कुछ गाड़े हुए मुर्दे मिले हैं। इन्हीं मुर्दों के साथ लोहे के कई तरह के सामान मिले हैं। ग्यारहवीं सदी ईसा पूर्व में ही बलूचिस्तान, पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राजस्थान के क्षेत्रों में जैसा कि खुदाई से पता चलता है, लोहे का प्रयोग शुरू हो गया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. उत्तरवैदिक काल में ..... को सबसे बड़ा न्यायकर्ता माना जाता था।
2. ..... से वैदिक काल के बाद के धार्मिक विश्वासों एवं प्रथाओं की जानकारी प्राप्त होती है।
3. सदानीरा आधुनिक ..... नदी का नाम था।

आर्थिक जीवन

उत्तरवैदिक काल में एक स्थान पर बसने के परिणामस्वरूप ऋग्वैदिक काल की तुलना में कई क्षेत्रों में काफी विकास हुआ। ऋग्वैदिक काल की ग्रामीण व्यवस्था अब समाप्त होती जा रही थी और लोग नागरीय व्यवस्था की ओर उत्तरवैदिक काल में अग्रसर हो रहे थे।

लोहा—तकनीकी विकास को ध्यान में रखकर अगर देखा जाये तो हम पायेंगे कि उत्तरवैदिक काल ही वह काल है जब भारत में लोहा युग का आरम्भ हुआ। लोहा के पहले कांसा ही तकनीकी विकास के लिए मुख्य धातु था। यह ताम्बा और टीन को मिलाकर बनाया जाता है। कांसा के बाद धीरे-धीरे लौह-युग की शुरूआत उत्तर वैदिक काल से हो गई। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में लोहा के लिए श्याम अयस् या कृष्ण अयस् शब्द मिलता है। भारत में लोहे का सर्वप्रथम प्रयोग ईसा पूर्व 1000 में शुरू हो गया। इस काल में आधुनिक पाकिस्तान में स्थित गांधार प्रदेश में खुदाई से कई औजार मिले हैं। लगभग नौवीं सदी ईसा पूर्व में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ भागों की खुदाई से लोहे के फलक मिले हैं। ये फलक तीर एवं भाले में लगाकर दुश्मनों पर चलाये जाते थे। लोहे के इन्हीं हथियारों से लगता है कि आर्यों ने अपने बचे हुए दुश्मनों को हराया होगा। अनुमान किया जाता है कि उत्तरी गंगा की घाटियों में जो जंगल थे वे लोहे की कुल्हाड़ी से ही साफ किये गये होंगे। बहुत ज्यादा वर्षा नहीं होने के कारण यहाँ के जंगल तो बहुत घने नहीं होंगे लेकिन फिर भी लकड़ी की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए इन्हें जलाने से अधिक उपयोगी काटना रहा होगा। लोहे के अलावा किसी दूसरी धातु से मोटी-मोटी लकड़ियों का काटना आसान नहीं। आधुनिक उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भागों में तो ईसा पूर्व सातवीं सदी से लोहे के औजार मिलने लगते हैं। लोहे के इस तकनीकी विकास ने उत्तरवैदिक काल के बाद के कालों को भी काफी प्रभावित किया। खुदाई से प्राप्त लोहे के अनेक औजारों का अध्ययन करने से पता चलता है कि लोहे से शुरू-शुरू में लड़ाई के औजार बनाये गये लेकिन बाद में इसका प्रयोग कृषि एवं अन्य आर्थिक गतिविधियों में भी होने लगा।

नोट

कृषि–उत्तरवैदिक काल में कृषि संबंधी लोहे के औजार बहुत कम मिले हैं फिर भी अब लोगों की जीविका का मुख्य साधन कृषि हो गया था। उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग तथा आस-पास के अनेक क्षेत्रों में खुदाई से लोहा मिला है। लोहे के साथ-साथ चित्रित धूसर, मृद्भांड के भी कई टुकड़े पाये गये हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उत्तर वैदिक आर्य इस तरह के बर्तनों का प्रयोग करते थे। इसका अर्थ हुआ कि आर्य लोगों ने खानाबदोश की जिन्दगी छोड़कर एक जगह बसना शुरू कर दिया था। ऋग्वैदिक काल की तरह इस समय भी लोग झोपड़ी में अपने पशुओं के साथ किसी तरह रहते थे। लेकिन खेती इन लोगों ने ऋग्वैदिक काल की तुलना में अधिक पैमाने पर शुरू कर दिया था। खेती में पैदावार बढ़ाने के लिए पहले की अपेक्षा अब अच्छे प्रकार के हल बनने लगे थे। खाद का प्रयोग भी होने लगा था। इसके परिणामस्वरूप खेत अधिक उपजाऊ हो गये और अन्न की पैदावार बढ़ गयी। साल में लगभग तीन फसलें होती थीं। खेत में पानी डालने के लिए सिंचाई का भी प्रबंध इस काल में होने लगा। अब चावल, दलहन, गेहूँ, तिल आदि की पैदावार होने लगी। खेत में फसलों की ठीक से रक्षा करना किसानों के लिए इस समय एक विकट समस्या थी। अनेक प्रकार के जहरीले कीटाणु, चूहों, टिड्डी, ओले आदि से फसल को बहुत नुकसान हो जाता था। फिर आवश्यकता से बिल्कुल कम वर्षा या आवश्यकता से बहुत अधिक वर्षा होने के कारण सूखा एवं बाढ़ अलग समस्याएँ थीं। इनसे बचने के लिए किसानों के पास जादू-टोना ही एकमात्र उपाय था।

सिंचाई के लिए पानी नालियों के द्वारा खेतों तक पहुँचाया जाता था। इन नालियों में पानी नदियों से लाया जाता था। खेती के काम के लिए भैंसा पालतू पशु था। हल से खेत जोतने के सम्बन्ध में छह, आठ, बारह और चौबीस बैलों का प्रयोग उत्तर वैदिक आर्यों द्वारा किया जाता था। इस काल के लोग सेम से भी परिचित थे। खेती का महत्त्व जैसे-जैसे बढ़ता गया, पशुओं को पालने की प्रवृत्ति लोगों के बीच से समाप्त होने लगी। परिणाम यह हुआ कि आर्य अब पशुओं का पालना और खानाबदोश की जिन्दगी को छोड़ते चले गये। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि आबादी दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी और मात्र पशुओं को पालकर जीवन भर गुजर-बसर करना अब मुश्किल होता जा रहा था।

पशुपालन–पशुपालन युग की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी क्योंकि आबादी बढ़ने के साथ-साथ लोहे की मदद से आर्य लोगों ने एक जगह बसकर खेती करना प्रारंभ कर दिया था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि सारे पशुओं को आर्य परिवार अपने यहाँ से निकालकर भगा दे रहे थे। बहुत से लोग खेती के साथ-साथ पशुपालन का धंधा भी अपनाये हुए थे। अभी भी किसानों के पास बकरी, भेड़, बैल, गाय आदि पशु काफी मात्रा में थे। धनी व्यक्तियों एवं राजाओं के पास भी पशु काफी मात्रा में अभी भी थे। उत्तर वैदिक समाज में भी गायों की पूजा होती थी। गाय का अभी भी दूध के कारण आर्थिक महत्व था। पशुओं को चरने के लिए गांव से सटे हुए अलग मैदान की व्यवस्था थी जिसमें पशुओं को चरने के लिए घास आदि रहती थी। दूध-दही का प्रयोग स्वास्थ्य को मजबूत करने के लिए किया जाता था। गाय दान में भी दी जाती थी।

धातुकर्म–ऋग्वैदिक काल में कुछ ही धंधों की चर्चा हम पाते हैं, लेकिन उत्तरवैदिक काल के साहित्य में कई नये धंधों की चर्चा मिलती है। इस काल में सोना काफी प्रमुख धातु हो गया। उत्तर वैदिक साहित्य में इनका उल्लेख कई बार हुआ है। सोने की पवित्रता पर बहुत जोर डाला गया है। अनेक प्रकार के स्वर्णाभूषणों की चर्चा उत्तर वैदिक ग्रन्थों में मिलती है। चांदी के गहनों का भी प्रयोग यहां के लोग करते थे। इस काल में धातु गलाने का धंधा चल पड़ा था। यह तो बताना बड़ा मुश्किल लगता है कि लोहे का इस्तेमाल कितना किया जाता था। लेकिन ताम्बा के बारे में हम कह सकते हैं कि इस धातु से अनेक तरह के सामान बनाये जाते थे। लोहे की तुलना में ताम्बा का प्रयोग अभी भी अधिक मात्रा में किया जाता है। टीन और सीसे का प्रयोग भी बाद के वैदिककाल में मिलता है।

अन्य धन्धा–बाद के वैदिक साहित्य में और भी नये धंधों का उल्लेख मिलता है। बढ़ई, बुनकर, चर्मकार, जौहरी, रंगसाज, कुम्हार आदि का धंधा काफी जोरों से चल पड़ा था। मछुआ भी मछली मारकर अब अपनी जीविका चलाने लगा था। सारथि की बहाली रथों को चलाने के लिए होती थी। गड़रिये भेड़ चराकर अपना काम चला लेते थे। जंगल से फंसाकर लाये हुए पशु-पक्षी को बेचकर व्याधा अपना खाना-पीना कर लेता था। जुलाहा, नाई, धनुष बनाने वाले तथा चटाई और रस्सी बनाने वाले ने भी अपना-अपना धंधा स्वतंत्रतापूर्वक करना शुरू कर दिया था।

नोट

बाद के ग्रन्थों के अनुसार वस्त्रों को बनाने का काम भी प्रमुख उद्योग की श्रेणी में आ गया था। इस काल में ऊनी वस्त्रों का निर्माण काफी मात्रा में होता था। सन से बोरा एवं चटाईयाँ बनायी जाती थीं। धनी वर्ग के लोग **श्रौम** नामक वस्त्र पहनते थे, जानवरों की खाल का उपयोग ब्रह्मचारी एवं तपस्वी करते थे। अनुमान किया जाता है कि कपड़ा बुनने के लिए करघा जैसी कोई चीज होती थी। बुनाई का काम अधिकतर स्त्रियाँ ही करती थीं। कपड़ा रंगने वाला रंगसाज भी होता था। चाक के सहारे कुम्हार मिट्टी के बर्तन भी बनाया करते थे। मिट्टी के बर्तनों में घड़ा, प्याला, कटोरा, तस्तरी आदि अधिक प्रचलित थे। चिकित्सा के दृष्टिकोण से तन्त्र-मंत्र का बड़ा महत्त्व था।

व्यापारिक संघ—बाद के वैदिककाल में आर्थिक उन्नति व्यापार बढ़ने के कारण हुई। नये-नये व्यापारियों ने सुरक्षा एवं सुविधा के दृष्टिकोण से संगठित होकर रहना पसंद किया। इन लोगों का संगठन लगता है **श्रेष्ठी** नाम से जाना जाता था। श्रेष्ठ अर्थात प्रधान या मुख्य शब्द से श्रेष्ठी बना है। बाद के वैदिक ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में श्रेष्ठी शब्द की चर्चा है। यह शब्द शायद किसी व्यापारियों के संघ के प्रधान या श्रेष्ठ के लिए किया गया है। उत्तर वैदिककाल के कुछ दूसरे ग्रंथ में गण एवं गणपति शब्द भी मिले हैं। ये शब्द भी लगता है किसी व्यावसायिक संगठन के लिए ही प्रयोग किये गये हैं। उत्तर वैदिक काल में व्यापार के कारण व्यापारिक संगठन तो होंगे ही लेकिन ग्रंथ में इनकी चर्चा विस्तृत रूप से नहीं मिलती है।

वाणिज्य—उत्तरवैदिक काल के कई ग्रन्थों में हमें वाणिज्य शब्द मिलता है, जिससे पता चलता है कि इस काल में व्यापार बड़े पैमाने पर होने लगा था। व्यापारी व्यापार के सिलसिले में एक स्थान से दूसरे स्थान में जाया करते थे। ये व्यापारी मुख्य रूप से वैश्य ही होते थे।

नोट्स महाजनी प्रथा की चर्चा हमें **शतपथ ब्राह्मण** में देखने को मिलती है जिसमें सूद पर रुपया देने की बात है।

सूदखोर को **कुसुदिन** कहा गया है। विनिमय का माध्यम मुद्रा की चर्चा तो प्रत्यक्ष रूप से हमें नहीं मिलती है लेकिन ग्रन्थ में **निष्क** शब्द की चर्चा मिलती है। विद्वानों ने अनुमान किया है कि निष्क सिक्के का द्योतक है। लेकिन विद्वान अभी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते हैं।

खरीद-बिक्री में अभी सामान के बदले सामान वाली बात प्रचलित थी। गाय को सिक्का के रूप में इस्तेमाल करके भी कोई चीज खरीदी जा सकती थी। कुछ ग्रन्थ में **शतमान्य** नामक शब्द मिला है। कहते हैं, यह भी एक प्रकार का सिक्का था। इस बात का समर्थन प्रकांड विद्वान डॉ. आर. भण्डारकर ने भी किया है। कुछ अन्य विद्वान इसे मुद्रा नहीं मानते हैं। शतमान्य के बारे में उनका कहना है कि यह मात्र क्रय-विक्रय का साधन था। डॉ. भण्डारकर ने बाद के ग्रन्थ में पाये गये **कृष्ण** एवं **पाद** नामक शब्द को भी मुद्रा माना है। ये यहाँ तक कहते हैं कि पूर्ववैदिक काल से ही मुद्रा का प्रयोग पाया जाता है। वैसे निश्चित तौर पर तो मुद्रा ईसा पूर्व सातवीं सदी के पहले नहीं मिलती है।

सामाजिक जीवन

पूर्ववैदिक काल के लोगों के खानाबदोश की जिन्दगी एक तरह से सरल, साधारण एवं सीधी थी। इनका जीवन बहुत ज्यादा व्यवस्थित नहीं था तो समाज में तनाव भी कम था। उत्तरवैदिक काल में स्थायी जीवन व्यतीत करने के फलस्वरूप इनका जीवन काफी व्यवस्थित हो गया था। इसके परिणामस्वरूप आर्यों के बीच सामाजिक विभाजन बड़ा मजबूत हो गया। सामाजिक विभाजन वर्ण पर आधारित था।

वर्ण-व्यवस्था—अलग-अलग विद्वानों ने वर्ण शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न ढंग से बताया है। वर्ण का शाब्दिक अर्थ रंग होता है। इसका दूसरा अर्थ प्रतिष्ठा एवं स्थिति भी होता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि रंग एवं व्यवस्था के संयोग से वर्णव्यवस्था बनी। आधुनिक काल में जाति शब्द भी वर्ण के लिए इस्तेमाल किया जाता है। उत्तरवैदिक काल में चार वर्णों की चर्चा हम पाते हैं जिनकी उत्पत्ति देवता के अलग-अलग अंग से हुई। कहते हैं, मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। जिस देवता के मुख, भुजा, जंघा एवं पैर से अलग-अलग वर्णों की उत्पत्ति हुई वह कल्पना पर आधारित है। इस सम्बन्ध में किसी तरह का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। अतः अध्ययन की सुविधा के लिए उस देवता को प्रथम मानव या ब्राह्मण या देवता या कुछ और

नोट

भी कह सकते हैं। इस तरह उत्तरवैदिक काल के सम्पूर्ण समाज को एक शरीर मानकर इसे चार भाग में बाँट दिया गया है। इस विभाजन का आधार धार्मिक है। तर्क की कहीं कोई गुंजाइश नहीं।

इस सम्बन्ध में **रौसन** महोदय ने भी अपना विचार दिया है। वर्ण व्यवस्था का आधार वे रंग-भेद को मानते हैं। आर्यों का रंग गोरा और शरीर सुडौल एवं सुगठित था। भारत में आने पर उनका सम्पर्क अनार्यों से बढ़ा। अनार्य देखने में सांवले तथा कद के छोटे थे। इनकी नाक भी चपटी थी। कहा जा सकता है कि अनार्य देखने में बदसूरत थे। अत: आर्य उनके साथ घुलना-मिलना नहीं चाहते थे। धीरे-धीरे आर्यों एवं अनार्यों का स्वतंत्र पृथक् अस्तित्व रहने के कारण दोनों रंग या वर्ण के आधार पर दो वर्गों में विभाजित हो गये। यहाँ के मूल निवासी अनार्य की तुलना में बाहर से आकर अपने को आर्य कहने वाले लोग अपने को श्रेष्ठ मानने लगे। इस तरह प्रारंभिक दौर में रंग के आधार पर समाज में दो ही वर्ग था। कोई महत्त्वपूर्ण रास्ता नहीं दिखलाई पड़ने के कारण सांवले लोगों के बीच कोई महत्त्वपूर्ण विभाजन नहीं हो सकता। सुन्दर दिखाई देने वाले लोग अपने को आर्य कहने के साथ-साथ द्विज भी कहने लगे। बाद में चलकर ये द्विज तीन श्रेणी में बंट गये, जिन्हें क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य कहा जाने लगा। इस तरह शूद्र मिलकर चार वर्ण हो गये।

विकास–ब्राह्मणों के प्रयास से उत्तरवैदिक काल का समाज बहुत ही ठोस ढंग से चार भागों में बंट गया था। नीचे का दो भाग अर्थात वैश्य एवं शूद्र तो जबर्दस्त ढंग से उत्पादन के कार्य में लगे हुए थे लेकिन उत्पादन के लिए बिना किसी तरह का परिश्रम किये हुए ब्राह्मण वर्ग सुविधा प्राप्त वर्ग में थे। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों का ही उत्पादित वस्तुओं पर नियंत्रण था। वैश्यों एवं शूद्रों द्वारा उत्पादित सामानों का एक ठोस हिस्सा बिना विशेष परिश्रम के ये लोग पूजा-पाठ एवं सुरक्षा के नाम पर ले लेते थे। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय विशेष सुविधा प्राप्त वर्ग में थे तो जरूर लेकिन दोनों वर्ग आपसी तनाव भी रखते थे। उत्तर वैदिक ग्रन्थ में एक ऐसे दृश्य का वर्णन है जिसमें **ब्रह्म** तथा **क्षत्र** के बीच लड़ाई दिखाया गया है। इसी तरह मित्र एवं वरुण के बीच भी लड़ाई की बात बतायी गई है। इन उल्लेखों के आधार पर विद्वानों का कहना है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के बीच स्वार्थवश आपसी तनाव रहता ही था। आपसी तनाव का कारण तो अपना-अपना स्वार्थ था ही, वैश्यों एवं शूद्रों का शोषण करने के लिए ये दोनों वर्ग आपस में मिलकर एक भी हो जाते थे। दोनों उच्च वर्ग में आपसी संघर्ष का दूसरा कारण समाज में प्रथम स्थान पाना भी था। लेकिन इनके द्वन्द्व का मुख्य कारण तो जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है, वैश्यों एवं शूद्रों द्वारा किये गये उत्पादन में से अधिक-से-अधिक हिस्सा प्राप्त करना था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. कोशल राज्य जो कि पूर्वी उत्तर-प्रदेश में स्थित था की राजधानी थी–
   (*a*) अयोध्या (*b*) काशी
   (*c*) हस्तिनापुर (*d*) इनमें से कोई नहीं।
5. उत्तरवैदिक काल मे कैकेय नामक राजा अपने ..... के लिए प्रसिद्ध था।
   (*a*) न्याय (*b*) उदारता
   (*c*) क्रूरता (*d*) इनमें से कोई नहीं।
6. उत्तरवैदिक काल में राजाओं पर राज्याभिषेक के समय ही उत्तरदायित्व लाद दिया जाता था, इसका प्रमाण मिलता है–
   (*a*) ऋग्वेद (*b*) आरण्यक
   (*c*) शतपथ ब्राह्मण (*d*) इनमें से कोई नहीं।
7. राजा के लिए 'विशामत्ता' शब्द का प्रयोग किया गया है।
   (*a*) कौशितकी ब्राह्मण (*b*) उपनिषद
   (*c*) ऐतरेय ब्राह्मण (*d*) इनमें से कोई नहीं।

नोट

एक तरफ ब्राह्मणों को हम देखते हैं कि ये लोग केवल लेना जानते थे। अनेक स्रोतों से इन्हें बहुत ज्यादा धन की प्राप्ति होती थी। ये लोग वैश्य एवं शूद्रों से लेने के अलावा क्षत्रियों से भी कुछ-न-कुछ प्राप्त कर लेते थे। दूसरी ओर हम क्षत्रियों को देखते हैं जो केवल वैश्वों और शूद्रों से ही वसूल पाते थे। ब्राह्मणों से वसूलना तो दूर रहा, उन्हें उल्टे किसी न किसी धार्मिक अनुष्ठान के बहाने देना ही पड़ता था। अत: क्षत्रियों को अधिक धन की आवश्यकता थी। चूंकि क्षत्रियों का मुख्य काम ही युद्ध करना था। अत: ब्राह्मणों को उनसे परास्त होना ही पड़ता था। अंत में हम पाते हैं कि उत्पादन पर मुख्य रूप से क्षत्रियों का ही आधिपत्य हो गया। आवश्यकता से अधिक सामान या अतिरेक पर अब क्षत्रियों का नियंत्रण हो गया, ब्राह्मणों को समझौता करना ही पड़ा क्योंकि इसके अलावा उनके पास कोई दूसरा चारा नहीं था, वैसे ब्राह्मण प्रथम श्रेणी में अपना स्थान बनाए रखे लेकिन यह श्रेणी मुख्य रूप से आदर पाने के दृष्टिकोण से ही उपयोगी थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र तीनों को क्षत्रियों से सम्पर्क रखना आवश्यक था। इस तरह क्षत्रियों की श्रेष्ठता सबने स्वीकारी। इतना ही नहीं, क्षत्रियों की प्रमुखता ब्राह्मणों की तुलना में इस बात से भी प्रमाणित होती है कि राज्याभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण स्वयं क्षत्रिय राजा को **परमश्रेष्ठ ब्राह्मण** की पदवी से विभूषित करता है। बाद में चलकर तो हमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण धर्मों को क्षत्रियों द्वारा कई बार चुनौती दी गई। क्षत्रिय राजा अपने उद्देश्य की सफलता के लिए समाज के सभी वर्गों को आतंकित भी करता था।

बाद के वैदिक समाज में वैश्य वर्ग का स्थान तीसरा था। बनजारा एवं पशुचारण की अवस्था को पार करने के पश्चात आर्यों ने व्यवस्थित ढंग से कृषि के काम को अपना लिया। आर्य समाज की यह एक नई विशेषता हो गई। इस व्यवस्था में खेती, पशुपालन एवं व्यापार करने की जिम्मेदारी मुख्य रूप से वैश्य वर्ग के कंधे पर आयी। वैश्यों ने अनेक बस्तियों के बीच आर्थिक संबंध कायम किये। धीरे-धीरे वैश्यों का एक वर्ग किसानों का हो गया। इनका मुख्य काम खेती करना हो गया। दूसरा वर्ग व्यापारियों का हो गया। ये व्यापारी वर्ग शुरू-शुरू में अधिक सम्पन्न किसानों के बीच से आये क्योंकि वे ही व्यापार में हुए आर्थिक नुकसान को बर्दाश्त करने की स्थिति में थे।

उत्तर वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि काफी धनवान होने के बावजूद समाज में वैश्यों का स्थान ब्राह्मण एवं क्षत्रियों की तुलना में निम्न था। वैश्य वर्ग का मुख्य काम ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के खर्च को चलाना था। इनके द्वारा **बलि, शुल्क, भाग** आदि राजा को दिये जाते थे। वैश्यों को राजा अपनी सुविधा के लिए इतना शोषण करता था कि ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राजा को उत्पादक वर्ग अर्थात वैश्यों एवं शूद्रों का भक्षक कहा गया है। किसानों को भी अपनी इच्छा के अनुसार चलने के लिए क्षत्रिय राजा हमेशा दबाव डाले रहता था। राजा की इस प्रवृत्ति का धार्मिक ग्रंथों ने विरोध नहीं बल्कि समर्थन किया है। राजा के आदेश नहीं मानने वाले वैश्य को बहुत ही बुरा आदमी कहा गया है। किसानों का आर्थिक शोषण हो इसका प्रयास न केवल राजा ने बल्कि ब्राह्मणों ने भी किया। पक्षी, कीड़े-मकोड़ों आदि से फसल की काफी बर्बादी होती थी, जो कृषकों के लिए बहुत बड़ी समस्या थी। इस समस्या का समाधान तो राजा के लिये करना दूर रहा उल्टे कर नहीं देने के कारण राजा किसी भी किसान की सम्पत्ति एवं भूमि छीन सकता था।

क्या आप जानते हैं वैश्यों का राजा अपनी सुविधा के लिए इतना शोषण करता था कि ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राजा को उत्पादक वर्ग अर्थात वैश्यों एवं शूद्रों का भक्षक कहा गया है।

संकट की स्थिति में राजा सफलता के लिए राज्य के सभी लोगों के साथ बैठकर खाना खाता था लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि राजा और प्रजा में अच्छा संबंध था। युद्ध के काल में वैश्यों से सैनिक सेवाएँ भी राजा के द्वारा ली जाती थीं। बाद के वैदिक ग्रन्थों में राजा एवं ब्राह्मणों के ऐसे कठोर व्यवहारों के विरोध में वैश्यों द्वारा विद्रोह करने की चर्चा हमें नहीं मिलती है। लेकिन एक बात की महत्वपूर्ण जानकारी होती है कि ब्राह्मणों ने पुनर्जन्म पर बड़ा जोर दिया है। 'अच्छा कर्म करने से अगले जन्म में लाभ होगा' ब्राह्मणों के द्वारा इस कथन से ऐसा लगता है कि वैश्यों का शोषण करने के लिए ही प्रचार किया गया ताकि वैश्य राजा से विद्रोह न कर सकें। वैदिक

नोट

ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख भी हमें मिलता है कि राजा द्वारा लगाए गये भारी कर को नहीं ढो सकने के कारण दक्षिण पंचाल के लोग उत्तर में चले गये।

वैश्यों के बीच अनेक भेदों की चर्चा भी मिलती है। ये टुकड़ों में बंटने लगे थे। इनके बीच कृषि और व्यापार को लेकर आपसी तनाव भी बढ़ता जा रहा था। कुछ वैश्य तो कृषि का काम करने लगे थे, कुछ वैश्य अलग-अलग काम करने के कारण सोनार, लोहार, बढ़ई, रथकार, कुम्हार आदि कहलाने लगे।

शूद्रों की हालत और बुरी थी। इनका वर्ग चौथा था। तीनों ऊँचे वर्गों की सेवा करना ही उनका कर्त्तव्य था। राजा अपनी इच्छा के अनुकूल उसे मार सकता था और आतंकित कर सकता था। शूद्रों की श्रेणी में वैसे मूल कबीले के लोग थे जिन्हें आर्यों ने युद्ध में हरा दिया था। आर्यों एवं अनार्यों के आपसी मेल से जो बच्चा हुआ उसे भी शूद्र की श्रेणी में रख दिया गया। वैदिक ग्रन्थों के अनुसार वैसे आर्य भी शूद्र की श्रेणी में रख दिये गए जो आर्यों के द्वारा ही समतल भूमि पर अधिकार करने के दौरान परास्त कर दिये गये थे। मुख्यत: तीन रास्तों से शूद्रों का आगमन हुआ। वैदिक ग्रन्थों में शूद्रों को हरेक प्रकार की सेवा करने वाला सेवक माना गया है। इनका वध भी कर दिया जाये तो वह अपराध नहीं कहा जाता था।

जाति-प्रथा—समाज के उपर्युक्त विभाजन के आधार पर सबसे ज्यादा लाभ ब्राह्मणों को था। समय बीतने के साथ-साथ ब्राह्मण भी इस बात को समझ चुके थे। इस विभाजन में किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो इसके लिए धर्म का सहारा लेना आवश्यक था। अत: उन्होंने देवताओं के मुंह से लेकर पैर तक में बीच के चारों वर्णों को उत्पन्न करा दिया।

इस वर्ण व्यवस्था को अमर रूप देने के लिए वर्ण को कर्म या पेशा के अनुसार नहीं बल्कि वंश या जन्म के अनुसार मान लिया गया। अब चारों वर्णों के एक साथ खाने पर रोक लगा दी गयी। इसी समय विवाह के नियम भी एक निश्चित दायरे में बना दिये गये। एक ही वर्ण में या एक वर्ग के व्यक्ति की शादी दूसरे वर्ण में करने के संबंध में भी नियम बना दिये गये। यह ध्यान देने की बात है कि वर्णों से सम्बन्धित जो उपर्युक्त नियम बने उनसे केवल चार वर्णों के लोग ही प्रभावित नहीं थे बल्कि अलग-अलग वर्गों में भी जो अनेक **उपवर्ण** या अनेक पेशे के लोग, जैसे—किसान, शिल्पकार, कर्मकार, सैनिक, राजा आदि बने वे भी प्रभावित हुए। अलग-अलग व्यवसाय के आधार पर जातियाँ बन गयीं। जाति शब्द जन्म से बना है। जाति वाली स्थिति में वर्ण का अब विशेष महत्त्व नहीं रह गया था। ब्राह्मण वर्ण में कुछ तो पूजा-पाठ का काम करने लगे, कुछ अध्ययन-अध्यापन का कार्य और कुछ ब्राह्मण अपने मवेशियों के साथ बहुत छोटे-छोटे समूहों में पूर्व के घने जंगलों में चले गये। ये लोग बिना अस्त्र-शस्त्र के जंगल में चले जाते थे और जंगली जातियों से मैत्री कर लेते थे। दरिद्रता एवं अहानिकर स्वभाव के कारण ब्राह्मण आदिवासियों या निषादों के साथ रहने लगे। क्षत्रियों में भी कुछ क्षत्रिय तो राजा बन गये और कुछ क्षत्रिय उसके दरबार में सैनिकों का काम करने लगे। कुछ वैसे क्षत्रिय भी थे जिनको व्यापारी अपनी सुरक्षा के लिए साथ में लेकर जंगलों से होकर एक जगह से दूसरी जगह जाया करते थे। धीरे-धीरे बदले में व्यापारी उन्हें निश्चित रकम देते थे। ये क्षत्रिय धीरे-धीरे भृत्तिभोगी समूह बन गये और भाड़ा मिलने पर किसी के लिए भी लड़ने के लिए तैयार रहते थे। धीरे-धीरे इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों या वैश्यों का अलग-अलग पेशा भी वंशानुगत होता गया। इस तरह पेशा एवं जाति में घनिष्ठ संबंध होने लगा। परिणामस्वरूप एक वर्ण से निकलकर दूसरे वर्ण में जाने पर स्वत: रोक लग गई।

उपर्युक्त स्थिति में अब ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य शूद्र-कन्या से विवाह कर सकते थे लेकिन शूद्र मर्द उच्च वर्ण की लड़की से शादी नहीं कर सकता था। इसका कारण यह था कि उत्तरवैदिक काल में समाज में वर्णभेद की स्थिति मजबूत होती जा रही थी। अध्ययन की सुविधा के लिए उत्तर वैदिक समाज में चारों वर्णों के मुख्य कार्यों को समझना जरूरी है।

ब्राह्मण—वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणों की स्थिति बड़ी अच्छी थी। ये मुख्य रूप से धार्मिक कार्यों से संबंधित थे। ये लोग अनेक विषयों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करते थे। अपने यहाँ शिष्यों को अनेक विषय पढ़ाते भी थे। मुख्य रूप से वेद पढ़ना तथा शिष्यों को पढ़ाना इनका काम था। इसके अलावा, अनेक प्रकार की कठिन प्रक्रियाओं से प्रभावित यज्ञ में पुरोहित का काम करते थे। इनके धार्मिक अनुष्ठान इतने जटिल बन गये कि उन्हें याद

नोट

रखना साधारण बात नहीं थी। इन्हें याद करने में वर्षों लग जाते थे। यह तो वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण लगता है कि कुछ ब्राह्मणों ने इन कठिन चीजों को याद कर लिया। मंत्रों को भी कण्ठस्थ याद कर लिये। यज्ञ संबंधी सारे नियम भी उन्हें कण्ठस्थ याद रहते थे। इस तरह समाज में सम्मानपूर्वक स्थान इन्होंने बना लिया। इनका सम्मान उस स्थिति में और बढ़ गया जब राजा भी उनको पुरोहित बनाकर न केवल धार्मिक कार्यों के लिए अपने दरबार में रखने लगा बल्कि राजकाज के कामों में इनसे राय लेने लगा।

इस तरह ब्राह्मण ने अपना एक विशेष स्थान बना लिया। समाज के लोगों को प्रभावित करने के लिए ये धार्मिक सेवा खूब करने लगे। अपने कठिन परिश्रम के बल पर इस वर्ग ने अपने बीच से अनेक ऋषि, मुनि, विद्वानों को पैदा किया। इन्होंने जीवन एवं मृत्यु से संबंधित अनेक समस्याओं को तर्क की कसौटी पर खरा उतारने का प्रयास किया। मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना आदि रहस्यमय विषयों पर भी ब्राह्मणों ने समाज के लोगों को बताना शुरू किया। इन सारे क्रियाकलापों में उनका सबसे बड़ा स्वार्थ यह था कि इसी के आधार पर समाज में ये लोग अपना महत्त्व बनाये रखना चाहते थे। अंत में ये लोग अपनी महत्ता बनाये रखने के लिये कई तरह का प्रपंच करने लगे। अपनी महत्ता दर्शाने के लिए झूठ बोलने में थोड़ा भी नहीं हिचकिचाते थे। परिणामस्वरूप इनकी महत्ता धीरे-धीरे घटती गई और छठी शताब्दी ईसा पूर्व में अपनी गलत गतिविधि के कारण ये नये धर्मों के भार से बहुत दिनों के लिए धराशायी हो गये।

क्षत्रिय—आर्यों के समाज में एक कबीले का दूसरे कबीले के साथ युद्ध होता रहता था। फिर एक राज्य का दूसरे राज्य से भी युद्ध होता रहता था। इस अवसर पर समूची जाति के बलिष्ठ एवं योग्य युवक युद्ध करने जाते थे। युद्ध के बाद फिर वे अपने कार्यों में व्यस्त हो जाते थे। धीरे-धीरे युद्ध प्रतिदिन की चीज हो गई और हमेशा के लिए नौजवानों का एक बड़ा जत्था युद्ध में व्यस्त रहने लगा। इस तरह राज्य को हमेशा के लिए सेना रखने की आवश्यकता महसूस हुई। यही सेना क्षत्रिय के नाम से जानी जाने लगी, जिसका मुख्य काम राज्य की सुरक्षा एवं सीमा का विस्तार करना था। अब क्षत्रिय एक अलग वर्ग ही बन गया।

वैश्य—कृषि एवं व्यापार करने वाला तीसरा वर्ग वैश्य कहलाता था, जो ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के बाद वाली श्रेणी में था। इसका मुख्य कर्त्तव्य समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। समाज का खर्च चलाने का भार एक तरह से इसी के कंधे पर था। ये लोग ब्राह्मणों को दान देते थे, यज्ञ कराते थे तथा धार्मिक कृत्यों में आर्थिक सहायता देते थे।

शूद्र—सबसे निचला वर्ण शूद्र कहलाता था। यह नाम लगता है किसी कबीले से आया था। शूद्र वैसे दास थे, जो पशुओं की भांति सम्पूर्ण कबीले की सम्पत्ति होते थे। प्राचीन यूनान और रोम के जैसा शूद्रों की खरीद-बिक्री भारत में वैदिक काल में नहीं होती थी। इसका कारण यह नहीं था कि भारतीय दयालु थे। वास्तव में वस्तु उत्पादन और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभी काफी विकास नहीं हुआ था।

बाद में चलकर उपर्युक्त वर्ण अनेक उपवर्णों में बंट गये। उपवर्गों में बंटने का प्रमुख कारण नया-नया पेशा था। नये-नये पेशे में लगे व्यक्ति समय बीतने के साथ-साथ खानपान या शादी-ब्याह अपने ही पेशे-वालों के बीच करने लगे। धीरे-धीरे एक जाति अपने को दूसरी जाति से भिन्न समझने लगी।

एक सिक्के के दो पहलू के समान जाति प्रथा से कुछ लाभ हुए तो कुछ हानि।

लाभ—जाति प्रथा के कारण जिम्मेदार व्यक्तियों की संख्या बढ़ी। जिस तरह संयुक्त परिवार में आलसी व्यक्तियों की संख्या ज्यादा होती है और जब लोग पृथक् हो जाते हैं तो सारा आलसीपन भुलाकर भोजन के लिए दिन रात परिश्रम करना पड़ता है उसी तरह विभिन्न पेशे में लगने से अधिक से अधिक उत्पादन होता था। जिसके कारण उत्तरवैदिक काल या उसके बाद की भी आर्थिक स्थिति मजबूत हुई। अलग-अलग कार्यों में काफी निपुणता पाने के लिए भी जाति प्रथा का होना आवश्यक है। इस प्रथा के कारण कोई भी व्यक्ति बचपन से ही यह जानता था कि भविष्य में उसे कौन-सा काम सीखना है। अत: बचपन से ही अपने पिता या अभिभावक का पेशा सीखना शुरू कर देता था। इससे किसी भी विशेष व्यवसाय में निपुण व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाती थी।

नोट

हानि–वर्णों में विभाजन होने से सामाजिक तनाव बढ़ गये। बात-बात पर एक पेशे-वाले से दूसरे पेशे-वाले के साथ मार-पीट की सम्भावना बनी रहती थी। समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव भी बड़े जोरों से फैला। जाति व्यवस्था के कारण हिन्दुओं का दृष्टिकोण बड़ा संकुचित हो गया। समाज में आपसी एकता का भी अभाव हो गया। इसी एकता के अभाव के कारण विदेशी आक्रमणकारियों ने कई बार भारत में सफलता प्राप्त की। जाति प्रथा के कारण ही धर्म के क्षेत्र में मतभेद बढ़े। लोग अनेक सम्प्रदायों में बंट गये जिससे तनाव और बढ़ा। जाति प्रथा के कारण समाज में छुआछूत का भी भेदभाव बढ़ा।

आश्रम-व्यवस्था–उत्तरवैदिक काल के ऋषियों ने व्यक्ति के जीवन को चार भागों में बांटा–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

ब्रह्मचर्य की अवधि में व्यक्ति जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष में किसी गुरुकुल में रहकर ज्ञानार्जन करता था। इस काल में व्यक्ति को गुरु के कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था। यह काल कठिन साधना का होता था। प्रथम पच्चीस वर्ष किसी ब्रह्मचर्याश्रम में बिताने के बाद दूसरा आश्रम गृहस्थ हो जाता था। जीवन के इस द्वितीय चरण में व्यक्ति धन कमाता था तथा उससे अपने सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करता था। गृहस्थ जीवन में भी पच्चीस वर्ष तक ही व्यक्ति रहता था। गृहस्थ आश्रम को बहुत ही आदर की दृष्टि से देखा जाता था। वशिष्ठ सूत्र के अनुसार जिस तरह सब छोटी-बड़ी नदियाँ अंत में समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, उसी तरह सभी आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ आश्रम पर ही निर्भर रहते हैं।

तीसरा चरण वानप्रस्थ आश्रम था। इस समय पचास वर्ष की अवस्था में व्यक्ति परिवार का भार अपने बेटों को सौंपकर सांसारिक जीवन को त्याग देता था तथा तीसरे चरण में जीवन के मोह त्यागकर, त्याग और तपस्या का जीवन बाहर में व्यतीत करता था। इस तीसरे आश्रम के समय वानप्रस्थ लोग गांव या नगर से बाहर आश्रम बनाकर रहते थे और ब्रह्मचारियों अर्थात प्रथम आश्रम में जाने वाले को विद्यादान देते थे। चौथा चरण परिव्राजक या संन्यास का था। जीवन के इस स्तर पर पहुँचा हुआ व्यक्ति अब एक स्थान पर बहुत दिनों तक नहीं रुकता था। वह दूर-दूर के क्षेत्रों में भ्रमण किया करता था। हमेशा भ्रमण करते रहने के कारण उसे परिव्राजक या संन्यासी कहा जाता था। इस आश्रम में मनुष्य संसार के सभी बंधनों से मुक्त हो जाता था। फिर ब्रह्म चिन्तन में मस्त होकर मुक्ति के लिए प्रयास करता था। इस तरह वैदिक काल के ब्राह्मणों ने जीवन के चार पुरुषार्थों–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए आश्रम व्यवस्था को अपनाया।

परिवार–परिवार समाज की इकाई थी। इस काल में परिवार पितृसत्तात्मक था, अर्थात परिवार में पिता का ही महत्त्व सबसे ज्यादा था। अनेक परिवारों के संयोग से एक घराना या ग्राम बनता था। प्रारंभिक बस्तियों में परिवार एक-दूसरे से सम्बन्धित हुआ करते थे। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से इस बात का पता चलता है, साधारण तौर पर एक परिवार में तीन पीढ़ी तक के व्यक्ति सदस्य के रूप में एक साथ परिवार में रहते थे। इसमें पुरुषों की प्रधानता होती थी। वैदिक ग्रंथों में इस बात की भी चर्चा मिलती है कि भूमि या पशु के लिए आपस में तनाव और यहाँ तक कि मार-पीट भी हो जाया करती थी। अत: वैदिक ग्रन्थों में बहुत-सी ऋचाएँ हैं, जिनमें पारिवारिक एकता की शांति को बनाये रखने के लिए प्रार्थना की गई है। एक मर्द कई शादियाँ करते थे तथा ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि पत्नियाँ आपस में लड़ती थीं। वैसे सबसे बड़ी एवं पहली पत्नी का ही पति पर विशेष अधिकार होता था। पुत्र की प्राप्ति से परिवार में खुशी की लहर फैल जाती थी, दूसरी तरफ पुत्री का जन्म दु:ख का बहुत बड़ा कारण होता था। अथर्ववेद के अध्ययन से पता चलता है कि परिवार में अनेक पत्नियाँ अनेक मर्दों की होती थीं जो आपस में झगड़ा भी कभी-कभी किया करती थीं। कभी-कभी बहुएँ झगड़ों से रंज होकर अपने मायके भी भाग जाया करती थीं। इस तरह उत्तर वैदिक परिवार में शांति एवं झगड़ा दोनों का वातावरण बना रहता था।

स्त्रियाँ–उत्तरवैदिक काल में स्थायी रूप से बसने के साथ-साथ स्त्रियों पर प्रतिबंध लगने शुरू हो गये। औरतों को अपने पतियों के प्रति बहुत भक्ति का भाव दिखाना पड़ता था। पत्नियों को पति की आज्ञाकारिणी होना भी आवश्यक हो गया था। पतिव्रता स्त्री को ही समाज में सम्मान मिलता था। अपनी पतिव्रतता को प्रमाणित करने के लिए पति के मरने पर पत्नी को भी उसी के साथ प्रतीकात्मक आत्मबलिदान करना पड़ता था। वैदिक ग्रन्थ इस बात को स्पष्ट

नोट

नहीं कर पाता है कि विधवा को पति के साथ प्रतीकात्मक रूप से आत्मदाह करने की बात केवल अमीर परिवारों में ही थी या गरीब परिवार में भी। लगता है सती प्रथा की शुरूआत बाद के काल में यहीं से हुई। वैदिक ग्रन्थ में लड़कियों को बेचना अच्छा नहीं माना गया है। इससे पता चलता है कि लड़कियाँ बिकती थीं। स्त्रियों की तुलना शराब एवं पाशा से की गयी है जो औरतों के स्थान में गिरावट का लक्षण है। पुत्रियों का जन्म परिवार के लिए दु:ख का कारण माना गया है। औरतों के द्वारा अधिक बोलने पर भी रोक लगाने की बात हम पाते हैं। (**वृहदारण्यकोपनिषद 6**)। अभी भी औरतों को कुछ सुविधायें मिली थीं। उदाहरणस्वरूप पति के मर जाने के पश्चात विधवा अपने पति के छोटे भाई के साथ विवाह कर लेती थी। इस तरह औरतों की स्थिति उत्तरवैदिक काल में ठीक नहीं थी।

विवाह—विवाह प्राय: युवावस्था में होता था। पिता की सातवीं पीढ़ी तथा माता की पांचवीं पीढ़ी तक के बीच विवाह नहीं होता था। इसे सपिण्ड कहा जाता था। एक ही पेट या कोख से उत्पन्न लड़का और लड़की के बीच विवाह नहीं होता था। **शतपथ ब्राह्मण** तो माता और पिता की तीन-चार पीढ़ियों तक ही समाज में विवाह करने पर रोक लगाता है। उसके बाद आपस में शादी की अनुमति दे देता है। मर्द एक से अधिक शादी कर सकता था। वैदिक ग्रन्थ चार प्रकार की पत्नियों के बारे में बताता है। **पालागही** अर्थात बड़े-बड़े अधिकारियों की पुत्री जिससे राजा राजनीतिक उद्देश्य से शादी करता था। **वावात** अर्थात प्रियतमा। **विहिवृक्ति** अर्थात वैसी पत्नी जो पुत्र पैदा करने के लायक नहीं हो और चौथी तरह की पत्नी **पटरानी या महिषि** कहलाती थी। इस काल में विवाह के बाद पत्नी को अपने पति की आज्ञाकारिणी एवं विश्वासिनी होना पड़ता था। विवाह के बाद पति के अचानक मर जाने से स्त्री को उत्तरवैदिक काल में तो प्रतीकात्मक आत्मबलिदान करना पड़ता था लेकिन बाद की शताब्दी में सही मायने में पति के साथ चिता में जलकर मर जाना पड़ता था।

इस काल में व्यभिचार या दूसरी औरतों के साथ नाजायज सम्बन्ध अच्छा नहीं माना जाने लगा। औरत प्राय: अपने पति के साथ ही शारीरिक सम्बन्ध रख पाती थी। किसी पराये पुरुष से किसी तरह का अनैतिक सम्बन्ध बुरा माना जाने लगा था।

वेशभूषा—पूर्व वैदिक काल की तुलना में उत्तर वैदिक के लोगों की वेशभूषा में कोई खास अन्तर देखने को हमें नहीं मिलता है। इस काल में आच्छादन चोल, चोर एवं चीवर आदि वस्त्रों का प्रयोग होने लगा था। अब आर्य न केवल धोती पहनने लगे थे बल्कि ठंड से बचने के लिए कंबल भी ओढ़ने लगे थे। सिर को ढंकने के लिए पगड़ी का प्रयोग होने लगा था। पगड़ी बांधने की परम्परा राजस्थान एवं पंजाब के क्षेत्रों में अभी भी पायी जाती है। स्त्रियाँ साड़ी भी पहनने लगी थीं। साड़ियाँ प्राय: किनारेदार होती थीं। फैशनपरस्त युवा, युवतियाँ एवं धनी लोग बालों में तेल लगाया करते थे। आंखों की सुन्दरता के लिए काजल का प्रयोग होता था। पूर्व वैदिक काल की तुलना में उत्तरवैदिक काल में अधिक सुन्दर आभूषण पहने जाने लगे थे।

भोजन—खानपान में भी हम परिवर्तन पाते हैं। ब्रीहि अर्थात चावल का प्रयोग उत्तरवैदिक काल में होने लगा था। ऋग्वैदिक काल में जौ ही मुख्य आहार था। इस काल में पशुओं का मांस खाना समाज में बहुत प्रिय नहीं माना जाता था। शराब पीना भी समाज में अच्छा नहीं माना जाता था। गाय का आर्थिक महत्त्व उत्तर वैदिक काल के लोग समझते जा रहे थे। अत: गाय का मांस खाना समाज में अब ठीक नहीं माना जाने लगा था। भोजन में दूध एवं घी का प्रयोग बढ़ता जा रहा था।

राजनीतिक अवस्था

विशाल राज्यों की स्थापना—आर्यों ने जब पूर्व और दक्षिण की ओर प्रसार किया तो उन्हें काफी विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ पर यातायात की असुविधा तथा प्राकृतिक बाधाओं के कारण उन्हें इसमें कठिनाई पड़ी। अत: उन्हें विशाल साम्राज्य के अधीन छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना करनी पड़ी। कुछ ग्रन्थों में अधिराज शब्द का प्रयोग किया गया है। जिससे ज्ञात होता है कि एक बड़े राजा के अधीन कई अन्य राजा भी राज्य करते थे। प्रतापी शासकों ने पड़ोसी राज्यों को जीतकर सार्वभौम साम्राज्यों के निर्माण का आदर्श अपने सामने रखा। वस्तुत: यह काल प्राचीन भारत के साम्राज्यवाद का प्रथम युग था। साम्राज्यवाद का क्या सिद्धान्त था, इसका विवरण तो हमें अधिक स्पष्ट रूप से नहीं मिलता, किन्तु कहीं-कहीं 'साम्राज्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। महत्त्वाकांक्षी और पराक्रमी

नोट

राजा अपने पड़ोसियों को जीतकर सम्राट् बनना अपना धर्म समझने लगे थे। वे अपने प्रभाव और कीर्ति को बढ़ाने के लिए राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ किया करते थे, जो उनकी सार्वभौम सत्ता के सूचक होते थे। जैसे-जैसे उनका प्रभाव क्षेत्र बढ़ता गया, उन्होंने नयी-नयी उपाधियों से अपने को विभूषित करना शुरू कर दिया, जैसे–अधिराज, राजाधिराज, सम्राट्, एकराट्, चक्रवर्तिन्, सार्वभौम आदि।

राजा की शक्ति में वृद्धि–इस काल के राज्यों के विस्तार के साथ-साथ राजा की स्थिति में भारी परिवर्तन होने लगा था। राजाओं के प्रभाव और शक्ति में भारी वृद्धि हुई। अब राजा अपने राज्य के किसी भी व्यक्ति को दण्ड दे सकता था, किसी कर्मचारी को स्वेच्छा से पदच्युत कर सकता था तथा मनमानी कर लगा सकता था। राज्य की सारी भूमि पर राजा का अधिकार माना जाता था। उसका पद वंशानुगत था। वह न्यायकर्ता, प्रजापालक तथा सेनापति सब कुछ एक ही साथ होता था। कभी-कभी राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित भी कर लिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्वाचन राजवंश तक ही सीमित था और इसके बाहर का व्यक्ति निर्वाचित नहीं किया जा सकता था।

उत्तरवैदिक काल में राजा की स्थिति में महान् परिवर्तन होने लगे और सामन्ती प्रजा के सिद्धान्त के आधार पर राजसत्ता का भवन खड़ा होने लगा। छोटे-छोटे राज्यों के बदले विशाल साम्राज्य की स्थापना की जाने लगी, परन्तु उस समय भी राजतन्त्र पूर्णत: निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं बन पाया था। बहुत से ऐसे संस्कार होते थे जिनमें राजा को राजसिंहासन से उतर कर ब्राह्मण को प्रणाम करना पड़ता था। उसे यह शपथ लेनी पड़ती थी कि पुरोहित के साथ वह धोखा नहीं करेगा। राज्यनियमों तथा ब्राह्मणों की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य होता था। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह यदि राज्यनियमों के प्रति निष्ठावान नहीं रहे और ब्राह्मणों तथा धर्म की रक्षा न करे तो उसे जन्म से मृत्युपर्यन्त संचित पुण्यों, स्वर्गलोक, सन्तति और अपने जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। उत्तर वैदिककालीन राजाओं पर राज्याभिषेक के समय ही कितना अधिक उत्तरदायित्व लाद दिया जाता था इसका प्रमाण हमें **शतपथ ब्राह्मण** में मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि 'तुमको (अभिषिक्त किये जाने वाले राजा को) यह राज्य दिया जा रहा है ताकि तुम कृषि, जनमंगल तथा उन्नति एवं समृद्धि कर विकास करो।' राजा को अपनी प्रतिज्ञा से विमुख एवं अत्याचार करते देख राजसिंहासन से उतार दिया जाता था और प्रायश्चित कर लेने पर उसे फिर से राजा बना दिया जाता था। प्रजा राजा को निर्वाचित भी कर सकती थी। शतपथ ब्राह्मण से हमें पता चलता है कि सभा तथा समिति दैवी संस्थाएं समझी जाती थीं और इनकी सहायता तथा परामर्श लेना और इन्हें प्रसन्न रखना राजा का परम धर्म होता था। धर्म अर्थात् पवित्र नियमों के सामने राजा को नतमस्तक होना पड़ता था और उसे धर्मानुकूल ही शासन करना पड़ता था। अत: इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राजा उत्तरवैदिक काल में नियन्त्रण में तो था परन्तु क्रमश: उसकी शक्ति निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता में वृद्धि होती जा रही थी। पर सारी व्यवस्था के ऊपर ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों की महत्ता का प्रमुख कारण यह था कि तत्कालीन राजनीति पूर्णतया धर्माश्रित थी। धर्म ही अनुशासन था। ब्राह्मण धर्माधिष्ठाता था और राजा उसका माध्यम मात्र। अत: राजनीतिक व्यवस्था में उसका स्थान सर्वोपरि रहा।

राज्य के पदाधिकारी–उत्तरवैदिक काल में ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा राज्य के पदाधिकारी की संख्या और उनके अधिकारों में वृद्धि हो गयी। ऋग्वैदिक काल में पुरोहित, ग्रामणी तथा सेनानी प्रमुख अधिकारी थे, परन्तु उत्तरवैदिक काल में कई नये पदाधिकारी आ गये। पाणिनी के अनुसार रत्निन तथा अथर्ववेद के अनुसार राजकृत राज्य के प्रमुख पदाधिकारी कहलाते थे। इनमें प्रमुख मन्त्री (पुरोहित), अन्य मंत्री, संग्रहोत्री (कोषाध्यक्ष), ग्रामणी (न्यायालय का सभापति), सेनापति (सेनानी), कर वसूल करने वाला, सूत अर्थात् भाट, क्षत्री अर्थात प्रतिहार जो राजपरिवार का रक्षक होता था, महिषी (महादेवी या पटरानी), अक्षावाय (आय-व्यय का विवरण रखने वाला), पालागख (दूत या संदेशवाहक), राजस (राज घराने के सदस्य) तथा युवराज आदि थे। इसके अतिरिक्त वैदिक ग्रन्थों में अंगरक्षक, धर्माध्यक्ष, दौवारिक (राजमहल की ड्योढ़ी का प्रमुख रक्षक), परिचारिक, वृन्दाध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष आदि अन्य पदाधिकारियों का भी संकेत मिलता है। इन प्रमुख अधिकारियों के नीचे उपयुक्त अथवा पाल नामक छोटे-छोटे पदाधिकारी होते थे, जो प्रमुख अधिकारियों के सहायकों का काम करते थे। इसके अतिरिक्त राजदूत तथा गुप्तचर आदि भी होते थे। पुलिस अधिकारी उग्र तथा सौ ग्रामों का अधिकारी सीमान्त शासक कहलाता था। ग्रामों के छोटे-छोटे झगड़े ग्राम पंचायतें सुलझाती रहती थीं। बड़े-बड़े और जटिल मामले न्यायालय में जो सभा कहलाती थी

नोट

उसके सदस्यों के परामर्श से सभापति तय करता था तथा जो मामला और भी अधिक जटिल होता था उस पर राजा को स्वयं निर्णय देना पड़ता था। राजा का निर्णय अन्तिम एवं सर्वमान्य होता था।

सभा तथा समिति—ऋग्वैदिक काल में सभा और समिति का बहुत महत्त्व था, लेकिन उत्तरवैदिक काल में उसका महत्त्व घट गया था। उत्तरवैदिक काल में राज्य की सीमा बहुत बढ़ गयी थी। इस हाल में समिति को जल्दी-जल्दी बुलाना सम्भव नहीं रह गया। इस बात का संकेत मिलता है कि सभा में दो प्रकार के सदस्य हो गये थे। कुछ लोग केवल महत्त्वपूर्ण अवसर पर इसमें सम्मिलित होते थे और कुछ लोग इसकी सभी बैठकों में जाते थे। जो लोग सभी सभाओं में सम्मिलित होते थे, उन्हें सभासद् कहा जाता था। सभा में सम्भवत: राजनीतिक प्रश्नों पर विचार होता था। सभा तथा समिति के कार्य में अन्तर बताना जरा कठिन है। स्त्रियाँ सभा में सम्मिलित नहीं हो सकती थीं।

न्याय व्यवस्था—राजा सबसे बड़ा न्यायकर्ता होता था। परन्तु प्राय: न्याय के अधिकारों को वह अध्यक्षों को दे दिया करता था। बहुत से मामले न्याय के लिए पूरी जाति के समक्ष उपस्थित किये जाते थे। गांवों में साधारण अपराधों का निर्णय ग्राम्यवाहिन अपनी सभा में करता था। वह गांव का न्यायाधीश होता था। फौजदारी मामलों में प्रतिहिंसा की प्रथा प्रचलित थी। जल तथा अग्नि में प्रवेश कर अपने को निर्दोष सिद्ध करने की प्रथा थी। ब्राह्मण की हत्या बहुत बड़ा अपराध समझा जाता था। राजद्रोह के लिए प्राणदण्ड दिया जाता था। दीवानी के मुकद्मे प्राय: पंच द्वारा निर्णय किये जाते थे, परन्तु विशिष्ट मुकद्मों का निर्णय राजा 'सभा' की सहायता से करता थ। न्याय के सम्बन्ध में ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त थे। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार होता था। स्त्रियों का कोई भी हक नहीं होता था।

राज्य की आय—उत्तरवैदिक काल के प्रारम्भ में प्रजा राज्य को नियमित रूप से कर नहीं देती थी। अथर्ववेद में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वह प्रजा को राज्यकर देने के लिए बाध्य करे। ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्यकर के लिए 'बलि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

कालान्तर से कर संग्रह की प्रथा को निश्चित रूप दिया गया और उसके लिए 'भागदुध' नामक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था। अधिकतर कर वैश्य वर्ग के लोगों से प्राप्त होता था क्योंकि यही वर्ग व्यापार में लगा होता था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राज्यकर अन्न और पशुओं के रूप में वसूला जाता था और राज्य की आय का सोलहवां हिस्सा राजा को प्राप्त होता था।

ऐतरेय ब्राह्मण में राजा के लिए 'विशामत्ता' शब्द का प्रयोग किया गया है। **हाप्किन्स** ने उसका अर्थ 'जनता का भक्षक' लगाया है और सिद्ध किया है कि वैदिक राजा जनता का शोषण करते थे। परन्तु हाप्किन्स का मत उचित नहीं प्रतीत होता। शतपथ ब्राह्मण से यह पता चलता है कि 'अत्ता' का अर्थ 'भोगी' भी होता है। अतएव राजा प्रजा के करों और उपहारों का उपभोग करता था। राज्यकर अत्यधिक था, इस बात का संकेत किसी भी ग्रन्थ से नहीं मिलता है।

बौद्धिक एवं धार्मिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल भारतीय आर्यों की सभ्यता का प्रथम सोपान था। यद्यपि इस प्रथम सोपान में भी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने जो उन्नति की वह प्रशंसनीय है और उसका प्रमाण ऋग्वेद है, पर उत्तर वैदिककालीन आर्यों ने अपने पूर्वजों से आगे बढ़ने का प्रयास किया। अब उनमें विद्या के प्रति विशेष अनुराग होता जा रहा था, इसी युग में लेखनकला में भी उन्नति होने लगी। कुछ विद्वानों की राय है कि उत्तरवैदिक काल में ही इस कला का प्रारम्भ हुआ और भारत में लिपि का प्रचलन सर्वप्रथम 800 ई.पू. के लगभग मेसोपोटामिया के प्रभाव से हुआ। किन्तु अब तक कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका है जिस पर पूरा-पूरा विश्वास करके इसे स्वीकार किया जाये। प्राचीन भारतीय लिपि में भारतीयता का पुट इतनी अधिक मात्रा में है कि वह हमें शीघ्र ही यह स्वीकार करने नहीं देता कि भारतीय लिपि का जन्म मेसोपोटामिया के प्रभाव से हुआ।

टास्क उत्तरवैदिक काल में शिक्षा की अपूर्व उन्नति हुई इस पर चर्चा करें ?

नोट

शिक्षा–उपनिषदों से पता चलता है कि उत्तरवैदिक काल में शिक्षा की अपूर्व उन्नति हुई। ऋग्वेद में हमें सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि माता-पिता अपने बच्चों को स्वयं घर पर पढ़ा लेते थे। लेकिन उत्तरवैदिक काल में देश में अनेक शिक्षण संस्थाएँ कायम हुईं। बड़े-बड़े आचार्य अपने आश्रमों में विद्यार्थियों को एकत्र करते और उन्हें शिक्षा दिया करते थे। गुरु के घर रहने के कारण विद्यार्थियों को अन्तेवासी कहा जाता था। विद्यार्थियों को किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं देना पड़ता था। उन्हें सरलता तथा सादगी के साथ जीवन व्यतीत करना पड़ता था। विद्यार्थियों के लिए भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना, पवित्र जीवन व्यतीत करना तथा सभ्यता एवं विनम्रता को अपनाना आवश्यक था। सभी विद्यार्थियों को अनेक वर्षों तक कठोर परिश्रम द्वारा विभिन्न प्रकार की विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। उन्हें सोच-समझकर भली-भांति वेदमन्त्रों को कंठस्थ करना पड़ता था। अध्ययन समाप्त करने के बाद जब विद्यार्थी आचार्य का घर छोड़ता था तब उसे गुरु दक्षिणा अवश्य देनी पड़ती थी। आश्रमों में सबसे अधिक महत्त्व अनुशासन को दिया जाता था। आचार्य लोग राजा-महाराजाओं के पुत्रों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करते थे जैसा कि साधारण लोगों के पुत्रों के साथ। गुरुभक्ति विद्यार्थियों का मुख्य धर्म था। लोगों का विश्वास था कि जिस विद्यार्थी पर गुरु प्रसन्न हो जाते हैं उसको ज्ञान अपने-आप उद्‌भासित हो जाता है। इसलिए अनेक प्रकार की सेवासुश्रूषा करके गुरु को प्रसन्न करना ही विद्यार्थियों का मुख्य ध्येय था। आचार्य लोग समय-समय पर शिष्यों की श्रद्धाभक्ति आदि की जांच के लिए कठिन परीक्षा लेते थे। इस प्रकार के बीसों उदाहरण उपनिषदों में मिलते हैं।

शिक्षा देने का मुख्य उत्तरदायित्व ब्राह्मणों पर था। उत्तरवैदिक काल में आचार्यों ने अपने चरण, गोत्र आदि के आधार पर अपने अलग-अलग संघ बना लिए थे, जो वैदिक ज्ञान की पाठशालाओं की तरह थे। उनमें वैदिक साहित्य का अपार ज्ञान बिना क्षय हुए संचित रहता था। आश्रमों में आचार्यों का जीवन भी अत्यन्त सरल, पवित्र तथा धार्मिक और आध्यात्मिक हुआ करता था। नैतिकता तथा सामाजिक गुणों के लिए उनकी सर्वत्र पूजा होती थी, बड़े-बड़े राजा-महराजा भी उनके सामने सिर नवाते थे। वे विद्यार्थियों को पुत्रवत् समझते और निःस्वार्थ भाव से उनकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते थे। धार्मिक प्रश्नों पर वाद-विवाद के लिए विद्वान मंडली की बैठक होती थी, जिसके उदाहरण वृहदारण्यक उपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद तथा सनत्कुमार का जो वार्तालाप दिया गया है, उससे ज्ञात होता है कि उन दिनों विभिन्न प्रकार के विषय पढ़ाये जाते थे जिसमें देवविद्या, भूतविद्या, क्षात्र विद्या, नक्षत्र विद्या, देवजन विद्या, कल्प, श्राद्ध, तर्कशास्त्र आदि प्रमुख थे। इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् से भी इतिहास, उपनिषद् अनुव्याख्यान, व्याख्यान आदि की शिक्षा का बोध होता है। शिक्षा समाप्त हो जाने के उपरांत गुरु शिष्य को उपदेश देता था कि सदा सच बोलना, अपने कर्त्तव्य का पालन करना, वेद पढ़ते रहना तथा गृहस्थ बनना।

साहित्य और कला की दशा–उत्तरवैदिक काल में साहित्य और कला का भी विकास हुआ। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों की रचना इसी युग में हुई। ब्राह्मणों का सूत्र साहित्य भी बहुत कुछ इसी युग में लिखा गया। उत्तरवैदिक काल में कला के क्षेत्र में भी कई परिवर्तन हुए। काव्यकला का स्वरूप अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया था। ऋग्वेद केवल स्तुति मंत्रों का संग्रह था, लेकिन अब यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्रों की रचना का काव्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत कर दिया गया। यजुर्वेद में यज्ञों का विस्तृत विवेचन है। सामवेद गीतिकाव्य है और संगीतकला पर उसका विस्तृत प्रभाव पड़ा। ब्राह्मण-ग्रन्थों में उच्च कोटि का दार्शनिक विवेचन है। यजुर्वेद में तन्त्र-मन्त्र हैं। सूत्रों की रचना इसी काल में हुई थी। इस समय संक्षेप में लिखने की कला की बड़ी उन्नति हुई। खगोलविद्या का भी विकास हुआ। इस काल में आर्य नये-नये नक्षत्रों को जान चुके थे।

धर्म–उत्तरवैदिक काल में आर्यों का धार्मिक जीवन ऋग्वैदिक काल के धार्मिक जीवन से सर्वथा बदल गया। उनकी धार्मिक धारणा और विश्वासों में भारी परितर्वन उत्पन्न हो गया। ऋग्वैदिक युग का धर्म सरल तथा आडम्बरहीन था। प्रकृति के विभिन्न रूपों के सौन्दर्य से प्रभावित होकर ऋषियों ने अनेक देवताओं की कल्पना की थी और उनके स्तवन में मन्त्र गाये थे। यज्ञादि अनुष्ठानों में भी सरलता थी किन्तु उत्तरवैदिक काल में यह स्थिति बदल गयी। देवताओं की संख्या में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ, पर उनकी स्थिति में अवश्य परिवर्तन हो गया। वरुण, इन्द्र आदि

नोट

की प्रधानता जाती रही तथा रुद्र, विष्णु और प्रजापति का महत्त्व बढ़ गया। रुद्र अब कल्याणकारी शिव बन गये और उनके लिए महादेव संज्ञा का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार प्रजापति का स्थान भी प्रमुख हो चला। ऋग्वेद में इस देवता का उतना अधिक महत्त्व नहीं था, किन्तु इस काम में वह यज्ञों का स्वामी हो गया। विष्णु को ऋग्वेद में सूर्य का ही रूप माना गया था। अब उनकी आराधना सर्वत्र होने लगी।

यज्ञ तथा बलि—ऋग्वैदिक काल में यज्ञ तथा बलि का बड़ा महत्त्व था। उत्तरवैदिक काल में इनके विधानों का और भी विकास हुआ और ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ गया। भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरोहितों की आवश्यकता पड़ने लगी। अब बलि और वैदिक मन्त्रों का महत्त्व भी पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया। अनेक प्रकार के बड़े-बड़े तथा महीनों और वर्षों तक चलने वाले व्ययशील यज्ञों का प्रचार बहुत बढ़ गया। इस कारण पुरोहितों का महत्त्व बढ़ा। बहुत से यज्ञों में सोलह सत्रह पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी।

यज्ञ कराने की विधियाँ भी जटिल हो गयीं। यह विश्वास जमने लगा कि यज्ञों द्वारा सभी प्रकार की मनोकामनाओं की पूर्ति हो सकती है। साधारण जनता भूत-प्रेत, जादू-टोना, सम्मोहन-वशीकरण आदि में विश्वास रखने लगी। फलतः उनमें अन्धविश्वास फैलने लगा। पहले घर में परिवार का मुखिया यज्ञ कर लेता था, परन्तु अब बिना पुरोहित या ब्राह्मणों के यज्ञ कराना असम्भव था। अतः जनता के धार्मिक जीवन की कुंजी पुरोहितों के हाथ पहुँच गयी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. ऋग्वेद में हमें सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं का उल्लेख मिलता है।
9. तप के सम्बन्ध में ऋग्वेद के दसवें मण्डल से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।
10. पूर्ववैदिक काल में आर्य अपनी समस्याओं का समाधान प्राकृतिक शक्तियों द्वारा करते थे।
11. "तप के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता" यह कथन मैत्रीय उपनिषद् में मिलता है।

इस युग में बलि का प्रचार खूब बढ़ा। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि यदि पुरोहित बलि नहीं देंगे तो सूर्योदय नहीं होगा। अतएव यज्ञों में फल, दूध, घी आदि के साथ पशुओं की बलि दी जाने लगी। बहुत-सी बलि महीनों तथा वर्षों तक चलती थी। अश्वमेघ यज्ञ के आरम्भ में 600 पशुओं का बलिदान किया जाता था।

तप—उत्तरवैदिक काल में तप को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। तप के द्वारा आत्मा और मन को शुद्ध किया जाता था। तप के सम्बन्ध में ऋग्वेद के दसवें मण्डल से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसके पूर्व नौ मण्डलों में तप की कोई चर्चा नहीं है। ऋतु और सत्य की तप से उत्पत्ति हुई, तप ही भावी जीवन की द्रष्टा है, तप से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। देवता तप करते हैं और यज्ञ से देवताओं ने स्वर्ग जीता है, प्रजापति ने सृष्टि की रचना के लिए तप किया था आदि का उल्लेख हमें कई जगह वैदिक साहित्य में मिलता है। तैत्तरीय ब्राह्मण में भी उल्लेख हुआ है कि देवों ने तप के द्वारा देवत्व पाया था। तैत्तरीय उपनिषद् में वरुण अपने पुत्र को समझाता है, "तप से ब्रह्म को समझो क्योंकि तप ही ब्रह्म है।" मैत्रीय उपनिषद् में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि तप के बिना ज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता।

दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास—उत्तरवैदिक काल में यदि एक ओर कर्मकाण्ड तथा यज्ञों के विधि-विधानों में बुराइयाँ घुस रही थीं तो दूसरी ओर आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान तथा तत्वचिन्तन की शक्तिशाली भावना का उदय और क्रमिक विकास हो रहा था। इस प्रकार के चिन्तन में लीन ब्रह्मज्ञानी यज्ञादि और उसकी जटिल क्रियाओं के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करने लगे और उन्हें निरर्थक, महत्त्वहीन तथा भ्रांतिपूर्ण समझने लगे। उनका कहना था कि यज्ञों द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन सारी बातों ने एक बौद्धिक क्रांति को जन्म दिया। इस क्रांति का नेतृत्व ब्राह्मण, ऋषियों तथा चिन्तनशील राजाओं ने किया। पहली कोटि में याज्ञवल्क्य, उद्दालक, आरुणि, श्वेतकेतु, सत्यकाम, जावाली, अश्वपति, कैकेय आदि के नाम अग्रगण्य हैं और दूसरी में जनक, विदेह, प्रवहण जावाली, अश्वपति, कैकेय आदि महत्वपूर्ण थे। याज्ञवालक्य और जनक को तो इस मानसिक आन्दोलन का प्राण कहा जा सकता है।

नोट

विश्व के वास्तविक रहस्य की खोज में इन विचारकों ने अपना सम्पूर्ण जीवन दे दिया। विश्व क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? मनुष्य क्या है? उसके जीवन का उद्देश्य क्या है आदि अनेक प्रश्नों ने इन चिन्तकों का मन उद्वेलित कर दिया था। जिन दार्शनिक विचारों को उन्होंने जन्म दिया वे आरण्यकों और उपनिषदों में संग्रहीत हैं।

इस प्रकार यज्ञों के जटिल विधि-विधानों के विरुद्ध आत्मचिन्तन की जो प्रभावशाली लहर उत्पन्न हुई, उसने एक नवीन धर्म का प्रादुर्भाव किया जो भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद में चलकर इस धर्म का विकास हुआ।

पूर्ववैदिक काल में आर्य अपनी समस्याओं का समाधान प्राकृतिक शक्तियों द्वारा किया करते थे। लेकिन, उत्तरवैदिक काल के आर्यों ने गहन मनन करना आरम्भ कर दिया। फलतः इस काल में आरण्यकों, उपनिषदों तथा दर्शनशास्त्रों की रचना हुई और इनमें आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध की जैसी विशद् विवेचना की गयी, वैसी कहीं अन्यत्र नहीं मिलती है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अनुमोदन इसी युग में किया गया और बतलाया गया कि मनुष्य का आगामी जन्म उसके कर्मों पर निर्भर रहता है। अच्छा काम करने वाला अच्छी योनि में और बुरा काम करने वाला बुरी योनि में उत्पन्न होता है।

विश्व की विविधता में एकता की खोज तो ऋग्वेद के दार्शनिक सूत्रों में शुरू हो गयी थी और सत् के रूप में उसका पता भी लग गया था। वहीं अद्वितीय सत्ता उपनिषदों में अधिक व्यापक रूप में ब्रह्म की कल्पना में अनुभूत हुई। यह केवल सत् ही नहीं, अपितु सत्, चित् और आनन्दमयी दिखाई पड़ा। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सर्वव्यापी, निर्गुण, निर्विकल्प तथा सर्वान्तर्यामी हैं। विश्व का उदय, धारण और प्रलय उसी से होता है। वही एक वास्तविक सत्ता है। इसके अतिरिक्त विश्व कुछ नहीं है। आत्मा ब्रह्म की ही ज्योति है और उससे भिन्न नहीं है। व्यक्ति केवल अपनी अज्ञानता से अपने को ब्रह्म से अलग और शरीर तक सीमित समझता है। अज्ञान में पड़ी हुई आत्मा अपने शुभ और अशुभ कार्यों के अनुसार कर्म के सिद्धान्त में संचालित होकर बार-बार जन्म और मरण के चक्कर में पड़ती है। इस अज्ञान से छुटकारा और ब्रह्म तथा आत्मा में एकता की अनुभूति की व्यवस्था को मोक्ष बतलाया गया है। उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का साधन है–ज्ञान और नैतिक आचरण।

इस काल में भारतीय दर्शन अर्थात् सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त का विकास हुआ है। ये दर्शन आस्तिक तथा वेदसम्मत माने जाते हैं। इन दर्शनशास्त्रों द्वारा प्राचीन आर्यों ने सृष्टि के मूल तत्वों के परिज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास किया। दर्शनग्रन्थों में वैज्ञानिक रीति से इस बात को जानने का प्रयत्न किया गया कि इस सृष्टि के मूल तत्व क्या हैं और यह किन तत्वों से मिलकर बनी है और इसका कोई स्रष्टा है या नहीं।

इसी युग में ग्राम एवं नगर बस्तियों के बाहर वनस्थलों में अनेक विचारक एवं दार्शनिक लोग अपने आश्रम बनाकर रहते थे और वहाँ ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु अनेक व्यक्ति उपस्थित होकर तप एवं स्वाध्याय द्वारा अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करते थे। इस युग में ऐसे अनेक राजा भी हुए जो इसी प्रकार के विचारों से प्रेरित थे। विदेह राजा 'जनक', कैकय के 'अश्वपति', पांचाल के प्रवहण, जावाली और काशी नरेश आजातशत्रु आदि के नाम आध्यात्मचिन्तकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये नृपति स्वतः तत्वचिन्तक होने के साथ-साथ ब्रह्मर्षि, मुनियों और दार्शनिकों के आश्रयदाता भी थे। इन राजाओं की राजसभा में भारत के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र हुए मुनि लोग अध्यात्म विषयक प्रश्नों पर विचार किया करते थे। अनेकानेक विद्वान शास्त्रार्थ करते थे और राजा लोग भी उनमें भाग लेते थे। विभिन्न विचारकों में जिसका पक्ष प्रबल होता था, उसकी धन आदि से पूजा की जाती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धिक एवं धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों ने भारतीय सभ्यता को युगों तक प्रभावित किया है।

5.2 सारांश (Summary)

पूर्ववैदिक काल के लोगों में खानाबदोश की जिन्दगी एक तरह से सरल, साधारण एवं सीधी थी। इनका जीवन बहुत ज्यादा व्यवस्थित नहीं था तो समाज में तनाव भी कम था। उत्तर वैदिककाल में स्थायी जीवन व्यतीत करने के फलस्वरूप इनका जीवन काफी व्यवस्थित हो गया था। इसके परिणामस्वरूप आर्यों के बीच सामाजिक विभाजन बड़ा मजबूत हो गया। सामाजिक विभाजन वर्ण पर आधारित था।

नोट

उत्तरवैदिक काल में चार वर्णों की चर्चा हम पाते हैं जिनकी उत्पत्ति देवता के अलग-अलग अंग से हुई। कहते हैं, मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। जिस देवता के मुख, भुजा, जंघा एवं पैर से अलग-अलग वर्णों की उत्पत्ति हुई वह कल्पना पर आधारित है। इस सम्बन्ध में किसी तरह का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। अत: अध्ययन की सुविधा के लिए उस देवता को प्रथम मानव या ब्राह्मण या देवता या कुछ और भी कह सकते हैं। इस तरह उत्तरवैदिक काल के सम्पूर्ण समाज को एक शरीर मानकर इसे चार भाग में बाँट दिया गया है। इस विभाजन का आधार धार्मिक है। तर्क की कहीं कोई गुंजाइश नहीं।

5.3 शब्दकोश (Keywords)

- अनुशासन (Discipline) : मन या स्वभाव पर नियन्त्रण
- एकता (Unity) : संपूर्णता प्राप्त करने की अवस्था

5.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. उत्तरवैदिक काल से आप क्या समझते हैं? उस युग की राजनीतिक अवस्था का वर्णन कीजिए।
2. उत्तरवैदिक काल के बौद्धिक एवं धार्मिक अवस्था का वर्णन कीजिए?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. राजा	2. अथर्ववेद	3. गंडक	4. (*a*)
5. (*a*)	6. (*c*)	7. (*c*)	8. गलत
9. सही	10. सही	11. सही।	

5.5 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*

नोट

इकाई–6: मौर्यकाल : चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक (Mauryas Period : Chandragupta, Bindusara, Ashoka)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
6.1 मौर्यकाल का उदय (Rising of Mauryas Period)
6.2 चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय (Rising of Chandragupta Maurya)
6.3 मेगस्थनीज का विवरण (Explanation of Megasthanize)
6.4 कौटिल्य का अर्थशास्त्र (The Economics of Kautilya)
6.5 बिन्दुसार (Bindusara)
6.6 अशोक और उसके उत्तराधिकारी (Ashoka and His Successors)
6.7 मौर्य साम्राज्य का पतन (Decline of Mauryas Kingdom)
6.8 सारांश (Summary)
6.9 शब्दकोश (Keywords)
6.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
6.11 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मौर्यकाल के उदय के साथ राजाओं के सफलताओं का वर्णन करने हेतु।
- अशोक का जीवन परिचय कराते हुए उनके साम्राज्य विस्तार एवं धर्म प्रचार अभिलेखों का वर्णन करने हेतु।
- मौर्य साम्राज्य के पतन के क्या कारण थे?

प्रस्तावना (Introduction)

भारत के इतिहास में मौर्यकाल का एक विशिष्ट स्थान है। मौर्य के आगमन से भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में एक युग का अन्त और दूसरे युग का आरम्भ होता है। प्राचीन भारत के इतिहास में मौर्य वंश प्रथम ऐतिहासिक वंश है। **वी. ए. स्मिथ** ने ठीक ही कहा है कि मौर्य वंश के आरम्भ से प्राचीन भारत का इतिहास अन्धकार से प्रकाश में आ जाता है।

6.1 मौर्यकाल का उदय (Rising of Mauryas Period)

नोट

मौर्यकाल से पूर्व का भारतीय इतिहास का कोई क्रम नहीं है और यह पूर्णतया विशृंखल है। न तो इस काल की तिथियों को सही रूप से निश्चित किया जा सकता है और न ठोस ऐतिहासिक साधन ही उपलब्ध हैं। प्रधानत: धार्मिक ग्रन्थों की सहायता से ही इस काल के इतिहास का निर्माण किया जाता है। परन्तु मौर्य काल के आरम्भ से ये दोनों कठिनाइयां समाप्त हो जाती हैं और भारत का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ हो जाता है। मौर्यकाल की तिथियां निश्चित हैं तथा इस काल के इतिहास को जानने के ठोस साधन भी उपलब्ध हैं। अतएव इस काल से भारतीय इतिहास का अध्ययन क्रमबद्ध रूप से किया जा सकता है।

राजनीतिक एकता का प्रारम्भ—मौर्यवंश के स्थापित हो जाने से उत्तरी भारत में पहले-पहल राजनीतिक एकता स्थापित हुई। मौर्यकाल के पूर्व भारतवर्ष में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था और सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। यद्यपि साम्राज्यवाद तथा राजनीतिक एकता का स्वप्न देखना भारतीय राजाओं ने मौर्यकाल के पहले ही आरम्भ कर दिया था, परन्तु इस स्वप्न को सर्वप्रथम मौर्य सम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त ने ही चरितार्थ किया। उसने पंजाब तथा सिन्धु से विदेशी यूनानियों को और उत्तरी भारत के अन्य छोटे-छोटे देशी राज्यों को समाप्त कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बांधा और इस प्रकार प्रथम बार हमारे देश में राजनीतिक एकता की स्थापना हुई। यह राजनीतिक एकता का आदर्श भारत के भावी महत्त्वाकांक्षी सम्राटों को सदैव प्रेरित करता रहा और इसका क्रम निरन्तर आज तक चलता आ रहा है।

शासन की एकरूपता—जब मौर्य सम्राटों ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में राजनीतिक एकता स्थापित कर दी, तब इस विशाल भू-भाग में अपने-आप ही एक ही प्रकार के सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन की स्थापना हो गई क्योंकि उस राजनीतिक एकता को बनाये रखने के लिए बड़े ही प्रबल तथा सुसंगठित शासन की आवश्यकता थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिस शासन व्यवस्था का शिलान्यास किया वही भावी शासकों के लिए आदर्श व्यवस्था बन गई और उसी में न्यूनाधिक परिवर्तन करके आगामी प्रशासकीय प्रतिभासम्पन्न शासकों ने अपनी शासन व्यवस्था का निर्माण किया। मौर्यकालीन शासन व्यवस्था शान्ति बनाये रखने तथा सम्पन्नता प्रदान करने में इतनी सफल हो गयी कि इसे शान्ति तथा सम्पन्नता का युग कह सकते हैं।

कला एवं साहित्य की उन्नति—मौर्यकाल में कला एवं साहित्य को आश्चर्यजनक रूप से प्रोत्साहन मिला। अशोक के समय में शिल्पकला, भवननिर्माण कला, चित्रकला, लेखनकला आदि कलाओं की विशेष उन्नति हुई। उसके बनवाये हुए स्तूप और भवनों की सजावट देखकर विदेशी यात्री भी चकित रह जाते थे। उसके समय के दस स्तूप पाये गये हैं, जिसकी चमक शताब्दियों के बाद भी उसी प्रकार है। आधुनिक कलाकार भी कला के ऐसे उत्कृष्ट नमूने को देखकर हैरान हैं।

बौद्धधर्म का प्रचार—मौर्यकाल में बौद्धधर्म का बहुत प्रचार हुआ। इस वंश के महान सम्राट अशोक ने बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए स्थान-स्थान पर स्तूपों व शिलाओं पर उनके नियम खुदवाये और विदेशों में राज्य की ओर से प्रचारक भेजे। उसने शान्ति एवं प्रेम का सन्देश देकर न केवल भारत के इतिहास में बल्कि विश्व के इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया। अशोक के इस महान कार्य के कारण मौर्यवंश को भारतीय इतिहास में बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है।

मौर्यकालीन इतिहास के साधन—मौर्यकाल के इतिहास जानने के साधन बड़े ही ठोस तथा व्यापक हैं। इस काल का इतिहास जानने के लिए हमें धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य साधन भी अर्थात् ऐतिहासिक ग्रन्थ, विदेशी विवरण, अभिलेख आदि प्राप्त हो जाते हैं। इस वंश के इतिहास को जानने के लिए निम्नलिखित स्रोतों को आधार बनाया जाता है—

नोट्स यूनानियों ने चन्द्रगुप्त को सैन्ड्रोटिस अथवा एन्ड्रकोटिस कहा था।

नोट

यूनानी वृतान्त–मौर्य इतिहास के निर्माण के लिए यूनानी स्रोत सबसे महत्त्वपूर्ण है। यूनानियों ने चन्द्रगुप्त को सैन्ड्रकोटिस अथवा एड्रकोटिस कहा है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त सिकन्दर का ही समकालीन था। इस खोज से हमें चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके समय का बहुत कुछ वृतान्त मिल जाता है। विदेशी स्रोत इस प्रकार एक ऐसे अध्याय पर रोशनी डालते हैं जो बिना इन स्रोतों के सम्भवत: अधूरा रह जाता और जो महान् कार्यों से परिपूर्ण है। भारतीय इतिहास भी इन स्रोतों का ऋणी है क्योंकि भारत का क्रमबद्ध इतिहास यूनानियों से ही आरम्भ होता है। सिकन्दर के ये साथी अपनी तीन रचनाओं के लिए विशेषकर प्रसिद्ध हैं।

1. नियार्कस जिसे सिकन्दर ने सिन्धु तथा ईरान की खाड़ी के मध्य का तटीय भाग खोजने के लिए भेजा था।
2. उनैसीक्रीट्स जिसने न्यारकस के सफर में उसका साथ दिया और बाद में उसने भारत में एक किताब लिखी।
3. अरिस्टोबलस जिसे सिकन्दर ने भारत में कुछ काम सौंपे थे।

इन यूनानियों की रचनाओं में मेगस्थनीज का उल्लेख करना अनिवार्य होगा। वह तीसरी शताब्दी ई. पू. भारत में आया। उसने एक रचना 'इण्डिका' (Indica) लिखी जो वास्तविक रूप से तो खोई जा चुकी है, परन्तु बाद के लेखकों की रचनाओं में उसके कुछ अंश प्राप्त हुए हैं और उन्हें इकट्ठा करके ही 'इण्डिका' की रचना की गई है।

मेगस्थनीज एक यूनानी विद्वान् था जिसे सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में अपना राजदूत बनाकर भेजा था। मेगस्थनीज पाटलिपुत्र में 304 से 299 ई. पू. तक रहा। इस काल में उसने जो कुछ भारत में देखा एवं सुना उसे अपनी 'पुस्तक' इण्डिका में लिखा। उसका यह भारतीय वृतांत अत्यन्त रोचक और उपयोगी सिद्ध हुआ। मेगस्थनीज ने अपनी पुस्तक में पाटलिपुत्र के शासन, उसकी राज्यसभा, शासनप्रबन्ध, सैनिक संगठन आदि विषयों का विस्तृत वर्णन किया है। **स्ट्रेबो, प्लिनी** आदि यूनानी इतिहासकारों ने अपने ग्रन्थों में मेगस्थनीज के इस वृतांत को काफी विस्तार में लिखा है। मेगस्थनीज के इस वृतांत में कहीं-कहीं ऐसी कहानियाँ पढ़ने को मिलती हैं जिन पर आसानी से विश्वास नहीं किया जा सकता। हो सकता है ऐसी बातें मेगस्थनीज ने जनश्रुतियों के आधार पर लिखी हों, परन्तु ऐसा होने पर भी यह वृतांत ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण और चन्द्रगुप्त का इतिहास जानने के लिए एक अनिवार्य सूत्र है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र–मौर्यकालीन इतिहास जानने का एक और महत्त्वपूर्ण साधन कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमन्त्री था। उसे विष्णुगुप्त और चाणक्य भी कहते थे। चन्द्रगुप्त को शासक बनाने में उसका महत्त्वपूर्ण हाथ था। उसका लिखा हुआ अर्थशास्त्र ऐतिहासिक तथा राजनीतिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त के समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था का वर्णन किया है, साथ ही राजनीति के उच्च कोटि के सिद्धांतों की विवेचना भी की है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में यह ग्रन्थ अपने नमूने का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। कौटिल्य एक महान् दार्शनिक और सफल कूटनीतिज्ञ था। उसने इस पुस्तक में एक आदर्श शासक तथा सफल विजेता के कर्त्तव्यों की विस्तृत विवेचना की है। उसने राजनीति और धर्म को अलग करके सोलहवीं शताब्दी के मैक्यावली की भांति उद्देश्य पूर्ति के लिए अच्छे एवं बुरे सभी साधनों के प्रयोग का पाठ पढ़ाया है। इस पुस्तक के पन्द्रह भाग हैं, जो राज्य प्रबन्ध और नीति, विशेष अंगों पर प्रकाश डालते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार **विंटरनिटज्** के अनुसार "प्राचीन भारत के राज्य प्रबन्ध, व्यापार, युद्ध और शान्ति आदि विषयों पर प्रकाश डालने वाली एक अद्वितीय पुस्तक है।" यह ग्रन्थ सामाजिक वैभव का विज्ञान है। इसमें तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक दर्शन दोनों का वर्णन है। इस प्रकार राजनीतिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टिकोणों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह न केवल मेगस्थनीज के वृतांत की पुष्टि करता है बल्कि उसका पूरक भी है।

अभिलेख–मौर्यकालीन इतिहास जानने के लिए हमारे पास सबसे अधिक विश्वसनीय अशोक के अनेक अभिलेख हैं। अशोक ने अपने राज्य के विभिन्न भागों में कई शिलालेख, स्तम्भलेख तथा अन्य स्मारक चिह्नों का निर्माण किया था। इन लेखों द्वारा उसने सारी मानव जाति को बौद्धधर्म के सिद्धान्त और पवित्रता के नियमों पर चलने का आदर्श पथ बतलाया था। अत: इन लेखों से उसके धर्म तथा नैतिकता के सिद्धांतों के विषय में पूर्ण जानकारी हो जाती है। इसके अतिरिक्त उसका राज्यविस्तार, उसके जनहितकारी कार्य, प्रजा के साथ उसका व्यवहार, उसके निजी जीवन,

नोट

राजस्व के सिद्धांत आदि अन्य बातों का भी इन अभिलेखों से पूरा-पूरा पता चलता है। यही कारण है कि ऐतिहासिक दृष्टि से अशोक के ये अभिलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

विशाखादत्त का मुद्राराक्षस—मुद्राराक्षस एक ऐतिहासिक नाटक है जिसे विशाख दत्त ने पांचवी शताब्दी में लिखा था। नाटक में नन्दवंश के नाश तथा मौर्य वंश की स्थापना की कहानी प्रस्तुत की गई है। मौर्यकाल के प्रारम्भिक इतिहास की इससे पर्याप्त जानकारी हो जाती है। चन्द्रगुप्त ने किस प्रकार कौटिल्य की सहायता से मगध का राज्य प्राप्त किया, यही इस नाटक का विषय है। परन्तु कल्पना का मिश्रण होने के कारण उसकी प्रत्येक बात विश्वसनीय नहीं है।

पुराण—पुराणों द्वारा भी मौर्यवंश तथा उससे पूर्व का इतिहास जानने में पर्याप्त सहायता मिल जाती है लेकिन इसमें भी कल्पना और अतिशयोक्ति का समावेश होने के कारण इन पर अधिक विश्वास नहीं किया जाता।

बौद्ध एवं जैन परम्पराएं—बौद्ध परम्पराएं मौर्य वंश के इतिहास पर काफी प्रकाश डालती हैं। दिव्यावदान में अशोक और कुणाल के सम्बन्ध में कई ऐतिहासिक बातों का वर्णन है, जो हमारी जानकारी के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार बौद्ध परम्पराओं से हमें अशोक के विषय में जानकारी मिलती है, उसी प्रकार जैन परम्पराओं द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में कई बातों का पता चल जाता है।

मौर्यकालीन भग्नावशेष—मौर्य की कलाकृतियों तथा भग्नावशेष भी उस समय की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास जानने के बहुत महत्त्वपूर्ण साधन हैं। उस समय के स्तूपों, विहारों, मठों, गुफाओं आदि से अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय कला और संस्कृति कितनी उन्नत अवस्था में थी और मौर्य शासकों ने अपनी उन्नति में कितना सहयोग दिया था। यही कारण है कि सांची के स्तूप तथा अन्य खण्डहर ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

मौर्यों का परिचय—चन्द्रगुप्त मौर्यवंश का संस्थापक था। इस प्रतिभाशाली और महान् सम्राट् की वंश परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद हैं। मौर्यों के ऐतिहासिक परिचय के लिए बृहत्कथा और मुद्राराक्षस से जो विवरण प्राप्त होते हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि इस राजवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का सम्बन्ध एक तुच्छ कुल और सम्भवत: नन्दवंश से ही था। 'मुद्राराक्षस' एक साहित्यिक कृति है और 'बृहत्कथा' पर आधारित है। इन ग्रन्थों के विपरीत एक अन्य प्रमाण्य ग्रंथ के अनुसार चन्द्रगुप्त क्षत्रियों के वंश में उत्पन्न हुआ था। पुराण ग्रंथ भी यही व्यक्त करते हैं कि नन्द राजवंश के अविर्भाव के समय शूद्र राजाओं का प्रभाव न था, किन्तु ये ग्रंथ यह उल्लेख कभी भी नहीं करते कि इन्हीं शूद्र राजाओं की सूची में मौर्यों को सम्मिलित किया जाना तर्कसंगत है। पुराणों में मौर्यों को शूद्र नहीं माना गया है अपितु इसे एक नवीन राजवंश ही स्वीकार किया गया है। अतएव स्पष्ट है कि मौर्य लोग क्षत्रिय थे। इस प्रकार मौर्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई तरह के सिद्धांत प्रचलित हैं।

यूनानी लेखक **जस्टिन** एवं कुछ प्राचीन हिन्दू ग्रंथकारों के मतानुसार चंद्रगुप्त नन्दवंश का युवराज था। 'मुद्राराक्षस' में तो चंद्रगुप्त को न केवल मौर्य पुत्र वरन् नन्द वंश का भी कहा गया है। इस ग्रंथ में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि मौर्य राजा चन्द्रगुप्त वंशत: वृषल (शूद्र) तथा 'कुलहीन' था। विष्णुपुराण के टीकाकार ने व्यक्त किया है कि चंद्रगुप्त, नन्दराज की एक पत्नी 'मुरा' से उत्पन्न हुआ था, अस्तु उसके वंश का नाम 'मौर्य' प्रसिद्ध हुआ। 'मुद्राराक्षस' के टीकाकार 'ढुन्ढिराज' ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त, मौर्य नामक नन्दराज का पुत्र था जो उपर्युक्त नन्द राजा महापद्मनन्द की उस पत्नी 'मुरा' के गर्भ से उत्पन्न हुआ था जो स्वयं एक शूद्र कन्या थी।

लेकिन मौर्य लोगों के विषय में कतिपय आधुनिक अनुसंधानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वे शूद्र नहीं थे। सम्भवत: यह एक प्रगतिशील राजवंश था, इस कारण इस वंश के लोग प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों को आंख मूंदकर विश्वास नहीं करते थे। दूसरी बात यह है कि मौर्यों ने बौद्ध धर्म भी स्वीकार कर लिया था। मौर्यों के बौद्ध धर्म में दीक्षा ले लेने के कारण कट्टर परम्परावादी हिन्दू ग्रंथकार ने मौर्यों को 'व्रात्य' (वैदिक धर्म से पतित), वृषल (शूद्र) तथा कुलहीन की संज्ञा दे दी है। इस सम्बन्ध में यह कथन पर्याप्त होगा कि कुछ विद्वानों ने तो यह सिद्ध किया कि वृषल का तात्पर्य व्रष अर्थात् राजाओं में प्रमुख एवं कुलहीन का तात्पर्य इस राजवंश की सामान्य स्थिति से ही है क्योंकि इस वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त स्वयं एक अत्यन्त साधारण स्थिति से ही राजपद को पहुंचा था। उपर्युक्त विष्णुपुराण के टीकाकार ने जो लिखा है कि चन्द्रगुप्त 'मुरा' नामक उस निम्न वंशी स्त्री से उत्पन्न हुआ

नोट

था जो राजा नन्द की पत्नी थी–इस कारण यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है कि 'मुरा' से व्याकरण के नियमानुकूल 'मौर्येय' शब्द की उत्पत्ति होती है न कि मौर्य की। मौर्य शब्द तो पाणिनी के ग्रन्थ 'गणपथ' में उल्लिखित 'मुर' नामक विशिष्ट गोत्र का परिचायक प्रतीत होता है। अन्त में, यूनानी लेखकों का यह कथन कि चन्द्रगुप्त साधारण कुल में उत्पन्न हुआ था, राज्यारोहण पूर्व की उसकी साधारण स्थिति की ओर संकेत करता है न कि उसके किसी शूद्र वंश में उत्पन्न होने की ओर। इस रूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य शूद्र अथवा निम्न वंश के नहीं थे।

बौद्ध धर्म के ग्रंथ महावंश के अनुसार चन्द्रगुप्त मौरियावंश का क्षत्रिय था। इस ग्रंथ में मोरियों को 'पिप्पलिबन' के गणराज्य का शासक बताया गया। 'मोरिया' को सुसंस्कृत भाषा में 'मौर्य' की संज्ञा दी जाती है। 'महापरिनिब्बाणसुत्त' में भी मौर्य को क्षत्रिय कहा गया है। एक अन्य बौद्ध ग्रंथ 'दिव्यावदान' में चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी बिंदुसार तथा अशोक को भी क्षत्रिय राजकुमार माना गया है। महावंश में तो यहां तक स्पष्ट किया गया है कि मौर्य लोग अपने को आदित्य अर्थात् सूर्यवंशी क्षत्रिय कहते थे। मध्यकालीन लेखों की अनेकानेक अनुश्रुतियों से सिद्ध हुआ है कि जिस मौर्य वंश में चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ था वह सूर्यवंशी था। महावंश के अनुसार 'मानधात्री' नामक सूर्यवंशी राजकुमार से ही मौर्य वंश की उत्पत्ति बतायी जाती है। **डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी** ने लिखा है–"छठी शताब्दी ई. पू. में मोरिय लोग पिप्पलिबन के छोटे से प्रजातंत्रराज्य में शासन कर रहे थे। यह राज्य नेपाल की तराई में रूम्मिनदेई तथा गोरखपुर जिले में कसिया के बीच में स्थित था। अत: भारत के अन्य पूर्वी राज्यों के साथ वह भी मगध राज्य में सम्मिलित हो गया होगा।" अनुश्रुतियों से पता चलता है कि चौथी शताब्दी ई. पू. में ये लोग बड़े संकट में थे और यहीं पर विन्ध्य वन के 'मयूरपोषकों' ग्वालों तथा शिकारियों के बीच में युवक चन्द्रगुप्त बड़ा हुआ। चाणक्य ने भी अप्रत्यक्ष रूप में मौर्यों को उच्च वंश का ही स्वीकार किया है। इस समय भी राजपूतों में मौरिवंश का अस्तित्व पाया जाता है। राजपूताना गजेटियर में मौर्यों को राजपूत (अर्थात् क्षत्रिय) जाति का बतलाया गया और पाश्चात्य विद्वान **टॉड** ने भी इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है।

बौद्ध अनुश्रुतियों ने मौर्यवंश के साथ मयूरों के सम्बन्ध की पुष्टि की है और जैन मतावलम्बियों के प्रसिद्ध ग्रंथ कल्प सूत्र ने भी एक मौर्य पुत्र को कश्यप गोत्र का बतलाया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य लोग उच्च वंश के ही थे। परिशिष्टपर्वण में उल्लिखित जैन अनुश्रुति के अनुसार मौर्यवंश का वास्तविक संस्थापक चन्द्रगुप्त ऐसे गांव के प्रधान की पुत्री से उत्पन्न हुआ था, जिसमें मयूर पोषकों का निवास था और यही कारण है कि चन्द्रगुप्त तथा उसके वंशज 'मौर्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए। सम्भवत: इसीलिए, जैसा कि **सर जॉन मार्शल** का कथन है–सांची के पूर्वी फाटकों पर मयूरचित्रों को अंकित किया गया था। **एरियन** का कथन है कि पाटलिपुत्र में राजप्रसाद के पार्कों में पालतू मोर रखे जाते थे। महावंश की टीका के अनुसार मौर्य लोग क्षत्रियों के प्रसिद्ध शाक्य राजवंश की शाखा थे किन्तु जिस समय कौशल के राजकुमार निरूधक ने उस पर आक्रमण किया, ये लोग भाग कर ऐसे स्थान पर आ बसे जहां मोर पक्षी बड़ी संख्या में पाये जाते थे। सम्भवत: इस समय से ये लोग मौर्य कहे जाने लगे। इसी समय उत्तर भारत में जब नन्द की शक्ति बढ़ रही थी और नन्दराज ने अन्य राज्यों के साथ-साथ मौर्यों का दमन किया। इसी समय चन्द्रगुप्त के अज्ञातनामा पिता का अत्याचारी नन्द राजा द्वारा वध कर दिया गया और उसकी पत्नी (चन्द्रगुप्त की माता) अपने कुछ सम्बन्धियों को साथ लेकर अपने गर्भस्थ पुत्र चन्द्रगुप्त के साथ भाग गई। अब वह पाटलिपुत्र में ही गुप्त रूप से अर्थात् मयूरपालक मौर्यों के संरक्षण में रहने लगी। जिस समय चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ उस समय मौर्यवंश पर घोर संकट के बादल मण्डरा रहे थे। इसी से लेखक जस्टिन ने चन्द्रगुप्त को साधारण वंश में उत्पन्न हुआ बतलाया।

6.2 चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय (Rising of Chandragupta Maurya)

चंद्रगुप्त मौर्य के जीवन पर प्रकाश डालने के लिए हमें बौद्ध अनुश्रुतियों का ही सहारा लेना पड़ता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त का पिता अपनी पत्नी (चन्द्रगुप्त की मां) को असहाय अवस्था में छोड़कर चल दिया था। इस दु:खी अवस्था में उसने पाटलिपुत्र में जाकर आश्रय लिया और कुछ समय उपरान्त उसने एक बालक को जन्म दिया, जिसे एक चरवाहे ने पाला। इस चरवाहे ने भी बाद में उसे एक शिकारी के हाथ बेच दिया। शिकारी के यहां रह

नोट

कर चन्द्रगुप्त उसके पशुओं की देखभाल किया करता था। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त इस शिकारी के यहां रहता हुआ गांव के बच्चों से मिलकर राजसी खेल खेला करता था। खेल ही खेल में यह राजा बन जाया करता था और जनता से न्याय करने का अभिनय किया करता था। एक बार जब चाणक्य उस मार्ग से गुजरा और उसने चन्द्रगुप्त को इस प्रकार की क्रीड़ा करते देखा तो उसने उसे शिकारी से मोल ले लिया। इसके बाद चाणक्य उसे तक्षशिला ले गया और थोड़े ही समय में उसे आवश्यक शिक्षाओं से सम्पन्न कर दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त का यौवनकाल तक्षशिला में ही बीता।

बताया जाता है कि चाणक्य वाद-विवाद और ज्ञान प्राप्ति के लिए पाटलिपुत्र जाया करता था। वहां धनानन्द राज्य करता था। वह दानशाला से बहुत-सा धन दान में दिया करता था। इस दानशाला का प्रबन्ध एक छोटी-सी सभा के हाथों में था और इस सभा के मुखिया ब्राह्मण हुआ करते थे। चाणक्य को दानशाला का प्रबन्धक नियुक्त कर दिया गया, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् उसे यह कह कर निकाल दिया गया कि वह स्वभाव का कटु और शक्ल से डरावना है। चाणक्य जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए यह बात असह्य थी। अत: उसने व्रत लिया कि वह नन्द वंश का नाश कर डालेगा। जब वह नन्दवंश के विनाश के साधनों पर विचार कर रहा था तब उसकी भेंट चन्द्रगुप्त से हुई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. मेगस्थनीज ..... ईसा पूर्व में भारत आया था।
2. ऐतिहासिक नाटक मुद्राराक्षस की रचना ..... ने पाँचवी शताब्दी ई. पू. में की थी।
3. चन्द्रगुप्त ने छ: लाख सेना को लेकर समस्त भारत को पदाक्रांत कर दिया यह लिखा ..... तथा ..... ने।

इस सम्बन्ध में एक और अनुश्रुति है। मौर्य वंश के दुर्दिन में चन्द्रगुप्त ने मगध के तत्कालीन नन्द शासक के यहां नौकरी कर ली। यह क्षत्रिय राजकुमार बाल्यकाल से ही बड़ा योग्य एवं प्रतिभा सम्पन्न था और इसने अपनी योग्यता के बल पर मगध के नन्दवंशी राजा को आकर्षित कर लिया। फलत: उसने उसे अपनी अपार सेना का सेनापतित्व प्रदान करके विशेष रूप से सम्मानित किया। कहा जाता है कि इसी समय सिंहल द्वीप के शासक ने नन्द राजा के दरबार में एक पिंजड़े में मोम का बना हुआ सिंह भेजा और उसे यह सन्देश किया कि जो व्यक्ति बिना पिंजड़े को खोले हुए ही सिंह को बाहर निकालने में सफल होगा वह वस्तुत: अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति होगा। वह सिंह इतने असाधारण कला कौशल से बनाया गया था कि वह वास्तविक सिंह के सदृश शक्तिशाली एवं भयंकर प्रतीत होता था। इस सिंह को देखकर जब अन्य सभासद् किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे तो उस समय चन्द्रगुप्त ने अपनी युक्ति से काम लिया। उसने एक लौह शलाका को ज्यों ही अग्नि में तपाकर मोम के बने हुए उस सिंह के शरीर से स्पर्श कराया, त्यों ही वह पिघल कर लुप्तप्राय हो गया। यह कथोक्ति इस बात को प्रमाणित करने में पर्याप्त है कि अवश्य ही चन्द्रगुप्त ने कुछ समय के लिए नन्द राजसभा में नौकरी की थी।

अब कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि नन्द राजा चन्द्रगुप्त से असंतुष्ट हो गया। अत: उसने उसे प्राणदण्ड दे दिया। फलत: अपनी प्राण रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त मगध से भाग निकला, किन्तु इसके साथ ही साथ उसने नन्दवंश का पूर्ण विनाश करने का दृढ़ संकल्प भी ले लिया। इधर तक्षशिला का सुप्रसिद्ध विष्णुगुप्त चाणक्य भी जो किसी धार्मिक अनुष्ठान में नंद राजा के द्वारा आमन्त्रित किया गया था, इस अवसर पर मगध नरेश पद्मनन्द द्वारा स्पष्ट रूप से अपमानित किये जाने के कारण उससे अत्यन्त असन्तुष्ट बैठा था। उसने क्रुद्ध होकर अपने अपमान का भीषण प्रतिरोध लेने का दृढ़ संकल्प बनाया। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त ने एकमत होकर नंदवंश के विरुद्ध भीषण विद्रोहाग्नि भड़काई। यद्यपि नंद राजा ने इस विद्रोह का बलपूर्वक दमन कर दिया तथापि वह अपने इन दोनों कट्टर बैरियों को बन्दी करने में विफल रहा।

नोट

पद्मनन्द के अत्याचारों में पीड़ित चन्द्रगुप्त ने पहले तो उससे प्रत्यक्ष युद्ध करने का विचार किया तत्पश्चात् उसने यवन आक्रांता सिकन्दर की शक्ति को तौलने एवं सैनिक संगठन का ढंग सीखने के उद्देश्य से उससे सम्पर्क स्थापित करना चाहा। **प्लूटार्क** ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि वह सिकन्दर महान के पास भी गया था। कुछ विद्वानों का मत तो यह है कि वह सिकन्दर को भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करने के विचार से ही उसके पास गया था किन्तु यह धारणा तर्कसंगत नहीं है और न कोई विश्वस्त प्रमाण ही उपलब्ध हैं। इस उदण्ड एवं निर्भीक नवयुवक की चाल-ढाल से ही सिकन्दर इतना अप्रसन्न हो उठा कि उसने भी उसे प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी किन्तु इस आज्ञा के कार्यान्वित किये जाने के पूर्व ही वह सिकन्दर के पंजे से निकल भागा। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि मगध नरेश पद्मनन्द एक आततायी शासक है तो यूनानी राजा सिकन्दर भी पूर्ण निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासक होने के कारण प्रजापीड़क भी है। इस धारणा को स्थायी रूप देकर उसने इन दोनों के राज्यों का अन्त करने के दृढ़ निश्चय से इस अकांक्षा पूर्ति के यथानुकूल साधनों को ढूंढना आरम्भ कर दिया। उसने अनुभव किया कि यदि उसने सीमान्त प्रान्तों को जीतने के उपरान्त ही मगध राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया होता तो वह अपने लक्ष्य पूर्ति में अवश्य सफल हो चुका होता। वर्तमान स्थिति में उसके पास युद्ध के प्रत्यक्ष साधनों का अभाव था।

अपने इस पर्यटन काल में चन्द्रगुप्त तक्षशिला के नीति विशारद ब्राह्मण आचार्य कौटिल्य से भी विन्ध्याचल के वनों में आ मिला। कौटिल्य अथवा विष्णुगुप्त 'चाणक्य' की जन्मभूमि भी तक्षशिला थी किन्तु वह वहां से मगध की राजधानी (पाटलिपुत्र) आ चुका था और जिस प्रकार उसका मगध सम्राट द्वारा अपमान हुआ उसका उल्लेख ऊपर किया गया है। कहा जाता है कि जिस समय चन्द्रगुप्त अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के साधनों के अभाव में चिंतातुर हो विन्धाचल की घोर वनस्थली में इधर-उधर भटक रहा था तो उसी समय उसकी चाणक्य से भेंट हो गई। घूमते-घूमते इसी वन में क्लांत होकर चन्द्रगुप्त भूमि पर प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ था तब एक भयानक सिंह उसके समीप आकर उसके शरीर को चाटने लगा। सिंह उसके स्वेद को चाटकर वापस चला गया और उसने राजकुमार को तनिक भी क्षति नहीं पहुँचाई। शकुन विचारकों का कथन था कि यह उसकी राज्य प्राप्ति का शुभ लक्षण था। इसी समय चाणक्य को भू मार्ग के अपार कोष की उपलब्धि हुई। इस असीम धन राशि से चन्द्रगुप्त के लिए जिसके गुणों से यह अत्यन्त प्रभावित हो चुका था, डाकुओं और सैनिकों की एक सुविशाल सेना एकत्र कर दी। वे सभी चन्द्रगुप्त को अपना स्वामी एवं नेता समझकर उसके कट्टर अनुयायी बन गये और अब चन्द्रगुप्त जैसे अजेय सेनानायक को अपनी आकांक्षा पूर्ति का दुर्लभ साधन भी उपलब्ध हो गया।

चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक विजय अभियान–अब चाणक्य और चन्द्रगुप्त नन्द साम्राज्य पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगे और तुरंत मगध पर आक्रमण कर दिया। लेकिन नन्दों की शक्ति के समक्ष वे टिक नहीं सके और उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। वे अपनी जान लेकर भागे और गुप्त वेश में इधर-उधर घूमने लगे। नन्द राजा **घनानन्द** ने उसके प्राणदण्ड की घोषणा की। गुप्त वेश में घूमते हुए एक दिन चन्द्रगुप्त को प्रेरणा मिली। एक बार वह किसी घर में टिक गया था। गृहस्वामिनी एक वृद्धा थी। भोजन करते समय उसके बच्चे ने उतावलेपन में आकर गरम और भाप से फूली हुई रोटी को बीच से खाना शुरू कर दिया। फलस्वरूप उसका मुख जल गया। वृद्धा माँ ने उसे समझाते हुए बताया किया तुमने चन्द्रगुप्त जैसी भूल की है। बीच से खाने के बदले तुम्हें किनारे से खाना आरम्भ करना चाहिए था। चन्द्रगुप्त को अपनी राजनीतिक और सैनिक भूल ज्ञात हुई और उसे इस बात का अनुभव हुआ कि नन्द साम्राज्य के केन्द्र पर आक्रमण करके उन्होंने एक बड़ी राजनीतिक और सैनिक भूल की थी। साम्राज्य और शक्ति केन्द्र के पास प्रबल होती है। वहाँ उसका सामना करना और उसे हराना कठिन होता है। इसके विपरीत साम्राज्य की सीमा और उसके बाहर के प्रदेशों में साम्राज्य के प्रति असंतोष होता है और साम्राज्य की शक्ति वहां दुर्बल होती है। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि साम्राज्य के बाहर कहीं सैनिक आधार बनाकर वहां से साम्राज्य के सीमान्त पर आक्रमण शुरू करना चाहिए। इस विचार से चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर उत्तरापथ चला गया और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए तैयारी करने लगा। चाणक्य उत्तरापथ की परिस्थिति से परिचित था और वहां पर उसको आक्रमण का आधार बनाना सरल था।

भारत से सिकन्दर के लौट जाने के बाद उत्तरापथ की स्थिति चन्द्रगुप्त के अनुकूल हो गयी। यूनानियों के द्वेष और घृणा तो जनता में थी ही, सिकन्दर के वापस जाने के बाद यूनानी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गया। विद्रोहाग्नि

नोट

को प्रज्वलित करने में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का बहुत बड़ा हाथ था। यूनानी लेखक इस बात को मानते हैं कि चन्द्रगुप्त ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया और यूनानियों को भारत से निकालकर दम लिया और उसके बहुत बड़े भाग पर आधिपत्य भी स्थापित किया। किन्तु उसके उद्देश्य की पूर्ति इससे नहीं होती थी। वह तो नन्द साम्राज्य को भंग कर वृहत साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था।

पंजाब पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त चन्द्रगुप्त पूरब की ओर बढ़ा और केवल दो वर्षों के अन्तर्गत हरिद्वार से इलाहाबाद तक गंगा की सम्पूर्ण उत्तरी और मध्य घाटी पर अपना आधिपत्य कायम करने में सफल रहा। इतने विस्तृत प्रदेश का स्वामी बन जाने से चन्द्रगुप्त की सेना और शक्ति में अपूर्व वृद्धि हुई। अब वह पंजाब तथा गंगा की ऊपरी घाटी का एकछत्र नरेश था। उसके पास अब युद्ध के दांव-पेचों से परिचित एवं अनुभवी सैनिकों की एक विशाल सेना थी और कुछ पड़ोसी राज्य भी उससे मित्रता की सन्धि में आबद्ध हो गये थे।

मगध की विजय—इन विजयों ने चन्द्रगुप्त की शक्ति को बढ़ा दिया। अब उसने तथा चाणक्य ने मगध सम्राट को परास्त करने की योजना बनाई। कहा जाता है कि प्रारम्भ में उन्होंने गलत समरनीति से काम लिया। साम्राज्य के केन्द्र स्थल पर आक्रमण किया गया। सीमांत प्रदेशों को चन्द्रगुप्त ने पहले जीतकर अपने अधिकार में करने को प्रयत्न नहीं किया। परिणामस्वरूप आक्रमण विफल रहा। तब दूसरी बार चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य की सीमाओं से आक्रमण आरम्भ किया और मार्ग से जो नगर तथा सैनिक चौकियाँ पड़ीं उन पर अधिकार करते हुए आगे बढ़ा और पाटलिपुत्र को घेर लिया। युद्ध में सम्राट घनानन्द मारा गया। घनानन्द की पराजय के अनेक कारण थे। वह निकम्मा था और प्रजा उससे घृणा करती थी। उसके पास अपार धन था। सम्भवत: जनता को लूटखसोट कर उसने अपना खजाना भरा होगा। जो भी हो, घनानन्द का विनाश कर 321 ई.पू. में चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन पर आसीन हुआ।

चन्द्रगुप्त मौर्य की दिग्विजय—कुछ वर्ष पूर्व का एक साधारण युवक मगध के सुविख्यात राज्य के सिंहासन पर आरुढ़ हुआ, निश्चय ही यह एक बहुत बड़ी बात थी। अब तक के भारतीय इतिहास का सम्भवत: यह पहला उदाहरण था कि अपने बलबूते एवं पौरुष पर साधारण स्थिति का व्यक्ति सम्राट बना। चन्द्रगुप्त के लिए सन्तोष का अधिक अवसर था, किन्तु महत्त्वाकांक्षी चन्द्रगुप्त के हृदय में एक अत्यंत विस्तृत एवं सुगठित साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा थी। वह किसी प्रकार भी इस सीमित मगध राज्य से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का भली-भांति अध्ययन किया था। उसने यह देखा था कि देश का छोटे-छोटे विभिन्न राज्यों में विभक्त रहना कितना हानिप्रद होता है और इससे बाह्य आक्रमणकारी की सफलता तथा देशी राज्यों की असफलता को कितना प्रोत्साहन मिलता है। चन्द्रगुप्त ने जिस परिश्रम द्वारा मगध का राज्य प्राप्त किया था, उसे स्थायित्व तथा दृढ़ता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने साम्राज्य की सीमा का विस्तार करे जिससे विशाल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् सैनिक तथा आर्थिक स्थिति काफी अच्छी हो सके।

सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त ने पंजाब पर आक्रमण किया और वहां से यूनानी विजय के अवशेष चिह्नों का सर्वदा के लिए अंत कर दिया। अब भारतवर्ष में यूनानी राज्य का नाम तक अवशेष नहीं रह गया था। देश को विदेशियों के हाथ से मुक्त कराने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने भारत के अन्य प्रान्तों को जीतने का निश्चय किया।

चन्द्रगुप्त की अन्य विजयों का हमें विस्तृत वृतांत नहीं मिलता किन्तु उसके साम्राज्य के विस्तार से ही स्पष्ट है कि उसका लगभग सम्पूर्ण जीवन सैनिक कार्यों में ही बीता होगा। यूनानी लेखक **जस्टिन** तथा **प्लूटार्क** ने तो यह लिखा है कि उसने छ: लाख सेना को लेकर समस्त भारत को पदाक्रांत कर दिया। अन्य साधनों से भी इस मत की पुष्टि होती है। अशोक के लेखों से विदित होता है कि उसका साम्राज्य दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने कोई विजय की हो इसका उल्लेख नहीं मिलता और अशोक ने केवल कलिंग को जीता। इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत के प्रदेशों को चन्द्रगुप्त ने ही जीता होगा। प्राचीन तमिल साहित्य में मौर्यों के सुदूर तिनेवली प्रदेश पर आक्रमण करने का उल्लेख है। मालवा तथा सौराष्ट्र चन्द्रगुप्त के राज्य के अंग थे, इसमें संदेह नहीं। जूनागढ़ में रूद्रदामन प्रथम का एक उत्कीर्ण लेख है जिससे पता लगता है कि चन्द्रगुप्त ने उस प्रदेश पर शासन करने के लिए पुष्यगुप्त नामक एक व्यक्ति को सूबेदार नियुक्त किया था और वहां सिंचाई के लिए सुदर्शन नामक झील का निर्माण कराया था। अशोक के समय में राजा पुशाष्क नामक एक यूनानी व्यक्ति उस प्रदेश का सूबेदार था। थाना जिले में

नोट

सुपारा नामक स्थान पर अशोक का एक उत्कीर्ण लेख मिला है, इससे स्पष्ट है कि वह प्रदेश उसके साम्राज्य में सम्मिलित था।

सेल्यूकस के साथ संघर्ष–चन्द्रगुप्त का अन्तिम संघर्ष सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस के साथ हुआ। जिस समय चन्द्रगुप्त भारत को विजय करने में लगा हुआ था, उसी समय पश्चिम एशिया में सेल्यूकस भारत पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। सेल्यूकस सिकन्दर के उन सेनानायकों में था जिन्होंने उसकी मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य को आपस में बांट लिया था। उसने सिकन्दर का अनुक्रमण करते हुए 305 ई.पू. में भारत पर आक्रमण कर दिया। सिकन्दर द्वारा जीते गये जिन प्रदेशों पर चन्द्रगुप्त ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया था उन्हें सेल्यूकस पुनः प्राप्त करना चाहता था। लेकिन सिकन्दरकालीन भारत तथा चन्द्रगुप्तकालीन भारत में महान अंतर था। सिकन्दर को छोटे-छोटे दुर्बल भारतीय राजाओं का सामना करना पड़ा था। उसका संघर्ष उन राज्यों से हुआ था जिसमें न केवल सैनिक दुर्बलता थी, प्रत्युत् उनमें पारस्परिक द्वेष एवं ईर्ष्या भी कूट-कूट कर भरी हुई थी। इसके विपरीत सेल्यूकस एक ऐसी शक्ति का सामना करने जा रहा था जो अपने राजनीतिक एवं सैनिक संगठन में अब तक के भारतीय इतिहास में अद्वितीय था। आक्रमण के उद्देश्य से सेल्यूकस सिंध पहुंचा। उधर चन्द्रगुप्त ने भी देश की पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था कर ली थी। निश्चय ही यूनानी रणप्रणाली विश्व विख्यात थी और इस प्रणाली से अपरिचित किसी भी शक्ति के लिए यूनानी सेना का दमन कठिन अवश्य था। किन्तु चन्द्रगुप्त ने यूनानी शिविर में इस रणप्रणाली की शिक्षा प्राप्त की थी। अतः वह इसके चालों, नियमों और सिद्धांतों से पूर्णतया परिचित था। उसकी सेना ने सिन्ध के उस पार ही सेल्यूकस की सेना को रोक दिया। बाद में दोनों पक्षों के बीच भीषण संग्राम हुआ। इस युद्ध में चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्यूकस को बुरी तरह पराजित कर दिया। सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त के साथ संधि करनी पड़ी। इस संधि की चार शर्तें थीं–

(*i*) वर्तमान अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान का सम्पूर्ण प्रदेश जो खैबर दर्रे से हिन्दुकुश पर्वत तक फैला था सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को दे दिया।

(*ii*) सेल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया।

(*iii*) चन्द्रगुप्त ने पांच सौ हाथी उपहार के रूप में सेल्यूकस को भेंट किये।

(*iv*) दूत विनिमय करने का निश्चय किया गया। एक यूनानी राजदूत पाटलिपुत्र में आया।

चन्द्रगुप्त की इस विजय का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उत्तर पश्चिम में चंद्रगुप्त के साम्राज्य की एक निश्चित भौगोलिक सीमा निर्धारित हो गयी। इस विजय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **वी.ए. स्मिथ** ने लिखा है कि "इसके परिणामस्वरूप दो हजार वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाएँ इस कदर विस्तृत हो गयीं कि उससे सैकड़ों वर्ष बाद आने वाले अंग्रेज भी इस नियमानुकूल सीमाओं को स्थापित न कर सके और मुगल सम्राट भी सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दियों में उस साम्राज्य को अक्षुण्ण नहीं रख सके।

इन विजयों के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त का राज्य काफी विस्तृत हो गया। उसका विशाल साम्राज्य उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में मैसूर तक तथा पूर्व में कामरूप से लेकर पश्चिम में हिरात, काबुल, कंधार, बलूचिस्तान तक फैला हुआ था। उसके साम्राज्य की सीमाएँ हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिम से दूर तक फैली हुई फारस की सीमा को स्पर्श कर रही थीं। इतना बड़ा साम्राज्य इससे पहले भारत में किसी राजा ने कायम नहीं किया था।

चन्द्रगुप्त का शासन प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त एक महान विजेता ही नहीं वरन् एक योग्य शासक भी था। उसने अपने विशाल साम्राज्य को सुव्यवस्थित शासन से दृढ़ किया। चन्द्रगुप्त स्वयं एक कुशल शासक तो था ही, उसे चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ का सहयोग भी प्राप्त था। इन दोनों ने मिलकर जिस शासन व्यवस्था की स्थापना की वह अत्यंत सुव्यवस्थित एवं उच्च कोटि की थी और जो उसके बाद शताब्दियों तक भारतीय नरेशों और सम्राटों के लिए अनुकरणीय बनी रही।

चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का ज्ञान हमें मेगस्थनीज की 'इंडिका' तथा कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से प्राप्त होता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मेगस्थनीज की यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है, पर रोमन तथा यूनानी लेखकों द्वारा उद्धृत अंशों से हमें चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का विवरण प्राप्त होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो चन्द्रगुप्त

नोट

के शासन की मूलभूत प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। कुछ विद्वान अर्थशास्त्र के रचयिता को तथा इस ग्रंथ को चन्द्रगुप्तकालीन नहीं स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका यह संदेह अधिक मान्य नहीं है और अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्तकालीन अथवा उसके काफी निकट का मानना ही युक्तिसंगत है। इन दोनों साधनों के अवलोकन से हमें चन्द्रगुप्त की शासन व्यवस्था और राजत्व काल में नागरिक जीवन के सम्बन्ध में निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है–

राजा की स्थिति–मौर्य सम्राट निरंकुश होते थे। सम्राट सम्पूर्ण शासन का प्रधान होता था। साम्राज्य की सारी शक्ति उसी में केन्द्रित रहती थी। व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी, न्याय तथा सेना सम्बन्धी सभी विषयों में अन्तिम सत्ता सम्राट के हाथ में थी। वह प्रधान सेनापति, प्रधान न्यायाधीश और प्रधान दण्डाधिकारी होता था। वह राजाज्ञा निकालता तथा प्रधान कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। राज्य के आय-व्यय का निरीक्षण वह स्वयं करता था। युद्ध संचालन तथा न्याय कार्य उसके प्रधान कार्य थे, उसकी स्थिति वैधानिक राजा की नहीं थी और न जनता उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण रखती थी। यद्यपि वह अपने मंत्रियों की सलाह से ही शासन का कार्य संभालता था, परन्तु वह मंत्रियों की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था। फिर भी वह स्वेच्छाचारी नहीं होता था। इस युग तक भारत में ऐसे अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके थे जिसमें सम्राट के कर्त्तव्यों एवं आदर्शों का प्रतिपादन किया गया था। सम्राट उन्हीं आदर्शों पर चलने का प्रयास करते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है "सुकर्म वह नहीं है जिससे केवल राजा का मनोरंजन हो, वास्तविक सुकर्म वह है जिससे प्रजा सुखी तथा प्रसन्न हो।" अतएव राजा अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझते थे। वे अपनी शक्ति को ईश्वर प्रदत्त नहीं मानते थे और न वे अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि ही मानते थे। देश की धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओं का उन्हें आदर करना पड़ता था। अतएव मौर्य शासन को हम उदार निरंकुश शासन कह सकते हैं। राजा अपने मंत्रियों की सलाह से बहुत सोच-विचार के पश्चात ही अपना निर्णय देता था। वह प्रजा के सुख-दु:ख का बड़ा ध्यान रखता था और प्रजा की शिकायतों को सुनने के लिए सदा तत्पर रहता था। चाणक्य का विचार था कि राजा को अपने द्वार पर किसी न्यायाकांक्षी प्रजाजन को अधिक समय तक प्रतीक्षा में खड़ा नहीं रहने देना चाहिए। चन्द्रगुप्त चाणक्य के इस विचार का समर्थक था। इसलिए हर समय वह अपनी प्रजा की शिकायत सुनने के लिए तैयार रहता था। मेगस्थनीज के अनुसार उसे अपने किसी भी प्रजा की शिकायत सुनने में कोई संकोच नहीं था। वह प्रजा का शोषक न होकर उनका पोषक था। संक्षेप में, उसके शासन में उदारता, न्याय और निरंकुशता का समुचित समन्वय था।

मंत्रिमण्डल–एक व्यक्ति के लिए इतने बड़े साम्राज्य का संचालन करना सम्भव नहीं था। अतएव सम्राट की सहायता के लिए मंत्रियों की एक समिति होती थी जो मंत्रिपरिषद कहलाती थी। इसमें बारह से लेकर बीस तक अथवा आवश्यकता अनुसार कम या अधिक मंत्री रहते थे। सभी मंत्री सुयोग्य, विद्वान और अनुभवी होते थे, परन्तु वे सम्राट द्वारा नियुक्त होने के कारण जनता के प्रतिनिधि नहीं थे। सम्राट अपने इच्छानुसार उन्हें नियुक्त या पृथक् कर सकता था। मंत्रिपरिषद् के सदस्यों का कर्त्तव्य केवल सलाह देना था। ऐसे परामर्शों को मानना या न मानना राजा के ऊपर निर्भर करता था। चाणक्य के अनुसार मंत्रियों का कार्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। उन्हें अड़तालीस हजार पण वार्षिक वेतन मिला करता था। वे आमात्यों की परीक्षा और उनकी नियुक्ति में सम्राट की सलाह दिया करते थे। राजकुमार पर भी उनका नियंत्रण रहता था। वे साम्राज्य की अत्यन्त गोपनीय बातों की जानकारी रखते थे और उन पर सम्राट को सलाह दिया करते थे। मंत्रिपरिषद के प्रमुख मंत्रियों के अतिरिक्त कुछ और मंत्री होते थे जिन्हें बारह सौ पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। इनका पद मंत्रिपरिषद के सदस्यों के पद से कुछ निम्न कोटि का था। इनको केवल अति आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण विषयों के उपस्थित होने पर ही बुलाया जाता था तथा उस समय उपस्थित सभी मंत्रियों के बहुमत के अनुसार सम्राट उपस्थित विषय पर अपना निर्णय दिया करता था। राजदूतों के स्वागत-सत्कार एवं अन्य समारोहों के अवसर पर मंत्रिपरिषद के सभी सदस्य उपस्थित रहते थे।

आमात्य मंडल–मंत्रिपरिषद के मंत्रियों के अतिरिक्त आमात्यों का एक अलग वर्ग होता था। शासन की सुविधा के लिए केन्द्रीय शासन कई भागों में विभक्त था, जिसको 'तीर्थ' कहते थे। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था जो आमात्य कहलाता था। इन आमात्यों के नीचे कई उपविभागों के अध्यक्ष भी होते थे। इनकी स्थिति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण होती थी। वे मजिस्ट्रेटों का काम किया करते थे। इनमें से कुछ हाट का, कुछ नगर का और कुछ सेना

नोट

का प्रबंध किया करते थे। कुछ लोग नदियों का निरीक्षण करते थे और कुछ भूमि की नाप का कार्य किया करते थे। आखेट का भी इन्हें प्रबंध करना पड़ता था। वे दण्ड तथा पुरस्कार भी दे सकते थे। वे कर वसूलने का कार्य भी करते थे। केन्द्रीय शासन में कुल अठारह विभाग थे। अतएव अठारह आमात्य रहते होंगे। इनके नाम इस प्रकार हैं–

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. चन्द्रगुप्त का अन्तिम संघर्ष ..... से हुआ था।
   (*a*) सेल्यूकस (*b*) सिकन्दर
   (*c*) डेमेट्रियस (*d*) उपरोक्त में से कोई नहीं।
5. चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध का ज्ञान किससे मिलता है–
   (*a*) कामायनी (*b*) इण्डिका
   (*c*) मुद्राराक्षस (*d*) उपरोक्त में से कोई नहीं।
6. किसने सिंहासन पर बैठने के समय 'देवानाम प्रिय' तथा 'प्रियदर्शी' की उपाधियाँ धारण कीं।
   (*a*) चन्द्रगुप्त मौर्य (*b*) बिन्दुसार
   (*c*) अशोक (*d*) इनमें से कोई नहीं।
7. अशोक के दो भाईयों सुसीम तथा विगताशोक का उल्लेख मिलता है–
   (*a*) दिव्यावदान (*b*) पुराण
   (*c*) आरण्यक (*d*) इनमें से कोई नहीं।

(1) पुरोहित, (2) मंत्री, (3) सेनाध्यक्ष, (4) दण्डपाल अर्थात पुलिस का प्रधान, (5) दौवारिक अथवा द्वारपाल, (6) युवराज, (7) दुर्गपाल अथवा गृह अधिकारी, (8) अन्तपाल अर्थात् सीमारक्षाधिकारी, (9) अन्तर्वशिक अथवा अन्त:पुर रक्षाधिकारी, (10) सन्निधात्री, अर्थात् राजकोष, अस्त्रागार और कोष्ठागार का अधिकारी, (11) प्रशस्त अर्थात् कारागार का अधिकारी, (12) समाहर्ता अर्थात् राज्य की सम्पत्ति एवं आय-व्यय का अधिकारी, (13) नायक अर्थात् नगर रक्षक, (14) प्रदेष्टा अर्थात् कमिश्नर, (15) व्यावहारिक अर्थात प्रधान न्यायाधीश, (16) पौर अर्थात् कोतवाल, (17) मंत्रिमण्डलाध्यक्ष तथा (18) कार्मातिक अर्थात् कारखानों का अधिकारी।

उपर्युक्त विभागों के पदाधिकारियों के अतिरिक्त कुछ अन्य पदाधिकारी भी थे, जो निम्नलिखित विभागों के अध्यक्ष थे–कोष आकार (खान), लौह (धातुएँ), लक्षण (टकसाल), लवण, सुवर्ण, कोष्ठागार (भण्डार), पण्य (राजकीय व्यवसाय), कुप्प (वन विभाग), आयुधागार (शस्त्रालय), पोतब (बटखरे), शुल्क, सूत्र (कताई-बुनाई), सुरा, सूना (कसाईखाना), मुद्रा (पासपोर्ट), विवीत (चारागाह), द्यूत (जुआ), बंधनागार (जेल), गौ (मवेशी), नौ (नौका), पत्तन (बन्दरगाह), गणिका, संस्था (व्यापार), देवता (मन्दिर), मान (स्थान एवं काल का माप और समय सम्बन्धी विभाग) अश्व, हस्ति पदाति तथा रथ विभाग।

प्रान्तीय शासन–चन्द्रगुप्त एक विशाल साम्राज्य का शासक था। अतएव शासन की सुविधा के लिए साम्राज्य कई भागों में विभक्त कर दिया गया था। प्रत्येक प्रांत कई आहारों तथा विषयों में विभक्त कर दिया गया था। चन्द्रगुप्त के समय में कितने प्रांत थे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सम्भवत: पांच-छ: मुख्य प्रांत रहे होंगे। पहला प्रांत उत्तरापथ का था, इसकी राजधानी तक्षशिला थी। अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिन्ध, पंजाब और काश्मीर का शासन यहीं से होता था। दूसरा प्रांत अवन्तिरूप का था। इसकी राजधानी उज्जैनी थी। मालवा तथा गुजरात का शासन यहीं से होता था। तीसरा प्रांत दक्षिणापथ का था। इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। चौथा प्रांत कलिंग का था, इसकी राजधानी तोषली थी। पाँचवां प्रांत प्राच्य कहलाता था, इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। चूंकि कलिंग पर अशोक ने

नोट

विजय प्राप्त की थी, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त के शासनकाल में चार ही प्रांत रहे होंगे। सुदूरस्थ प्रांतों के प्रबन्ध के लिए राजकुमारों को नियुक्त किया गया था। प्राच्य तथा मध्य देश के प्रांतों का प्रबन्ध सम्राट् अपने महामात्रों की सहायता से स्वयं करता था। वे महामात्र पाटलिपुत्र, कौशाम्बी आदि जैसे बड़े-बड़े नगरों में रहते थे। सुराष्ट्र का प्रबंध पुष्यगुप्त नामक एक वैश्य करता था। इन प्रांतों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भू-भाग थे जिन्हें स्थानीय मामलों में पर्याप्त स्वतंत्रता थी। ऐसे क्षेत्र अपने को मौर्य साम्राज्य के अधीन मानते थे और वार्षिक कर दिया करते थे।

नगरों का प्रबन्ध—चन्द्रगुप्त की शासन व्यवस्था में सम्राट राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र और स्रोत था, फिर भी देश के जीवन में स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं का बहुत महत्त्व था। मेगस्थनीज ने केवल पाटलिपुत्र के म्यूनिसिपल प्रशासन का विवरण दिया है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि साम्राज्य के अन्य बड़े-बड़े नगरों में भी इसी प्रकार का प्रबंध रहा होगा। पाटलिपुत्र के लिए तीस अध्यक्षों का एक आयोग था। इस आयोग को पांच-पांच सदस्यों की छः समितियों में बांटा गया था। हर समिति के अलग-अलग काम थे।

(*i*) **शिल्पकला समिति**—पाटलिपुत्र में शिल्पकारों की भीड़ थी। औद्योगिक कला तो काफी उन्नति कर चुकी थी। अतः औद्योगिक कलाओं के निरीक्षण के लिए शिल्पकला समिति का निर्माण किया गया था। यह समिति कलाकारों, मिस्त्रियों और अन्य श्रमिकों का पारिश्रमिक भी निर्धारित करती थी। औद्योगिक कलाकारों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी इसी पर था। वह उत्पादन की शुद्धता पर भी कठोर दृष्टि रखती थी।

(*ii*) **वैदेशिक समिति**—यह समिति राज्य में निवास करने वाले विदेशियों की देख-रेख के लिए बनी थी। उसका कर्त्तव्य यह था कि विदेशियों के आवागमन, उनके निवास स्थान, आवश्यकता पड़ने पर औषधि आदि का प्रबन्ध करे। साथ ही समिति के ऊपर उनकी सुरक्षा का भी भार था। विदेशियों की मृत्यु के पश्चात् उनकी अंतिम क्रिया भी यही समिति करती थी तथा उनके धन-सम्पत्ति को उचित उत्तराधिकारियों को दे देती थी।

(*iii*) **जनसंख्या समिति**—यह समिति जन्म-मरण का लेखा-जोखा रखती थी। इसका अभिप्राय केवल जनसंख्या की गणना करना ही न था या इसके आधार पर केवल राज्य कर ही नहीं लगाना था, अपितु जन्म-मरण की रजिस्ट्री के आधार पर सरकार को नागरिकों की जन्म-मृत्यु, चाहे वह उच्च कुल के हों अथवा निम्न कुल के, कराना भी था। जनसंख्या की वृद्धि अथवा कमी का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य स्पष्ट हैं और इसका केवल राजकीय कर से सम्बन्ध नहीं है। निश्चय ही इस जनगणना की रजिस्ट्री का राजनीतिक महत्त्व की अपेक्षा आर्थिक महत्त्व अधिक रहा होगा।

(*iv*) **वाणिज्य व्यवसाय समिति**—इस चौथी समिति का महत्त्व विशेष उल्लेखनीय है। यह समिति व्यापारियों एवं वणिकों के कार्यों की देख-रेख के लिए निर्मित की गयी थी। एक ओर तो यह उनकी वस्तुओं को जनता की सूचना द्वारा उचित समय पर बिकवा देने का प्रबंध करती थी, दूसरी ओर जनता के हित के लिए इस बात का ध्यान रखती थी कि व्यापारियों तथा बनियों की झूठी तौल या माप से जनता ठगी न जाये। कोई भी व्यक्ति बिना आज्ञा के एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय नहीं कर सकता था और जो व्यक्ति एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय करता था, उसे उसी अनुपात में अधिक कर भी देना पड़ता था।

(*v*) **वस्तु निरीक्षक समिति**—पाटलिपुत्र मौर्य साम्राज्य के औद्योगिक स्थानों में से प्रमुख था। अतः वस्तुओं के उत्पादन की देख-रेख के लिए एक पृथक् समिति को आवश्यकता थी। इसी अभिप्राय से उद्योगपतियों के उत्पादन का निरीक्षण करना इस पाँचवीं समिति का मुख्य कर्त्तव्य निश्चित किया गया था। यह समिति इस बात की देख-रेख करती थी कि औद्योगिक उत्पादन में किसी प्रकार की मिलावट करके उद्योगपति अनुचित लाभ न उठायें। नयी तथा पुरानी वस्तुएँ किसी प्रकार भी नहीं मिलायी जा सकती थीं और उक्त समिति इस बात का ध्यान रखती थी कि ये पृथक्-पृथक् बेची जाएँ। नियम भंग करने वाले व्यवसायियों को जुर्माना देना पड़ता था।

(*vi*) **कर समिति**—यह समिति बिक्री की वस्तुओं पर कर वसूल करती थी। यह भी काफी महत्त्वपूर्ण समिति थी। जो व्यापारी कर से बचने का प्रयत्न करता था उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।

नोट

सम्मिलित रूप से ये समितियाँ नगर की सफाई इत्यादि की देखभाल करती थीं, मंदिरों, बंदरगाहों, बाजारों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं की रक्षा करना भी इन्हीं का काम था।

पाटलिपुत्र–मेगस्थनीज ने मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र का वर्णन करते हुए लिखा था कि यह नगर गंगा और सोन के संगम पर बसा हुआ था। नगर की लम्बाई नौ मील और चौड़ाई पौने दो मील थी। इस नगर के चारों ओर एक अति सुदृढ़ ऊंची प्राचीर बनी हुई थी। इस प्राचीर में चौंसठ द्वार और पाँच सौ सत्तर बुर्ज बने थे। प्राचीर निर्माण में सुदृढ़ लकड़ी का बहुत अधिक प्रयोग किया गया था। प्राचीर के चारों ओर छः सौ फीट चौड़ी और पैंतालीस फीट गहरी खाई थी जो सदैव पानी से भरी रहती थी। नगर की शोभा अद्वितीय थी। उस समय भारत भर में कोई भी नगर पाटलिपुत्र के समान शोभाशाली और रमणीक नहीं था।

ग्राम्य शासन–प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत होती थी जो ग्राम का शासन करती थी। पंचायत में प्रायः बड़े बूढ़े और अनुभवी विद्वज्जन बैठते थे। पंचायत का सरपंच ही ग्राम का प्रमुख होता था और 'ग्रामिक' कहलाता था। वही गांव का शासन तथा झगड़ों का न्याय पंचायत के सदस्यों की सलाह से करता था। उसे ग्रामवासी ही चुनते थे तथा उसका पद अवैतनिक होता था। प्रत्येक ग्राम में सम्राट का एक भृत्य कर तथा लगान आदि वसूल करने के लिए रहता था। वह 'ग्राम भृतक' कहलाता था। लगभग दस ग्रामों के ऊपर एक 'गोप' होता था। वही अपने नियंत्रण में आए हुए ग्रामों के शासन तथा व्यवस्था अवस्था आदि की देखभाल करता था। कई गोप के ऊपर एक 'स्थानिक' होता था जिसके नियंत्रण में एक चौथाई जिला होता था। ग्रामिक, गोप और स्थानिक आदि पदाधिकारियों के कार्यों की देखभाल 'समाहर्ता' किया करता था।

सेना का प्रबन्ध–साम्राज्य सुरक्षा के लिए चन्द्रगुप्त ने एक विशाल सेना का संगठन भी किया था। उसने एक चतुरंगिणी अर्थात् हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल सेना का संगठन किया और उसके प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की। सम्राट स्वयं सेना का प्रधान सेनापति होता था और युद्ध स्थल में युद्ध का संचालन करता था। चन्द्रगुप्त ने एक जल सेना का भी संगठन किया था। सम्पूर्ण सेना के प्रबन्ध के लिए तीस सदस्यों की समिति होती थी। सेना का प्रबन्ध छः भागों में विभक्त था और प्रत्येक विभाग का प्रबन्ध पांच-पांच सदस्यों के हाथ में रहता था। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था। पहला विभाग जल सेना का प्रबन्ध करता था। दूसरा विभाग सेना को हर प्रकार की सामग्री तथा रसद भेजने का प्रबन्ध करता था। तीसरा विभाग पैदल सेना, चौथा अश्वरोहियों, पाँचवां हाथियों की सेना और छठा रथ सेना का प्रबन्ध करता था। सेना के साथ एक चिकित्सा विभाग होता था, जो घायल तथा रुग्ण सैनिकों की चिकित्सा करता था। चन्द्रगुप्त की सेना स्थायी थी और उसे राज्यों की ओर से वेतन तथा अस्त्र-शस्त्र मिलते थे। अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए सरकारी कारखाने भी थे।

पुलिस का प्रबन्ध–आन्तरिक शासन तथा सुव्यवस्था के लिए पुलिस विभाग की व्यवस्था की गयी थी। इसके दो उप विभाग थे, अर्थात् पुलिस प्रकट तथा गुप्त विभाग। प्रकट पुलिस के सिपाहियों को रक्षित कहा जाता था। गुप्तचरों के दो वर्ग थे, एक वर्ग को संस्थान और दूसरे वर्ग को संचारण कहते थे। संस्थान वर्ग के गुप्तचर एक स्थान पर रहते थे और संचारण वर्ग के गुप्तचर भ्रमण किया करते थे। स्त्रियाँ भी गुप्तचर का कार्य करती थीं। गुप्तचर लोग प्रत्येक स्थान तथा समय की सूचना सम्राट को दिया करते थे। ये लोग राज्य के बड़े-बड़े कर्मचारियों के कार्य का भी निरीक्षण करते थे तथा जनता के विचारों और कार्यकलापों की भी सूचना सम्राट को दिया करते थे।

गुप्तचर विभाग–मौर्य साम्राज्य का आधार केन्द्रीय शासन था। अतः उसमें गुप्तचरों को अति महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसीलिए गुप्तचर विभाग की स्थापना की गयी थी। कुछ गुप्तचर को स्थायी रूप से साम्राज्य के विभिन्न स्थानों में नियुक्त किया गया था। कुछ गुप्तचर भेष बदलकर इधर-उधर घूमते रहते थे। स्त्रियाँ भी गुप्तचर के काम में लगी हुई थीं। गुप्तचरों के अनेक कार्य थे। वे अपराधियों, चोरों और शत्रुओं का भेद लगाते लगाते रहते थे। वे सरकारी कर्मचारियों की गतिविधि पर ध्यान रखते और उनके कार्यों तथा चरित्र के सम्बन्ध में सम्राट को सूचना देते रहते थे। जो गुप्तचर कर्त्तव्यपालन से विमुख होते अथवा अपने काम में ढीले होते थे उन्हें सम्राट कठोर दण्ड देता था। गुप्तचर के कामों की देखभाल के लिए उनके ऊपर अन्य गुप्तचर नियुक्त रहते थे। इस प्रकार गुप्तचर विभाग साम्राज्य में व्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखने की दिशा में अति महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी था। राज्य के छोटे-बड़े सभी प्रकार के कर्मचारी गुप्तचरों के भय से कार्य उत्तमता एवं सावधानी के साथ करते थे।

नोट

न्याय और दण्ड विधान—सम्राट ही साम्राज्य का सर्वोच्च न्यायाधिकारी था। उसका न्यायालय साम्राज्य का सबसे ऊँचा न्यायालय माना जाता था। नगरों तथा जनपदों (जिलों) के लिए अलग-अलग न्यायालय बने हुए थे। नगरों के न्यायाधीश व्यावहारिक महामात्र कहे जाते थे। न्यायालय दीवानी तथा फौजदारी दो प्रकार के होते थे। दीवानी की अदालतें धर्मस्थ और फौजदारी की अदालतें कण्टक शोधन कहलाती थीं। छोटी अदालतों के निर्णय से असंतुष्ट अभियुक्त अपने मामले की अपील बड़े न्यायालय में कर सकता था। सम्राट का निर्णय अन्तिम माना जाता था। दो जनपदों के मिलने की सीमा पर जनपद सन्धि न्यायालय होता था जो दोनों जनपदों के मामलों का निर्णय करता था। यही सबसे छोटा न्यायालय होता था। उससे बड़ा न्यायालय संग्रहण, संग्रहण से बड़ा द्रोणमुख और द्रोणमुख से बड़ा स्थानीय कहलाता था। स्थानीय न्यायालय की अपील सम्राट के न्यायालय में सुनी जाती थी। इन न्यायालयों में से प्रत्येक में छः न्यायाधीश बैठते थे, जिनमें तीन धर्मस्थ (दीवानी के) तथा अमात्य (फौजदारी के) न्यायाधीश होते थे।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज के विवरण दोनों से ही स्पष्ट है कि दण्ड विधान बहुत कठोर था। छोटे अपराधों के लिए जुर्माने किये जाते थे जो तीन श्रेणियों में विभक्त थे। पहली श्रेणी का जुर्माना सोलह पण तक, दूसरी श्रेणी का पांच सौ पण तक और तृतीय श्रेणी का जुर्माना एक हजार पण तक किया जा सकता था। इससे बड़े अपराधों के लिए अंगभंग और मृत्युदण्ड था। झूठी गवाही देने पर जीभ काट ली जाती थी। शिल्पियों को क्षति पहुंचाने, राज्य कर न देने तथा सरकारी कर्मचारियों के अपराध करने पर मृत्युदण्ड दिया जाता था। चोरी, व्यभिचार, धोखाधड़ी आदि के लिए जुर्माना और गम्भीर होने पर अंगभंग का दण्ड दिया जाता था। वैद्यों और हकीमों को इलाज में असावधानी दिखलाने पर जुर्माने का दण्ड भुगतना पड़ता था। दण्ड विधान कठोर होने के कारण चोरी, व्यभिचार, आदि अपराध कमी के साथ होते थे। सम्राट के जन्मदिन, राज्याभिषेक संस्कार, राजकुमार के उत्पन्न होने अथवा किसी नवीन प्रदेश के विजय करने के उपलक्ष्य में पुराने कैदियों को छोड़ देने की रीति भी प्रचलित थी।

राजस्व—राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर था। यूनानी लेखकों का कहना है कि भूमि पर राज्य का स्वामित्व होता था। वह किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं समझी जाती थी। साधारणतया उपज का छठा भाग राज्यकर के रूप में वसूल किया जाता था; उसे 'भाग' कहते थे। विशेष परिस्थितियों में चौथाई अथवा आठवां अंश लिया जाता था। राज्यकर वसूल करने के लिए अलग पदाधिकारी थे, जिन्हें यूनानी लेखकों ने 'अग्रोनोमोई' नाम दिया है। भूमि तथा सिंचाई का काम भी इन्हीं अधिकारियों के हाथ में था।

राजकीय भूमि, चरागाहों तथा वनों से भी सरकार को अच्छी आय हो जाती थी। किसानों को सिंचाईकर भी देना पड़ता था। यह कर भूमि तथा फसल की किस्म को ध्यान में रखकर वसूल किया जाता था। नगरों में जन्म-मरण कर, मकान कर तथा बिक्रीकर लगाये जाते थे। राज्य की सीमाओं पर व्यापारियों को बहीशुल्क देना पड़ता था और नगरों के फाटकों तथा घाटों पर चुंगी वसूल की जाती थी। खानों, नमक, शस्त्रनिर्माण, मादक द्रव्यों, जुआ, वेश्यावृत्ति आदि पर सरकार का एकाधिकार था और इन साधनों से काफी आमदनी होती थी। शिल्पियों, व्यापारियों तथा अन्य अनेक देशों के लोगों को लाइसेंस लेना पड़ता था और उसके लिए शुल्क देना पड़ता था। न्यायालयों द्वारा अपराधियों पर किये गये जुर्माने, भेंट (नजराने), निःसंतानों की सम्पत्ति आदि सरकारी आय के अन्य मुख्य साधन थे।

राज्य के खर्च की मुख्य मदें थीं—राजपरिवार, धार्मिक कार्य, सेना, सरकारी पदाधिकारियों के वेतन, भत्ते इत्यादि, शिक्षा, दान, यातायात तथा अन्य लोकसेवा कार्य। राजस्व विभाग का संचालक समाहर्ता था और उसके नीचे अनेक अध्यक्ष कार्य करते थे।

लोकहितकारी कार्य—चन्द्रगुप्त ने अपनी प्रजा को अधिक से अधिक सुविधा तथा सुख प्रदान करने का प्रयत्न किया था। इस दिशा में उसका पहला प्रशंसनीय कार्य यातायात की समुचित व्यवस्था करना था। उसके गमनागमन के मार्गों का निर्माण करवाया और उसकी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था की। उसने बहुत-सी नयी सड़कों का निर्माण करवाया और पुरानी सड़कों की मरम्मत करवायी। सड़कों की देखभाल के लिए एक अलग विभाग था। उसने सड़कों के दोनों ओर वृक्ष लगवाये और कुछ-कुछ दूरी पर उन पर कुएँ भी खुदवाये। इससे आवागमन के साधन सुलभ हो गये और व्यापार में बड़ी वृद्धि हुई।

चन्द्रगुप्त ने सिंचाई का उचित प्रबन्ध किया था। बहुत-सी नहरों की खुदाई हुई। कृषि की उन्नति की और राज्य की ओर से विशेष ध्यान दिया जाता था और कृषकों को तरह-तरह की सहायताएँ दी जाती थीं। चन्द्रगुप्त ने सौराष्ट्र में

नोट

सुदर्शन नामक एक झील का निर्माण करवाया था, जिससे कृषकों को सिंचाई कार्य में विशेष सहायता प्राप्त होती थी।

चन्द्रगुप्त ने प्रजा के स्वास्थ्य और सफाई पर भी ध्यान दिया। उसने अनेक चिकित्सालय खुलवाये और उनमें वैद्य रखे। नगरों की स्वच्छता तथा भोजन सामग्री की शुद्धता पर दृष्टि रखने के लिए निरीक्षक रखे थे। आकस्मिक संकटों तथा रोग, महामारी, अकाल, अग्नि, बाढ़ आदि से जनता की रक्षा करने के लिए भी सरकार की ओर से प्रबन्ध किया जाता था।

सम्राट् का व्यक्तिगत जीवन–सम्राट चन्द्रगुप्त शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित राजाओं के आदेशों के अनुसार जीवन बिताता था। उसका अधिकांश समय राजकाज में ही बीतता था। उसे अपने कर्त्तव्य का इतना ध्यान था कि उसने आज्ञा निकाल रखी थी कि कोई प्रजाजन कभी फरियाद लेकर मेरे सामने आ सकता है; यहां तक कि जिस समय वह शरीर पर मालिश करवाता उस समय भी यदि कोई चाहता तो उसके सामने आवेदन लेकर पहुँच सकता था। **मेगस्थनीज** लिखता है कि 'सम्राट अपने शत्रुओं से बहुत सावधान रहता है; उसे कत्ल का हमेशा डर लगा रहता है, कभी दो बार पलंग पर नहीं सोता, उसका भोजन खाने से पूर्व चख लिखा जाता था जिससे विष का डर न रहे। कोई भी महल में बिना आज्ञा के नहीं घुस सकता था। गुप्तचरों की एक बड़ी फौज थी जो सम्राट को हर समय नगर तथा साम्राज्य के समाचारों से अवगत कराती रहती थी। राज्य के शत्रुओं का नाश करने के लिए हर साधन का प्रयोग किया जाता था। दासियों का एक बड़ा समूह सदैव सम्राट की सेवा में उपस्थित रहता था। वे ही दासियाँ उसके लिए भोजन बनातीं, उसके शरीर पर मालिश करतीं तथा नृत्य और गायन से सदा उसका मनोरंजन करती थीं। महल पर रात को सदा अंगरक्षकों का पहरा रहता था। सम्राट केवल त्यौहारों अथवा विशेष अवसरों पर ही महल के बाहर निकलता था, उस समय उसके पीछे एक विशाल जुलूस चलता, सेवकों का बड़ा समूह उसके पीछे स्वर्ण पात्र, मेजें, कुर्सियाँ, अनेक प्रकार के रत्नजड़ित पात्र तथा वस्त्र आदि लेकर चलता। अंगरक्षक मार्ग के दोनों ओर पंक्तियों में चलते, जिससे दर्शक दूर रहें। यदि कोई स्त्रियों की पंक्तियों के भीतर जाता तो उसे मृत्युदण्ड मिलता। जब सम्राट अपने केश धोता उस समय एक दरबार लगता तथा सामन्त लोग अभिवादन करने आते। इस प्रकार सम्राट का जीवन बड़े ठाट-बाट का था।

मेगस्थनीज बताता है कि राजा की रक्षा के लिए अंगरक्षकों के स्थान पर अंगरक्षिकाएँ हुआ करती थीं। उसे हर समय अपने जीवन का भय लगा रहता था। अत: वह एक ही स्थान पर लगातार दो रातों तक नहीं सोया करता था। राजा के प्रथम पुत्र को ही उसके बाद गद्दी पर बैठाया जाता था। राजा शिकार का बड़ा शौकीन था और शिकार के कार्यक्रम को बड़ी धूमधाम से संचालित किया जाता था। राजा देश में दूर-दूर तक हाथी पर चढ़कर शिकार किया करता था। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ ही उसकी अंगरक्षिकाएँ हुआ करती थीं। ये अंगरक्षिकाएँ सशस्त्र होती थीं। इस शाही जुलूस के लिए सड़कों के दोनों ओर रस्से लगा दिये जाते थे, जिन्हें पार करने का अर्थ मौत था अर्थात् लोग उन्हें पार नहीं कर सकते थे। राजा की शान और उसका तेज महान था। शान और सौंदर्य में शाही महल अनुपम था। सूसा और ऐकबटान के महल उसके सामने कुछ न थे। इसके मुलम्मेदार स्तम्भों पर सोने की बेलें चढ़ी थीं। चाँदी के पक्षियों को उन पर सजाया गया था। बड़े-बड़े उद्यानों और उपवनों में भवनों का निर्माण हुआ था। इन भवनों के आस-पास विभिन्न ताल थे, जिनमें मछलियाँ तैरा करती थीं। उनके आस-पास की सजीली झाड़ियों और वृक्षों ने उन्हें घेर रखा था। विलास क्रीड़ा के सभी साधन प्राप्त थे। चिरमचियों और अन्य सोने के बर्तनों का ही प्रयोग होता था।

सम्राट का जीवन कठिन परिश्रम का था। प्रात:काल संगीत द्वारा उसे जगाया जाता था। स्नान तथा पूजापाठ करने के उपरान्त वह न्यायालयों में जाता और दरबार में जाकर प्रजा को दर्शन देता। फिर मन्त्रियों से परामर्श करता, गुप्तचरों के रिपोर्ट सुनता तथा पत्रव्यवहार देखता था और दोपहर के समय भोजनोपरान्त आराम करता। संध्या का समय सेनाओं तथा दुर्गों का निरीक्षण करने और आमोद-प्रमोद में व्यतीत होता था। सम्राट को शिकार का शौक था। जानवरों की कुस्तियाँ, रथों और घोड़ों की दौड़ उसके मनोरंजन के साधन थे।

चन्द्रगुप्त का धर्म–प्रारम्भ में चन्द्रगुप्त जैनेतर धर्म में विश्वास रखने वाला था। **हेमचन्द्र** के अनुसार वह मिथ्यामतावलम्बी व्यक्तियों का संरक्षक था। उसकी राजसभा में एक जटिलक मन्त्री था। जटिलक सम्प्रदाय का

नोट

उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। चाणक्य का प्रभाव तो उस पर अवश्य ही रहा होगा। यूनानी लेखकों के अनुसार वह याज्ञिक कार्य के लिए राजप्रासाद से बाहर निकलता था। बौद्धधर्म के प्रति उसकी आस्था थी या नहीं, यह कहना कठिन है। जीवन के अन्तिम चरण में वह जैनधर्मावलम्बी हो गया। धार्मिक सहिष्णुता का वह समर्थक था।

चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिवस–जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने महावीर स्वामी की शिष्यता ग्रहण कर ली थी। कहा जाता है कि भारत के इस महान सेनानायक तथा कुशल शासक ने चौबीस वर्षों तक अत्यन्त सफलतापूर्वक शासन करने के उपरान्त राजवैभव को लात मार कर 298 ई.पू. में संन्यास ग्रहण कर लिया। उसके शासनकाल के अन्तिम भाग में उसके राज्य में एक बहुत बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। अतएव, जैन भिक्षुओं के एक बहुत बड़े दल ने आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में कर्नाटक के लिए प्रस्थान कर दिया। चन्द्रगुप्त को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया और अपना राज्य अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंप कर वह स्वयं कर्नाटक के पर्वतों की ओर चला गया और वहीं पर एक सच्चे जैनी की भांति अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के संस्थापक की जीवनलीला समाप्त हो गयी। चन्द्रगुप्त का शासनकाल 324 अथवा 321 ई.पू. से 300 ई.पू. तक माना जाता है।

चन्द्रगुप्त का मूल्यांकन–इतिहास में चन्द्रगुप्त का उच्च स्थान है। उसकी गणना इतिहास के महान् विजेताओं और साम्राज्य निर्माताओं में होती है। उसने एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसकी सीमा फारस की सीमा को छूती थी। यद्यपि भारत पर अन्य महान् राजाओं ने भी शासन किया लेकिन भारत के उत्तर-पश्चिम में किसी सम्राट ने इतनी सफलता से शासन नहीं किया जितनी सफलता से चन्द्रगुप्त ने किया था। यूनानियों को भारत से खदेड़ निकालने और देश को स्वतंत्र करने का श्रेय चन्द्रगुप्त को ही प्राप्त है। जिस समय चन्द्रगुप्त ने अपना अभियान आरम्भ किया था, उस समय भारत में राजनीतिक एकता नहीं थी और भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। फलतः उसमें विदेशियों के आक्रमण को रोकने की शक्ति नहीं थी। चन्द्रगुप्त ने दिग्विजय करके भारत को राजनीतिक एकता प्रदान की। उसने सम्पूर्ण भारत में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया और एक ऐसी प्रबल सेना का संगठन किया, जिसके परिणामस्वरूप न केवल उसके समय में वरन् उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी भारत बहुत दिनों तक विदेशी आक्रमणों के भय से मुक्त रहा।

चन्द्रगुप्त धार्मिक मामलों में बड़ा उदार था। वह सभी धर्मों को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखता था। उसके साम्राज्य में सभी व्यक्तियों को इच्छित धर्म पालन करने और अपने इष्टदेव की पूजा करने का अधिकार था। धार्मिक अत्याचार का कोई चिह्न नहीं था। इसलिए ब्राह्मण उसे ब्राह्मण धर्म का, जैन उसे जैन धर्म का और बौद्ध उसे बौद्ध मत का अनुयायी मानते थे।

चन्द्रगुप्त का काल साहित्यिक रुचि से भी रिक्त नहीं था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा जैन कल्पसूत्र की रचना इसी काल में हुई थी। वह साहित्य प्रेमियों को हमेशा प्रोत्साहन देता रहता था।

प्रकृति और सौंदर्य से चन्द्रगुप्त को बड़ा प्रेम था। वह एक अत्यन्त भव्य राजप्रासाद में निवास करता था, जो सुन्दरता तथा रमणीयता में ईरान के सम्राटों के भी राजप्रासादों से कहीं अधिक सुन्दर था। राजभवन के चारों ओर भव्य उपवन तथा सरोवर बने हुए थे। इन उपवनों में विभिन्न प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे। राजभवन के आंगन में मयूर विचरते रहते थे। तालाब सुन्दर तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की मछलियों से पूर्ण रहते थे। मेगस्थनीज भी उसके राजभवन तथा ठाट-बाट को देखकर स्तम्भित रह गया था। उसके दरबार में सब प्रकार की ऐश्वर्यपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त थीं। सोने चाँदी के कलश, हीरे-जवाहरातों से जड़ी हुई मेजें, सिंहासन और स्तम्भों को देखकर दर्शकों की आँखें चकाचौंध हो जाती थीं। इन सब बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रगुप्त को प्रकृति और सुन्दरता से अत्यन्त प्रेम था।

चन्द्रगुप्त एक उच्च कोटि का शासक भी था। उसकी स्थापित शासन व्यवस्था इतनी सुव्यवस्थित और उच्च कोटि की थी कि वह उसके बाद शताब्दियों तक भारतीय नरेशों और सम्राटों के लिए अनुकरणीय बनी रही। विजेता बाबर ने भी मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी, किन्तु शासन प्रबन्ध के विषय में उसने कुछ नहीं किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक महान विजेता की भांति केवल विस्तृत साम्राज्य की स्थापना ही न की थी वरन् उसने अपने विशाल साम्राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था भी स्थापित करने के लिए सुसंगठित शासन प्रबन्ध की भी व्यवस्था की थी। उसने भारतीय सम्राटों को इस क्षेत्र में प्रेरणा दी। बिन्दुसार के नगण्य शासन तथा अशोक के धार्मिक राज्य के समय में मौर्य साम्राज्य

नोट

जितनी शीघ्रता से बना था उतनी ही शीघ्रता से समाप्त हो गया होता, पर यह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध की ही विशेषता थी कि वह इतने दिनों तक चल सका। जिस सेना का संगठन चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया था वह अशोक के धर्मपरायण युग में अस्त्र-शस्त्र से विदा लेने के पश्चात् भी इतनी सशक्त एवं भयंकर थी कि किसी भी आंतरिक या बाह्य उथल-पुथल द्वारा साम्राज्य की शांति भंग न हो सकी। चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध के अन्तर्गत दण्डविधान में कठोरता का समावेश प्राप्त होता है और इसी आधार पर जस्टिन महोदय ने उसे निर्दयी एवं क्रूर कहा है, किन्तु मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त को अवतरित देवता घोषित किया गया है जो सुख तथा समृद्धि प्रदान करने के लिए स्वर्ग से उतरा है। मेगस्थनीज ने भी चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

6.3 मेगस्थनीज का विवरण (Explanation of Megasthanize)

मेगस्थनीज की 'इण्डिका'—मौर्यकालीन भारत के इतिहास की जानकारी का दूसरा साधन मेगस्थनीज की 'इण्डिका' है। इस पुस्तक में मेगस्थानीज ने उस समय के विषय में बहुत कुछ लिखा है। मेगस्थनीज यूनानी राजदूत था जिसे सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा था। इण्डिका हमें आज मूल रूप में प्राप्त नहीं होती। यूनानी लेखकों द्वारा उद्धृत उसके कुछ उद्धरण इधर-उधर पुस्तकों में देखने को मिलते हैं। **डायोडोरस** ने अपने पाठकों को समझाने के लिए इण्डिका के कुछ उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। यह सम्भव है कि उद्धृत करते समय वे विकृत हो गये हों अथवा ऐसा करते समय महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य छूट गये हों लेकिन यह बात किसी भी हालत में मान्य नहीं हो सकती है कि इण्डिका में केवल कल्पना ही है। डॉ. जाली जैसे विद्वान इण्डिका की प्रामाणिकता पर कम विश्वास करते हैं। उनका कथन है कि मेगस्थनीज ने अन्य देशों की बातों को भी भारत के साथ जोड़ दिया है। मेगस्थनीज को भारत की किसी भाषा का ज्ञान नहीं था। भारत का उसने पूरा भ्रमण भी नहीं किया था। वह केवल पंजाब और पाटलिपुत्र तक ही सीमित रहा। इसके अतिरिक्त भारत में वह अधिक दिनों तक नहीं रहा। ऐसी हालत में भारत के सम्बन्ध में उसको जानकारी कितनी हुई होगी? यह भी हो सकता है कि वह यहाँ की संस्थाओं और प्रथाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर सका हो। यह भी हो सकता है कि वह विशेष भारतीय नामों को समझ ही न पाया हो। इस बात की भी सम्भावना है कि उसके विदेशी कान भारतीय शब्दों के उच्चारण को नहीं समझ सके हों। जब वह बहुत समय बाद 'इण्डिका' को लिखने बैठा हो, सम्भवत: वह शब्दों के शुद्ध उच्चारण और वर्ग विन्यास को भूल गया हो। एक तर्क और है कि जिन लेखकों ने 'इण्डिका' के उद्धरण अपनी पुस्तकों में प्रस्तुत किये हैं, वे भी शायद उन्हें ठीक प्रकार समझ न पाये हों।

इन त्रुटियों के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि मेगस्थनीज ने अपने समय का अच्छा चित्रण किया है। डा. **स्मिथ** का कथन है कि कुछ भी हो, मेगस्थनीज की लेखनी विश्वसनीय है। उसने जो कुछ देखा है वही लिखा है। उसके द्वारा लिखित चन्द्रगुप्त का सैनिक और सामाजिक प्रशासन विश्वास की वस्तु है। उसे बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लेना चाहिए। यह ठीक है कि मेगस्थनीज का भारत सम्बन्धी विवरण स्वतंत्र पुस्तक के रूप में न मिलकर अनेक अंशों में मिला है फिर भी, वे अंश इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में पर्याप्त और विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। इन अंशों की सहायता से ही चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल तथा तत्कालीन संस्थाओं का सूक्ष्म दर्शन किया जा सकता है। उसने भारत की भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दशा पर काफी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

भौगोलिक दशा—भारत की सीमा का वर्णन करते हुए **मेगस्थनीज** ने लिखा है कि इसके उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण तथा पूर्व में समुद्र और पश्चिम में सिन्धु, गंगा, सोन आदि नदियाँ विद्यमान हैं। दक्षिण भारत की नदियों का उल्लेख उसने बिल्कुल नहीं किया है। चूंकि अफगानिस्तान चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का एक अंग था; अतएव उसने अफगानिस्तान की काबुल, स्वात, गोमल आदि नदियों का उल्लेख किया है। जलवायु के विषय में उसने लिखा है कि गर्मी की ऋतु में बहुत गर्मी पड़ती है। वर्षा गर्मी तथा जाड़े दोनों ही ऋतुओं में होती है। परन्तु गर्मी के दिनों में अधिक वर्षा होती है।

नोट

राजनीतिक दशा—मेगस्थनीज कहता है कि राजा दिन भर अपनी राजसभा में रहता था और न्याय किया करता था। उसे अपनी जान का सदैव भय लगा रहता था। अतएव, वह एक कमरे में एक रात से अधिक नहीं रहता था। जब कभी सम्राट शिकार के लिए जाता था तो उसका मार्ग रस्सियों से अलग कर दिया जाता था और यदि कोई इन रस्सियों को लांघने का प्रयत्न करता तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज ने सम्राट के राजभवन का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वह लिखता है कि सम्राट के भवन पाटलिपुत्र में बने थे। इनके चारों ओर सुन्दर उद्यान तथा सरोवर थे। राजभवन के आंगन में पालतू मोर रखे जाते थे। उद्यानों में बड़े ही सुंदर-सुंदर शुक अर्थात् तोते बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते थे जो राजभवन के ऊपर मंडराया करते थे। सरोवरों में बड़ी सुन्दर मछलियाँ रहती थीं। मछलियों को पकड़ने की किसी को आज्ञा न थी परन्तु राजकुमार लोग आमोद-प्रमोद के लिए उन्हें पकड़ लिया करते थे। सम्राट प्रायः राजप्रासाद के भीतर ही रहता था और उसकी रक्षा के लिए नारी संरक्षिकाएँ होती थीं। केवल चार अवसरों पर सम्राट अपने राजभवन के बाहर निकलता था अर्थात् युद्ध के समय, न्यायाधीश का पदग्रहण करने के लिए, बलि देने के लिए तथा आखेट के लिए। मेगस्थनीज ने राजदरबार का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसके कथनानुसार चन्द्रगुप्त का दरबार बड़े ठाट-बाट का था। सोने-चांदी के सुन्दर बर्तन, जड़ाऊ मेज तथा कुर्सियाँ और कमख्वाब के बारीक वस्त्र देखने वालों की आंखों को चकाचौंध में डाल देते थे। सम्राट मोती की मालाओं से अलंकृत पालकी और सुनहले फूलों से विभूषित हाथी पर बैठ कर राजभवन के बाहर जाता था। सम्राट को शिकार का बड़ा शौक था। उसके आखेट के लिए बड़े-बड़े वन सुरक्षित रखे जाते थे। राजा को पहलवानों के दंगल, घुड़दौड़, पशुओं के युद्ध आदि देखने का बड़ा शौक था और इन्हीं से वह अपना मनोविनोद किया करता था।

मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र का भी बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है कि पाटलिपुत्र भारत का सबसे बड़ा नगर है और यह सोन तथा गंगा नदियों के संगम पर स्थित है। यह नगर साढ़े नौ मील लम्बा और पौने दो मील चौड़ा है। नगर के चारों ओर एक खाई-सी है जिसकी चौड़ाई छः सौ फीट और गहराई पैंतालीस फीट है। उसके चारों ओर एक दीवार है जिसमें चौंसठ फाटक और पांच सौ सत्तर बुर्ज बने हैं। पाटलिपुत्र के प्रबन्ध के विषय में मेगस्थनीज ने लिखा है कि नगर का प्रबन्ध छः समितियों द्वारा होता था जिसमें से प्रत्येक में पांच सदस्य होते थे। इन समितियों के कार्यों का वर्णन चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का वर्णन करते समय किया जा चुका है।

सामाजिक अवस्था—मेगस्थनीज के वृतांत से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के समय में सामाजिक तथा व्यक्तिगत नैतिकता का स्तर ऊँचा था। लोग बड़े सत्य-वादी थे और कभी झूठ नहीं बोलते थे। सभी व्यक्ति एक-दूसरे का विश्वास करते थे और राज्य में कोई चोर अथवा डाकू नहीं था। लोग दरवाजे खुले छोड़कर बाहर चले जाते थे।

लोग बड़े सुन्दर, स्वस्थ और बड़े कद के थे। उनका भोजन बड़ा सादा था। केवल बलि देने के समय को छोड़कर वे शराब आदि का प्रयोग नहीं करते थे। बलि के अवसर पर वे सोमरस का पान करते थे। उन्हें सुन्दर व कीमती वस्त्र और आभूषण पहनने का बहुत शौक था। उनके वस्त्रों पर जरी का काम किया होता था। समाज में स्त्रियों को बड़ा सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। केवल कुलीन वर्ग में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। पर्दा और सती प्रथाएँ नहीं थी।

समाज सात वर्गों में विभक्त था। ये सात वर्ग (1) दार्शनिकों, (2) परिषद् सदस्यों, (3) अधिकारियों, (4) सैनिकों, (5) कृषकों, (6) शिल्पकारों व व्यापारियों, तथा (7) शिकारियों और गड़रियों आदि के थे। जाति प्रथा के बन्धन बड़े कठोर थे। एक जाति दूसरी जाति में विवाह नहीं कर सकती थी। मेगस्थनीज लिखता है कि भारतीय अल्पव्ययी थे। खाने-पीने का कोई निश्चित समय नहीं था और वे अकेले ही खाते थे। दासप्रथा नहीं थी। मेगस्थनीज के इस कथन को स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि भारत में दास-प्रथा थी तो सही परन्तु दासों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया था जैसा यूनान में।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने कुछ ऐसी बातें भी लिखी हैं जो बड़ी विचित्र हैं और जिनका आधार काल्पनिक प्रतीत होता है। सम्भवतः उसने ऐसी मनगढ़ंत बातें लोगों से सुनी हों। उसने लिखा है कि भारत में कई लोगों के माथे में एक आंख है, कइयों के सिर कुत्तों की तरह हैं और कइयों की नाक ही नहीं है। परन्तु ये बातें बिल्कुल असत्य और अविश्वसनीय हैं।

नोट

6.4 कौटिल्य का अर्थशास्त्र (The Economics of Kautilya)

कौटिल्य का अर्थशास्त्र (1909) में प्राप्त हुआ था और डा. शाम शास्त्री ने इसका अनुवाद किया था। इसकी रचना शासन के हित की दृष्टि में रखकर की गई थी। यह पन्द्रह भागों और एक सौ अस्सी उपभागों में विभाजित है और इसमें छः हजार के लगभग श्लोक हैं। इस पुस्तक की रचना के समय के सम्बन्ध में इतिहासकारों के बीच घोर मतभेद हैं। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि इसका रचयिता चन्द्रगुप्त का प्रधानमंत्री कौटिल्य था, पर अन्य विद्वानों का कहना है कि इसकी रचना अत्यन्त प्राचीन काल में हुई थी। इनके तर्क का आधार यह है कि यदि इस ग्रन्थ की रचना कौटिल्य के हाथों हुई रहती तो वह चन्द्रगुप्त का मंत्री होने के नाते चन्द्रगुप्त की विजयों और शासन व्यवस्था का उल्लेख अवश्य करता। कम से कम इसमें मौर्यवंश का उल्लेख अवश्य रहता लेकिन अन्य विद्वान इस बात को नहीं मानते हैं।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी मौर्यकाल का इतिहास जानने का एक प्रमुख स्रोत है। कौटिल्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त अथवा चाणक्य था। यह चन्द्रगुप्त का प्रधानमंत्री था। चन्द्रगुप्त की शानदार सफलता का एक प्रमुख कारण चाणक्य की अनमोल सहायता थी। कौटिल्य राजनीति और शासन प्रबन्ध की कला में बहुत निपुण था। राजनीति के मामलों में कोई भी उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। उसे शारीरिक सुन्दरता प्राप्त नहीं थी परन्तु बुद्धि और योग्यता में वह अपनी सानी नहीं रखता था। उसका जीवन सादा था। वह जाति का ब्राह्मण था और अपने निश्चय पर सदैव अटल रहता था। राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वह भले-बुरे सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग कर लेता था।

नन्द वंश का नाश तथा चन्द्रगुप्त द्वारा मगध विजय में उसका बहुत बड़ा हाथ था। कहा जाता है कि एक बार नन्द शासक ने किसी कारणवश चाणक्य को भरी राजसभा में अपमानित किया था। तभी से वह नंद वंश का जानी दुश्मन बन गया था और उसने प्रतिज्ञा की थी कि वह नन्द वंश का नाश किये बिना चैन नहीं लेगा। चन्द्रगुप्त भी नन्दशासक से रुष्ट था। अतः दोनों का उद्देश्य समान होने के कारण उनमें घनिष्ठ मित्रता स्थापित हो गयी। बाद में कौटिल्य सदैव चन्द्रगुप्त का राजनीतिक क्षेत्र में पथप्रदर्शन करता रहा और उसके प्रधानमंत्री के रूप में उसे अमूल्य परामर्श देता रहा। विशाखदत्त के नाटक मुद्राराक्षस से हमें नंद वंश के नाश तथा चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष का विस्तृत हाल मालूम होता है और यह भी पता लग जाता है कि इस कार्य में चाणक्य ने कितना महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।

अर्थशास्त्र एक ऐसी विस्तृत रचना है जिसमें केवल राजनीतिक सिद्धांतों का ही उल्लेख नहीं बल्कि प्रशासन के संगठन तथा राज्य और समाज की बहुत-सी समस्याओं का भी उल्लेख है। चाणक्य की विलक्षण बुद्धि तथा राजनीतिक चतुरता का प्रमाण हमें उसके इसी प्रसिद्ध ग्रंथ में मिलता है। राजनीतिक सिद्धांतों पर भारत की यह सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें उसने राजप्रबंध के विभिन्न विषयों की विवेचना की है, जैसे राजकुमारों की शिक्षा, शासन के दैनिक कर्त्तव्य, मंत्रियों का चुनाव तथा उनकी वफादारी या ईमानदारी की परीक्षा, सरकार के विभिन्न विभागों का संगठन, न्याय, कर, राजस्व के सिद्धांत, शासक की विदेश नीति इत्यादि। कौटिल्य द्वारा रचित इस अर्थशास्त्र में न केवल उपर्युक्त राजनीतिक सिद्धांतों की विवेचना की गई है बल्कि उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन भी मिलता है। इसी विशेषता के कारण अर्थशास्त्र को प्राचीन भारत के साहित्य में राजनीतिशास्त्र तथा इतिहास का अपने ढंग पर लिखी जाने वाली एक अद्वितीय पुस्तक कही जा सकती है। इसमें दी गयी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं–

राजा–अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राजस्व पर अपने बहुत सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। उसके अनुसार राजा का स्थान सर्वोच्च तथा उसकी शक्तियाँ असीमित एवं निरंकुश होनी चाहिए, परन्तु उसे सफल बनने के लिए लोकहितकारी प्रबुद्ध राजा बनना चाहिए। प्रजा के साथ राजा का संबंध पिता और सन्तान की तरह होना चाहिए। प्रजा का हित और उसकी खुशी राजा का हित और उसकी खुशी होनी चाहिए। उसे जनमत, प्रथाओं तथा परम्पराओं का पूरा ध्यान रखना चाहिए। राजस्व के प्रत्येक कार्य में उसे अपने मंत्रियों की सलाह लेनी चाहिए। उसने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि राजा को शिक्षित और विनयशील होना चाहिए; क्योंकि अगर राजा सभ्य और सुसंस्कृत नहीं होगा तो उसकी

नोट

प्रजा भी उन्नति नहीं कर सकेगी। प्रजा की सांस्कृतिक और भौतिक उन्नति उसके राजा पर ही निर्भर करती है। राजा के चरित्र को ऊँचा बनाने के लिए कौटिल्य ने उसे छः शत्रुओं के प्रति सचेत किया है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और उच्छृंखलता। यदि राजा इन शत्रुओं से अपना बचाव नहीं करेगा तो वह पतन की खाई में गिरेगा।

कौटिल्य का उद्देश्य आदर्श राजा को विजेता बनाना था। उसका विचार था कि जब तक राजा विजेता बनकर अपने साम्राज्य का विस्तार नहीं करता तब तक वह अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकता। परन्तु यह आवश्यक था कि सफलता प्राप्त करने के लिए सैनिकों में धार्मिक भावना उत्पन्न कर दी जाये ताकि वे अधिक जोश और वीरता से लड़ सकें।

मन्त्री—यद्यपि कौटिल्य का शासक सर्वोच्च निरंकुश और असीमित शक्तियों वाला था तथापि उसका विश्वास था कि राज्य प्रबंध को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए मंत्रियों का होना आवश्यक है। उसका कहना था कि एक पहिये की गाड़ी कभी नहीं चल सकती। अतः मंत्रियों को राज्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान देना होगा। मंत्रियों की नियुक्ति करते समय उन्हें कई प्रकार के प्रलोभन देकर उनकी ईमानदारी तथा कुशलता की जांच कर ली जानी चाहिए। राजा को प्रत्येक कार्य मंत्रियों की सलाह से करना चाहिए, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह उनकी हर सलाह को माने ही।

प्रान्तीय तथा नागरिक शासन—शासन प्रबंध को व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए यह जरूरी था कि राज्य को प्रान्तों में बांट दिया जाये और वहाँ राज्यपाल नियुक्त कर दिये जाएँ जो राजा के प्रतिनिधि के रूप में वहां शासन कर सकें। नगरों का प्रबंध भी किसी परिषद को सौंप देना चाहिए, जो नगर की हर आवश्यकता को पूरा करे और वहां शासन चला सके। कौटिल्य ने यह भी लिखा है कि नगरों की जनगणना होनी चाहिए।

गुप्तचर प्रणाली—अर्थशास्त्र में गुप्तचर प्रणाली को बहुत महत्त्व दिया गया है। कौटिल्य का कहना था कि राज्य में होने वाली प्रत्येक घटना का समाचार राजा को गुप्तचरों द्वारा ही मिल सकता है, जिससे उसे विद्रोह आदि दबाने में बहुत सहायता मिल सकती है। गुप्तचरों का मुख्य कर्त्तव्य राज्य की प्रत्येक घटना का समाचार सम्राट तक पहुँचाना और लोगों में उसके प्रति प्रेम और सम्मान की भावना उत्पन्न करना था। कौटिल्य का विचार था कि गुप्तचरों में अधिक संख्या स्त्रियों की होनी चाहिए क्योंकि वे इस कार्य को अधिक निपुणता के साथ कर सकती हैं।

नौवाहन—अर्थशास्त्र से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण जानकारी हमें नौवाहन के विषय में प्राप्त होती है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त के समय में इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक बन्दरगाह पर अधिकारी होता था जो समुद्र या नदियों में जाने वाले जहाज और नावों की देखभाल करता था। सभी नावें और जहाज राज्य के अधीन होते थे। साधुओं और व्यापारियों से कर भी लिया जाता था।

राजनीति में धर्म और नैतिकता—कौटिल्य की एक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उसने राजनीति में धर्म अथवा नैतिकता को कोई स्थान नहीं दिया। उसका कहना था कि शासक को अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करते समय नैतिकता और धर्म का ख्याल नहीं करना चाहिए। राजनीति में अच्छे तथा बुरे सभी साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि राजा को धर्मपरायण नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत अर्थशास्त्र में राजा के निजी जीवन में नैतिकता और धर्म पर अत्यधिक जोर दिया गया है। उसे चरित्रवान तथा विनयशील बनने के लिए कहा गया है और छः शत्रुओं के प्रति सचेत किया गया है, परन्तु राजनीति और कूटनीति में इन बातों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा सकता। कौटिल्य का कहना है कि धर्म और कूटनीति दो विभिन्न विषय हैं, जिनका परस्पर कोई संबंध नहीं है।

क्या आप जानते हैं बिन्दुसार के शासनकाल में उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला में तथा उसके आस-पास के प्रदेशों में भीषण विद्रोह उठ खड़ा हुआ था।

इस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें बहुत-सी ऐतिहासिक तथा राजनीतिक बातों की जानकारी होती है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है।

नोट

6.5 बिन्दुसार (Bindusara)

चन्द्रगुप्त के उपरांत उसका पुत्र बिन्दुसार 300 ई.पू. मगध के सिंहासन पर आरुढ़ हुआ। उसका शासनकाल भारतीय इतिहास में कोई महत्त्व नहीं रखता। इसका एक कारण यह भी है कि उसके सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत कम है। जैन और बौद्ध अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् भी कुछ समय के लिए चाणक्य जीवित रहा और बिन्दुसार के शासनकाल के प्रारम्भिक दिनों में उसी की नीति चलती रही।

बिन्दुसार के समय की मुख्य घटनाएँ

बिन्दुसार ने अपने पिता की दिग्विजय नीति का अनुसरण किया। उसने लगभग सोलह राजधानियों के राजाओं तथा मंत्रियों को नष्ट कर दिया और लम्बे युद्ध के उपरांत पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के बीच की सम्पूर्ण भूमि पर कब्जा कर लिया। इस नीति में चाणक्य ने उसकी पूरी मदद की थी। कुछ विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दक्षिण भारत पर बिन्दुसार ने ही विजय प्राप्त की थी परन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि सम्राट चन्द्रगुप्त के शासनकाल में ही पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के बीच के विस्तृत क्षेत्र पर मौर्यों का आधिपत्य हो गया था। अतएव, सोलह नगरों के दमन का केवल यही अर्थ हो सकता है कि इन नगरों में विद्रोह हो गया था, परन्तु नीतिनिपुण चाणक्य ने इसका दमन कर दिया।

उत्तरापथ में विद्रोह–दिव्यावदान के अनुसार बिन्दुसार के शासनकाल में उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला तथा उसके आस-पास के प्रदेशों में भीषण विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। उस समय बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र सुसीम उत्तरापथ में अपने पिता का प्रतिनिधि तथा प्रांतीय शासक था। सुसीम उक्त विद्रोह को नहीं दबा सका। जब पाटलिपुत्र में बिन्दुसार को इस विद्रोह की सूचना मिली तब उसने उज्जैयनी के शासक अशोक को इस विद्रोह का दमन करने के लिए तक्षशिला भेजा। अशोक ने तक्षशिला जाकर विद्रोह का दमन किया।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिन्दुसार अपने पिता से प्राप्त विशाल साम्राज्य की रक्षा करने में सफल रहा। चाहे उसने अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किसी नवीन स्वतंत्र राज्य को जीतकर न भी किया हो, परन्तु वह समस्त उत्तरी भारत के साथ-साथ दक्षिणी भारत का भी स्वामी था।

बिन्दुसार की विदेश नीति–बिन्दुसार ने अपने पिता की ही विदेश नीति का अनुगमन किया। पश्चिम के यूनानी शासकों के साथ उसने मित्रता का संबंध कायम रखा। सीरिया के राजा ने मेगस्थनीज के स्थान पर डाइमेक्स को अपना राजदूत बनाकर बिन्दुसार के दरबार में भेजा। **प्लिनी** ने लिखा है कि मिस्र के राजा टालमी द्वितीय ने भी भारतीय सम्राट के दरबार में डायोनिसस नामक व्यक्ति को राजदूत के रूप में भेजा था। बिन्दुसार और सीरिया के राजा एंटिओकस प्रथम के बीच एक मित्रतापूर्ण पत्रव्यवहार की एक विभिन्न कहानी एथेनेअस नामक एक यूनानी ने लिखी है। इन सारी बातों से यह स्पष्ट होता है कि सम्राट बिन्दुसार की नीति पड़ोसी राजाओं के साथ सम्पर्क बनाये रखने की थी।

बिन्दुसार के कई पुत्र तथा कन्याएँ थीं। उसके पुत्रों में अशोक बड़ा वीर तथा योग्य था। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में अशोक के दो भाइयों सुसीम तथा विगताशोक का उल्लेख मिलता है। सुसीम अशोक का सौतेला भाई था और विगताशोक कनिष्ठ तथा सहोदर था। 273 ई. पू. बिन्दुसार की मृत्यु हो गयी।

6.6 अशोक और उसके उत्तराधिकारी (Ashoka and His Successors)

अशोक का प्रारम्भिक जीवन

अशोक संसार के सबसे महान् राजाओं में से एक है। उसने जिस साम्राज्य पर शासन किया वह भारत का सबसे बड़ा साम्राज्य था। साम्राज्य के विस्तार, शासन की व्यवस्था, प्रजावत्सलता, धर्म की संरक्षता तथा हृदय की उदारता आदि के दृष्टिकोण से भारत के इतिहास में वह अद्वितीय माना जाता है। विश्व में विशालता के दृष्टिकोण से अनेक साम्राज्य तथा उसके शासक प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु विस्तृत साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ सम्राट होने के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ मानव होना बड़ा कठिन होता है, पर अशोक में यह बात पायी जाती है और इसी कारण वह भारतीय इतिहास का अद्वितीय व्यक्ति हो जाता है।

नोट

अशोककालीन इतिहास पर पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है, परन्तु स्वयं उसके अभिलेखों से जो ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं वे प्रामाणिकता की दृष्टि से बेजोड़ हैं। यदि उसके उत्कीर्ण लेख आज हमारे सामने नहीं होते तो उसकी कीर्ति और उसके आदर्शों की हमें कोई जानकारी नहीं होती। बौद्धगाथाओं के एकपक्षीय होने के कारण उन पर पूरा-पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता था।

अशोक के जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। उसके पिता बिन्दुसार की कई पत्नियां थीं। अशोक की माता के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक सम्राट बिन्दुसार के एक यूनानी रानी से उत्पन्न हुआ था। परन्तु इस मत को सिद्ध करने के लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। दिव्यावदान में उल्लेख आता है कि अशोक की माता का नाम जनपदकल्याणी था। कहीं-कहीं उसका नाम सुभद्रांगी भी आता है। कहते हैं कि वह चम्पा के ब्राह्मण की पुत्री थी और परम सुन्दरी थी। उसी से अशोक तथा विगताशोक (तिष्य) नामक दो पुत्र पैदा हुए थे। सुसीम अशोक का सौतेला भाई था।

अशोक की शिक्षा-दीक्षा अपने सहोदर भाई तिष्य तथा अन्य सौतेले भाइयों के साथ ही हुई थी। वह पढ़ने-लिखने, हथियार चलाने, आदि में अन्य सभी राजकुमारों से अधिक चुस्त, चालाक और योग्य था। उसकी प्रतिभा, योग्यता और बुद्धि अपने सभी भाइयों से अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। उसका सौतेला बड़ा भाई सुसीम इसीलिए उससे भारी द्वेष रखता था। सम्राट बिन्दुसार ने अशोक को उज्जैन तथा बाद में तक्षशिला का कुमार (राज्यपाल) बनाया। तक्षशिला के विद्रोह को जब अशोक का बड़ा भाई सुसीम न दबा सका तो बिन्दुसार ने अशोक को तक्षशिला भेजा। अशोक ने इस विद्रोह को शान्त करने में सफलता हासिल की। बिन्दुसार अशोक की प्रतिभा और योग्यता से बहुत प्रभावित था। अतएव उसने उसे युवराज का पद प्रदान किया।

अशोक के प्रारम्भिक जीवन का एक और उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि जब वह उज्जैयनी की सूबेदारी का कार्यभार संभालने जा रहा था तो मार्ग में विदिशा में ठहरा। वहां एक व्यापारी की देवी नामक पुत्री पर आसक्त हो गया और उससे विवाह कर लिया। इस पत्नी से अशोक को महेन्द्र नामक पुत्र तथा संघमित्रा नामक एक पुत्री हुई। बौद्ध धर्म के इतिहास में इन दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

साम्राज्य के लिए संघर्ष—बिन्दुसार की मृत्यु के पूर्व ही उसकी बीमारी का समाचार प्राप्त करके अशोक, जो उस समय उज्जैन का प्रतिनिधि शासक था, पाटलिपुत्र चला आया। अशोक, सम्राट बिन्दुसार का द्वितीय पुत्र था। बिन्दुसार की कई रानियाँ और बहुत से पुत्र थे। उसके सबसे बड़े पुत्र का नाम सुमन अथवा सुसीम था। वह अशोक का सौतेला भाई था। बिन्दुसार की दूसरी रानी से दो पुत्र उत्पन्न हुए थे जिनके नाम अशोक और तिष्य थे। इस प्रकार तिष्य अशोक का सहोदर भ्राता था। तिष्य का ही दूसरा नाम विगताशोक अथवा वीताशोक था। अशोक के एक और भाई का नाम महेन्द्र था। महेन्द्र को कुछ इतिहासकारों ने अशोक का पुत्र भी माना है। परन्तु इस विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। दिव्यावदान के अनुसार अशोक को राजसिंहासन प्राप्ति के लिए अपने बड़े भाई के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष में अन्ततः अशोक विजयी रहा और अपने पिता की मृत्यु के चार वर्ष उपरांत 269 ई. पू. में वह पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा। इन चार वर्षों के अन्दर क्या हुआ तथा कौन यहाँ का सम्राट बना, इसके विषय में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बौद्ध धर्म में दीक्षित होने पूर्व अशोक बड़ा निर्दयी था। वह चण्डाशोक था उसे अपने 99 भाइयों की हत्या करने में उसे बिल्कुल संकोच नहीं हुआ। किन्तु बौद्ध धर्म का अनुयायी बनने पर वह धर्माशोक बन गया तथा उसने अहिंसा की नीति को अपना लिया। बौद्ध ग्रन्थों का यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। उन्होंने तो बौद्ध धर्म को महत्त्व प्रदान करने के लिए अशोक के पूर्व चरित्र को कलंकित बनाने का प्रयास किया है। उनके विचार में उनके धर्म के प्रभाव में आकर अशोक के समान पापी व्यक्ति भी धर्मराज बन गया। किन्तु वास्तव में अशोक के लेखों से पता चलता है कि उसके जीवन काल में उसके भाइयों का पोषण राज्य की ओर से होता था। अतः उसने अपने सब भाइयों की हत्या नहीं की। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जो व्यक्ति युद्धभूमि में घायल एवं मृतक व्यक्तियों को देखकर इतना द्रवित हो उठा कि उसने युद्ध न करने की प्रतिज्ञा कर ली वह अपने 99 भाइयों की हत्या किस प्रकार कर सका होगा? क्या भाई के रक्त संबंध का कोई प्रभाव उस पर न पड़ा होगा? अतः सिंहल का कथन कपोल कल्पित ही कहा जा सकता

नोट

है। तब फिर इन चार वर्षों में क्या हुआ जो बिन्दुसार की मृत्यु और अशोक के राज्याभिषेक के बीच में आते हैं। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि सम्भवत: अशोक अपने पिता की मृत्यु के समय अल्पवयस्क रहा होगा तथा चार वर्ष बाद पूर्ण वयस्क होने पर उसका राज्याभिषेक हुआ होगा। किन्तु अशोक बिन्दुसार के समय में ही तक्षशिला का विद्रोह दमन करने गया था, अत: वह काफी बड़ा रहा होगा। भारत के इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जब अल्पवयस्क राजकुमारों का राज्याभिषेक हुआ था। महाराजा परीक्षित का अभिषेक तो केवल पांच वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। इस विषय पर डॉ. भण्डारकर का मत उचित प्रतीत होता है। उनका कथन है कि अशोक बिन्दुसार का सबसे बड़ा पुत्र न होने के कारण उसका उत्तराधिकारी नहीं बन सकता था। सुमन अथवा सुसीम बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र था किन्तु अशोक एक महत्त्वाकांक्षी राजकुमार था तथा वह सम्राट बनना चाहता था। इसीलिए निश्चित है कि उसे अपने बड़े भाई से संग्राम करना पड़ा हो। सम्भवत: इस संग्राम में उसे एक-दो भाइयों की हत्या करनी पड़ी हो। किन्तु 99 भाइयों की हत्या करना तो एक निर्दयी और क्रूर व्यक्ति के लिए भी शायद ही सम्भव हो। अत: अशोक ने सम्भवत: राजसिंहासन के लिए अपने भाइयों से युद्ध किया हो जो सुसीम के पक्षपाती थे। इसी युद्ध के कारण उसका राज्याभिषेक बिन्दुसार की मृत्यु के चार वर्ष उपरांत सम्भव हो सका।

सिंहासन पर बैठने के समय अशोक ने 'देवानाम्प्रिय' तथा 'प्रियदर्शी' की उपाधियाँ धारण कीं।

अशोक का साम्राज्य विस्तार

अशोक ने सम्राट बनने के बाद अपने पूर्वजों की भांति साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया और साथ ही कुछ देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखने की नीति का भी पालन किया। उसने यवन राज्यों में अपने राजदूत भेजे और उनके राजदूतों का स्वागत किया। उसने यवन पदाधिकारियों को अपने राज्य में नियुक्त किया। लेकिन आन्तरिक क्षेत्र में उसकी नीति राज्य विस्तार की थी। भारत में प्राचीन राजाओं की परम्परा के अनुसार उसका भी राजनीतिक आदर्श दिग्विजय का था। फलत: भारत के जो प्रान्त अभी मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे उन पर आक्रमण करने का उसने संकल्प किया। सर्वप्रथम उसने कश्मीर पर आक्रमण किया और उस पर विजय प्राप्त करके उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। कश्मीर के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों (जैसे राजतरंगिणी) में अशोक को मौर्य देश का प्रथम सम्राट के रूप में व्यक्त किया गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त या बिन्दुसार का कश्मीर पर अधिकार नहीं था।

कलिंग का युद्ध–अपने शासनकाल के तेरहवें तथा राज्याभिषेक के नवें वर्ष में अशोक ने कलिंग राज्य पर आक्रमण कर दिया। कलिंग उस समय एक प्रबल राज्य था और उसके पास एक विशाल सेना थी। नन्दवंश के अन्तिम राजा घनानन्द के शासनकाल में कलिंग मगध साम्राज्य का एक अंग था। ऐसा मालूम होता है कि नन्दवंश के पतन और मौर्य वंश की स्थापना के संक्रमण काल से लाभ उठाकर कलिंग ने अपनी स्वतंत्रता कायम कर ली, पर मगध के लिए अपने पड़ोस में ऐसे शक्तिशाली राज्य का होना असह्य था। अतएव अशोक ने कलिंग की स्वतंत्रता समाप्त कर देने का निश्चय किया। उसने कलिंग पर आक्रमण करने की योजना बनायी और इसके लिए विशाल सेना का संगठन किया। पूरी तैयारी के उपरांत कलिंग पर आक्रमण किया गया। अशोक के तेरहवें शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि अशोक ने कलिंग से युद्ध करके उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसके लिए बड़ा ही भीषण युद्ध हुआ था। कहा जाता है कि इस युद्ध में ढाई लाख से अधिक व्यक्ति घायल हुए और इतने ही मारे गये। इन हताहतों में सैनिक अफसर, योद्धा और साधारण व्यक्ति सम्मिलित थे। लगभग पन्द्रह हजार व्यक्ति बन्दी बनाये गये, कई लाख स्त्री और बच्चे अनाथ हो गये। इतने भीषण रक्तपात और निर्मम हत्याकाण्ड के उपरान्त कलिंग का राज्य मगध साम्राज्य का प्रान्त बना लिया गया और एक राजकुमार को वहाँ का राज्यपाल बना दिया गया, जो कलिंग की राजधानी तोशलि में रहकर वहां के शासन की देखभाल करने लगा।

कलिंग के युद्ध में भीषण नरसंहार हुआ, जिसे देखकर अशोक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसके विचार एकदम बदल गये और साम्राज्यवादी नीति को उसने सदा के लिए त्याग दिया। अपने शिलालेख में सम्राट स्वयं लिखता है–"अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद देवानाम्प्रिय राजा प्रियदर्शी ने कलिंग देश को विजय किया। वहां डेढ़ लाख व्यक्ति बन्दी बनाकर बाहर भेज दिये गये, एक लाख मारे गये और इससे कई गुने नष्ट हो गये।"

नोट

कलिंग युद्ध का अशोक के जीवन में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसने अशोक के जीवन को पूरी तरह आन्दोलित करके इसमें परिवर्तन कर दिया। कलिंग युद्ध के भीषण हत्याकांड का अशोक के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसने यह निश्चय कर लिया कि वह राज्यविस्तार की नीति का परित्याग कर देगा और भविष्य में कभी युद्ध नहीं करेगा। युद्ध के स्थान पर वह सबसे मैत्री रखेगा और राज्यविजय के स्थान पर धर्मविजय करेगा। कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने यह घोषणा की थी–"कलिंग देश की विजय के समय जितने मनुष्य मारे गये, मरे अथवा बन्दी बनाये गये, उसके शतांश अथवा सहस्त्रांश की भी आज हानि हो तो देवनाम्प्रिय को भारी दु:ख होगा। यही नहीं यदि देवनाम्प्रिय को कोई हानि भी पहुँचाये तो उसे यथासम्भव सहन कर लेना चाहिए। अब सम्राट के विचार में वास्तविक विजय धर्मविजय की थी। अतएव भेरिघोष की जगह पर धर्मघोष की गूंज सुनायी देगी और दिग्विजय के स्थान पर धर्मविजय का प्रयत्न किया जाएगा।"

अशोक के ये विचार केवल सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र नहीं थे। वह आजकल के राजनीतिज्ञों की तरह ढोंगी नहीं था, जो एक ओर तो शान्ति और प्रेम की बात करता है और दूसरी ओर अपने दुर्बल पड़ोसियों को कुचलने का यत्न करता है। अशोक ने जो संकल्प किया उसको जीवन भर निभाया। कलिंग युद्ध के बाद उसने तलवार सदा के लिए म्यान में रख ली। युद्धघोष बन्द हो गया और उसके स्थान पर धर्मघोष की आवाज देश-देशान्तर में गूंजने लगी। यद्यपि अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य काफी विस्तृत हो चुका था फिर भी भारतवर्ष में तथा उसकी सीमाओं पर अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो मौर्य साम्राज्य से बाहर थे। कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने उन्हें जीतने का कभी प्रयत्न नहीं किया। अशोक ने यह निश्चय न केवल अपने ही तक सीमित रखा वरन् अपने पुत्र तथा पौत्र को भी यह उपदेश दिया कि वे युद्ध न करें।

कलिंग युद्ध का महत्त्व–अशोक ने हिंसा का जो त्याग कर दिया उसका परिणाम मगध साम्राज्य के लिए बड़ा ही अहितकर सिद्ध हुआ। उत्तरोत्तर उसका पतन होने लगा। इस कारण भारत के राजनीतिक जीवन पर इसका असर बड़ा ही बुरा हुआ पर धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर इसका बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस युद्ध के बाद अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया और उसके प्रचार में अपने जीवन को अर्पित कर दिया। अन्य राज्य से मैत्री का संबंध रखकर अशोक ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का बाहर के देशों में प्रचार किया।

इस दृष्टिकोण से कलिंग युद्ध का महत्त्व विश्व के इतिहास में भी बहुत हो जाता है। विश्व के इतिहास में प्राय: यही देखा गया है कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद विजय की आकांक्षा और भी बढ़ जाती है। लेकिन यह एक अनूठा उदाहरण है कि विजय प्राप्त करने के बाद व्यक्ति अपनी आकांक्षा को दबा ले और यह संकल्प कर ले कि वह दिग्विजय के स्थान पर धर्मविजय करेगा। लेकिन कलिंग के युद्ध के बाद अशोक ने ऐसा ही किया। उसने तुरंत ही अहिंसा के धर्म बौद्ध धर्म को अपना लिया और उसके प्रचार में अपना तन, मन और धन सब कुछ लगा दिया। इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म का प्रचार बाहर के देशों में होने लगा। **हेमचन्द्र राय चौधरी** ने कलिंग युद्ध के महत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है–"कलिंग की विजय मगध तथा भारतवर्ष के इतिहास में एक महान सीमा चिह्न है। यह विजय तथा विकास की उस नीति का अन्त करता है जिसका प्रारम्भ बिम्बिसार ने अंगदेश पर विजय प्राप्त करके किया था। यह एक नये युग का आरम्भ करता है। यह युग है शान्ति का, सामाजिक उन्नति का, धार्मिक प्रचार का तथा राजनीतिक अवरोध और सैनिक पतन का। इस काल में सेना के अभाव के कारण साम्राज्यवादी मगध के सैनिक उत्साह का उत्तरोत्तर विनाश होता गया। आध्यात्मिक विजय अथवा धर्म विजय का युद्ध आरम्भ होने वाला था।"

अशोक के साम्राज्य की सीमाएँ–अशोक के साम्राज्य विस्तार को सही-सही निश्चित करना कोई कठिन कार्य नहीं है। देश के विविध भागों में उसके जो अभिलेख मिलते हैं, उनसे उसके साम्राज्य को निश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती है। स्वयं अशोक ने तो केवल कलिंग जीता था, पर अपने पितामह से उसे एक विस्तृत साम्राज्य मिला था जिसकी उत्तर-पश्चिमी सीमा हिन्दुकुश थी। उसकी छाया में हेरात, कन्धार, काबुल की घाटी और बलूचिस्तान, जो चन्द्रगुप्त ने सीरियक नरेश सेल्यूकस से जीते थे, अब भी अशोक के शासन में थे। क्रमश: पेशावर और हजारा जिलों में शहबाजगढ़ी और मनसेहरा के शिलालेखों की भौगोलिक स्थिति से यह प्रमाणित हो जाता है। इसकी पुष्टि ह्वेनसांग के लेख से भी हो जाती है, क्योंकि वह लिखता है कि कपिशा (काफिरिस्तान) और जलालाबाद में उसने अशोक

नोट

के बनाये स्तूप देखे थे। उसी चीनी भिक्षु और राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर भी अशोक के शासन में था, जहाँ उसने श्रीनगर बसाया था। इस उत्तर-पश्चिम के अतिरिक्त उत्तर में उसके साम्राज्य की सीमा स्वयं हिमालय की पर्वतश्रेणी थी बौद्ध परम्परा के अनुसार नेपाल भी उसके राज्य में था। वहाँ उसने ललितपाटन नामक नगर बसाया। और वहाँ की उसने चारुमति के पति अपने दामाद देवपाल क्षत्रिय के साथ यात्रा की। यह उत्तरी सीमा उसके उस भाग के शिलालेख और तराईलेखों से भी प्रमाणित हो जाती है। देहरादून जिले के काल्सी नामक स्थान पर और तराई रूम्मिनदेई व निग्लीवा के ग्रामों में उसके लेख मिले हैं।

पूर्व में बंगाल उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। यह बौद्ध ख्यातों और चीनी यात्री ह्वेनसांग के लेख से सिद्ध होता है। कहते हैं कि जब महेन्द्र और संघमित्रा लंका को रवाना हुए, तो बंगाल के ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह तक अशोक उन्हें जहाज पर चढ़ाने आया था। इसके अतिरिक्त चीनी यात्री ने उसके बनाये अनेक स्तूप बंगाल में देखे थे। कलिंग अशोक ने स्वयं जीता था। वहाँ के धौली और जौगड के लेख भी इस पूर्वी सीमा के स्मारक हैं।

पश्चिम में इस साम्राज्य की सीमा पश्चिमी समुद्र थी, जो काठियावाड़ के गिरनार और बम्बई में थाना जिले के सोपरा के उसके शिलालेखों से निर्धारित हो जाती है। सौराष्ट्र अशोक के साम्राज्य में था, इसका एक और प्रमाण यह है कि शकराज रुद्रदामा जूनागढ़वाले अपने लेख में कहता है कि चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय शासक पुष्पगुप्त वैश्य द्वारा नदियों के प्रवाह रोककर बनाये हुए सुदर्शन नामक झील से अशोक के प्रान्तीय शासक यवनराज तुषास्प ने खेतों की सिंचाई के लिए नहरें निकालीं।

इस साम्राज्य की दक्षिणी सीमा निजामराज्य के मास्की और इरागुड़ी व मैसूर राज्य के चीतलद्रुग तक थी; क्योंकि उन स्थानों में अशोक के लेख पाये गये हैं। इस सीमा के दक्षिणी और चोलों, पाण्डयों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों की स्वतंत्र रियासतें कायम थीं। इन्हीं की भांति यवन, कम्बोज, गन्धार, राष्टिक पेतेनिक, भोज, नामक नाभपंती और पुलिन्द आदि जातियाँ स्वतंत्र थीं, जो अशोक की साम्राज्य सीमाओं के बाहर रहती थीं।

अशोक का धर्म (धम्म)

संसार के इतिहास में अशोक का यश उसके राज्य विस्तार और शासन की क्षमता के कारण नहीं, अपितु उसके उच्च धार्मिक आदर्श, उसके प्रति अशोक की अनुपम आस्था और उसको व्यवहार में लाने के लिए योग्य व्यवहार पर अवलम्बित है। अशोक का धर्म क्या था, यह एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है और विभिन्न इतिहासकारों ने इस पर अपने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। **हेरास** का कहना है कि अशोक ब्राह्मणधर्म का अनुयायी था। **डॉ. टॉमस** का कथन है कि वह जैनधर्म में विश्वास करता था। **डॉ. फ्लीट** के अनुसार, उसका धर्म राजधर्म था। **सेनार्त** तथा **भण्डारकर** महोदय का विचार है कि वह बौद्धधर्म को मानने वाला था। **डॉ. स्मिथ** तथा **डॉ. आर. के. मुखर्जी** ने उसके धर्म को सार्वभौम धर्म माना है, जिनमें सभी धर्मों के अच्छे-अच्छे गुण सन्निहित थे और जो किसी भी एक धर्म की सीमा में नहीं समा सकता था।

वास्तव में, अशोक का धर्म कोई संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक धर्म नहीं था। ऊपर जिन विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है, उन सभी में सत्य का थोड़ा बहुत अंश विद्यमान है; लेकिन सबसे अधिक सत्य कौन-सा मत है, इसका पता लगाने के लिए अशोक के धार्मिक विचारों के क्रमागत विकास का पता लगाना पड़ेगा। वस्तुतः अशोक के धार्मिक विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ था। अतएव शुरू से अन्त तक उसके धार्मिक कार्यकलापों का अध्ययन करने के पश्चात् ही हम उसके वास्तविक धर्म को जान सकते हैं।

अशोक के धार्मिक जीवन और विचारों पर कलिंग के युद्ध का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस युद्ध का अशोक के हृदय पर इतना गहरा असर पड़ा कि उसका धर्म ही बदल गया और वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। इसके पूर्व अशोक शैव था और उसे नरसंहार तथा पशुबलि से कोई विरोध नहीं था। हजारों पशु उसके भोजन के लिए नित्य मारे जाते थे। राजतरंगिणी के लेखक **कल्हण** ने भी इस बात को स्वीकार किया है। उसने लिखा है कि अशोक आरम्भ में हिन्दू धर्मानुयायी था। वह ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करता था और उनमें भारी श्रद्धा रखता था। सम्राट बनने के आठ वर्ष बाद तक उसकी धार्मिक स्थिति इसी प्रकार की रही थी।

नोट

राज्यारोहण के नवें वर्ष उसने कलिंग के शक्तिशाली राज्य पर आक्रमण किया। भीषण संग्राम और भयानक नर संहार के पश्चात् उसे विजय प्राप्त हुई। इस युद्ध में लगभग एक लाख व्यक्ति मारे गये, डेढ़ लाख बन्दी बनाये गये और सहस्त्रों घायल हुए। घायलों की चीख-पुकार, विधवाओं के विलाप और अनाथ बालकों के करुण क्रन्दन का उस पर भारी प्रभाव पड़ा। उसका हृदय करुणा से ओत-प्रोत हो गया। उसने इस भीषण रक्तपात और जनसंहार का प्रमुख कारण अपने आप को ही माना तथा भविष्य में युद्ध न करने का दृढ़ निश्चय किया। इसके कुछ समय पश्चात ही अशोक बौद्ध भिक्षु उपगुप्त के सम्पर्क में आया और उसकी आचरण की पवित्रता, विचारों तथा महानता से बहुत प्रभावित हुआ। उसके संसर्ग से बौद्धधर्म में अशोक की रुचि बढ़ गयी और उसने बौद्ध मत ग्रहण कर लिया। पहले कुछ इतिहासकारों को अशोक को बौद्ध धर्मावलम्बी होने में सन्देह था। किन्तु उसके बौद्ध होने के कई स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उसी के लेखों से स्पष्ट है कि वह एक बड़ा ही उत्साही बौद्ध था। बौद्ध ग्रन्थ दीपवंश और महावंश में स्पष्ट कहा गया है कि उसने एक बाल पंडित से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी अशोक के बौद्ध होने की परम्परा का उल्लेख किया है। भाब्रू के लेख में उसने अपने को बौद्ध धर्म तथा संघ का भक्त बतलाया है। सारनाथ के लेख में उसने अपने को संघ रक्षक कहा है तथा संघ में फूट डालने वालों के लिए दण्ड निश्चित किया है। एक स्थल पर कहा गया है कि दो वर्षों तक अशोक ने केवल उपासक की भांति जीवन व्यतीत किया और धर्म के कार्यों में रुचि नहीं दिखाई। उसके बाद वह बौद्ध धर्म में सम्मिलित हो गया। इसके बाद ही उसने बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा की, स्तूप बनवाने का कार्य शुरू किया, यज्ञादि बन्द करवा दिये तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों की एक सभा का आयोजन किया। इन सारी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक बौद्ध धर्म का पक्का उपासक था।

अशोक के बौद्ध होने का स्पष्ट प्रमाण हमें उसके चतुर्दश शिलालेखों में से तेरहवें शिलालेख में मिलता है। उस शिलालेख में यह घोषणा अंकित है–"कलिंग युद्ध के बाद शीघ्र ही देवानाम्प्रिय अशोक धम्म के अनुकरण, धम्म के प्रेम और धम्म के उपदेश के प्रति उत्साहित हो उठा।" इस प्रकार अशोक ने बुद्ध मत के व्यावहारिक पक्ष के समर्थक सिद्धांतों का प्रचार आरम्भ किया। उसने जिस धर्म का प्रचार किया वह **"अशोक का धम्म"** कहा जाता है। अशोक के अभिलेखों में धम्म शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। धम्म शब्द के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। दूसरे स्तम्भ लेख में अशोक की जिज्ञासा इस प्रकार है–"किच चु धम्मै" (धम्म क्या है?) इस प्रश्न के उत्तर में अशोक स्वयं कहता है–'आपसिनवे बहुकाथने दया दाने-दाने सोचयें।' अर्थात् पापहीनता, बहुकल्याण, दया, दान, सत्यता और शुद्धि ही धम्म है। भाब्रू अभिलेख को छोड़कर कहीं भी उसने 'धम्म' का प्रयोग बौद्ध धर्म के लिए नहीं किया है। बौद्ध धर्म के लिए 'सद्धर्म या संघ' शब्द का प्रयोग हुआ है।

अशोक के धर्म का रूप–अशोक का यह धम्म क्या था? अशोक का यह धम्म तत्कालीन सभी धर्मों का सार था। उस पर सभी धर्मों का प्रभाव था। जिस धर्म में अशोक को जो सिद्धांत अच्छा लगा वही उस धर्म में से चुन लिया। इस प्रकार चुने हुए धार्मिक सिद्धांतों की गणना द्वितीय स्तम्भ लेख, सप्त स्तम्भ लेख तथा सप्तम शिलालेख में करायी गयी। यह गणना इस प्रकार है–"संयम, भाव शुद्धि, दृढ़ भक्ति, शौच, साधुता, कृतज्ञता, दया, दान, सत्य, माता, पिता, गुरु और वृद्धजनों की सेवा सुश्रूषा तथा बन्धु बान्धवों, ब्राह्मणों, श्रमणों, दीन दुखियों आदि के प्रति दान तथा उचित आदर सत्कार।" वस्तुत: अशोक ने जिस धर्म को अपनाया और प्रचार किया वह सर्वहितकारी तथा लोक कल्याणकारी धर्म था। उसने ऐसे नैतिक सिद्धांतों का प्रचार किया जिन्हें प्रत्येक जाति, धर्म तथा देश के व्यक्ति मान सकते थे। **राधाकुमुद मुखर्जी** ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "अशोक का धर्म जीवन तथा विचारों के आधारभूत सिद्धांतों का समन्वय था जो आज भी सर्वमान्य है तथा जिन्हें समस्त मानवता पर लागू किया जा सकता है।" प्रसिद्ध विद्वान **भण्डारकर** ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "अशोक किन्हीं विशेष नियमों और व्रतों को यन्त्रवत् केवल दिखाने के लिए पालन नहीं करता था। उसने इन तथ्यों को अपनाया था जो आत्मा को ऊँचा उठाते हैं तथा जिनमें वास्तविक विकास के बीज निहित रहते हैं। सम्राट अशोक के धर्म के सम्बन्ध में **सेनार्ट** ने लिखा है कि "अशोक का धर्म केवल आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों का समूह था। उसने बौद्ध धर्म के विशेष तथा गूढ़ तत्वों पर बहुत कम ध्यान दिया था।"

नोट

अशोक के धर्म की विशेषताएँ–अशोक ने धार्मिक क्रियाकलाप, कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों पर जोर नहीं दिया। उसने चरित्र तथा आचरण की शुद्धता और कर्म की पवित्रता पर जोर दिया। एक लेख में उसने इन्द्रियविजय, विचारों की शुद्धता, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति पर बल दिया है। एक अन्य लेख में दया, दान, सत्य, शौच को श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसी प्रकार उसने क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि कुवृत्तियों का दमन करने का उपदेश दिया है। किन्तु अशोक का धर्म कोरे सिद्धांत तक ही सीमित नहीं था। उसने धर्म के व्यावहारिक रूप को भी सामने रखा। माता-पिता, बन्धु-बान्धव, मित्र, साथी, गुरु, नौकर, दास सभी की सेवा तथा भक्ति उसके धर्म के मूल मंत्र थे। उसका उपदेश था कि गृहस्थों को चाहिए कि वे ब्राह्मणों तथा श्रमणों का आदर करें तथा पशुओं तक के साथ दया का बर्ताव करें।

अशोक के धर्म की सबसे बड़ी विशेषता सहिष्णुता की भावना थी। वह संसार की सभी जातियों और धर्मों में समन्वय स्थापित करना चाहता था। उसका बारहवां शिलालेख इसी बात का सबूत है। उसने पारस्परिक सहिष्णुता तथा श्रद्धा पर विशेष जोर दिया और इन भावनाओं के उत्थान के लिये चार तरीकों का प्रतिपादन किया। वे थे– (*i*) सभी धर्मों के मूल तत्त्वों की अभिवृद्धि करना, (*ii*) किसी धर्म की निन्दा नहीं करना और सभी धर्मों की आधारभूत एकता पर जोर देना। (*iii*) विभिन्न धर्म के लोगों को परस्पर मिलाना और आपस में विचार विनिमय करना। (*iv*) अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाने के लिए अन्य धर्मों के ग्रन्थों का अनुशीलन करना।

अशोक के एक लेख पर निम्न वाक्य अंकित किये गये हैं–"जो अपने धर्म का सम्मान करता है और दूसरे धर्मों का निरादर करता है और इस प्रकार अपने धर्म का यश बढ़ाना चाहता है वह वास्तव में अपने धर्म को भी हानि पहुँचाता है। ऐसे मनुष्य में धर्म की वास्तविकता की कमी है। सब धर्मों का सार है कि दूसरे धर्मों का भी आदर करना चाहिए।"

अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को उपदेश तक ही सीमित नही रखा वरन् उसे अपने निजी जीवन में चरितार्थ भी किया। उसने ब्राह्मणों, आजीविकों, निर्ग्रन्थों आदि सम्प्रदायों का भी आदर किया और सभी के हितों को ध्यान में रखा। उसने बराबर की पहाड़ी में आजीविका सम्प्रदाय के संन्यासियों के लिए गुफाएँ बनवायीं।

अहिंसा अशोक के धर्म का अन्य महत्त्वपूर्ण अंग थी। उसका कहना था कि जीवन के सभी रूप पवित्र हैं। उसकी अहिंसा मनुष्यों तक ही सीमित नहीं थी; पशु-पक्षियों के जीवन को भी उसने पवित्र माना। शाही भोजनालय के लिए सैकड़ों पशुओं का वध होता था, उसे उसने बन्द करवा दिया। अहिंसा के सिद्धांतों को उसने व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि राजनीति के क्षेत्र में भी उसको कार्यान्वित करके दिखा दिया। कलिंग विजय के उपरांत उसने युद्ध तथा साम्राज्य विस्तार की नीति को सदैव के लिए त्याग दिया। संसार के इतिहास में इस प्रकार का अन्य उदाहरण मिलना असम्भव है।

अशोक के धर्मप्रचार के कार्य

सम्राट अशोक स्वयं बौद्ध होते हुए भी जैसा कि हम कह चुके हैं, अपने धार्मिक विचारों को अन्य धर्मावलम्बियों पर लादने का प्रयत्न नहीं करता था। उसके साम्राज्य में सभी धार्मिक सम्प्रदायों को अपना धर्म पालन करने की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। फिर भी उसने साम्राज्य भर में तथा विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जितने भारी प्रयत्न किये उसकी समता इतिहास में और कहीं नहीं मिलती। अत: यह कथन कि "बौद्ध धर्म के इतिहास में धर्म के संस्थापक महात्मा गौतम बुद्ध के पश्चात् केवल अशोक को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है", शत-प्रतिशत सत्य है। कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह रणघोष के स्थान पर धर्मघोष करेगा। अपने सप्तम स्तम्भलेख में भी उसने कहा कि "मैं धर्म की घोषणा करूँगा। धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार करूँगा। जो लोग उसे सुनेंगे उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित होंगे, उनका आध्यात्मिक विकास होगा और धर्म की वृद्धि होगी।" यह लेख हमें अशोक के धर्म प्रचार के उद्देश्य का बोध कराता है। इसी उद्देश्य को लेकर सम्राट अशोक ने धर्म के प्रचार के लिए निम्न तरीकों को अपनाया और उनके अनुसार देश तथा विदेशों में बौद्ध धर्म का भरसक प्रचार किया।

बौद्ध धर्म के रूप में राज धर्म की स्थापना–सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को राज धर्म के प्रतिष्ठित पद पर स्थापित किया। इसके परिणामस्वरूप साम्राज्य की जनता का अधिकांश भाग बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। अशोक के

नोट

उत्तराधिकारियों ने भी इसे अपना पैतृक धर्म समझकर स्वीकार किया, जिससे यह धर्म बहुत दिनों तक राजधर्म बना रहा।

बौद्ध धर्म के अनुरूप जीवन बनाना—सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के सिद्धांतों के अनुरूप अपना जीवन बना लिया। अपने जीवन को उसने जनता के सामने उदाहरणस्वरूप रखा। पहले राजकीय भोजनालय में सैकड़ों पशुओं का मांस पकता था। लेकिन अब सम्राट ने बौद्ध धर्म के अनुसार आचरण करके जन साधारण के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया। उसने पशुओं का वध और अन्य हिंसापूर्ण कृत्यों को कानून बनाकर बन्द कर दिया, मांस खाना त्याग दिया और राजकीय रसोई में मांस का पकाना निषिद्ध कर दिया, उसने सैर और शिकार सम्बन्धी यात्रायें बन्द कर दीं तथा स्वयं बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रायें करनी आरम्भ कीं। अशोक के इन कार्यों का साधारण जनता पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा और बौद्ध मतावलम्बियों की संख्या में शीघ्रतापूर्वक वृद्धि होने लगी।

धर्म प्रचार के लिए शासन में सुधार—धर्म प्रचार के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए अशोक ने साम्राज्य के शासन में अनेक सुधार किये। पहले उसने दयालु तथा नम्र स्वभाव के सरकारी कर्मचारियों को हर पांच वर्ष पर राज्य के विभिन्न प्रान्तों का दौरा करने को भेजा। उसका काम सरकारी कर्मचारियों के कार्यों की जांच करना था। ताकि किसी प्रकार प्रजाजन के साथ कोई अन्याय नहीं हो। कुछ समय बाद अशोक ने इन नियमों को स्थायी स्थान देने के लिए एक धर्म विभाग की स्थापना करके कुछ प्रमुख अधिकारियों को धर्म प्रचार के कार्य में नियुक्त किया। राजुक प्रादेशिक और युत नामक पदाधिकारी धर्म प्रचार के कार्य में संलग्न रहने लगे। महामात्र साम्राज्य के विभिन्न भागों में भ्रमण करके धर्म प्रचार के कार्य में भरपूर सहायता प्रदान करने लगे। इन धर्म महामात्रों का कार्य अकारण कारावास तथा मृत्युदण्ड को रोकना था। इसके अतिरिक्त वे धर्म के नियमों का भी प्रचार किया करते थे। स्त्रियों के नैतिक जीवन के सम्बन्ध में भी उन्हें प्रचार करना पड़ता था। इस प्रकार अशोक ने सरकारी पदाधिकारियों को धर्म के कार्य में जुटाया। इतने सुसंगठित रूप से कार्य करने का ही परिणाम था कि सम्राट को अपने उद्देश्यों में आशातीत सफलता मिली, जिसका उल्लेख उसने अपने धर्म लेखों में किया है।

तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन—अपने शासनकाल के सत्रहवें वर्ष में अशोक ने मोदगलि पुत्र तिष्य के सभापतित्व में बौद्ध संघ की आन्तरिक फूट को दूर करने के लिए साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में एक सभा बुलाई। यह तीसरी बौद्ध संगीति थी। इसमें देश भर के बौद्ध भिक्षु शामिल हुए। कुछ विद्वानों ने संगीति की ऐतिहासिकता पर संदेह किया है, किन्तु यह तर्कसंगत नहीं है; इसका सबसे बड़ा प्रमाण अशोक का भाब्रू अभिलेख है। इस अभिलेख में हम अशोक को स्वयं भिक्षुओं के सम्मुख मगध नरेश के नाम से अभिहित करते हुए पाते हैं। डॉ. भण्डारकर का उपर्युक्त मत सर्वथा तर्कसंगत है, क्योंकि जो भिक्षु संगीति में एकत्रित हुए थे, उनमें कुछ मगध साम्राज्य से बाहर के भी थे। इसीलिए अशोक ने मगध के सम्राट के रूप में अपना परिचय देना आवश्यक समझा। उक्त अभिलेख में सम्राट अशोक ने कहा है, "मगध के प्रियदर्शी सम्राट अशोक संघ को अभिवादन कर संघ वासियों के स्वास्थ्य तथा निष्कंटक रूप से विचार करने की कामना करते हैं।" अशोक ने संघ के आचार्यों का स्वागत करते हुए उक्त वाक्य कहा है। इसी अभिलेख में आगे इस प्रकार आता है, "पूज्य भन्ते, यह तो आपको विदित ही है कि बुद्ध धर्म और संघ में हमारी कितनी महती श्रद्धा है जो कुछ भगवान बुद्ध ने उपदेश दिया है, हे भन्ते, वे कितने अच्छे ढंग से व्यक्त किये गये हैं; परन्तु, हे भन्ते, यदि हम इस मंगलमय धर्म का दीर्घकालीन स्थिति के निमित कुछ निर्देश करें तो यह व्यक्त करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। भन्ते, ये धर्म विषयक ग्रन्थ हैं।" 'धर्म विषयक ग्रन्थ' का नाम सम्राट आगे गिनता है जो सुत्त, पिटक तथा विनय पिटक आदि हैं। तत्पश्चात् अशोक बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों को बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करने की इच्छा प्रकट करता है—"जितने भी भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ हैं, उनमें से अधिक से अधिक संख्या में इन सभी ग्रन्थों का पाठ सुनते रहें। सुनने के पश्चात् उन पर मनन किया करें।" नौ महीने के विचार विनिमय के बाद यह सभा विसर्जित हुई। इस सभा ने बौद्ध धर्म में तत्कालीन अठारह मतों को मिलाकर धर्म में फैलती हुई फूट का विनाश किया और धर्म को दृढ़ता प्रदान की गयी। बौद्ध ग्रन्थों में भी कुछ भाषा सम्बन्धी संशोधन किये गये। वास्तव में इसी सभा के बाद विदेशों में प्रचारक भेजने का कार्य अधिक तेजी से आरम्भ हुआ।

नोट

विश्व के इतिहास में अशोक की धर्मविजय का बड़ा महत्त्व है। अशोक के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही बौद्ध धर्म संसार और विशेषकर एशिया की संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गया। धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का भी प्रचार हुआ। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस धर्मप्रचार के पीछे किसी भी प्रकार का राजनीतिक अथवा आर्थिक उद्देश्य नहीं था। वास्तव में, नि:स्वार्थ धर्म प्रचार का ऐसा अन्य उदाहरण संसार के इतिहास में मिलना असम्भव है।

नाटकों द्वारा प्रचार–धर्म में प्रचार के लिए अशोक ने कई प्रकार के नये सामाजिक समारोह का आयोजन किया। उसके धर्मलेखों से विदित होता है कि उसने ऐसे अनेक उत्सवों तथा सामाजिक समारोहों को बन्द करवा दिया जो धर्म के विपरीत पड़ते थे। इसमें पशुओं की कुश्तियाँ, मांसभक्षण या सुरापान सम्मिलित थे। सम्राट ने इन उत्सवों के स्थान पर नये प्रकार के आमोद-प्रमोदों का आयोजन करवाया। अनेक ऐसे तमाशे और जुलूस संगठित किये गये जिससे देवताओं को स्वर्गीय विमानों तथा हाथियों पर सवार दिखलाया जाता था। इसी प्रकार के अनेक दैवी दृश्य दिखलाये जाते थे जिससे सर्वसाधारण में धर्म के प्रति रुचि बढ़े। राज्य की ओर से धर्म श्रवण की व्यवस्था की गयी जिसमें धार्मिक विषयों पर भाषण, कथा आदि होते थे। इन बातों से प्रभावित होकर बहुत लोग बौद्ध हो गये।

विशाल धनराशि दान करना–अशोक बौद्ध भिक्षु, श्रमणों, धर्म प्रचारकों तथा धर्म प्रचार कार्य में लगी हुई धार्मिक संस्थाओं को मुक्त हाथ से विशाल धनराशि दान करता था, इससे भी धर्म प्रचार के कार्य में काफी सुविधा मिली। अशोक ने दीन हीन निरीह तथा साधु संतों को सहायता देकर बौद्ध धर्म के प्रचार में जो योगदान दिया, वह विशेष प्रशंसनीय है। वह स्वयं तो दान देता ही था, साथ ही अपने भाई बन्धुओं, परिवार के अन्य सदस्यों तथा सम्बन्धियों से भी दान दिलवाता था। सप्तम स्तम्भ लेख से यह बात स्पष्ट होती है कि उसने दान विभाग की देख-रेख के निमित्त कर्मचारियों की नियुक्ति की थी जो उसका तथा उसकी रानियों एवं राजकुमारियों के दान का पूरा विवरण रखते थे। इस प्रमाण में हम इलाहाबाद स्तम्भ पर उत्कीर्ण रानी के अभिलेख को रख सकते हैं। जिसमें आम्र वाटिकाओं, प्रमोदोद्यान दानगृह तथा अन्य वस्तुओं के दान का उल्लेख है। सप्तम लेख से हमें अशोक के दान का उद्देश्य स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है। इस स्तम्भ लेख में यह निर्देश है "मैंने यह इस उद्देश्य से किया है कि लोकधर्म का यथानुसार सभी पालन करें।"

धर्म-यात्रा–अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ रणयात्रा के स्थान पर धर्मयात्रा की व्यवस्था की। वह स्वयं धर्म यात्रायें किया करता था तथा अपने अधिकारियों को भी धार्मिक स्थानों की यात्रा करने को भेजता था।

मठों का निर्माण–अशोक ने अपने राज्य के विभिन्न भागों में मठों का निर्माण करवाया तथा पुराने मठों को आर्थिक सहायता की। इन मठों में बहुत अधिक भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ रहा करते थे।

धर्म-श्रवण–अशोक ने धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद तथा भाषण की व्यवस्था की थी। यह आयोजन धार्मिक विषयों में रुचि रखने वाले एवं सर्वसाधारण के हित के लिए किया जाता था। राजुक, व्युष्ट, प्रादेशिक, युक्त आदि पदाधिकारी इस आयोजन को सफल बनाने के लिए उत्तरदायी थे।

धर्म-लेख खुदवाना–अशोक ने अपने साम्राज्य की समस्त शक्ति धर्म प्रचार में लगा दी। अपने राज्य में उसने सरल तथा सर्वमान्य नियमों को चट्टानों तथा स्तम्भों पर खुदवाया। साम्राज्य के सुदूर भागों में स्थायी शिलाओं पर सर्वसाधारण की भाषा में धर्म नियम खोदे गये, जिससे वे पढ़ सकें और अपने जीवन को उनके अनुकूल ढाल सकें। समीपवर्ती प्रान्तों के सुन्दर स्तम्भों पर ये धर्म लेख खोदे गये। अशोक की मृत्यु हुए आज लगभग सवा दो हजार वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु उसके शिलालेख तथा स्तम्भ लेख आज भी उसी प्रकार विद्यमान हैं और उसकी कीर्ति को फैला रहे हैं। उसके चौदह शिलालेख, सात स्तम्भ लेख, कुछ गुहा लेख और कई फुटकर लेख प्राप्त व प्रकाशित हो चुके हैं।

बौद्ध साहित्य को जनसाधारण की भाषा में लिखना–अशोक ने उस समय की बोलचाल की पाली भाषा में ही पाषाण शिलाओं, स्तम्भों आदि पर बौद्ध मत की शिक्षाएँ खुदवायीं तथा कुछ प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थों को पाली भाषा में अनुवाद करवाया। इससे जनसाधारण तक बौद्ध धर्म के सिद्धांतों तथा शिक्षाओं की पहुँच आसानीपूर्वक होने लगी और वे इसकी ओर आकृष्ट होने लगे।

नोट

कल्याणकारी कार्यों को धर्म प्रचार का माध्यम बनाना—सम्राट अशोक ने जनता तथा पशु-पक्षियों की चिकित्सा के लिए साम्राज्य के भीतर ही नहीं वरन् विदेशों तक में औषधालय स्थापित किये और उनके लिए जड़ी-बूटियों के उद्यान लगवाये। उसने अहिंसा का पालन करने और जीवमात्र पर दया दिखाने के लिए जनता को उत्साहित किया। इस प्रकार उसने लोक कल्याणकारी कार्यों को माध्यम बनाकर बौद्ध धर्म का भारी प्रचार किया।

विदेशों में धर्म-प्रचार करना—सम्राट अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के बाहर भी बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं, भिक्षुणियों, धर्म प्रचारकों, उपदेशकों तथा यहां तक कि राज परिवार के सदस्यों को धर्म प्रचारकों के बड़े-बड़े जत्थों के साथ लंका, सुमात्रा, चीन, जापान, एशिया माइनर, यूनान और उत्तरी अफ्रीका के मिस्र आदि देशों में भेजा। सिंहल द्वीप को जाने वाले धर्म प्रचारकों के जत्थे का नेतृत्व सम्राट अशोक के पुत्र राजकुमार महेन्द्र तथा पुत्री राजकुमारी संघमित्रा ने किया था। जब यह प्रचार मंडली सिंहल द्वीप पहुँची तो वहां के राजा तिस्स ने उनका स्वागत किया। अपनी इस धर्म विजय के विषय में अशोक स्वयं कहता है कि "देवानाम्प्रिय धर्म के द्वारा इस विजय को मुख्य विजय समझता है। पड़ोसी देशों, यहाँ तक कि छः सौ योजन दूर के देशों में भी यह विजय देवानाम्प्रिय को मिली है।"

इन धार्मिक मिशनों का कार्य केवल धर्मप्रचार ही न था। इनके साथ राज्य की ओर से धन लेकर अनेक कर्मचारी जाते और उन देशों में लोक सेवा सम्बन्धी कार्य करते। इन मिशनों के सम्बन्ध में इतिहासकार **स्मिथ** का कथन है; "अशोक द्वारा धर्म प्रचारकों का भेजा जाना मानव इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अशोक से पहले लगभग ढाई सौ वर्ष तक बौद्ध धर्म गंगा की घाटी तक ही सीमित रहा और उनकी हैसियत हिन्दू धर्म के एक सम्प्रदाय की ही रही। इस स्थानीय सम्प्रदाय का विश्वधर्म में परिवर्तन करना अशोक का ही काम था।"

ये बौद्ध प्रचारक अपने साथ अपने देश की सभ्यता और संस्कृति भी ले गये। लंका में महेन्द्र ने पत्थर पर नक्कासी करने की कला तथा सिंचाई की प्रणाली प्रचलित की। वास्तव में, अनेक बर्बर जातियों को सभ्य बनाना इन्हीं प्रचारकों का काम था।

अशोक और ब्राह्मण धर्म—अशोक की धार्मिक नीति के कारण उस पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि उसने बलपूर्वक यज्ञों की मनाही करके ब्राह्मण मतावलम्बियों की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचायी। किन्तु यह आरोप तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। कोई भी सरकार अपने राज्य में बहुत बड़े पैमाने पर पशु बलि की प्रथा को स्वीकार नहीं कर सकती। अशोक नर और पशु सब में समान आत्मा समझता था और हत्या को समान हत्या समझता था। ऐसी हालत में वह पशुबलि के प्रश्न पर ब्राह्मणों से किसी प्रकार समझौता करने के लिए तैयार नहीं था। उसने पशुबलि निषेध बौद्ध धर्म के सिद्धांत के अनुसार ही नहीं किया; इस निश्चय के मूल में उसका व्यक्तिगत चरित्र भी था। कलिंग युद्ध के कारुणिक दृश्य को देखकर अशोक पर जो प्रतिक्रिया हुई थी वह सर्वविदित है। इसके बाद उसने अपने हितों पर जरा भी ध्यान न देते हुए रणघोष के स्थान पर धर्मघोष की प्रतिज्ञा की। ऐसे सम्राट ने यदि पशु बलि को बन्द ही करा दिया तो इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अशोक की धार्मिक नीति की एक दूसरी विशेषता यह थी कि साम्प्रदायिकता का अन्त हो जाये और सम्पूर्ण विश्व में बन्धुत्व की भावना का प्रसार हो। इसीलिए उसने अपनी प्रजा को प्रत्येक धर्म के विषय में जानकारी रखने की अनुमति दी।

विदेशियों से मैत्री भाव स्थापित करने में उसकी धार्मिक नीति ने बहुत कुछ योगदान दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण, श्रमण, आजीविक आदि को प्रसन्न रखते हुए अशोक ने सफलतापूर्वक अपने धर्म का प्रचार किया। उसकी धार्मिक नीति की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण तो बौद्ध धर्म का प्रचार तथा ब्राह्मणों आदि का कोई विद्रोह न करना ही है। अशोक, जैसा कि हम जानते हैं पशु वध निषेध करके ब्राह्मणों यज्ञों की अवहेलना कर चुका था। ऐसी दशा में ब्राह्मण का विरोध करना कोई कठिन कार्य न था, किन्तु अशोक ने अपनी प्रजाप्रियता तथा अन्य चारित्रिक गुणों द्वारा अपनी धार्मिक नीति को सफल बनाया।

भारतीय इतिहास पर अशोक की धार्मिक नीति का प्रभाव—अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को स्वीकार करने का भारत का इतिहास पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। अब सम्राट अशोक ने युद्ध और साम्राज्य विस्तार की नीति को त्याग दिया और उसके स्थान पर धर्म विजय को अपना लक्ष्य बनाया। इस नीति को अपनाकर उसने भारतीय इतिहास को एक

नोट

नया मोड़ दिया। मौर्य वंश की स्थापना भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसने देश के राजनीतिक एकीकरण के क्रम को प्रारम्भ किया था। इस तरह का राजनीतिक एकीकरण शक्ति और युद्ध के आधार पर ही हो सकता था। यदि अशोक दिग्विजय की नीति का परित्याग कर धर्म विजय की नीति को नहीं अपनाये रहता तो सम्भव था कि भारतीय इतिहास के उषाकाल में ही देश का पूर्ण राजनीतिक एकीकरण हो गया रहता और बाद में सदियों में विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति शक्तिशाली नहीं होती। लेकिन, उसकी धर्म विजय की नीति ने इस क्रम को जन्म के समय ही रोककर भारतीय इतिहास के लिए एक अभिशाप उत्पन्न कर दिया।

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के अपनाये जाने का एक अच्छा परिणाम भी हुआ। बौद्ध धर्म को अपनाकर अशोक बहुत बड़ा धर्म प्रचारक हो गया। उसने विदेशों में कई धर्म प्रचारक भेजे। इसके पूर्व भारतीय कभी किसी काम को लेकर देश के बाहर नहीं गये थे। लेकिन, अशोक की इस नीति के फलस्वरूप बहुत से भारतीय दूसरे देशों में गये और बाहरी दुनिया से उसका सम्पर्क स्थापित हुआ। इसके बाद बाहर के देशों से बहुत लोग भारत आये। इस प्रकार विदेशों के साथ विचारों का आदान-प्रदान शुरू हुआ और बाद में व्यापारिक सम्बन्ध भी कायम हुआ। अशोक के बौद्ध होने का भारतीय इतिहास पर यह एक बड़ा अच्छा प्रभाव सिद्ध हुआ। विदेशों के साथ भारत के सम्बन्ध का क्रमिक इतिहास यहीं से शुरू होता है।

भारत के इतिहास को बाद तक बौद्ध धर्म ने बहुत प्रभावित किया है। सम्भव है यदि इस धर्म को अशोक का आश्रय और संरक्षण मिला होता तो ब्राह्मण धर्म को प्रबल आघात से यह धर्म भारत से शीघ्र ही लुप्त हो गया होता। लेकिन, अशोक जैसे महान् सम्राट का संरक्षण मिल जाने से बौद्ध धर्म एक सशक्त आंदोलन हो गया और बाद में भारतीय इतिहास पर इसने जो भी प्रभाव डाला, उसका अधिक श्रेय हमें अशोक को ही देना पड़ेगा।

आज भी बौद्ध धर्म भारत के कई पड़ोसी देशों में प्रचलित है। लंका, बर्मा, स्याम आदि देशों से भारत का वर्तमान सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है और इस घनिष्ठता को बढ़ाने में बौद्ध धर्म का प्रमुख हाथ है। उक्त देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का सारा श्रेय अशोक को है। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का अपनाया जाना बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसने केवल समकालीन भारतीय इतिहास को ही नहीं, वरन् आधुनिक काल के इतिहास को भी प्रभावित किया है।

परन्तु अशोक की इस नीति का एक दुष्परिणाम भी निकला। उसकी धर्म विजय और अहिंसा की नीति के फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य की सैनिक शक्ति क्षीण हो गई और उसकी मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही भारत का राजनीतिक पतन हो गया। **डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी** लिखते हैं, "कलिंग के युद्ध की चीख-पुकार से साम्राज्यवादी मगध की शक्ति भी लुप्त हो गयी। अशोक ने अपने पूर्वजों के आक्रामक सैनिकवाद का परित्याग कर दिया और एक ऐसी धर्म विजय की नीति का विकास किया जिसने राज्य की सैनिक शक्ति को अवश्य ही हानि पहुँचाई। उसने न केवल अपने पुत्रों को बल्कि पौत्रों को भी नये प्रकार की विजय को अपनाने के लिए कहा और यह आदेश दिया कि रक्तपात का परित्याग करके जहाँ तक सम्भव हो सके सहनशीलता में ही आनन्द प्राप्त किया जाये। उसके उत्तराधिकारियों ने भेरीघोष के स्थान पर धर्मघोष अधिक सुना। इसलिए यह असमंजस की बात नहीं है कि पाटलिपुत्र की गद्दी पर आने वाले उसके उत्तराधिकारी उस शक्तिशाली राज्य को बनाये न रख सके, जिसका निर्माण चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने किया था।"

अशोक के अभिलेख

अभिलेखों का महत्त्व–भारतीय इतिहास में अशोक के अभिलेखों का स्थान असाधारण है। उनसे उसके राजकाल की प्रायः सारी बातों का पता चलता है। अभिलेखों की प्राप्तिस्थान के आधार पर ही हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि सुदूर दक्षिण के पांड्व, चोल, सत्यपुत्र, केरलपुत्र आदि को छोड़कर सम्पूर्ण भारत अशोक के अधीन था। फिर अशोक बौद्ध मतावलम्बी था, इस मत के समर्थक इन्हीं अभिलेखों का सहारा लेते हैं। इन अभिलेखों में अशोक का हृदय प्रतिबिम्बित होता है। दान, दया, सेवा आदि नैतिक आदर्शों के पोषक के रूप में अशोक हमारे सम्मुख इन्हीं अभिलेखों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। अभिलेखों से ही हमें उसके महादानी होने का ज्ञान प्राप्त होता है। शिलालेखों से यह भी जानकारी हो जाती है कि अशोक ने अपने धर्म प्रचारक कौन-कौन से देश में भेजे और किस-किस के साथ अपने मित्रतापूर्वक सम्बन्ध बनाये। इन शिलालेखों का एक और महत्त्वपूर्ण लाभ हमें यह हुआ है कि इसने हमें

नोट

अशोक के राज्य प्रबन्ध, उसका राजत्व का सिद्धांत, प्रजा के साथ उसका व्यवहार तथा लोकहित के कार्यों के बारे में भी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसने अपने कर्मचारियों को आदेश में अपना व्यवहार व्यक्त किया। अशोक ने कहा "सब लोग मेरे बच्चे हैं। जिस प्रकार मैं अपने बच्चों की भलाई और प्रसन्नता चाहता हूँ उसी तरह मैं इस दुनिया में और अगली दुनिया में सभी लोगों की प्रसन्नता और भलाई चाहता हूँ।"

अशोक के बनवाये हुए स्तूप व स्तम्भ इतने कलात्मक ढंग से बने हुए हैं कि उन्हें देखकर आज का मानव भी आश्चर्यचकित रह जाता है। अत: हम अनुमान लगा सकते हैं कि अशोक के समय में कला ने भारी उन्नति की होगी। इसके अतिरिक्त साम्राज्य भर में खुदे हुए ये लेख इस बात का प्रमाण हैं कि उस समय शिक्षा का भी काफी प्रसार हुआ था और लोग पढ़े-लिखे थे।

अशोक के अभिलेखों को इतिहास में असाधारण स्थान प्राप्त है; केवल इसलिए नहीं कि ये अभिलेख हैं और अभिलेखों का महत्त्व ऐतिहासिक सामग्री के रूप में अत्यधिक होता है। वे स्वयं सम्राट के शब्द हैं। ये लेख पत्थर के स्तम्भों और पर्वत की शिलाओं पर हिमालय से मैसूर तक और उड़ीसा के कठियावाड़ तक खुदे मिलते हैं। जनसाधारण की भाषा पाली में सम्राट के अपने शब्दों में ये लेख उसके उपदेशों को जन-जन में पहुँचाते हैं। अशोक ने इस बात को पूरी तरह समझा कि बीच के भाष्यकार मूल उपदेश को निरर्थक कर देते हैं। इससे उसने अपनी प्रजा तक स्वयं पहुँचने का प्रयत्न किया।

अभिलेखों का वर्गीकरण—अशोक के अभिलेखों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(अ) शिलालेख (ब) स्तम्भ लेख और (स) गुहा लेख। इनमें सबसे प्राचीन शिलालेख हैं। स्तम्भ लेख शिलालेखों के बाद में तैयार किये गये थे। ये शिलालेख भारत के लगभग सभी भागों में मिलते हैं। उनसे साम्राज्य विस्तार, शासन व्यवस्था तथा धार्मिक सिद्धांतों के विषय में हमें बहुत कुछ जानकारी मिलती है। उनकी भाषा उस समय की बोलचाल की प्राकृतिक भाषा है। **बी. ए. स्मिथ** के आधार पर अभिलेखों को आठ भागों में बांटा गया है—(1) दो लघु शिलालेख, (2) भाब्रू शिलालेख, (3) चतुर्दश शिलालेख, (4) कलिंग शिलालेख, (5) सप्त स्तम्भ शिलालेख, (6) लघु स्तम्भ शिलालेख, (7) तराई स्तम्भ शिलालेख और (8) गुफा शिलालेख। इन आठ प्रकार के अभिलेखों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

(1) **दो लघु शिलालेख**—इनको लघु शिलालेख प्रथम तथा लघु शिलालेख द्वितीय कहा गया है। सम्भवत: इन दोनों को 258 ई.पू. या 250 ई.पू. में खुदवाया गया था। पहले लेख में अशोक के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश पड़ता है और दूसरे में धर्म सारांश दिया गया है। लघु शिलालेख प्रथम मैसूर राज्य में चितलदुर्ग जिला के ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, रामेश्वर और जातिंग स्थानों में, बिहार राज्य के शाहाबाद जिले के सहसराम नामक स्थान में, मध्य प्रदेश में बराट तथा मास्की गवीमठ, पल्कीगुंडू चेरागुड़ी में पाया गया है। दूसरा लेख सिद्धपुर, ब्रह्मगिरि में पाया गया है। मस्की रायचूर जिला के लेख का विशेष महत्त्व है। केवल इसी लेख में अशोक का नाम आता है। अन्य लेखों में केवल देवनाम्प्रिय, प्रियदर्शी आदि शब्दों का ही प्रयोग हुआ है।

(2) **भाब्रू शिलालेख**—इस लेख से अशोक के बौद्ध धर्मावलम्बी होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इसमें उसने बौद्ध धर्म तथा संघ के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है। इसमें बौद्ध ग्रन्थों के कुछ उद्धरण दिये गये हैं, भिक्षुओं तथा उपासकों दोनों से ही कहा गया है कि वे इनका पाठ तथा मनन करें।

(3) **चतुर्दश शिलालेख**—इन शिलालेखों की संख्या चौदह है। इसमें अशोक की नीति तथा शासन सम्बन्धी सिद्धांतों की विवेचना है। इसमें तेरहवें शिलालेख को बड़ा महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि इसमें कलिंग युद्ध के बाद सम्राट अशोक के हृदय परिवर्तन का उल्लेख दिया गया है। इनकी तिथि 257 ई.पू. तथा 256 ई.पू. है। इनकी प्रतियां निम्नलिखित स्थानों में मिली हैं—

1. शहबाजगढ़ी (जिला पेशावर, पाकिस्तान में)
2. मसेहरा (जिला हजारा, पाकिस्तान में)
3. जूनागढ़ (जिला गिरनार, सौराष्ट्र में)
4. सोपारा (जिला थाना, सौराष्ट्र में)

नोट

5. धौली (जिला पुरी, उड़ीसा में)
6. कालसी (जिला देहरादून मसूरी के पास, उत्तर प्रदेश में)
7. जोगदा (जिला गंजाम, आंध्र प्रदेश में)
8. इरागुड़ी (जिला हैदराबाद, आंध्र प्रदेश में)

(4) **कलिंग शिलालेख**–इनकी संख्या दो हैं। ये उड़ीसा के पुरी जिले में धौली नामक स्थान पर और आंध्र प्रदेश के जिला गंजाम में योगदा नामक स्थान पर पाये गये हैं। इनकी निर्माण तिथि 256 ई.पू. है। इनमें वे नियम तथा सिद्धांत अंकित किये गये हैं जिनके आधार पर सम्राट अशोक ने विजय किये हुए कलिंग राज्य तथा साम्राज्य की सीमा से लगे हुए अविजित क्षेत्रों के निवासियों के साथ व्यवहार किये जाने की आज्ञा अपने कर्मचारियों को दी थी।

(5) **गुफा शिलालेख**–गया से लगभग उन्नीस मील की दूरी पर बराबर की पहाड़ियों में चार गुफाएँ हैं। उनमें से तीन की दीवारों पर अशोक के लेख हैं, जिनमें कहा गया है कि ये गुफाएँ आजीविक सम्प्रदाय के भिक्षुओं को समर्पित की गई थी। गुफा लेख सम्भवत: 257 और 250 ई.पू. के बीच उत्कीर्ण किये गये होंगे।

(6) **सप्त स्तम्भ शिलालेख**–इन स्तम्भ लेखों का निर्माण शायद 242 ई.पू. में हुआ था। ये लेख उत्तर भारत के छ: स्थानों में स्तम्भों पर उत्कीर्ण पाये गये हैं। (1) इनमें दिल्ली टोपरा स्तम्भ बहुत प्रसिद्ध है। यह स्तम्भ पहले खिज्राबाद जिले के टोपरा नामक गांव में स्थित था। यह गांव दिल्ली से लगभग बारह मील दूर है। दिल्ली का सुल्तान फिरोज तुगलक इसे दिल्ली लाया था। इस स्तम्भ पर सातों लेख खुदे हुए हैं। अन्य स्तम्भों पर केवल छ: लेख मिलते हैं। (2) मेरठ-दिल्ली स्तम्भ पहले मेरठ में था। इसको भी फिरोज तुगलक दिल्ली ले आया था। (3) तीसरा इलाहाबाद में है। मूलत: यह कौशाम्बी में था। बाद में सम्राट अकबर इसे इलाहाबाद ले गया था। इस स्तम्भ पर अशोक ने दो लघु लेख भी खुदे हैं, एक कौशाम्बी लेख और दूसरा रानी लेख कहलाता है। आगे चलकर गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने भी इसी स्तम्भ पर अपना लेख खुदवा दिया था। (4) लौरिया अरराज स्तम्भ। (5) लौरिया नन्दनगढ़ स्तम्भ और (6) रामपुरवा स्तम्भ। अन्तिम तीन स्थान बिहार के चम्पारण जिले में हैं।

(7) **लघु स्तम्भ लेख**–यह लेख इलाहाबाद, सांची तथा सारनाथ के स्तम्भों पर पाये गये हैं। ये शिलालेख मठ सम्बन्धी फुट से होने वाली हानि का भी पता देते हैं।

(8) **रुतिराई स्तम्भ शिलालेख**–ये लेख तम्मनदेई तथा निग्लीवा में पाये गये हैं। दोनों ही स्थान नेपाल की तराई में स्थित हैं। इसीलिए इन्हें तराई लेख कहा गया है। इन लेखों से प्रमाणिक रूप से पता चलता है कि अशोक ने बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित पवित्र स्थानों की यात्रा की थी। इन शिलालेखों से ही पता लगाया जा सकता है कि बुद्ध का जन्म मिरू स्थान पर हुआ था। ये शिलालेख लगभग 249 ई.पू. ने उत्कीर्ण किये गये थे।

अशोक के शिल्प निर्माण कार्य–कला की दृष्टि से अशोक के शिलाखण्ड बड़े महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इन लेखों को अंकित करने के लिए अनेक स्तम्भ, शिलाएँ और गुफाएँ बनायी गयीं। शिलाओं और गुफाओं के निर्माण से वास्तुकला आदि के विकास को बड़ा प्रोत्साहन मिला। स्तम्भों के आधार में मोरों की तथा शीर्ष पर सिंह, बैल आदि पशुओं की आकृतियाँ बनाई गयीं। इन पशुओं की आकृति में इतनी स्वाभाविकता है कि उनके सच्चे होने का भ्रम होता है। इनकी पालिश व सजीवता आदि देखकर कला के पाश्चात्य विशारदों ने इन्हें ईरानी नमूनों से अनुप्राणित कहा है। इसके फलस्वरूप मूर्तिकला और चित्रकला की उन्नति हुई। ये पाषाण स्तम्भ पचास फीट ऊँचे तथा लगभग पचास टन भारी थे। इन ठोस पाषाण स्तम्भों को प्राय: एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना पड़ता था और कभी-कभी पहाड़ियों के ऊपर भी चढ़ाना पड़ता था। इससे सिद्ध होता है कि उस समय इंजीनियरिंग का भी अद्भुत विकास हुआ था। स्तम्भों के शीर्ष पर बनी हुई आकृतियां वास्तुकला का विस्मयकारी नमूना पेश करती हैं। ये इतने सुन्दर, इतने चिकने और इतने चमकदार हैं कि उनके धातु के बने होने का भ्रम होने लगता है। इस संबंध में **स्मिथ** ने ठीक ही लिखा है–"संसार के किसी भी देश में प्राचीन वास्तुकला का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण अथवा कला के ऐसे अनुपम नमूने पाना अत्यंत दुष्कर था।"

नोट

टास्क अशोक की कलिंग विजय और उसकी धम्म नीति पर चर्चा करें।

अशोक का शासन-प्रबन्ध

अशोक के राजस्व सिद्धांत—अशोक को उत्तराधिकारी के रूप में केवल एक विस्तृत साम्राज्य ही नहीं प्राप्त हुआ था, अपितु एक सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ शासन व्यवस्था भी प्राप्त हुई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक अत्यंत ही सुसंगठित प्रशासन व्यवस्था का निर्माण किया था। इसलिए अशोक को उसमें विशेष परिवर्तन करने अथवा कोई नयी प्रणाली कायम करने का आवश्यकता नहीं हुई। कम से कम कलिंग युद्ध तक उसने इस शासन व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं को कायम रखा। लेकिन कलिंग युद्ध का अशोक के सिद्धांतों तथा दृष्टिकोण पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। अशोक के मानसिक और धार्मिक परिवर्तन ने उसके राजनीतिक आदर्श और शासन प्रबंध को भी प्रभावित किया। सिद्धांत रूप में तो उसके पहले भी प्रजा का हित करना राजा का धर्म माना जाता था, परन्तु व्यवहार में वह यंत्रवत चलता था और बहुत से राजा अपने व्यक्तिगत सुख का प्रजापालन से अधिक महत्त्व देते थे। अशोक ने अपने धार्मिक और नैतिक विश्वासों के कारण अपना सारा राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन प्रजा की सेवा में अर्पित कर दिया। उसने राजनीति में नये-नये सिद्धांतों एवं आदर्शों का समावेश किया। इस हालत में पुरानी शासन प्रणाली में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आवश्यक हो गये तथा अशोक को शासन के ढांचे में कई परिवर्तन करने पड़े। यद्यपि यह ढांचा पहले के जैसा ही रहा लेकिन उसकी आत्मा बिल्कुल बदल गयी और उसमें एक नवीन जीवन फूंक दिया गया।

अशोक अपनी प्रजा को सन्तानवत् समझता था। वह अपनी प्रजा को बहुत चाहता था और सदा उनकी सेवा में संलग्न रहता था। जनता को वह अपना पुत्र मानता था। जैसे पिता अपनी संतान के मानसिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक सुख और उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहता है उसी प्रकार अशोक ने अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति प्रजा के हित में लगा दी। उसने स्वयं लिखा है, "सब प्रजाजन मेरे पुत्रों के समान हैं; जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों की इहलौकिक तथा पारलौकिक हर प्रकार की समृद्धि चाहता हूँ, उसी प्रकार से मैं सब लोगों की समृद्धि चाहता हूँ।" वह अन्यत्र कहता है, "जैसे कोई व्यक्ति अपने बच्चे को चतुर धाय के सुपुर्द करके निश्चित हो जाता है और कहता है कि चतुर धाय मेरे बच्चे को सुखी बनाने के लिए उत्सुक है, उसी प्रकार मैंने सूबेदार नियुक्त किये हैं जो मेरी जनता के सुख और समृद्धि का प्रयत्न करते हैं।" इस विषय में उसने स्वयं अपने कर्मचारियों के सामने उदाहरण रखा। वह लिखता है, "हर समय चाहे मैं भोजन कर रहा हूँ, चाहे रनिवास में होऊँ, चाहे निजी कमरे में, चाहे किसी सवारी पर और चाहे उद्यान में—गुप्तचरों को चाहिए कि मुझे मेरी प्रजा के विषय में सूचना दें। मुझे अपने कार्य और परिश्रम से कभी सन्तोष नहीं होता। जनता के सुख के लिए तो मुझे सतत् प्रयत्नशील रहना ही है।" इन सिद्धान्तों और आदर्शों को उसने अपनी शासन व्यवस्था का आधार बनाया तथा तदनुसार उसमें कुछ परिवर्तन भी किये। सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था धर्म महामात्रों की नियुक्ति। स्त्रियों के बीच काम करने के लिए स्त्री अध्यक्ष महामात्र, चारागाहों में बसने वाली जातियों में काम करने के लिए ब्रजभूमिक और सीमान्त प्रदेशों के लिए अन्तमहामात्र नियुक्त किये गये। इसके अतिरिक्त राजुक, प्रादेशिक, युक्त आदि पदाधिकारियों को राज्य में दौरा करने का आदेश दिया गया।

प्रतिवेदकों को आज्ञा दी गयी कि वे सम्राट को जनता के सुख-दुःख की सूचना दें, वह कहीं भी हों और कुछ भी कर रहे हों। राजुकों को दण्ड तथा सम्मान देने के विषय में अधिक स्वतंत्रता दे दी गयी, जिससे वे अपना कर्त्तव्य अधिक विश्वास और निर्भयता के साथ पालन कर सकें।

सम्राट के राज्याभिषेक के वार्षिकोत्सव पर बन्दियों को रिहा करने की प्रथा जारी की गयी। मृत्युदण्ड पाये हुए अपराधियों को दण्ड मिलने से पहले तीन दिन का अवकाश दिया जाता था, जिससे उपवास, चिन्तन आदि के द्वारा दूसरी जगह की तैयारी कर लें।

सीमान्त की अर्द्धसभ्य और लड़ाकू जातियों के प्रति कठोरता की नीति त्याग दी गई। उनके साथ उदारता का बर्ताव किया गया और उनकी आर्थिक तथा नैतिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

नोट

अशोक ने अपनी प्रजा की आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति में ही केवल दिलचस्पी न ली थी। उसने उसकी भौतिक उन्नति और सुख के भी अनेक कार्य किये। उसने स्वयं लिखा है कि "मैंने सड़कों पर बरगद तथा आम के वृक्ष लगवाये, हर आधे कोस पर कुएँ खुदवाये और पशुओं तथा मनुष्यों के लिए जलाशय बनवाये।" इसके अतिरिक्त उसने मनुष्यों एवं पशुओं की चिकित्सा के लिए अस्पताल खुलवाये।

अशोक ने अपनी प्रजा को बहुश्रुत होने की अनुमति दी थी और जैसा कि उसका नियम था प्रजा को किसी कार्य के लिए प्रेरित करने के पूर्व वह स्वयं उस कार्य को करता था। अत: अशोक स्वयं बहुश्रुत था। विभिन्न राजत्व सिद्धांतों का उसे पूर्ण ज्ञान था। अत: अशोक स्वयं सिद्धांतों का पंडित था। उसकी राजनीति में चाणक्य की कूटनीति का समावेश न था यदि था भी तो अपने धर्म परिवर्तन के साथ-साथ उसने इसे पूर्णतया भुला दिया था। पवित्रता, आदर्शवादिता, प्रजाप्रियता, नैतिकता तथा मौलिकता इसके राजत्व सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इसी पृष्ठभूमि में हम अशोक के शासन प्रबन्ध को भली-भांति समझ सकते हैं।

स्वायत्त शासन–अशोक के तेरहवें शिलालेख के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि अशोक के अधीन कुछ ऐसे प्रदेश भी थे जो अप्रत्यक्ष रूप में तो अशोक की अधीनता स्वीकार करते थे, किन्तु इन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त था, जैसे यवन, कम्बोज, नाभक, नाभपत्ति, आन्ध्र, भोज तथा परिषद् आदि। विद्वानों ने उक्त प्रदेशों में से कुछ की स्थिति का अनुमान इस प्रकार लगाया है–यवन तथा कम्बोज राज्य सम्भवत: उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में, भोज पश्चिमी समुद्र तट अथवा बरार में और आंध्र सम्भवत: कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के तटीय प्रदेश थे।

अशोक का केन्द्रीय शासन–बारहवें शिलालेख के आधार पर कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि साम्राज्य के अन्तर्गत कुछ ऐसे प्रदेश सम्मिलित थे जो प्रत्यक्ष रूप से साम्राज्य के अधीन नहीं थे। उनको आन्तरिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। इन राज्यों को छोड़ देने पर भी अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत भारत का विशाल खण्ड था जिसका शासन करना कोई सरल काम नहीं था। उसने उन समस्त सिद्धांतों के आधार पर शासन किया जो उसके पिता और पितामह द्वारा स्थापित किये गये थे। उसने आवश्यकता तथा अपनी नीति के अनुसार कहीं-कहीं परिवर्तन अवश्य किये थे। अशोक ने अपने पूर्वजों की केन्द्रीय कौंसिल को कायम रखा। इसको परिषद कहते थे। इसका उल्लेख शिलालेख तीन और छ: में हुआ है। यह परिषद् मंत्रिपरिषद् थी। यह केवल एक परामर्शदातृ संस्था थी और राज्य संचालन में इसकी राय ली जाती थी।

परिषद् का अशोक के समय में काफी महत्त्व था और छठे शिलालेख में यह लिखा हुआ है कि परिषद् की बैठक तब होनी चाहिए, जब राजा दान अथवा घोषणा के सम्बन्ध में कोई मौखिक आज्ञा दे तथा जब महामात्रों पर कोई अत्यन्त आवश्यक कार्यभार सौंपा जाये।

आवश्यक कार्यों का निर्णय परिषद् में ही लिया जाता था। छठे शिलालेख के अतिरिक्त तृतीय शिलालेख से भी परिषद् के महत्त्वपूर्ण कृत्यों पर प्रकाश पड़ता है। यह देखना परिषद् का काम था कि राजा की प्रत्येक आज्ञा कार्यरूप में परिणत हो। कर्मचारियों के कार्यों पर परिषद् की निगरानी रहती थी। परिषद् कर्मचारियों को आज्ञा भी देती थी। गणना विभाग के प्रति परिषद् का विशेष दायित्व था। राजा की आज्ञाओं के कार्यरूप में परिणत होने के पूर्व ही परिषद् उनकी जांच करती थी और आवश्यकता पड़ने पर राजा अपनी उन आज्ञाओं पर पुनर्विचार करता था। आवश्यक कार्यों के बारे में परिषद् महामात्रों को सलाह देती थी। परिषद् के सदस्यों का महामात्रों से मतैक्य होने पर राजा से पूछने की जरूरत नहीं थी परन्तु मतभेद होने पर राजा का हस्तक्षेप अवश्यम्भावी था।

परिषद् राजा और कर्मचारियों के बीच कड़ी का काम करती थी। सीमित अर्थ में यह राजा पर अंकुश का भी काम करती थी। परिषद् के मुख्य काम ये थे–

(1) राजा की आज्ञाओं की परीक्षा करना,

(2) मतभेद होने पर विवादास्पद विषयों को राजा के पास भेजना,

(3) राजाज्ञाओं को कार्यरूप में परिणत करना,

(4) कर्मचारियों के कार्यों पर निगरानी रखना,

नोट

(5) उचित विषयों पर कर्मचारियों को सलाह देना,

(6) कर्मचारियों को आज्ञा देकर सरकारी काम करवाना एवं

(7) गणना विभाग की देखभाल करना।

राज्य के मुख्य कर्मचारी–अशोक के अभिलेखों में राजकर्मचारियों के लिए पुरुष, वर्ग, मुख, महामात्र आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है। पुरुष उच्चाधिकारी थे। प्रथम, चतुर्थ और सप्तम स्तम्भलेख में पुरुष शब्द का उल्लेख मिलता है और यह अनुमान लगाया जाता है कि ये लोग परिषद् के मन्त्री थे। 'पुरुष' राजा के ज्यादा निकट थे, उसकी नीति से परिचित रहते थे और राजुकों को उपदेश या सलाह देते थे। राजुक लाखों प्राणियों पर नियुक्त होते थे, परन्तु 'पुरुष' बहुत जनों पर नियुक्त होते थे और उनका अधिकार क्षेत्र विशाल था। प्रथम स्तम्भलेख में 'पुरुष' की तीन श्रेणियां वर्णित हैं–उत्कृष्ट, निकृष्ट और मध्यम। चतुर्थ और सप्तम् स्तम्भलेखों में पुरुषों को राजुकों के साथ ही रखा गया है। 'पुरुष' राजा के आदेशानुसार चलते थे और उसके आदेशों को कार्यरूप में परिणत करते थे। वर्ग शब्द जनसाधारण और कर्मचारी दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। मुख का प्रयोग 'विभागाध्यक्ष' या प्रमुख राज्याधिकारी के अर्थ में हुआ है।

अभिलेखों में ऊँचे कर्मचारियों के लिए महामात्र शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिलेखों के अध्ययन से महामात्र की कई श्रेणियां मालूम पड़ती हैं। कुछ तो केवल 'महामात्र' कहलाते थे और कुछ के नामों के पहले या पीछे उनके विभाग का सूचक शब्द जोड़ दिया जाता था, जैसे–धर्ममहामात्र, स्त्री अध्यक्ष महामात्र, अन्तमहामात्र, महामात्रनगर व्यावहारिक, महामात्रनागरक। कुछ महामात्र मंत्री भी होते थे। कुछ महामात्र ऐसे होते थे, जिन्हें आवश्यक कार्य सौंपे जाते थे और परिषद् उन्हें सलाह दिया करती थी।

प्रान्तीय शासन–प्रान्तीय शासन के सम्बन्ध में अशोक ने अपने पूर्वजों की नीति का अनुसरण किया और उसमें उसने किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया। प्रान्तों में विभिन्न प्रकार के कर्मचारी होते थे, जिनके अधिकार एक-दूसरे से भिन्न थे। साम्राज्य चार प्रान्तों में विभाजित था और प्रत्येक प्रान्त का शासक राजकुमार होता था। सम्राट की सहायता के लिए एक उपराजा था। इस पद पर उसका भाई रहता था। इसके अतिरिक्त युवराज और अग्रमात्य भी सम्राट को शासन सम्बन्धी कार्यों में सहायता प्रदान करते थे। अग्रमात्य के पद पर राधागुप्त आसीन था। कुमार और आर्यपुत्रों द्वारा भी सम्राट को शासन के संचालन में विशेष सहायता प्राप्त होती थी। दूरस्थ प्रदेशों के प्रान्तीय शासक होते थे। इन पदों पर साधारणतया ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी जो सम्राट के विशेष भक्त होते थे और जिनसे देशद्रोह की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। अशोक के अभिलेखों में प्रादेशिक शब्द का प्रयोग हुआ है। इन पदाधिकारियों के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के विचार में प्रादेशिक स्थानीय गवर्नर अथवा सामन्त होता था, परन्तु वी. ए. स्मिथ के विचार में यह जिले का शासक होता था। कुछ विद्वानों के विचार में प्रादेशिक 'अर्थशास्त्र' के 'प्रदेशी' हैं। प्रदेशी का काम कर वसूलना, फौजदारी के मुकदमों को देखना, चोरों का पता लगाना तथा अध्यक्षों और उसके आदिवासियों पर नियन्त्रण रखना था।

प्रदेश का सर्वोच्च शासक राजा द्वारा नियुक्त होता था। वह वहाँ राजा का प्रतिनिधि होता था और राजा की आज्ञा के अनुसार कार्य करता था। सभी क्षेत्रों में राजा और उसके कर्मचारी दौरा करते थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. अशोक सम्राट बिन्दुसार का द्वितीय पुत्र था।
9. बिन्दुसार ने बराबर की पहाड़ी में आजीविक सम्प्रदाय के सन्यासियों के लिए गुफाएँ बनवायीं।
10. चतुर्थ स्तम्भ अभिलेख और द्वितीय कलिंग शिलालेख में अशोक की न्याय व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।
11. वृहद्रथ की हत्या चन्द्रगुप्त मौर्य ने की थी।

नोट

न्याय व्यवस्था–चतुर्थ स्तम्भ अभिलेख और द्वितीय कलिंग शिलालेख में अशोक की न्याय व्यवस्था पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। राजा न्याय का स्रोत और सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश था। अशोक के समय न्याय व्यवस्था के लिए न्यायालयों की स्वाधीनता के महत्त्व को समझा गया था। उसने कार्यपालिका के नियन्त्रण से न्यायाधीश को मुक्त कर दिया था ताकि राजुक (न्यायाधीश) आश्वस्त और निर्भीक होकर कार्य कर सकें। अशोक कहता है–"उनका जो अभिहार (उपहार या पुरस्कार) या दण्ड देने का अधिकार है, वह मेरे द्वारा उनके मार्फत कर दिया गया है जिससे राजुक आश्वस्त और अभीत कार्यों में प्रवृत्त हों। जिससे राजुक जनपद के जन को हित और सुख प्रदान करें तथा उस पर अनुग्रह करें वे प्रजा के सुख और दु:ख के कारण जानेंगे तथा धर्मयुक्त की सहायता से जनपद के जन को उपदेश देंगे, जिससे वह इहलोक और परलोक को प्राप्त करे। राजुक मेरे आज्ञापालन के लिए बाध्य हैं। 'पुरुष' भी मेरी आज्ञाओं का पालन करेंगे और वे राजुकों को उपदेश देंगे, जिससे राजुक मुझे प्रसन्न करने में समर्थ हों। राजुक कई लाख जनों पर नियुक्त हैं।"

चौथे स्तम्भलेख से अशोक की न्याय व्यवस्था का पता चलता है। न्यायशासन के लिए राज्य को कुछ निश्चित क्षेत्रों में बांट दिया गया था। न्यायाधीश स्वतंत्र तथा निर्भीक होता था। राजा की ओर से उसके कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। न्यायाधीश का काम केवल दण्ड देना ही नहीं था, वरन् पुरस्कृत करना भी था। मृत्युदण्ड मिलने पर अपील के लिए तीन दिन का समय दिया जाता था। न्यायाधीश के लिए यह आवश्यक था कि उसे कानून का समुचित ज्ञान हो। उसे आदेश था कि वह न्याय के कार्य में विलम्ब न करे। उसे दौरे पर जाने का भी आदेश था। न्यायाधीशों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए महामात्र दौरा किया करते थे। राजुक भी पांच-पांच वर्ष पर दौरे पर जाते थे। प्रजा राजा के यहाँ भी निवेदन कर सकती थी।

अशोक ने फौजदारी कानून की कठोरता को कुछ कम कर दिया। राज्याभिषेक की प्रत्येक वर्षगांठ पर वह बहुत सारे कैदियों को छोड़ देता था। अशोक ने न्याय की कठोरता में दया का सम्मिश्रण किया; पर उसने दण्डविधान को हटाया नहीं। शान्ति और व्यवस्था के लिए वह दण्डविधान को आवश्यक मानता था।

अशोक के सुधार–तत्कालीन भारतीय राजनैतिक सिद्धांत के अनुसार दो पड़ोसी राज्य बैरी समझे जाते थे और शक्तिशाली राजा अपने पड़ोसी राज्य को हर प्रकार से शक्तिहीन बनाने का प्रयास किया करता था, किन्तु अशोक ने अपने पड़ोसी जातियों के अभयदान की घोषणा इस प्रकार की–"सीमान्त जातियाँ मुझसे भय न खाएँ, वे मुझ पर विश्वास करें और मुझसे सुख प्राप्त करें। वे कभी दु:ख न पायें और इस बात का सदैव विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा करना सम्भव है, राजा उनके साथ करेगा।"

सम्राट अशोक ने शासन प्रबन्ध में सबसे बड़ा सुधार यह किया कि उसने सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाकर प्रजा का जीवन स्तर ऊँचा करने का प्रयास किया। इसके लिए उसने कुछ हिंसात्मक समारोहों एवं उत्सवों को बन्द करा दिया। मदिरा, मांस, नृत्य आदि में समय अथवा धन का व्यय होता था, उसे रोकने का भी अशोक ने पूर्ण प्रयास किया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के शासन प्रबन्ध तथा तत्सम्बन्धी सुधारों पर उसकी नैतिकता प्रधान धार्मिकता की पूर्ण छाप थी। जिन नये पदाधिकारियों की नियुक्ति अशोक द्वारा की गयी, वे राजनीतिक क्षेत्र में भले ही महत्त्वपूर्ण कार्य न कर सके हों, पर सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किये। अब तक के सांस्कृतिक इतिहास में जिन नवीन पृष्ठों को जोड़ कर जितने आदर्श भारतीय संस्कृति का उदाहरण अशोक ने प्रस्तुत किया, वह चिरस्मरणीय हैं।

अशोक की शासन व्यवस्था का मूल्यांकन–सम्राट अशोक एक महान शासक था। सम्भवत: वह इतिहास का प्रथम ऐसा शासक था जिसकी शासनशक्ति जनित भय के आधार के बदले सदिच्छा, सहनशीलता, सहिष्णुता और सहमति पर आधारित थी। कलिंग युद्ध के उपरांत अशोक ने अपने शासन को अत्यन्त ऊँचे आदर्शों से युक्त किया। उसने अपना सम्पूर्ण समय प्रजा का पुत्रवत पालन करने, लोक हितकारी कार्यों को सम्पन्न करने तथा प्रजा की भलाई के लिए कल्याणकारी कार्यों के चिन्तन में व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। उसने अपनी प्रजा के नैतिक तथा धार्मिक

नोट

स्तर को ऊँचा उठाने के लिए काफी प्रयत्न किये तथा उसे सदाचारी और धर्मपरायण बनाया। उसने स्थान-स्थान पर बड़ी-बड़ी शिलाओं और स्तम्भों पर उपदेश एवं आदेश खुदवाये। उसने चरित्र एवं आचरण की जांच करने के लिए निरीक्षक नियुक्त किये। उसने मनुष्यों तथा पशुओं के लिये अधिक संख्या में चिकित्सालय खुलवाये और यात्रियों की सुविधा के लिए सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगवाये, कुएँ खुदवाये और धर्मशालाएँ तैयार करायीं। उसने अपने शासन को इतना अधिक संगठित और सुव्यवस्थित बना दिया था कि उसके चालीस वर्ष के शासनकाल में साम्राज्य भर में कहीं भी कोई विद्रोह नहीं हुआ। साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति बनी रही। सरकारी कर्मचारी, धर्ममहामात्र तथा राजकीय धर्मोपदेशक जनता को धर्मपरायण, सदाचारी, कर्त्तव्यशील और गुरुजनों में भक्ति रखने वाली बनाने का प्रयत्न करते रहते थे। अशोक स्वयं सभी प्रकार के राजसुखों का त्याग करके भिक्षु के जैसा साधारण जीवन व्यतीत करता तथा दिन-रात जनता के कल्याण की चिन्ता में लीन रहता था। इस प्रकार सम्राट के सार्वजनिक जीवन और वैयक्तिक जीवन के बीच कोई अन्तर न था। उसने दोनों ही प्रकार के जीवन समान रूप से उच्च कोटि के तथा विश्व भर के सम्राटों के लिए अनुकरणीय थे। उसके जैसे साधारण जीवन और उच्च विचारों से युक्त सम्राट विश्वभर में न आज तक हुआ है और न भविष्य में होने की सम्भावना है। सम्राट अशोक में महान शासक के जितने गुण विद्यमान थे उतने गुण किसी भी देश के किसी भी सम्राट में नहीं पाये गये। इसलिए सम्राट अशोक को विश्व का एक महान शासक कहा जाता है।

इतिहास में अशोक का स्थान

अशोक भारतीय इतिहास का एक आदर्श एवं महान व्यक्तित्व वाला सम्राट था। विश्व के इतिहास में किसी भी ऐसे सम्राट का उदाहरण नहीं मिलता जिसने अक्षरश: अपने आदर्श का पालन किया है। संसार के इतिहास में उसका शासनकाल एक अपूर्व तथा उज्ज्वल अध्याय है। वह संसार का सर्वश्रेष्ठ शासक माना जाता है। वह विजेता और शासक के अतिरिक्त शान्ति और धर्म का प्रचारक भी था। राजनीतिक दृष्टि से उसका राज्य अत्यन्त विस्तृत था। शक्ति और बल के बावजूद उसने स्वेच्छा से शान्ति का मार्ग अपनाया और विजय की लालसा का परित्याग कर दिया। मानव इतिहास में इस तरह का यह पहला उदाहरण था। उसने भौतिक साम्राज्य को ठुकराकर धार्मिक साम्राज्य स्थापित किया। भूमि विजय को छोड़कर हृदय विजय का प्रचार किया। यही कारण है कि उसकी समानता और तुलना में किसी भी सम्राट की गणना नहीं की जा सकती। वस्तुत: वह अद्वितीय सम्राट था और उसका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक था। उसके शासनकाल में भारत का सर्वतोमुखी विकास हुआ। दुनिया के इतिहास में उसका शासनकाल एक अपूर्व, उज्ज्वल एवं अद्वितीय अध्याय है। उसमें उच्च आदर्श, त्यागपूर्ण जीवन, उच्च कोटि के धार्मिक विचार, सुसंगठित शासन प्रणाली, प्रजा का कल्याण, शांति और समृद्धि प्रदान करने की कामना तथा सम्पूर्ण मानव समाज के हित के साधन की शुभ चेष्टा ने उसे भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के प्रसिद्ध सम्राटों, सन्तों, महात्माओं और धर्म प्रचारकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने का अधिकार बताया है। सम्राट अशोक की महानता, उच्चता और श्रेष्ठता निम्नलिखित गुणों पर आधारित है–

महान् व्यक्तित्व वाला व्यक्ति–अशोक की महानता का सबसे प्रमुख प्रमाण उसका महान् व्यक्तित्व है। कलिंग युद्ध के पूर्व अशोक बड़े ही आमोद-प्रमोद विलासिता का जीवन व्यतीत करता था। वह विहारयात्रायें किया करता था और सामाजिक उत्सवों में खुलकर भाग लेता था। साम्राज्यवादी भावना से ओत-प्रोत था। वह दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति था और अपने संकल्प की पूर्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहता था। कुछ विद्वानों के अनुसार आरम्भ में वह क्रूर, निर्दयी, रक्तपिपासु तथा विलासी और साथ ही साथ कठोर और उद्दण्ड भी था। लेकिन कलिंग युद्ध के बाद उसका जीवन एकदम बदल गया। उस युद्ध में जो नरसंहार हुआ उस भयावह दृश्य ने अशोक के जीवन में अद्भुत परिवर्तन ला छोड़ा। इस युद्ध के फलस्वरूप उसके चरित्र, उसके लक्ष्य तथा उसके जीवन दर्शन बिल्कुल ही बदल गये। उसने बौद्ध धर्म का आलिंगन कर लिया और अहिंसा का पुजारी बन गया। उसने सभी राजसी सुख और विलास को त्यागकर अत्यन्त सरल और त्यागमय जीवन व्यतीत करना शुरू किया। अब उसका जीवन बड़ा ही शुद्ध, पवित्र और दयामय हो गया। आत्मसंयम तथा आत्मनियंत्रण में वह पूर्ण रूप से सफल रहा और आत्मत्याग उसके जीवन का

नोट

मूलमंत्र बन गया। वह सत्यनिष्ठ, दयालु तथा शान्ति का पुजारी हो गया। अब वह सदा अपनी प्रजा के हितचिन्तन में संलग्न रहने लगा। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि वह अपने युग का श्रेष्ठतम व्यक्ति था। श्लाघनीय कार्यों को करने में उसे इतनी अभिरुचि उत्पन्न हो गयी कि उसने अपने जीवन के दो प्रधान लक्ष्य बना लिये, अर्थात् बौद्ध धर्म का प्रचार तथा अपनी प्रजा की भौतिक, नैतिक व आध्यात्मिक उन्नति। वास्तव में वह मानव रूप में एक देवता था और इस देवत्व के कारण उसे महान् नहीं बल्कि महानतम व्यक्ति स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

योग्य सेनानायक–प्रारम्भ से ही अशोक में योग्य सेनानायक के सभी गुण विद्यमान थे। कुशल सैनिक होने के नाते वह युद्ध की भीषणता से कभी घबड़ाता नहीं था। तक्षशिला में विद्रोह का दमन कर कश्मीर तथा कलिंग पर विजय प्राप्त कर उसने अपनी सैनिक कुशलता का परिचय दिया। उसके अपने शासनकाल में भी जब तक्षशिला में विद्रोह हुआ तब उसने उसे सख्ती से दबाया। ये सारी बातें उसके सफल एवं योग्य सेनानायक होने के उज्जवल प्रमाण हैं।

महान शासक–सम्राट अशोक महान् शासक भी था। उसकी गणना विश्व के महान् शासकों में होती है। प्रजापालक तथा उसका हित चिन्तन अशोक ने अपने जीवन का लक्ष्य माना और प्रजा को सन्तानवत् मानकर उसी के हित चिन्तन में व्यस्त रहने लगा। उसने विहारयात्राओं को बन्द करके धर्मयात्रा शुरू की। उसका शासन इतना संगठित और सुव्यवस्थित था कि उसके शासनकाल में कोई आन्तरिक विद्रोह या उपद्रव नहीं हुआ और प्रजा ने सुख व शान्ति के वातावरण में अपना जीवन व्यतीत किया। अशोक ने अपनी प्रजा की नैतिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की पूरी व्यवस्था की। इसके लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता था। इसके लिए उसने महामात्रों की नियुक्ति की और सरकारी कर्मचारियों को यह आदेश दे दिया कि वे घूम-घूम कर प्रजा के आचरण का निरीक्षण करें और उसे सदाचारी तथा धर्मपरायण बनाने का यत्न करें। एक शासक के रूप में अशोक की महानता इस बात में पायी जाती है कि देश के राजनीतिक जीवन में उसने आदर्शवादिता, पवित्रता तथा कर्त्तव्यपरायणता का समावेश किया। एक भिक्षु के जैसा सादा जीवन बिताकर और राजसुलभ सभी सुखों को त्यागकर प्रजा के हितचिन्तन में संलग्न रहा। यह किसी भी महान् शासक के लिए गौरव की बात हो सकती है।

महान धर्मवेत्ता तथा धर्मप्रचारक–सम्राट अशोक का नाम इतिहास में युद्धों द्वारा विजयों की एक गौरवशाली पंक्ति निर्माण के लिये उतना प्रसिद्ध नहीं है जितना कि धार्मिक क्षेत्र में अपनी विजय पताका फहराने के लिए प्रसिद्ध है। अपने शासन के नवें वर्ष में लाखों सैनिकों के रक्त की होली खेलकर कलिंग विजय के उपरांत अशोक ने रण वाद्यों को बजवाना बन्द कर दिया और धर्म विजय का सूत संकल्प किया। अशोक का धर्म विजय का कार्य कोई सरल कार्य न था। वह एक अति कठिन और दुष्कर कार्य था। यह सिकन्दर और नेपोलियन की भांति सैनिक शक्ति के प्रयोग की विजय नहीं थी वरन् बुद्ध और ईसामसीह के समान आत्मबल, प्रेमबल और त्यागबल की विजय थी। यह विजय हिंसा की नहीं, अहिंसा की थी; अशांति की नहीं, शान्ति की थी; सीमित क्षेत्र की नहीं, विशाल भूमण्डल की थी; और केवल कुछ व्यक्तियों को जीतने की नहीं, अखिल विश्व के प्राणिमात्र को जीतने की थी। अत: अशोक ने इस धर्म विजय की प्राप्ति के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। उसने बड़े-बड़े धार्मिक उपदेशों, धर्म प्रचारकों, साधु-महात्माओं और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों की एक विशाल सेना एकत्र की और उसे सद्भावना, सद्व्यवहार, सत्कर्म, सद्वचन और सत् विचारों के अचूक अस्त्रों से सुसज्जित करके धर्मविजय के लिए प्रयाण कराया। सम्राट अशोक के उस अपूर्व, अनोखी और अद्वितीय विजयवाहिनी ने अपने निर्मल व्यवहार और सद्उपदेशरूपी अचूक अस्त्रों का प्रयोग करके न केवल सम्पूर्ण भारत को ही वरन् सिंहल द्वीप, स्वर्णभूमि, चीन, जापान आदि दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों तथा उत्तरी पश्चिमी एशिया के यवन राज्यों को अशोक के धार्मिक साम्राज्य का अन्तिम अंग बना डाला। धीरे-धीरे अशोक की धर्मविजय पताका एशिया के महाद्वीप के ज्ञात भूभागों में लहराने लगी। अशोक की वह धर्म विजय बड़ी स्थायी सिद्ध हुई। ये सभी देश सदियों तक भारत के प्रेमपाश में बंधे रहे। सम्राट अशोक की इस धर्मविजय का उदाहरण संसार के इतिहास में कहीं देखने को नहीं मिलता। आज तक विश्व का कोई भी सम्राट अशोक की इस महती विजय की समता नहीं कर सका है।

नोट

एक महान राष्ट्र निर्माता—अशोक एक महान राष्ट्र निर्माता था। उसने राष्ट्र की एकता एवं संगठन के लिए कई कार्य किये। सर्वप्रथम उसने एक राष्ट्रभाषा का प्रयोग किया। इस तथ्य की पुष्टि उसके अभिलेखों में प्रयुक्त पाली भाषा से होती है। उसने अपने साम्राज्य के अधिकतर भाग में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग कराया था। इस प्रकार भाषा और लिपि की एकता ने राजनीतिक एकता को दृढ़ आधार प्रदान किया। देश के कोने-कोने में उसने धर्मप्रचारक भेजे तथा उनके माध्यम से देश को सांस्कृतिक एकता देने का प्रयास किया। सम्पूर्ण राज्य के लिए एक ही न्याय व्यवस्था स्थापित की गयी। अशोक ने शिल्प तथा स्थापत्य कला के विकास में भी बड़ा योगदान दिया। उसके काल में बड़े स्तम्भ आज भी भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। इस प्रकार अशोक ने राष्ट्र निर्माणकारी कार्य करके भारतीय इतिहास में अपने लिए एक अद्वितीय स्थान बना लिया है। उसके विविध कार्यों के परिणामस्वरूप भारत में धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में समानता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

प्रजा का सेवक और उदारता की मूर्ति—अशोक दया तथा उदारता की अद्वितीय मूर्ति था। कलिंग युद्ध के बाद उसके जीवन में इतना महान् परिवर्तन हो गया कि वह अहिंसा धर्म का परम पुजारी बन गया। उसकी दया तथा उदारता मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रही, वरन् वह समस्त प्राणिमात्र का संरक्षक बन गया। उसने पशु की हत्या बन्द करा दी और पशुओं की चिकित्सा की व्यवस्था कर दी। कुछ अवसरों पर उसने बन्दियों को मुक्त करने की व्यवस्था कर दी। ये बातें अशोक की व्यापक उदारता का प्रमाण थीं।

अशोक का ध्यान सदा अपनी प्रजा के हितों में संलग्न रहता था। उनके साथ वह पिता के जैसा व्यवहार करता था। उसने उनकी नैतिक और बौद्धिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया। हर समय उसका यह प्रयास रहा कि जनता उचित मार्ग का अनुसरण करे। इस कार्य में उसके संकल्प बड़े दृढ़ थे और उनकी पूर्ति के लिए उसने तन, मन, धन से कार्य किया।

महान् आदर्शवादी—अशोक की महानता उसके उच्च आदर्शों तथा सिद्धान्तों में भी देखी जा सकती है। उसने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में ऐसे नवीन आदर्शों की स्थापना की, जिसकी कल्पना उसके युग के महानतम सम्राट भी नहीं कर सके। राजनीतिक क्षेत्र में उसके आदर्श थे शान्ति तथा सद्भावना की स्थापना, पड़ोसियों के साथ मैत्रीभाव सम्बन्ध तथा प्रजा के हित की बात हमेशा ध्यान में रखना। सामाजिक क्षेत्र में वह महान लोकतन्त्रवादी था। स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व उसके सामाजिक आदर्श की आधारशिला थे। धार्मिक क्षेत्र में अशोक का आदर्श था सहिष्णुता तथा समन्वय। तत्कालीन प्रचलित धर्मों के उत्तम तत्वों के संग्रह से उसने एक ऐसे धर्म की स्थापना की जो सर्वमान्य हो।

अशोक की गणना विश्व की महानतम् विभूतियों में की जाती है। उसकी तुलना प्राय: रोमन सम्राट कान्स्टैन्टाइन तथा आरलियस, मुगल सम्राट अकबर, खलीफा उमर तथा ईसाई धर्म के महान् प्रचारक सेन्ट पाल से की गई है, परन्तु इनमें से कोई भी व्यक्ति अकेला अशोक की समानता नहीं कर सकता क्योंकि अशोक उदारता की साक्षात मूर्ति तथा मानवता का सबसे बड़ा पुजारी था। उसकी सहानुभूति, स्नेह, दया तथा उदारता मानव जगत तक ही सीमित न रह कर अखिल प्राणिवर्ग में व्याप्त हो गई थी। उसे अपने कर्त्तव्य का बड़ा ध्यान रहता था और अपने महान् उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिए उसने व्यक्तिगत सुखों को तिलाञ्जलि दे दी थी। प्रजा हित चिन्तन में वह सदैव संलग्न रहता था। अपने उच्च आदर्शों की पूर्ति तथा प्रजा के कल्याण के लिए अपने राज्य के सभी साधन लगा दिये। अपनी पूर्णविजय के उपरान्त भी भेरि घोष को धर्म घोष में परिवर्तन करने वाला विश्व के इतिहास में एकमात्र सम्राट अशोक ही है। सैनिक बल तथा राजनीतिक शक्ति की चरम सीमा पर होते हुए भी मानवों के हृदय पर प्रेमबल से विजय प्राप्त करने का जो उसने सफल प्रयास किया वह विश्व के इतिहास और विशेषकर राजनीतिक जगत में एक नवीन तथा श्लाघनीय प्रयास था जिसे अन्य कोई सम्राट चरितार्थ न कर सका था। उसने दिग्विजय की नीति का परित्याग कर और धर्म विजय का आयोजन कर, अपने कर्मचारियों को प्रजा के भौतिक उत्थान के साथ-साथ नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान में संलग्न रहने का आदर्श देकर, सीमान्त प्रदेश की असभ्य तथा लड़ाकू जातियों के साथ भी उदारता तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार करके राजनीतिक जगत में एक उच्चतम आदर्श की स्थापना की, जिसकी आवश्यकता का अनुभव आजकल के राजनीतिज्ञ भी कर रहे हैं। सारांश यह है कि मौर्यकाल का सम्पूर्ण गौरव अशोक की महानता पर अवलम्बित है।

नोट

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए इतिहासकार **एच. जी. वेल्स** ने अशोक के सम्बन्ध में लिखा है–"इतिहास के पृष्ठ सहस्त्रों राजाओं महाराजाओं के नामों से भरे पड़े हैं। उन सबमें अशोक का नाम अकेला तारे की भांति चमकता है। वोल्गा से लेकर जापान तक अब भी उसका नाम सम्मानित होता है। चीन, तिब्बत तथा भारत में (यद्यपि अब भारत उसके उपदेश को भूल चुका है) उसकी महानता की परम्पराएँ चली आती हैं। कान्स्टेंटाइन तथा शार्लमेन के नाम जितने मनुष्यों ने सुने होंगे उससे कहीं अधिक जीवित स्त्री-पुरुष आज अशोक की स्मृति को हृदय में रखते हैं।" अशोक के सम्बन्ध में **एच. जी. रालिंसन** लिखते हैं, 'बहुधा अशोक की तुलना मार्कस, ओरेलियम, सेंट पाल और कान्स्टेंटाइन से की जाती है। किन्तु किसी भी ईसाई सम्राट ने ईसा मसीह द्वारा पहाड़ पर दिये गये उपदेश को एक बड़े साम्राज्य का आधार नहीं बनाया और न कभी किसी सम्राट ने अपनी प्रजा के सामने यह घोषणा की–"सम्राट को कोई मनुष्य हानि ही क्यों न पहुँचाये किन्तु उसका यह मत है कि उसको जहाँ तक हो सके धैर्य के साथ सहन करना चाहिए।" ईसा से ढाई सौ वर्ष पूर्व अशोक ने एक सफल युद्ध के परिणामों पर पश्चाताप प्रकट किया और जान-बूझकर सदैव युद्ध की नीति को त्याग दिया, यद्यपि उसके साम्राज्य में उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की अनेक अविजित जातियाँ निवास करती थीं। उसने मनुष्यों तथा पशुओं पर होने वाले अत्याचारों को बन्द किया और समस्त भारतवर्ष में धार्मिक सहिष्णुता स्थापित की। अशोक ने अफलातून (प्लेटो) के उस आदर्श को पूरा कर दिखाया जिसमें "शासन दार्शनिक और दार्शनिक शासक होने चाहिए।"

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से अशोक के चरित्र पर दृष्टिपात करने से वह महान् व्यक्तित्व वाला पुरुष प्रतीत होता है। अशोक की तुलना संसार के कई महान् सम्राटों से की जाती है। लेकिन, ऐसा प्रयास करना व्यर्थ है। अशोक में जितने गुण जिस प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, उतने गुण उतनी मात्रा में किसी अन्य राजा में नहीं पाये जाते। अशोक अपने ढंग का अकेला और निराला है। वह एक ऐसा युगपुरुष था, जिसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। देशी तथा विदेशी अनेक विद्वानों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

कुछ इतिहासकार अशोक की उदारता तथा अहिंसा की नीति को मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण बताते हैं। **डॉ. राजबली पांडेय** लिखते हैं–"संसार की जैसी रचना है उसमें धर्म, संस्कृति, कला आदि जीवन की बहुमूल्य कोमल निधियों की रक्षा करने के लिए भी कठोर सैनिक तैयारी, राजनीतिक दाँव-पेंच तथा जागरूकता की आवश्यकता होती है। अशोक की नीति से जीवन का कठोर अंग शिथिल पड़ गया। मौर्य सेना और राजनीति अनभ्यास से दुर्बल हो गई। धर्मविजय का प्रभाव साधारण जनता पर अच्छा पड़ा, किन्तु अशोक की नीति मध्य और पश्चिमी एशिया के राजनीतिक कुचक्रियों और रक्तपिपासु लड़ाकुओं पर यह प्रभाव न जमा सकीं। अशोक के महान् व्यक्तित्व के उठ जाने पर सैनिक दृष्टि से दुर्बल और राजनीतिक कूटनीति में असावधान भारत के ऊपर उनके आक्रमण प्रारम्भ हो गये।"

इसमें सन्देह नहीं कि डॉ. पाण्डेय के इस मत में सत्य का बहुत अंश है। अशोक का चरित्र महान् था और उसके आदर्श विश्व की कल्पना महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक पूंजी है किन्तु विश्व का इतिहास कई बार सिद्ध कर चुका है कि कोई शासक नैतिकता के ऊँचे सिद्धांतों का अनुसरण करके अपने राज्य को सदैव बाह्य आक्रमणकारियों और आन्तरिक आततायियों से रक्षा नहीं कर सकता।

इस प्रकार हम जिस दृष्टिकोण से अशोक पर विचार करते हैं वह महानतम व्यक्तित्व वाला व्यक्ति प्रतीत होता है। यही कारण है कि उसका नाम आज भी असंख्य नर-नारियों के हृदयपट पर अंकित है। किसी भी व्यक्ति की महानता का सर्वोत्तम मापदण्ड यही है। इस दृष्टि से वह सिकन्दर, सीजर तथा शर्लमेन की अपेक्षा बहुत बड़ा और महान् है। मानव समाज के इतिहास में वह वस्तुतः अद्वितीय है; जिससे वर्तमान लड़खड़ाती दुनिया और उद्भ्रांत मानव बहुत कुछ सीखकर सुमार्ग पर आ सकते हैं। इस इतिहासकार के शब्दों में "अशोक केवल अपने ही युग से नहीं, बल्कि आधुनिक युग से भी, जो उसके आदर्शों की पूर्ति के लिए अभी भी संघर्ष कर रहा है, बहुत आगे था। वास्तव में वह विश्व शान्ति का सच्चा समर्थक और महान् अग्रदूत था।" उक्त विचारों पर ध्यानपूर्वक मनन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इतिहास में उसका स्थान बहुत ही उच्च था और वह संसार का एक महान सम्राट था।

नोट

अशोक के उत्तराधिकारी

एक लम्बे और महत्त्वपूर्ण शासन के उपरान्त 232 ई.पू. में अशोक की मृत्यु हो गयी। इसके बाद का मौर्य इतिहास बहुत कुछ अन्धकारमय है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि मौर्य साम्राज्य धीरे-धीरे पतनोन्मुख होने लगा। अशोक के उत्तराधिकारियों में एक भी ऐसा नहीं हुआ जो इतने बड़े साम्राज्य के भार को सम्भालता। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य के टुकड़े होते गये और अशोक की मृत्यु के पचास वर्षों के भीतर ही मगध का साम्राज्य मौर्यों के हाथ से निकल गया।

कुणाल—समकालीन स्रोतों से मालूम पड़ता है कि अशोक के पाँच पुत्र थे। उनका नाम था तीवर, कुणाल, महेन्द्र, कुस्तन और जालौक। इनमें से अशोक के बाद कुणाल राजसिंहासन पर बैठा। पुराणों से इस बात की पुष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसी के समय में मगध साम्राज्य का पश्चिमोत्तर भाग साम्राज्य से अलग होने लगा। अशोक का दूसरा पुत्र जालौक कश्मीर का स्वतंत्र राजा बन बैठा। आठ वर्ष बाद कुणाल की मृत्यु हो गयी।

दशरथ—कुणाल के बाद गद्दी पर दशरथ बैठा। यह धार्मिक प्रवृत्ति का था और आजीविकों के लिए नागार्जुन की पहाड़ियों में इसने गुफा विहार बनवाया। इसके समय में कलिंग मगध सम्राज्य से अलग हो गया। आठ वर्ष के शासन के बाद इसका देहावसान 216 ई.पू. में हुआ।

सम्प्रति—दशरथ को कोई पुत्र नहीं था। इसीलिये उसका भाई सम्प्रति सिंहासन पर बैठा। इस समय तक इसको शासन का काफी अनुभव हो चुका था। वास्तव में अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य में यही एक शक्तिमान शासक हुआ जो मगध साम्राज्य के अधिकांश क्षेत्र पर सफल अधिकार रख सका। पाटलिपुत्र और उज्जयिनी इसकी दो प्रमुख राजध ानियाँ थीं। सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था और जैन धर्म के इतिहास में उसका वही स्थान था जो बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का था। कई इतिहासकार इसे मौर्यवंश का द्वितीय चन्द्रगुप्त मानते हैं। इसका देहान्त 207 ई.पू. में हुआ।

शालिशुक—यह अपने बड़े भाई को मार कर गद्दी पर बैठा। गार्गी संहिता के अनुसार यह 'दुष्टात्मा', प्रियविग्रह, अपने राष्ट्र का घोर मर्दन करने वाला, धर्मवादी किन्तु अधार्मिक था। इसी के समय में कश्मीर के मौर्य राजा जालौक ने मगध आक्रमण किया और सिंधु के पश्चिमोत्तर प्रदेश पर सम्प्रति के लड़के वृषसेन ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इस समय तृतीय अन्तियोकस (यूनानी राजा) ने भारत पर आक्रमण किया, परन्तु सीमा पर ही सुभगासेन से सन्धि करके लौट गया। अभी मगध साम्राज्य बिल्कुल निर्जीव नहीं था, इसलिए अन्तियोकस को आगे बढ़ने का साहस न हुआ।

देववर्मा, शतधनुष और बृहद्रथ—शालिशुक के बाद देववर्मा और शतधनुष नाम के राजा हुए। मौर्यवंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। यह बहुत विलासी और असावधान था और इसका सम्पर्क सेना और शासन से छँट गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने बृहद्रथ को सेना दिखाने के बहाने से मार डाला और मगध का बचा हुआ साम्राज्य आपने हाथ में कर लिया। इस घटना का उल्लेख पुराणों और बाण के हर्षचरित्र में मिलता है। इस कर्म के लिये बाण ने पुष्यमित्र को अनार्य कहा है। वास्तव में इस घटना ने सैनिक और मंत्री अधिकृत षड्यंत्र और सत्तापहरण की एक परम्परा चलायी जो शुंगवंश से प्रारम्भ होकर आन्ध्रवंश के अन्त तक चलती रही।

6.7 मौर्य साम्राज्य का पतन (Decline of Mauryas Kingdom)

कुछ विद्वानों का, विशेषकर महामहोपाध्याय हरि प्रसाद शास्त्री का विचार है कि मौर्यवंश के प्रति ब्राह्मणों के विद्रोह ने ही मौर्यवंश को जड़ से उखाड़ फेंका। वे मौर्यवंश के पतन का कारण अशोक के उन शिलालेखों को समझते हैं जिनमें पशुवध को वर्जित ठहराया गया है। ब्राह्मणों के लिए यह विशेष रूप से आपत्तिजनक बात थी कि ये शिलालेख एक शूद्र राजा अशोक द्वारा लगाये गये थे। अशोक ने लोगों के नैतिक जीवन का निरीक्षण करने के लिए धर्म महामात्र नियुक्त किये थे और सबके लिए एक-सा दण्ड विधान तथा न्यायिक प्रक्रिया की स्थापना की थी। ब्राह्मण लोगों का समाज में पहले से विशिष्ट स्थान चला आया था और दण्ड आदि के मामलों में वे कुछ विशेष अधिकारों का उपयोग करते आये थे। अत: अशोक के सुधारों से ब्राह्मणों के धार्मिक विश्वासों और विशिष्ट सामाजिक स्थिति को

नोट

आघात पहुँचा होगा। इसलिए अशोक के बाद उन्होंने मौर्यवंश का विरोध किया। अन्त में मौर्यवंश का नाश भी ब्राह्मणों के ही हाथों हुआ। इसलिए इतिहासकारों ने ब्राह्मणों के विरोध को मौर्यवंश के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है। किन्तु यह मत स्वीकार करने योग्य नहीं हैं। डॉ. राय चौधरी और नीलकंठ शास्त्री जैसे विद्वानों ने इस विचार का विरोध किया है। पहले तो हमें यह मानना पड़ेगा कि अशोक ने जिन नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों का प्रचार किया वे वैदिक धर्म के विरोधी नहीं थे। अहिंसा आदि के सिद्धांत भी वैदिक धर्म के नितान्त प्रतिकूल नहीं थे। उनका प्रतिपादन उपनिषदों में किया जा चुका था। इसलिए अशोक को वैदिक धर्म का शत्रु ठहराना अनुचित है। वास्तव में सहिष्णुता उसके धर्म का प्राण थी। ब्राह्मण इतिहासकार कल्हण ने अशोक की उदारता तथा सहृदयता की प्रशंसा की है। वह यह भी लिखता है कि अशोक तथा उसकी ब्राह्मण प्रजा में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। दूसरी विचारणीय बात यह है कि मौर्यवंश का पतन अशोक की मृत्यु के पचास वर्ष बाद हुआ। तब तक तो लोग अशोक की नीति और कार्यों को बहुत कुछ भूल भी गये होंगे और यदि ब्राह्मण अशोक की नीति से अप्रसन्न होते तो वे उसी के जीवनकाल में विद्रोह करते अथवा उसके मरने के बाद तुरन्त ही मौर्यवंश नाश करने का प्रयत्न करते। उन्होंने कभी ऐसा प्रयत्न किया हो, इसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि ब्राह्मणों और मौर्यों के बीच शत्रुता होती तो मौर्य सम्राट ब्राह्मण पुष्यमित्र को अपना सेनापति क्यों बनाता? पुष्यमित्र ने अपने स्वामी का वध करके जो सिंहासन पर अधिकार किया वह तो उसमें व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का परिचायक था। इस आधार पर मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए ब्राह्मण प्रतिक्रिया को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता है। फिर भी, यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि अशोक ने बौद्ध धर्म को राजधर्म के पद पर बिठाकर उसके महत्त्व को बहुत अधिक बढ़ा दिया और इस कारण ब्राह्मणों में कुछ असंतोष अवश्य हुआ, क्योंकि पहले की भांति समाज में उनका सर्वोच्च स्थान नहीं रह गया।

कुछ इतिहासकार अशोक की अहिंसा नीति को भी साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं। उनका कहना है कि उसने सैनिक बल और प्रतिष्ठा का नहीं बल्कि उदारता, दया और सहिष्णुता को अपने साम्राज्य का आधार बनाया। साम्राज्य की समस्त शक्ति लोकहित के कार्यों में जुटा दी और सैनिक शक्ति के महत्त्व को भुला दिया। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य में सैनिक दुर्बलता आ गयी और युद्ध की प्रवृत्ति जाती रही। सेना अकर्मण्य हो गयी और उनका पतन तय हो गया। **आर. डी. बनर्जी** ने लिखा है–"मौर्यवंश के पतन के कारणों में अशोक स्वयं भी एक भारी कारण था। उसके आदर्शवाद और धार्मिक भावना ने सेना के अनुशासन को कड़ी चोट पहुँचायी। जब उसने धर्मविजय की भावना को जनता के समक्ष रखा और कहा कि उसके समय में भेरिघोष ने धर्मघोष का रूप ले लिया है तो उसने स्वयं ही अपने साम्राज्य के पतन की घण्टी बजा दी थी।" अन्य इतिहासकारों ने भी अशोक की नीति की बड़ी कड़ी आलोचना की है। **डॉ. राय चौधरी** का कहना है कि "कलिंग युद्ध के पश्चात् मगध ने धार्मिक क्रान्ति के प्रयत्न में अपनी विजयिनी शक्ति को बर्बाद कर दिया, जैसा कि मिस्र में अखनाटन ने किया।" **डॉ. जायसवाल** इसीलिए कहते हैं कि "अशोक वास्तव में महन्त की गद्दी के लिए उपयुक्त था।" इन लेखकों के अनुसार, अशोक की धर्मनीति से भारत की राजनीतिक शक्ति को गहरा धक्का लगा। कलिंग विजय के बाद साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया था कि उसमें बिना सैनिक शक्ति के शान्ति स्थापित नहीं रह सकती थी। इस पर ध्यान नहीं दिया। जिस समय उसने तलवार फेंककर भिक्षा पात्र हाथ में लिया और सैनिक अफसरों को युद्धक्षेत्र की व्यवस्था के बदले धर्म प्रचार की व्यवस्था में लगाया उसी समय उसने साम्राज्य पतन के बीज बो दिये।

लेकिन मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए इस कारण को भी अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता है; क्योंकि हिंसा और सैनिक शक्ति पर आधारित साम्राज्यों का भी इतिहास में पतन हुआ है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं। अहिंसा के बिना भी मौर्य साम्राज्य का कभी न कभी पतन अवश्य होता है। सैद्धान्तिक रूप में यह कारण निश्चय ही ठीक प्रतीत होता है लेकिन वास्तव में यह कोई महत्त्वपूर्ण कारण नहीं था। पहले तो यही धारणा सर्वथा सही नहीं है कि अशोक ने सैनिक शक्ति की उपेक्षा की थी। उसने आक्रमण युद्ध बन्द कर दिये थे। इससे यह अनुमान लगा लेना ठीक नहीं है कि वह सैनिक बल के महत्त्व को भूल गया था। यदि ऐसा होता तो उसी के शासनकाल में विद्रोह फूट पड़ते अथवा विदेशियों के आक्रमण होने लगते लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सच तो यह है कि अशोक के शासनकाल में राज्य में पूर्ण शान्ति बनी रही। सभी उसके मित्र थे और देश-देशान्तर में उसका यश फैला हुआ

नोट

था। किसी ने उसके विरूद्ध उँगली उठाने का साहस नहीं किया और जीवन के सभी क्षेत्रों में अद्‌भुत उन्नति हुई। **आर. के. मुखर्जी** के अनुसार "यह कारण सिद्धांतत: तो ठीक और युक्तियुक्त प्रतीत होता है, मौर्य साम्राज्य के पतन का केवल यह कारण किस सीमा तक उत्तरदायी है, यह निश्चित करना कठिन है।" प्रोफसर **नीकलान्त शास्त्री** का विचार है कि "अशोक का शान्तिवाद, युद्धत्याग और उत्तराधिकारियों को उसका अनुसरण करने का उपदेश इत्यादि अव्यावहारिक बातें न थीं। उस समय के मानवीय उद्देश्यों और स्थिति के अनुसार अशोक ने ठीक ही किया था। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि अशोक ने सेना में कमी कर दी या साम्राज्य की प्रतिष्ठा के साधनों को कम कर दिया।"

डॉ. मुखर्जी के विचार में मौर्यवंश के पतन का कारण सैनिक और धार्मिक नहीं है, परन्तु मौर्यवंश के राजनीतिक संगठन की कोई अन्दरूनी और स्वाभाविक कमजोरी हो सकती है। यह साम्राज्य निरंकुश राजतन्त्र था। इस प्रकार की राज्यप्रणाली में मुख्य दोष यह रहता है कि कोई राजा अपने उत्तराधिकारी राजाओं में उन गुणों के होने का यकीन नहीं दिला सकता जिनका निजी शासन के लिए आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति अपने बच्चों में अपने व्यक्तिगत गुणों का समावेश नहीं कर सकता। यही कारण है कि जिस धर्मराज्य की स्थापना अशोक ने की थी वह उसके जीवन काल में ही लड़खड़ाने लगा, क्योंकि यह राज्य अधिकांश जनता की इच्छा पर निर्भर था।

उपर्युक्त लेखक का विचार है कि स्वयं अशोक के द्वारा ही उसके साम्राज्य में कुछ स्वतन्त्र और असंगत तत्वों को बढ़ने से रोका गया, जिन्होंने आगे चलकर साम्राज्य के पतन के कारणों का रूप धारण कर लिया। सभी राष्ट्र और लोग बराबर हैं, का सिद्धांत भी पतन का एक कारण बना। शत्रुओं को दबाने के स्थान पर उन्हें उनकी सत्ता और देश लौटा दिये जाते थे। उनके नामों का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में इस प्रकार मिलता हैं; गन्धार, कम्बोज, यवन, नाभपन्थी, राष्ट्रिक, भोज, पिटिनक, पुलिन्द, आंध्र, चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र। ये ही उपर्युक्त लोग अशोक की मृत्यु के पश्चात् शक्तिशाली बन गये और मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण बने।

इन सारी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अशोक का कोई विशेष उत्तरदायित्व नहीं था। यदि अशोक के मरने के बाद साम्राज्य में कोई कमजोरी आयी तो इसके लिए अशोक को उत्तरदायी ठहराना गलत होगा। वस्तुत: मौर्य साम्राज्य के पतन के कई कारण थे। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं–

साम्राज्य की विशालता–कभी-कभी साम्राज्य का विस्तार भी उसके लिए बड़ा घातक होता है। चन्द्रगुप्त और अशोक के प्रयासों से मौर्य साम्राज्य एक विस्तृत साम्राज्य हो गया था। केंन्द्र में इसकी राजधानी नहीं थी और उस समय यातायात के साधनों का समुचित विकास नहीं हो सका था। दक्षिण भारत पर शासन करने में बड़ी कठिनाई हुई। अशोक के अयोग्य उत्तराधिकारी इतने बड़े साम्राज्य को संभालने में सर्वथा असफल रहे।

अशोक के उत्तराधिकारी–अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य पर कई राजाओं ने राज्य किया। लेकिन, उनमें कोई भी इतना योग्य नहीं था जो इतने बड़े साम्राज्य पर शासन का उचित प्रबन्ध कर सके। अशोक के विशाल साम्राज्य का भार उन उत्तराधिकारियों के कन्धों पर जा पड़ा, जिसके कन्धे इस योग्य ही न थे। वे उन पारस्परिक विरोधी शक्यिों को रोक न सके, जो अशोक की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हो गई थीं। परिणाम यह हुआ कि मौर्य साम्राज्य के विभिन्न भाग स्वतन्त्र होते गये और अन्त में उसका पूर्ण पतन हो गया। "राजतरंगिणी" का लेखक **कल्हण** लिखता है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् जालौक, जो कि उसके पुत्रों में से एक था, कश्मीर में स्वतंत्र बन बैठा और उसने कन्नौज के मैदान को जीत लिया। तिब्बत के इतिहासज्ञ **तारानाथ** का विचार है कि वीरसेन ने जो मगध की गद्दी का स्वामी और अशोक के उत्तराधिकारियों में से एक था, गंधार का राज्य छीन लिया। इस तरह साम्राज्य का पतन हो गया और अशोक के उत्तराधिकारी साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से नहीं रोक सके।

प्रान्तीय शासकों में स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति–सम्राट अशोक के मरते ही प्रांतीय शासकों में स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति उदय हुई। अशोक के उत्तराधिकारी निर्बल थे। अत: साम्राज्य के प्रान्त एक-एक करके स्वतन्त्र होने लगे। सबसे पहले अशोक के पुत्र जलौक ने जो साम्राज्य के उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त का शासक था, अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। उसके पश्चात् कलिंग के राजा ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर डाली। इस प्रकार अशोक की मृत्यु के उपरान्त शीघ्र ही मौर्य साम्राज्य खंडित होकर पतन के मार्ग पर आगे बढ़ने लगा।

नोट

अशोक की धार्मिक नीति और ब्राह्मण प्रतिक्रिया–अशोक की धार्मिक नीति के कारण हिन्दुओं में और विशेषकर ब्राह्मणों में उसके विरुद्ध भावनाएँ उत्पन्न होने लगीं; क्योंकि ये बौद्ध धर्म की उन्नति और ब्राह्मण धर्म की अवनति को सहन नहीं कर सके। उनमें इस धर्म के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी। बौद्ध धर्म का संरक्षण करनेवाले साम्राज्य का अन्त निश्चित देखकर ब्राह्मण लोग पुन: अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हो गये। इस तरह, ब्राह्मण प्रतिक्रिया भी मौर्य साम्राज्य के पतन में सहायक सिद्ध हुई।

प्रान्तपतियों के अत्याचार–मौर्यों के पतन का एक और कारण था–दूर के प्रान्तों में मौर्य गवर्नरों का जनता पर अन्यायपूर्वक व्यवहार। यह कहा गया है कि बिन्दुसार के समय में तक्षशिला के लोगों ने वहां के शासक के अन्यायपूर्वक व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था और उसे गवर्नर का दुष्ट मन्त्री कह कर पुकारा था। अशोक के काल में एक बार पुन: तक्षशिला में विद्रोह हुआ था। इस विद्रोह का कारण भी पहले-सा ही था। इस विद्रोह को दबाने के लिए अशोक ने कुणाल को भेजा। जब कुणाल वहाँ पहुँचा तो वहाँ की जनता ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उसे सम्राट के प्रति कोई आपत्ति नहीं, केवल सम्राट् द्वारा नियुक्त यहाँ के अन्यायकारी अमात्य से ही वे अप्रसन्न थे। इस दिशा में **डॉ. राय चौधरी** का कथन है कि मन्त्रियों के अत्याचार का प्रमाण तो कलिंग में पाये गये अशोक के शिलालेख से भी मिलता है–"सभी लोग मेरी सन्तान हैं। जैसे कि मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान फले-फूले और लोक-परलोक के सुख के भागी बने, उसी प्रकार मेरी कामना है कि मेरी जनता पर भी किसी प्रकार की विपत्ति न आये। किन्तु तुम मेरी इस सत्यता को पूरी तरह नहीं निभाते हो। तुममें से कोई-कोई अधिकारी मेरे इस सत्य की ओर ध्यान देता तो है किन्तु पूर्णरूप से नहीं। इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारा प्रबन्ध त्रुटिरहित हो। प्राय: ऐसा होता है कि यह किसी व्यक्ति को उसके दोष के बिना दण्ड दिया जाये तो अन्य लोग इस बात को सहन नहीं कर सकते और परिणामस्वरूप दु:खी होते हैं।"

राज परिवार में फूट और दरबार में षड्यंत्र–अशोक के पुत्रों और पुत्रियों की स्वार्थपरता ने उन्हें एक-दूसरे का विद्रोही बना दिया। उनकी फूट ने साम्राज्य की जड़ें खोखली कर डालीं। विद्रोह और अशान्ति के चिह्न सर्वत्र प्रकट होकर साम्राज्य को पतनोन्मुख बनाने लगे। अशोक के दुर्बल और अयोग्य उत्तराधिकारियों के आपसी फूट का इतना प्राबल्य हुआ कि राज्य की समुचित व्यवस्था करने या कराने की उन्हें चिन्ता ही नहीं रही। अशोक को कई रानियाँ और पुत्र थे, जिनके कारण उसकी मृत्यु के बाद कई षड्यन्त्र हुए। फलस्वरूप, साम्राज्य पतन की ओर जाने लगा। कर्मचारियों में भी दलबन्दी शुरू हो गया। इससे साम्राज्य को क्षति पहुँची।

सेना विभाग की उदासीनता–साम्राज्य के सेना विभाग की भी यही हालत हुई। कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक इस विभाग की ओर से उदासीन हो गया। फलत: सैन्य व्यवस्था में भी शिथिलता उत्पन्न हो गयी और सेना का स्तर बहुत नीचे गिर गया। उसमें अब वह पुरानी शक्ति नहीं रह गयी। लेकिन यह समय सैन्य बल का था। उसी के आधार पर साम्राज्य स्थायी बन सकता था।

गुप्तचर विभाग में संगठन का अभाव–अशोक के समय से ही साम्राज्य का गुप्तचर विभाग शिथिल पड़ने लगा था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय वह विभाग काफी संगठित था। वास्तव में, साम्राज्य की विशालता को ध्यान में रखते हुए एक सुसंगठित गुप्तचर विभाग की नितान्त आवश्यकता थी। इसके अभाव में सुदूर प्रान्तों या किसी षड्यन्त्र की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती थी। लेकिन अशोक के काल में गुप्तचर विभाग की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। राज्य के लिए यह बड़ा अहितकर सिद्ध हुआ।

भारत पर होने वाले यूनानी आक्रमण को भी मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण बताया जा सकता है। इस आक्रमण का प्रमाण पोलिबियस की पुस्तक से भी मिलता है। "गार्गी संहिता" ने भी इसकी पुष्टि की है। "गार्गी संहिता" में इस प्रकार लिखा है–"तब अनैतिक, किन्तु बलशाली यूनानी साकेत (अवध में), पांचाल और मथुरा को विजय करते हुए कुसुमध्वज पहुँचेंगे। इसके बाद वे पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) पहुँच कर निश्चय ही सभी प्रान्तों को अस्त-व्यस्त कर डालेंगे।" यूनानी सेना का सामना न कर सकने के कारण मौर्य राजा निश्चय ही जनता की दृष्टि में गिर गये होंगे और इसी कारण मौर्य साम्राज्य अधिक देर तक न टिक सका होगा।

नोट

पुष्यमित्र शुंग द्वारा बृहद्रथ का वध–इस तरह अपने को संभालने में असमर्थ जनमत के अभाव में लड़खड़ता हुआ मौर्य साम्राज्य अब पतन के कगार पर खड़ा था, जिसे पुष्यमित्र के एक साधारण धक्के ने समाप्त कर दिया। शान्तिवादी नीति के कारण सैनिक असन्तुष्ट थे और परिवर्तन के लिए उत्सुक थे, क्योंकि उनकी सामरिक भावना की अभिव्यक्ति के लिए अवसर नहीं मिलता था। इससे प्रोत्साहित होकर सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अन्तिम मौर्य साम्राट बृहद्रथ का वध कर दिया और मगध की गद्दी पर अधिकार कर लिया।

निष्कर्ष–इन सब कारणों से मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ। इस पतन के कारणों का विश्लेषण करते हुए 'The Age of Impertal Unity' में **डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी** ने लिखा है–"हम यह नहीं भूल सकते कि उन दिनों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि साम्राज्य अगले पचास वर्षों में छिन्न-भिन्न हो गया। वास्तव में आश्चर्य तो इस बात का है कि फिर इतना बड़ा साम्राज्य लगभग एक शताब्दी तक निरन्तर एक केन्द्र से शासित होता रहा। भारत में अशोक से पहले तथा उसके बाद भी अनेक साम्राज्य जो मौर्य साम्राज्य से कहीं विस्तार में छोटे थे, उठे और फिर धूल में मिल गये। इसलिए उनके पतन के कई प्राकृतिक कारण अवश्य रहे होंगे। स्थानीय स्वायत्तता की भावना, दूरस्थ प्रान्तों के साथ आवागमन की कठिनाई, सूबेदारी का अत्याचारपूर्ण शासन तथा उनकी विद्रोही प्रवृत्ति, महलों के कुचक्र तथा पदाधिकारियों का विश्वासघात, आदि को हम महत्त्वपूर्ण कारण मान सकते हैं। ब्राह्म आक्रमण एक अन्य तत्व है जो दूसरे कारणों को बल देता है। मौर्यों के सम्बन्ध में तो इस बात के निश्चित प्रमाण है कि ये सब कारण कार्य कर रहे थे। तक्षशिला के दूरस्थ प्रान्त में स्थानीय पदाधिकारियों के उत्पीड़न के कारण निरन्तर विद्रोह हुए, साम्राज्य के अन्य भागों में भी लगभग ऐसी ही अवस्था रही होगी। कलिंग के लेखों से प्रकट होता है कि अशोक स्वयं अपने पदाधिकारियों के उत्पीड़न के सम्बन्ध में जानता था और उसने उन्हें नियंत्रित करने का प्रयत्न भी किया। पुष्यमित्र के विश्वासघातपूर्ण आचरण से प्रकट है कि राजधानी के पदाधिकारी राज्य के स्वामिभक्त नौकर न थे।"

मौर्य वंश के पतन के कारणों का यह विश्लेषण सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

6.8 सारांश (Summary)

अशोक ने अपनी प्रजा की आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति में ही केवल दिलचस्पी न ली थी। उसने उसकी भौतिक उन्नति और सुख के भी अनेक कार्य किये। उसने स्वयं लिखा है कि "मैंने सड़कों पर बरगद तथा आम के वृक्ष लगवाये, हर आधे कोस पर कुएँ खुदवाये और पशुओं तथा मनुष्यों के लिए जलाशय बनवाये।" इसके अतिरिक्त उसने मनुष्यों एवं पशुओं की चिकित्सा के लिए अस्पताल खुलवाये।

6.9 शब्दकोश (Keywords)

- ऐतिहासिक (Historical) : वास्तविक इतिहास पर आधारित
- आश्चर्यजनक (Surprise) : अचानक प्रकट होकर किसी को चौंका देना।

6.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मौर्य कौन थे? सम्राट और विजेता के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य का मूल्यांकन कीजिए।
2. मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर चन्द्रगुप्त के शासन व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
3. बिन्दुसार के शासन-काल पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
4. अशोक की धार्मिक नीति का वर्णन कीजिए।
5. मौर्य साम्राज्य के पतन के क्या कारण थे।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. तीसरी	2. विशाखदत्त	3. प्लूटार्क	
4. (*a*)	5. (*b*)	6. (*c*)	7. (*a*)
8. सही	9. गलत	10. सही	11. गलत।

6.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
5. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*

नोट

इकाई–7: अशोक : सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक सुधार (The Ashoka : Social, Economic and Religious Reforms)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
7.1 सामाजिक जीवन (Social Life)
7.2 आर्थिक जीवन (Economical Life)
7.3 धार्मिक जीवन (Religious Life)
7.4 कला कौशल (Art Skill)
7.5 शिक्षा, भाषा, लिपि और साहित्य (Education, Language, Script and Literature)
7.6 सारांश (Summary)
7.7 शब्दकोश (Keywords)
7.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
7.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मौय कालीन सभ्यता और संस्कृति का वर्णन करने में।
- मौर्य कालीन कला-कौशल के वर्णन में।

प्रस्तावना (Introduction)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अशोक के अभिलेख और स्मारकों तथा यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के विवरण से मौर्यकालीन समाज, संस्कृति तथा आर्थिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इन्हीं साधनों के आधार पर मौर्यकालीन जीवन का संक्षिप्त चित्र खींचा जा रहा है।

7.1 सामाजिक जीवन (Social Life)

वर्ण व्यवस्था–अशोक के पाँचवें शिलालेख के अनुसार मौर्यकालीन भारत के समाज में अनेक वर्ण थे। वर्ण की व्यवस्था थी और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र समाज में बंटा हुआ था लेकिन इस समय तक वर्ण व्यवस्था में पर्याप्त जटिलता आ गयी थी। इसका आधार कर्म न होकर जन्म हो गया था। कोई व्यक्ति अपना वर्ण परिवर्तन नहीं कर सकता था और वर्ण व्यवस्था की रक्षा करना राज्य का एक मुख्य कर्त्तव्य था। इस समय भी वर्णाश्रम पर बल

नोट

दिया जाता था और प्रत्येक व्यक्ति से यह उम्मीद की जाती थी कि वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में जीवन व्यतीत करेगा। इस प्रकार समाज का आधार वर्ण व्यवस्था और वर्णाश्रम थे।

चार वर्णों के अतिरिक्त मौर्यकालीन भारत में कुछ अन्य व्यावसायिक वर्ग अथवा समूह भी पैदा हो गये थे, किन्तु उनकी गणना अन्य चार वर्णों में ही कर ली जाती थी। मेगस्थनीज ने सात जातियों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार भारत में निम्नलिखित सात जातियाँ थीं–(1) दार्शनिक, (2) किसान, (3) ग्वाला, (4) कारीगर, (5) सैनिक, (6) निरीक्षक तथा (7) अमात्य। सम्भव है कि मेगस्थनीज ने भारत की सामाजिक व्यवस्था को ठीक तरह से नहीं समझा हो और यूनानी समाज को ध्यान में रखकर वर्णों, कुछ व्यवसायों और सरकारी वर्गों को एक में मिला दिया हो। यूनानी लेखकों से हमें ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकता था अथवा अपनी जीविका को छोड़कर किसी अन्य जीविका को नहीं अपना सकता था। बाहरी दुनिया के सम्पर्क से कुछ अंशों में जाति बन्धन अवश्य ढीले पड़े होंगे और अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा भी चली होगी। स्वयं सम्राट चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस की पुत्री से विवाह किया था। इस युग में वैश्य और शूद्र का भेद भी बहुत कुछ मिटता जा रहा था।

मेगस्थनीज के अनुसार मौर्यकाल में भारतीय सामाजिक जीवन सरल, सादा और सुव्यवस्थित था और जीवन स्तर काफी ऊँचा था। जातियाँ एक-दूसरे से प्रेमभाव रखती थीं और उनका एक-दूसरे पर अटूट विश्वास था। वे सामाजिक नियम का पालन अपना कर्त्तव्य मानती थीं। उनके बीच आपसी झगड़े बहुत कम होते थे। किसानों का जीवन सादा होता था।

मेगस्थनीज के विवरणों से जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ गलतफहमियाँ अवश्य पैदा हो जाती हैं, लेकिन उसके लेखों से तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दार्शनिक के विषय में उसके लेख बड़े ही मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। दार्शनिक वर्ग को उसने दो भागों में विभाजित किया है–ब्राह्मण और श्रमण। ब्राह्मण दार्शनिकों से अभिप्राय सामान्यत: ब्राह्मणों से है और श्रमण वर्ग के अन्तर्गत बौद्ध संन्यासी आते हैं जो किसी भी जाति के हो सकते थे। अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बधित संन्यासी भी श्रमण कहे जाते थे।

मेगस्थनीज के लेखों के अनुसार ब्राह्मणों का जीवन दो अवस्थाओं में विभाजित था। प्रथम अवस्था वह थी जब ब्राह्मण सरल जीवन व्यतीत करता था। वह नजर के सम्मुख किसी कुञ्ज में निवास करता था और मद्य–मांसादि वस्तुओं एवं समस्त इन्द्रिय सुखों के उपभोग से विरक्त रहता था। उसका सम्पूर्ण समय ज्ञानोपदेशों के श्रवण अथवा लोगों को विद्यादान करने में व्यतीत होता था। जीवन के सैंतीस वर्षों तक इन नियमों का पालन करने के बाद वह सुख सुविधामय जीवन में प्रवेश करता था। इस समय वह अपने इच्छानुसार कई स्त्रियों से विवाह करता था और भड़कीले वस्त्र तथा माँस इत्यादि का प्रयोग उसके लिए वर्जित नहीं था। मेगस्थनीज का यह वर्णन ब्राह्मणों के आश्रमों, ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के उस वर्णन के काफी मिलता-जुलता है जो हमें स्मृतियों में अथवा धर्मशास्त्रों में मिलता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. मेगस्थनीज ने भारत में ..... जातियों का उल्लेख किया है।
2. सभी भारतीय स्वतंत्र हैं और उनमें से एक भी दास नहीं है ..... लिखता है।
3. मौर्यकालीन समाज में ..... तथा ..... लोगों के मुख्य थे।

दार्शनिकों का दूसरा वर्ग अर्थात् श्रमण दो वर्गों में विभक्त था। श्रमणों में जो लोग काफी विख्यात थे, वे वनों में तपस्या और साधना का जीवन बिताते थे। वे वृक्षों की पत्तियों और फलों पर जीवन निर्वाह करते थे और वृक्षों की छाल के ही वस्त्र पहनते थे। श्रमणों के अन्य वर्ग में वे लोग आते थे जो चिकित्सक होते थे। वे लोगों की नि:शुल्क चिकित्सा करते थे और इसके बदले में समाज उनके भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी होता था।

नोट

समाज में स्त्रियों का स्थान–समाज में स्त्रियों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। उनको परिवार की सम्पत्ति में दाय का अधिकार मिलता था। अपनी पत्नियों के साथ दुर्व्यवहार करने पर राज्य की ओर से दण्ड मिलता था। यदि किसी स्त्री को सन्तान न होती हो तो पति दूसरा विवाह कर सकता था। विधवाओं को पुनर्विवाह अधिकार प्राप्त था। किन्तु समाज में स्त्रियों को अब उतनी स्वतन्त्रता नहीं रह गयी थी जितना ऋग्वैदिक काल में थी। उन्हें प्रायः घर के भीतर ही काम करना पड़ता था और स्वच्छन्द रूप से घूमने-फिरने की स्वतंत्रता नहीं थी। किन्तु भिक्षुणियाँ हो जाने पर उन्हें घूमने-फिरने की स्वतंत्रता हो जाती थी। समस्त देश में स्त्रियों की दशा अथवा विवाह के नियम एक न थे। इस युग में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख आता है। तक्षशिला में लड़कियों के लिए पति चुनने के लिए कुश्तियों का आयोजन किया जाता था और जीतनेवाले के साथ विवाह कर दिया जाता था। अपनी इच्छा से स्त्रियां सती भी हो सकती थीं, लेकिन यह प्रथा केवल क्षत्रियों तक ही सीमित थी। स्त्रियों में प्रचलित पर्दा प्रथा का भी संकेत मिलता है। नारियों को कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने की भी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। कुछ स्त्रियाँ संगीत, नृत्य तथा चित्रलेखन आदि ललित कलाओं में भी निपुणता प्राप्त करती थीं। इतना ही नहीं, सैनिक व्यवसाय अपनाने का मार्ग भी स्त्रियों के लिए सर्वथा अवरुद्ध नहीं था। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त की महिला अंगरक्षिकाओं का उल्लेख किया है। वह कहता है कि "कुछ स्त्रियाँ रथों पर, अश्वों पर एवं कुछ हाथियों पर आरुढ़ होती हैं और वे प्रत्येक प्रकार के शास्त्रास्त्र से सुसज्जित रहती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वे किसी आक्रमण के लिए जा रही हों।" देश में वेश्यावृत्ति भी थी जिसे सरकार द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। कौटिल्य के ग्रन्थ में मणिकाध्यक्ष और अशोक के अभिलेखों में स्त्री महामात्र का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने विषकन्या का भी उल्लेख किया है।

नोट्स मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त की महिला अंगरक्षिकाओं का उल्लेख किया था।

विवाह प्रथा–इस काल की विवाह संस्था शास्त्रीय नियमों और प्रथाओं से मर्यादित थी यद्यपि इनके अपवाद में भी कुछ विवाह होते थे। आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे–(1) ब्राह्म (कन्या को अलंकृत और सुसज्जित कर वर को पिता द्वारा सौंपना), (2) प्रजापत्य (सन्तान के लिए विवाह जिसके अनुसार धर्म, अर्थ और काम में कन्या और वर का अधिकार समान होता था।), (3) आर्ष (इसमें वर पक्ष से गौओं का एक जोड़ा लेकर कन्या का पिता दान में पुनः वर को देता था।), (4) दैव (दैवकार्य में लगे योग्य और सुशील ऋत्विज् को कन्या देना), (5) आसुर (द्रव्य लेकर लड़की को ब्याहना), (6) गान्धर्व (कामवश बिना माता-पिता की आज्ञा से वर और कन्या का संयुक्त होना), (7) राक्षस (कन्या को उसके परिवार वालों से बलात् छीन लेना), (8) पैशाच (छल अथवा बल से सोई या मादक वस्तु से मत्त कन्या का उपभोग करना)। इनमें पहले चार प्रकार के विवाह प्रशस्त और पिछले चार अप्रशस्त माने जाते थे। परन्तु पिछलों को भी उस समय का कानून स्वीकार करता था। विवाह प्रायः अपने वर्ण और जाति में होते थे, किन्तु असवर्ण और अन्तरजातीय विवाह भी सम्भव थे। कुछ जातियों–शाक्य, मौर्य आदि–में सगोत्र विवाह भी होते थे। दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। पुरुष एक साथ कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था। इसका कारण अर्थशास्त्र में इस प्रकार बतलाया गया है–"बहुत सी स्त्रियों को ब्याहें, स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने लिए हैं।" मेगस्थनीज ने भी लिखा है कि कुछ स्त्रियाँ आनन्द और कुछ स्त्री सन्तान के लिए ब्याही जाती थीं। पुरुष और स्त्री दोनों को पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषों के पुनर्विवाह के लिए इस प्रकार का नियम प्रचलित था कि यदि स्त्री को आठ वर्षों तक कोई सन्तान न पैदा हो, या जिससे केवल लड़कियाँ ही पैदा हों, लड़का उत्पन्न न होता हो, या जो बन्ध्या हो उसका पति पुनर्विवाह से पूर्व आठ वर्षों तक अपनी पत्नी की प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री को मृत सन्तान पैदा न हो तो दस वर्षों तक प्रतीक्षा करना पुरुष के लिए अपेक्षित था।

पुरुषों की ही तरह स्त्रियों को भी पुनर्विवाह के पहले कुछ नियमों का विचार करना पड़ता था। पति के निधन पर वह अपने इस अधिकार का प्रयोग कर सकती थीं, किन्तु उसे अपने श्वसुर तथा प्रतिपक्षीय सम्बन्धियों से प्राप्त धन उन्हें वापस करना पड़ता था, किन्तु श्वसुर तथा अन्य सम्बन्धियों की राय से होने पर उनसे मिले धन को अपने पास रख सकती थी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य परिस्थितियाँ भी थीं जिनमें स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त था। यदि विदेश में गये हुए पति को किसी भी स्त्री से कोई सन्तान न हो तो स्त्री को एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। यदि उसे कोई सन्तान न हो तो वह अधिक समय तक प्रतीक्षा करती थी। यदि विदेश जाने से पूर्व पति अपनी

नोट

स्त्री के लिए भरण-पोषण की व्यवस्था कर गया हो तो उस अवधि के दुगुने समय तक प्रतीक्षा की जाती थी। विद्याध्ययन के लिए गये हुए पति की सन्तान रहित स्त्री को दस वर्ष तक और सन्तानसहित स्त्री को बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए ऐसा विधान था।

दास प्रथा–दास प्रथा अति प्राचीन काल से ही भारतीय सामाजिक जीवन की एक मान्य व्यवस्था रही है। मौर्य काल में भी यह प्रचलित थी, यद्यपि यूनानी लेखकों के प्रमाण इसके विरूद्ध हैं। **एरियन** लिखता है कि सभी भारतीय स्वतन्त्र हैं और उनमें से एक भी दास नहीं हैं। **मेगस्थनीज** ने भी इसी प्रकार की बात कही है और स्ट्रैबो ने उसके मत को विस्तृत करते हुए लिखा है कि कोई भी भारतीय दास नहीं रखता। परन्तु, अन्य साक्ष्यों से दास प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण इतनी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं कि यूनानी लेखकों का कथन भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र तथा स्मृतियों में दास प्रथा का उल्लेख किया गया है। अशोक ने अपने अभिलेखों में दासों तथा भाड़े के मजदूरों में विभेद किया है और सब के साथ दया का व्यवहार करने का आदेश दिया है। यह सम्भव है कि मेगस्थनीज को भारत के किसी विशेष भू-भाग में दास प्रथा बिल्कुल न दिखाई पड़ी हो जिससे उसने समझ लिया कि भारतवर्ष में दास प्रथा है ही नहीं। इसके अतिरिक्त मेगस्थनीज के यह लिखने का कि भारत में दास प्रथा है हि नही, एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी हो सकता है कि यहाँ पर यूनान के ठीक विपरीत, दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। प्रसिद्ध विद्वान **रीज डेविड्स** ने लिखा है कि "भारत में दास अधिकांश रूप से घरेलू नौकर होते थे एवं उनके साथ बुरा व्यवहार नहीं किया जाता था और उनकी संख्या भी महत्त्वशून्य होती थी।"

रहन-सहन–मेगस्थनीज ने लिखा है कि मौर्यकालीन भारतीय मितव्ययिता से रहते थे और अच्छे नियमों का पालन करते थे। उच्च कोटि की सरलता भारतीय चरित्र की विशेषता थी तथा किसी भी भारतीय पर कभी झूठ बोलने का आरोप नहीं लगाया गया। उस समय चोरी का अभाव था। पारस्परिक समझौते में गवाहों की आवश्यकता नहीं होती थी। लोग अपने घरों में ताला नहीं लगाते थे। मुकद्मेबाजी बहुत कम होती थी। संक्षेप में, लोगों का जीवन सरल तथा सीधा-सादा था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. भारतीय सत्य और सद्गुणों का सम्मान करते हैं। वृद्धों को वे उस समय तक मान नहीं देते, जब तक कि उनमें विशेष गुण न हों, कथन है–
   (*a*) एरियन (*b*) स्ट्रैबो
   (*c*) मेगस्थनीज (*d*) इनमें से कोई नहीं।
5. जल सिंचन व्यवस्था का उल्लेख ..... में मिलता है।
   (*a*) अर्थशास्त्र (*b*) नीतिसार
   (*c*) अष्टाध्यायी (*d*) इनमें से कोई नहीं
6. मौर्य काल में ..... राज्य धर्म बना और सम्राट अशोक ने इस धर्म को मानकर संसार में इसे फैलाने की चेष्टा की।
   (*a*) जैन धर्म (*b*) बौद्ध धर्म
   (*c*) शाक्त धर्म (*d*) इनमें से कोई नहीं
7. अशोक के बाद ..... ने आजीवक साधुओं के लिए बराबर की पहाड़ियों में गुहा मन्दिर बनवाया।
   (*a*) दशरथ (*b*) बिन्दुसार
   (*c*) चन्द्रगुप्त मौर्य (*d*) इनमें से कोई नहीं।

नोट

भोजन—लोगों का मुख्य भोजन अन्न, फल और माँस थे। देश की अधिकांश जनता माँस खाती थी। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, राजमहल में प्रतिदिन भोजन के लिए हजारों पशु काटे जाते थे। बाद में अशोक ने उसे बन्द करवा दिया। जौ की शराब तथा ताड़ी लोगों के मुख्य पेय थे। धनी लोग विदेशी शराबों का भी प्रयोग करते थे। शराब बेचने और पीने के स्थान सरकार द्वारा निश्चित किये जाते थे। मेगस्थनीज लिखता है, "भारतीय लोग जब भोजन करने बैठते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने तिपाई की शक्ल की एक मेज रखी जाती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है जिसमें सबसे पहले चावल डाले जाते हैं। वे इस प्रकार उबले हुए होते हैं जैसे कि उबले हुए जौ। इसके बाद अन्य बहुत से पके हुए भोजन परोसे जाते हैं जिन्हें विधिपूर्वक तैयार किया जाता है।"

वस्त्र—अधिकतर लोग सूती वस्त्र पहनते थे। तड़क-भड़क तथा हीरे-जवाहरात का लोगों को शौक था। धूप से बचने के लिए लोग छाते का प्रयोग करते थे। भारतीय बारीकी और सुन्दरता के प्रेमी होते थे। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता था और वस्त्र मूल्यवान रत्नों से जड़े जाते थे। लोग मलमल के बने फलदार वस्त्र धारण करते थे।

आमोद-प्रमोद—लोगों को आमोद-प्रमोद का भी शौक था। रथों और घोड़ों की दौड़ तथा सांड़ों और हाथियों की कुश्तियाँ, लोगों के मनोविनोद के मुख्य साधन थे। शिकार खेलने का भी बहुत रिवाज था। मेगस्थनीज ने भी शिकार का उल्लेख किया है। विहार यात्राएँ की जाती थीं। बहुत से लोग जुआ भी खेलते थे। किन्तु जुआ खेलने के अड्डों पर राज्य का नियन्त्रण रहता था। हम पहले लिख आये हैं कि अशोक के लेखों में ऐसे सामाजिक समारोहों का जिक्र है जिनमें खूब नाचगान तथा सुरापान होता था। अशोक ने उनके स्थान पर धार्मिक समारोहों की प्रथा चलाई थी। उसी समय मनुष्यों तथा पशुओं में मल्ल युद्ध होते थे। हिंसात्मक होने के कारण अशोक ने इन्हें बन्द कर दिया था। कौटिल्य से ज्ञात होता है कि साधारण जनता में प्रेक्षाएँ बड़ी लोकप्रिय होती थीं और इनमे नट, नर्तक, गायक, वादक, मदारी, रस्सी पर नाचने वाले, तरह-तरह की बोली बोलने वाले आदि अपनी कला का प्रदर्शन कर दर्शकों का मनोरंजन करते थे। **पतंजलि** ने नाटकीय प्रदर्शनों का उल्लेख किया है। इस युग में शतरंज का खेल तथा द्यूत क्रीड़ा का भी प्रचलन हो गया था। स्त्रियों में गेंद का खेल बड़ा प्रिय था। राजा महाराजा और जागीरदार लोग आखेट में बहुत दिलचस्पी रखते थे। मौर्य राजाओं के आखेट का वर्णन करते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है कि "मौर्य राजा जब शिकार के लिए राजप्रासाद से निकलता था, तो शास्त्रों से सुसज्जित स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती थी। स्त्रियों के घेरे से बाहर बरछाधारी सैनिक का प्रबल घेरा रहता था। मार्ग दिशा रस्से तानकर सूचित की जाती थी। रस्सी से घिरे मार्ग के भीतर किसी भी स्त्री-पुरुष का प्रवेश करना मौत को बुलाना था। ढोल वादक और झांझ बजाने वालों का समूह उक्त राजदल के आगे बाजे बजाता चलता था। उस समय भी दो-तीन हथियारबन्द स्त्रियाँ उसके अगल-बगल खड़ी रहती थीं। यदि राजा की इच्छा खुले मैदान में शिकार खेलने की होती थी, तो वह हाथी पर बैठकर तीर चलाता था। उस समय भी हथियारबन्द स्त्रियाँ घोड़ों पर, रथों में और हाथियों पर चढ़ी हुई उसे चारों ओर से घेरे रहती थीं।"

नैतिक स्तर—अशोक के धर्म के प्रचार से नैतिक पक्ष पर बड़ा बल दिया गया है। इसमें बाह्याडम्बर की अपेक्षा अन्तःशुद्धि पर अधिक जोर दिया गया। माता-पिता की आज्ञा मानना, गुरूजनों की सेवा करना, सम्बन्धियों, मित्रों और पड़ोसियों से उदार व्यवहार करना, सत्य, कोमलता, अहिंसा, दान, क्षमा, सहनशीलता आदि सदगुणों का विकास करने वाली शिक्षाओं पर अधिक बल दिया गया। परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिए कि इससे पूर्व लोगों का नैतिक जीवन स्तर निम्न था। मेगस्थनीज ने भारतीय चरित्र की प्रशंसा की है। उसने कहा है—भारतीय आचरण में सरल तथा मितव्ययी होने से काफी सुख से रहते हैं। यज्ञ के अवसरों के अतिरिक्त शराब का प्रयोग नहीं करते। चोरी प्रायः बहुत ही कम होती है। भारतीय अपनी चीजों को प्रायः अरक्षित ही छोड़ जाते हैं, उनके कानून और समझौते सरल हैं इसलिए वे न्यायालय में बहुत कम आते हैं। भारतीयों की दृष्टि में योग्यता उम्र से अधिक महत्त्वपूर्ण अतः सम्माननीय थी। मेगस्थनीज आगे लिखता है—भारतीय सत्य और सद्गुणों का सम्मान करते हैं। वृद्धों को वे उस समय तक मान नहीं देते, जब तक कि उनमें विशेष गुण न हों।

नोट

7.2 आर्थिक जीवन (Economical Life)

कृषि–मौर्य राजाओं के समय भारत की आर्थिक दशा बड़ी उन्नत थी। कृषि, शिल्प और व्यापार तीनों का ही अद्‌भुत रूप से विकास हुआ था। कृषि और कृषक दोनों ही की अवस्था अच्छी थी। कृषक अपना सारा समय खेती में लगाते थे। कृषक समाज पवित्र माना जाता था। युद्ध के समय भी कृषक निर्विघ्न रूप से अपना काम करते थे। ये लोग जनता की भलाई करने वाले समझे जाते थे। मेगस्थनीज ने लिखा है–"भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ा है और साधारणतया खाद्य पदार्थों की महँगाई कभी नहीं हुई है।" खेती हल बैल से होती थी। अर्थशास्त्र में सिंचाई के अनेक साधनों का उल्लेख है। भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए खाद का प्रयोग होता था। ग्रामीण क्षेत्रों में बाढ़, अग्निकांड और टिड्डयों के आगमन का डर बना रहता था। इसके लिए जनता को दार्शनिक लोग पहले ही आगाह किया करते थे। अतिवृष्टि और अनावृष्टि से उत्पन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिए बड़े-बड़े अन्नागार बनाये जाते थे। संकटकाल में राज्य की ओर से बीज तथा भोजन की सहायता दी जाती थी। जंगली जानवरों से भी खेत की रक्षा की जाती थी।

कृषि की उन्नति के लिए राज्य की ओर से हितकर कानूनों का निर्माण किया गया था। किसानों की सुविधाओं का ध्यान रखा जाता था और उन पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होने पाता था। सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। मेगस्थनीज सिंचाई व्यवस्था का वर्णन करते हुए अधिकारियों का उल्लेख करता है जिनका कर्त्तव्य "भूमि को नापना और उन छोटी नालियों का निरीक्षण करना था जिनसे होकर पानी सिंचाई की नहरों में जाता था जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपना सही भाग मिल सके।" एक स्थान पर यूनानी राजदूत ने लिखा है कि "भूमि का अधिकतर भाग सिंचाई के अन्तर्गत है जिससे वर्ष में दो-दो फसलें तैयार हो जाती हैं।" अर्थशास्त्र में भी जल सिंचन व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। एक स्थान पर सिंचाई की तीन प्रणालियों का निर्देश पाया जाता है–(1) हाथ के द्वारा सिंचाई, (2) मोटों के द्वारा सिंचाई, (3) कतिपय जल यन्त्रों के द्वारा सिंचाई।

उद्योग धन्धे–उद्योग धन्धों के कारण व्यापार की अद्‌भुत उन्नति हो गई थी। साम्राज्य के स्थल तथा जल मार्ग पूर्णत: सुरक्षित थे। नदियाँ व्यापारिक माल ले जाने की प्रमुख साधन बनी हुई थीं। बनारस तक बड़े-बड़े जलयान गंगा नदी के मार्ग से पहुँचते थे। एक सड़क पाटलिपुत्र को बनारस से जोड़ती हुई उत्तरापथ तक चली गई थी। दूसरा व्यापारिक मार्ग पाटलिपुत्र से बनारस, उज्जैन होता हुआ पश्चिमी तट के बन्दरगाहों तक बना हुआ था। इन दो प्रधान थल मार्गों के और भी बहुत से व्यापारिक मार्ग थे जिनपर व्यापारियों के काफिले आते-जाते रहते थे। सड़कों के दोनों ओर छायादार तथा फल वाले वृक्ष लगे हुए थे। एक मील के अन्दर में शीतल जल के कुएँ तथा यात्रियों के ठहरने के लिए स्थान बने हुए थे। व्यापारिक उन्नति के कारण उस समय साम्राज्य भर में अनेक व्यापारिक केन्द्र और समृद्धिशाली नगरों की स्थापना हो गई थी। तक्षशिला, उज्जैन, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र, तौशली आदि नगर व्यापार के प्रमुख केंद्र बने हुए थे। भारत के समुद्रतट पर अनेक बन्दरगाह थे, जहाँ से लंका, सुमात्रा, जावा, ब्रह्मा, मिस्र, सीरिया, यूनान, रोम, फारस आदि के व्यापारिक जहाज आते-जाते रहते थे। पाटलिपुत्र की गणना संसार के प्रमुख नगरों में की जाने लगी थी।

व्यापार तथा शिल्प–मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय भारत का व्यापार तथा शिल्प भी उन्नति के उच्च शिखर पर आसीन था। भारत के वस्त्र व्यवसाय की तो संसार का कोई भी देश समता नहीं कर सकता था। सूती, रेशमी और ऊनी तीनों प्रकार के अति आकर्षक डिजाइनदार वस्त्र इतनी अधिकता के साथ तैयार किये जाते थे कि देश की आवश्यकता पूर्ति के पश्चात विदेशों को भारी संख्या में निर्यात किये जाते थे। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में सहस्रों कपड़े की मंडियाँ थीं, जो यहाँ के उच्च कोटि का कपड़ा जैसे मलमल, छींट, रेशमी कपड़ा आदि प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये का विदेशों को निर्यात करती रहती थीं। प्रसिद्ध इतिहासकार **स्ट्रोबी** ने तो यहाँ तक लिखा है कि भारतीय वस्त्रों पर सोने के तारों से बेल-बूटे निकाले जाते तथा उन्हें बहुमूल्य रत्नाभूषणों से सजाया जाता था। जुलाहों, ठठेरों, लुहारों, स्वर्णकारों, तेलियों, बढ़इयों तथा अन्य शिल्पियों ने अपने अलग-अलग संघ बना रखे थे। ये संघ अपने-अपने शिल्पियों के लिए बैंकों का कार्य भी करते थे। संघ के प्रधान का राजदरबार में भारी मान रहता था। **डॉ. मजुमदार** का मत है कि "उस समय के व्यवसायी तथा शिल्पी अलग-अलग श्रेणियों अथवा संघों में

नोट

विभक्त थे। इन श्रेणियों के प्रधानों को राजदरबार में सम्मानीय स्थान प्राप्त था। सभी श्रेणियों के कायदे-कानून अलग-अलग थे, उन्हें राज्य से मान्यता प्राप्त थी।"

पत्थर को काटकर सुन्दर वस्तुएँ बनाने की कला में इस युग के कारीगर बहुत बढ़े-चढ़े थे। अशोक के समय के आश्चर्यजनक पाषाण स्तम्भ उस युग की तक्षणकला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। **डॉ. स्मिथ** ने ठीक ही कहा है कि "कठोर पाषाण को चिकना बनाने की कला इस पूर्णता तक पहुँचा दी गई थी कि यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग की कलात्मक शक्तियों के लिए यह एक खोई हुई कला ही है।" बारबरा की गुफाओं को, जो पालिश किए हुए चिकने शीशे की भांति चमकती हैं, देखने से इस युग के उत्कृष्ट कला को ठीक से समझा जा सकता है। सुगन्धित पदार्थों के निर्माण में भी मौर्य युग में काफी उन्नति हुई। कौटिल्य ने पाँच प्रकार के सुगन्धित पदार्थों का उल्लेख किया है। ये पदार्थ हैं—चन्दन, अगुरु, तैल पर्णिक, भद्रश्री और कालेयक। ये पदार्थ अपने उचित स्थान, रंग और सुगन्ध की तीव्रता के कारण एक-दूसरे से काफी भिन्न समझे जाते थे।

सिक्का और विनिमय के साधन—कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में सुवर्ण, कार्षाप, माषक और काकणी जैसे सिक्कों का उल्लेख मिलता है। मुद्रा निर्माण एकमात्र सरकारी टकसाल में होता था; किन्तु कोई भी व्यक्ति अपनी घातु देकर सरकारी टकसाल में भी रुपया बनवा सकता था। टकसाल के अधिकारियों में कौटिल्य ने सौवर्णिक और लक्षणाध्यक्ष का वर्णन किया है। सिक्के के अतिरिक्त विनिमय के अन्य साधन भी थे। वस्तुओं का आदान-प्रदान भी होता था।

कर्ज और सूद—मौर्य शासकों ने किसानों, मजदूरों तथा कारीगरों को धनी साहूकारों के शोषण से बचाने के लिए भी विशेष प्रबन्ध किया था। ब्याज की दर निश्चित कर दी गयी थी। अर्थशास्त्र के अनुसार पन्द्रह प्रतिशत वार्षिक ब्याज उचित था। दरिद्रों, नाबालिगों, अध्ययन तथा यज्ञ आदि में लगे हुए लोगों से ब्याज नहीं लिया जाता था।

पशुपालन—पशुओं की वृद्धि और रक्षा की ओर भी राज्य की ओर से विशेष ध्यान दिया जाता था। इस कार्य के लिए एक अलग विभाग था जो पशुओं का लेखा-जोखा करता था; चरागाहों की रक्षा करता था, दूध आदि के सम्बन्ध में नियम बनाता था, बीमार पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध करता था और पशुओं के प्रति होने वाले अत्याचारों को शान्त करता था। घोड़ों तथा हाथियों की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

वनों तथा वनैले पशुओं की रक्षा का भी राज्य की ओर से विशेष प्रबन्ध था। मौर्य सम्राट शिकार के शैकीन थे। इसीलिए वनों के विशेष भाग उसके शिकार के लिए सुरक्षित रखे जाते थे और साधारण लोगों को उनमें आखेट करने की आज्ञा नहीं थी। वनों में आग लगाने वालों को कठोर दण्ड मिलता था। वनों की बहुतायत से उस युग में वर्षा भी पर्याप्त होती थी।

7.3 धार्मिक जीवन (Religious Life)

इस युग की धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें बौद्ध धर्म ग्रन्थों, अशोक के अभिलेखों और यूनानी लेखकों के विवरण पर अवलम्बित होना पड़ता है। सभी साक्ष्यों का अवलम्बन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मौर्यकाल का समाज मूल रूप से तीन धार्मिक सम्प्रदायों में विभक्त था—वैदिक, जैन और बौद्ध। राज्य की ओर से किसी धर्म पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। इन धर्मों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

वैदिक धर्म—इस युग में वैदिक धर्म ही प्रधान धर्म था। पहले की भांति वैदिक धर्मावलम्बी अनेक प्रकार के यज्ञ किया करते थे। यज्ञों में बड़ी संख्या में पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी और पुरोहितों को भारी दक्षिणा देनी पड़ती थी। इसलिए यज्ञ बहुत खर्चीले थे। केवल राजा-महाराजा तथा धनी लोग ही उन्हें करवा सकते थे। चूंकि पुरोहितों को यज्ञों से आर्थिक लाभ होता था, इसलिए उनमें लोभ की वृद्धि अवश्य हुई होगी। अशोक ने पशु यज्ञों पर प्रतिबन्ध लगाया था, इसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। स्मरण रखने की बात है कि यद्यपि इस युग के साहित्य में अश्वमेध, बाजपेय आदि यज्ञों का उल्लेख आता है, किन्तु इस युग के किसी शासक ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया था।

नोट

क्या आप जानते हैं भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन और जैन धर्म का छठवां थेर (स्थाविर) था।

मेगस्थनीज ब्राह्मणों के दार्शनिक सम्प्रदायों का भी उल्लेख करता है। इससे प्रकट होता है कि औपनिषदिक ऋषियों ने जिस ज्ञान मार्ग का प्रवर्तन किया था उसका प्रभाव बढ़ रहा था। अशोक ने अपने सातवें स्तम्भ लेख में ब्राह्मणों तथा निर्गन्थों के साथ आजीविकों का उल्लेख किया है। अपने शासन के बारहवें वर्ष में अशोक ने बराबर की पहाड़ियों में दो गुफाएँ आजीविक भिक्षुओं को अर्पित की थी। अशोक के नाती दशरथ ने भी नागार्जुन पहाड़ियों में आजीविक भिक्षुओं के लिए गुफाएँ बनवाईं थीं। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि मौर्यकाल में आजीविकों का प्रभाव काफी बढ़ गया था लेकिन इसका प्रभाव मुख्यत: मगध तक ही सीमित था। मेगस्थनीज ने दार्शनिकों के एक ऐसे सम्प्रदाय का उल्लेख किया है जिसके सदस्य जीवन भर नंगे रहते थे, माँस नहीं खाते थे और फल-फूल बटोर कर जीवन निर्वाह करते थे। सम्भवत: मेगस्थनीज का आशय निर्ग्रन्थों से ही था। अशोक ने भी अपने सातवें स्तम्भ लेख में आजीवकों के साथ निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

जैन धर्म–चन्द्रगुप्त के शासनकाल में जैनधर्म के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई और इसके स्वरूप में एक महान परिवर्तन उपस्थित हो गया। भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन और जैन धर्म का छठवां थेर (स्थविर) था। जैन अनुश्रुति के अनुसार उसी ने मौर्य सम्राट को जैन धर्म में दीक्षित कर लिया था। जबकि भद्रबाहु जैन धर्म के थेर थे, मगध में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा और संन्यासियों को भिक्षा प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होने लगा। अनिष्ट की आशंका से भद्रबाहु ने मगध छोड़कर कर्णाटक देश की राह पकड़ी। बहुत से जैन स्थूलभद्र के नेतृत्व में मगध में रह गये। दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने के बाद भद्रबाहु के बहुत से शिष्य मगध लौट आये, परन्तु भद्रबाहु स्वयं नेपाल चले गये। नेपाल में भद्रबाहु ने भी तप द्वारा अपना शरीर त्याग किया। मगध में जो जैन साधु बचे थे। उन्होंने पाटलिपुत्र में एक बहुत विशाल सभा का आयोजन किया। उनका विश्वास था कि जैन धर्मशास्त्रों का शुद्ध रूप काफी विकृत हो चुका है। इसलिए इनका परिष्कार करना चाहिए और प्रामाणिक धर्मशास्त्रों का संग्रह करना चाहिए। इस सभा का आयोजन इसी उद्देश्य से किया गया था। इसी बीच जो जैन साधु मैसूर चले गये थे उनमें और जो यहीं रह गये थे, एक मतभेद उठ खड़ा हुआ। मगध के जैनियों ने श्वेत वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया परन्तु भद्रबाहु के शिष्यों ने महावीर की शिक्षाओं का पालन करते हुए नंगा रहना ही पसन्द किया। इस प्रकार प्रथम संघभेद की नींव पड़ी जिससे जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

बौध धर्म–बौद्ध धर्म के इतिहास में मौर्यकाल बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी काल में बौद्ध धर्म राज्य धर्म बना और सम्राट अशोक ने इस धर्म को मानकर संसार में इसे फैलाने की चेष्टा की। अतएव बौद्ध धर्म का देश के भीतर और बाहर काफी प्रचार हुआ। लेकिन इस समय तक बौद्ध धर्म में फूट बहुत बढ़ गयी थी और वह दो सम्प्रदायों में विभक्त होता जा रहा था। अशोक के समय में इस फूट ने उग्र रूप धारण कर लिया। इस फूट की खाई को पाटने के लिए सम्राट ने पाटलिपुत्र में बौद्ध भिक्षुओं की सभा बुलायी। मोग्गलीपुत्त तिस्स इसके सभापति थे। इस सभा में केवल थेरवादी भिक्षु सम्मिलित हुए। सभा ने गैर थेरवादियों के सिद्धांतों का खण्डन किया और बुद्ध के मूल सिद्धांतों को पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया। सभा के निर्णय कथावस्थु के नाम से संग्रहीत किये गये और उन्हें अभिधम्मपिटक का अंग मान लिया गया।

अशोक ने संघ की एकता को कायम रखने के लिए और भी उपाय किये। उसने अपने अधिकारियों को आदेश दिया कि वे संघ की फूट को रोकने का प्रयत्न करें। सारनाथ के स्तम्भ लेख में सम्राट का निम्न आदेश खुदा हुआ है–"संघ में कोई फूट न डाले। किन्तु यदि कोई संघ में फूट डाले तो चाहे वह भिक्षु हो और चाहे भिक्षुणी उसे श्वेत वस्त्र पहना दिये जाये और ऐसी जगह रहने के लिये विवश किया जाये जो (भिक्षुओं का) निवास स्थान नहीं है।"

अशोक बौद्ध संघ की फूट को तो दूर नहीं कर सका, किन्तु उसने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए जो कार्य किये उनसे धर्म का प्रसार हुआ, इसमें सन्देह नहीं।

7.4 कला कौशल (Art Skill)

नोट

कला की दृष्टि से मौर्यकाल भारत के इतिहास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना के बाद देश में शांति, सुव्यवस्था, सुख और समृद्धि विराजने लगी। इससे कला के विकास में बड़ा प्रोत्साहन मिला। **डॉ. बाग्ची** और **प्रो. शास्त्री** का कथन है कि मौर्यकाल ने कला के क्षेत्र में भारी कार्य किया। वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय कला का आरम्भ मौर्यकाल विशेषकर अशोक के शासन काल में ही आरम्भ होता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. सांची का स्तूप प्राचीन भारतीय कला का उत्कृष्ट नमूना है।
9. सुबन्धु नामक प्रसिद्ध कवि अशोक का मन्त्री था।
10. आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे।
11. वासवदत्ता उज्जैन की वह राजकुमारी थी जिसका सम्बन्ध उदयन की कहानी से है।

भवन निर्माण कला—पहले स्थापत्य कला से ही हम इस युग की कला का विवेचन शुरू करते हैं। पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त का बड़ा विशाल और भव्य राजप्रासाद था। इसका सभा भवन स्तम्भों पर खड़ा था जिस पर बहुत सुन्दर मूर्ति और चित्रकला का प्रदर्शन किया गया था। मेगस्थनीज के मत में ईरान की राजधानी सूसा के राजप्रासाद से मौर्य प्रासाद अधिक सजा हुआ और सुन्दर था। अशोक ने भी कई राज भवनों का निर्माण कराया। जब चीनी यात्री फाहियान पाँचवीं शताब्दी में पाटलिपुत्र गया था तो कई ऐसे भवन थे जो अशोक के बनवाये कहे जाते थे। उनको देखकर यह यात्री चकित हो गया और इसने समझा कि शायद देवों ने उनकी रचना की थी। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने कई हजार स्तूप (ठोस अंडाकार समाधि), चैत्य (सामूहिक पूजा मंदिर) और विहार (भिक्षुओं के रहने का मठ) बनवाये थे। सारनाथ में बनवाये हुए धर्मराजिका स्तूप का निचला भाग अब भी वर्तमान है। बोधगया में इसने चैत्य बनवाया जो कालक्रम से गिर गया और उनके स्थान पर आधुनिक मन्दिर खड़ा है। अशोक के बाद दशरथ ने आजीवक साधुओं के लिए बराबर की पहाड़ियों में गुहा मन्दिर बनवाया। भारत के प्राचीन स्थापत्य में लकड़ी की प्रधानता थी। इस काल में यद्यपि ईंट और पत्थर का उपयोग भी शुरू हुआ फिर भी लकड़ी का व्यवहार काफी होता था। स्थापत्य की विशेषताओं में विशालता और सजावट मुख्य थी।

स्तम्भ—इस काल की कलात्मक कृतियों में अशोक के स्तम्भों का प्रमुख स्थान है। अपने धर्मलेखों का प्रचार करने के लिए अशोक ने घोषणार्थ पृथ्वी की उठी हुई भुजाओं के समान इन स्तम्भों को देश के कई स्थानों में खड़ा किया था। अशोक के सभी स्तम्भ चुनार के बलुआ पत्थर के बने हुए हैं। एक स्तम्भ पूरा एक पत्थर की शिला को काटकर बनाया गया था। स्तम्भों की औसत ऊँचाई चालीस फीट है। स्तम्भ आधार की तरफ मोटे और शीर्ष की तरफ पतले होते हैं। इनके तीन भाग किये जा सकते हैं—(1) ध्वज या स्तम्भ का तना जो बिलकुल सादा परन्तु अत्यन्त चिकना और चमकीला है; (2) अंड या गला जो गोल बना हुआ है और धार्मिक प्रतीक, चक्र पशु, पक्षी, लता, पुष्प आदि—से विभक्त और अलंकृत है, (3) सबसे ऊपर स्तम्भ का शीर्ष (सिर) है, जिनमें सिंह, हस्ति; अश्व; वृषभादि की मूर्तियाँ—एक या कई साथ बनी हुई हैं। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण सारनाथ का सिंह शीर्ष वाला स्तम्भ है। मूर्तिकला की दृष्टि से स्तम्भ और उस पर बनी हुई पशु, पक्षी, लता, पुष्प की अनुकृतियाँ संसार की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से हैं। प्रकृति से उनकी अनुरूपता और सजीवता सराहनीय है। मूर्तिकला का यह विकास कई शताब्दी के अनुभवों से ही सम्भव था। इस काल की मूर्तियों में मथुरा के पारखम में मिली हुई यक्ष मूर्ति, वेसनगर में मिली स्त्री की मूर्ति, पटना और दीदारगंज मिली हुई (पारखम के यक्ष से मिलती-जुलती) मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। इन सभी को देखने से मालूम होता है कि भारत में मूर्ति कला अच्छी तरह विकसित हो चुकी थी।

प्रेक्षा गृहों (नाटकों के अभिनय के लिए बने हुए भवन) और रंगशालाओं (नाटक मंच) का उल्लेख करना भी (इस युग की कला के साथ) आवश्यक जान पड़ता है। अर्थशास्त्र में प्रेक्षा गृहों के कई उल्लेख हैं।

नोट

गुफाएँ–गुफाएँ उस युग की कला के अन्य महत्त्वपूर्ण नमूने हैं। ये गुफाएँ भिक्षुओं के लिए चतुर्मास में विश्राम करने के लिए बनवाई गई थीं। अशोक तथा उसके नाती दशरथ की बनवाई हुई बराबर और नागार्जुनी की पहाड़ियों की गुफाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। इन पर उन सम्राटों के उत्कीर्ण लेख भी हैं। विद्वानों का कहना है कि ये उस समय प्रचलित लकड़ी और घास-फूस की झोपड़ियों के नमूने पर बनाई गई थीं। इसमें सम्भवत: सबसे प्राचीन सुदामा नाम की गुफा है। इसका निर्माण अशोक के शासनकाल के बारहवें वर्ष में कराया गया था और आजीविक सम्प्रदाय के भिक्षुओं को अर्पित कर दिया गया था। इनमें दो कमरे हैं, बाहर का कमरा आयताकार है और उसकी छत मेहराबदार गुम्बज के आकार की है तथा दरवाजों में ढालू पाखे बन हुए हैं। इनकी लम्बाई की बगल में एक अन्य गुम्बजदार छत की वृत्ताकार कोठरी है। इन दोनों के बीच में द्वार है और कोठरी के बारह की ओर छप्पर के ढंग की औलतियाँ बनी हैं। दूसरी गुफा कर्ण चौपाल कहलाती है। उस पर उत्कीर्ण लेख से पता चलता है कि उसका निर्माण अशोक के शासनकाल के उन्नीसवें वर्ष में कराया गया था। यह एक आयताकार कमरा है और इसकी छत मेहराबदार है। इसके अतिरिक्त इसमें कोई कलात्मक विशेषता नहीं है।

स्तूप–कभी-कभी किसी महत्त्वपूर्ण घटना की स्मृति बनाये रखने के लिए भी स्तूप बनवाये जाते थे। स्तूपों का प्रचार देश में बहुत पहले से चला आ रहा था, किन्तु जैनों तथा बौद्धों ने उसका विशेष रूप से प्रयोग किया। जैसा कि पहले लिखा गया है; बुद्ध की अस्थियों को क्षत्रिय राजाओं ने आपस में बाँट लिया था और अपने अपने भागों को पृथ्वी में गाड़कर उन पर स्तूप खड़े करवा दिये थे। स्तूप के चारों ओर परिक्रमा लगाने के लिए चबूतरा होता था और उसे लकड़ी की वेष्टणी से घेर दिया जाता था। बौद्ध साहित्य में उल्लेख आता है कि अशोक ने चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण करवाया था। उसने पुराने स्तूपों के नीचे से बुद्ध की अस्थियों को निकलवाकर उन पर नये स्तूप खड़े करवाये थे। उसके स्तूपों में सांची, सारनाथ तथा भारहुत के स्तूप अधिक प्रसिद्ध हैं। सांची का स्तूप प्राचीन भारतीय कला का उत्कृष्ट नमूना है। मूल स्तूप ईंटों का बना हुआ था और आकार में छोटा था। बाद में, एकाध शताब्दी के पश्चात् उसके आस-पास पत्थर की चिनाई करके उसके आकार को दुगुना कर दिया गया। वर्तमान रूप में वह लगभग एक सौ बीस फीट व्यास का गोलार्द्ध हैं। उसके चारों ओर सोलह फीट ऊँचा और छ: फीट चौड़ा प्रदक्षिणापथ है। पृथ्वी के तल पर एक अन्य प्रदक्षिणापथ है; वह पत्थर की वेष्टणी से घिरा हुआ है। मूल वेष्टणी लकड़ी की रही होगी; बाद में उसके स्थान पर पत्थर की नौ फीट ऊँची वेष्टणी बना दी गई। ऊपर के प्रदक्षिणापथ पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। वेष्टणी में चार तोरण हैं, ये भी बाद में बनवाये गये थे।

आभूषण–आभूषण बनाने और रत्नों के काम में भी मौर्य कलाकारों ने प्रवीणता प्राप्त की थी। उनकी रुचि "आकृति को कोमलतापूर्वक ढालने में न होकर उच्च कोटि की दक्षता में थी जिससे वे चमकीले पत्थर को काट कर चमकाते थे या धातु की वस्तुओं पर कोमल खुदाई करते थे या दानेदार नमूने बनाते थे।" पिपराहा से प्राप्त स्फटिक प्याला और भट्टीप्रोलू स्तूप से प्राप्त नीली मणि का अवशेष पात्र सर जॉन मार्शल के विचार मे मौर्यकाल की कृतियाँ हैं।

टास्क मौर्य कालीन कला-कौशल पर विस्तार से चर्चा करें।

7.5 शिक्षा, भाषा, लिपि और साहित्य (Education, Language, Script and Literature)

शिक्षा के क्षेत्र में भी मौर्य युग भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस समय राज्य की ओर से विद्यालयों को चलाने का प्रचलन था। अशोक ने शिलाओं और स्तम्भों पर धर्मलेख खुदवाये थे। इसका उद्देश्य यह था कि साधारण जनता उसको पढ़ सके और उसके अनुरूप आचरण कर सके। इससे यह विदित होता है कि उस समय आम लोग पढ़ना-लिखना जानते थे। शिक्षा के क्षेत्र में इस समय तक्षशिला का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय था। मौर्यकालीन भाषा की दो धाराएँ थीं–(1) संस्कृत जिनमें पूरी वैदिक संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्र साहित्य लिखा गया था। यह साहित्यिक और पढ़े-लिखे लोगों की भाषा थी। इसका स्वरूप व्याकरण के नियमों से

नोट

बंधा हुआ था। प्राकृत अथवा पाली जो सामान्य जनता की भाषा थी, इसको गौतम बुद्ध ने अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य–त्रिपिटक और जातक–इसी भाषा में लिखे गये। इसी भाषा ने ही साहित्यिक रूप धारण किया, किन्तु यह फिर भी संस्कृत की अपेक्षा जनता के निकट थी। यह उत्तर भारत के जनसाहित्य की भाषा थी और दूसरे प्रान्तों की जनभाषाओं से इसका मेल था। अशोक ने इसी को अपने साम्राज्य की राजभाषा स्वीकार किया और उसके धर्मलेख, जो सारे देश में वितरित थे, इसी भाषा में लिखे गए। दो लिपियाँ थीं–ब्राह्मी, जो आधुनिक नागरी और भारत को विभिन्न प्रान्तों, ब्रह्मा, लंका, तिब्बत की लिपियों की जननी है, पश्चिमोत्तर सीमान्त को छोड़कर सारे भारत में प्रचलित थी। यह दाँयें से बाँयें लिखी जाती थी। यह भारत की राष्ट्रीय लिपि थी। इसका विकास इसी देश में हुआ था। इसकी रचना प्राचीन भारतीयों की ऊँची प्रतिमा का द्योतक है। (2) दूसरी लिपि खरोष्ठी थी, जिसका प्रचार भारत की पश्चिमोत्तर सीमा में था। यह अरबी लिपि की तरह दाँयें से बाँयें की ओर लिखी जाती थी। अशोक के जो धर्म लेख इस भाग में पाये जाते हैं, उनकी भाषा पाली है लेकिन लिपि खरोष्ठी। लिखने के लिए उस समय एक विशेष प्रकार का ताड़पत्र का प्रयोग किया जाता था।

इस समय का साहित्य तत्कालीन तीन मुख्य धार्मिक सम्प्रदायों के आधार पर तीन धाराओं में बँट गया था। वैदिक धारा में यह काल सूत्रग्रन्थों का था, जिसके कई गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और वेदांग ग्रन्थ लिखे गये। शुद्ध साहित्य में भास के नाटकों का रचनाकाल भी यही है। सम्भवत: रामायण और महाभारत के कुछ अंशों का परिवर्द्धन इसी युग में हुआ। इस काल का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ राजनीति पर कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में अनेक शास्त्रों और विधाओं का उल्लेख किया जिन पर ग्रन्थ लिखे गये थे, किन्तु उनमें से बहुत से अब उपलब्ध नहीं हैं। इस काल में सुबन्धु नाम का प्रसिद्ध कवि हुआ। वह अन्तिम नन्द सम्राट चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार का मन्त्री था। उसने वासवदत्ता नाट्यधारा नाम का नाटक लिखा था। यह वासवदत्ता उज्जैन की वही राजकुमारी थी जिसका सम्बन्ध उदयन की कहानी से है। चन्द्रगुप्त के मन्त्रियों में कवि नाम का एक मन्त्री था। सम्भवत: वह भी कवि रहा होगा।

बौद्ध साहित्य की दृष्टि से यह युग काफी महत्त्व रखता है। बौद्ध त्रिपिटकों की रचना का समय तृतीय बौद्ध संगीति, जो सम्राट अशोक के राजत्व काल में हुई थी, के कुछ बाद बताया जाता है। इस संगति के अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स ने अभिधम्मपिटक के कथावस्तु की रचना की। अन्य कई सूत्रों की रचना भी, कुछ विद्वानों के अनुसार, मौर्य युग में ही हुई थी। जैन धर्म के प्रसिद्ध लेखकों–जम्बूस्वामी, प्रभस और स्वयम्भव–की रचनायें इसी युग में लिखी गईं। इस काव्य के जैन लेखकों में शीर्ष स्थान अधिकृत करने वाले आचार्य भद्रबाहु द्वितीय चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे और जैन अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने मौर्य सम्राट को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था। भद्रबाहु ने निरुक्त, अर्थात् प्रारम्भिक धर्म ग्रन्थों पर एक भाष्य का प्रणयन किया। जैनियों के धार्मिक साहित्य के सृजन और संकलन की दृष्टि से तो मौर्य युग और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आचारांग सूत्र, समवाय सूत्र, भगवती सूत्र, उपासक दशांग, प्रश्न व्याकरण आदि महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों के अधिकतर भाग इसी समय लिखे गये।

7.6 सारांश (Summary)

मेगस्थनीज के अनुसार मौर्यकाल में भारतीय सामाजिक जीवन सरल, सादा और सुव्यवस्थित था और जीवन स्तर काफी ऊँचा था। जातियाँ एक-दूसरे से प्रेमभाव रखती थीं और उनका एक-दूसरे पर अटूट विश्वास था। वे सामाजिक नियम का पालन अपना कर्त्तव्य मानती थीं। उनके बीच आपसी झगड़े बहुत कम होते थे। किसानों का जीवन सादा होता था।

7.7 शब्दकोश (Keywords)

- स्तूप (Pillar) : खंभा
- आभूषण (Ornament) : गहना

नोट

7.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मौर्यकालीन जनता की धार्मिक स्थिति की विवेचना कीजिए।
2. मौर्यकालीन समाज की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की विवेचना कीजिए।
3. कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अशोक के अभिलेखों और स्मारकों से मौर्यकालीन समाज संस्कृति तथा आर्थिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है का विवरण दें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. 7	2. एरियन	3. जौ की शराब, ताड़ी	
4. (*c*)	5. (*a*)	6. (*b*)	7. (*a*)
8. सही	9. गलत	10. सही	11. सही।

7.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई–8: गुप्त साम्राज्य
(The Gupta's Empire)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
8.1 गुप्तकाल के इतिहास के साधन (Means of Gupta's History)
8.2 गुप्त वंश का उदय (Rising of Gupta's Dynasty)
8.3 समुद्रगुप्त : सिंहासनारोहण, विजय और साम्राज्य का संगठन (Samudragupta : Crowned, Victory and Organization of Kingdom)
8.4 चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (Chandragupta II Vikramaditya)
8.5 फाहियान (399–411 ई.) का विवरण (Explanation of Phaiyan)
8.6 गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण (The Reason of Decline Gupta's Kingdom)
8.7 सारांश (Summary)
8.8 शब्दकोश (Keywords)
8.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
8.10 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- गुप्त वंश का उदय एवं राजाओं का वर्णन करने में
- फाहियान द्वारा भारत के समस्त दशाओं का वर्णन करने हेतु
- गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों को जानने में

प्रस्तावना (Introduction)

गुप्त वंश का शासन भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण काल है। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टिकोण से यह भारतीय पुनरुत्थान का काल था। अत: इस काल की जानकारी के साधन भी पहले की अपेक्षा अधिक उपलब्ध हैं। गुप्तकालीन स्त्रोतों में साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों प्रकार की सामग्रियों की बाहुल्यता है।

नोट

8.1 गुप्त काल के इतिहास के साधन (Means of Gupta's History)

साहित्यिक साधन–साहित्यिक साधनों के अन्तर्गत पुराण, काव्य, नाटक, स्मृति आदि हैं। यों तो सभी पुराणों से, जिनकी संख्या 18 है गुप्त राजाओं के विषय में जानकारी मिलती है, परन्तु गुप्त काल के लिए विशेष उल्लेखनीय पुराणों में **विष्णुपुराण, वायुपुराण** तथा **ब्रह्मांडपुराण** महत्त्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा गुप्तों के प्रारम्भिक इतिहास एवं उनकी आदि-राज्य-सीमा के बारे में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप पुराणों में वर्णित है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का शासन प्रयाग, साकेत एवं मगध के ऊपर था। पुराणों में समुद्रगुप्त के समकालीन नागों, वाकाटकों एवं शकों के सम्बन्ध में भी जानकारी मिलती है।

पुराणों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र की पुस्तकों से भी गुप्तकालीन विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। गुप्तकाल में अनेक स्मृति ग्रन्थ लिखे गये। इन स्मृतिकारों ने प्राक्-गुप्तकालीन अवस्था को ध्यान में रखते हुए नये नियमों एवं विधानों का प्रावधान किया, जिसने प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को फिर से अच्छी तरह स्थापित करने में मदद पहुँचायी। बृहस्पति, नारद आदि की स्मृतियाँ सम्भवत: इसी काल की हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में 'कामन्दकीय' नीतिशास्त्र की रचना हुई। इस ग्रन्थ का उद्देश्य एवं विषय-वस्तु बहुत कुछ कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मिलता-जुलता है। इसमें राजा को सुचारु रूप से शासन चलाने की सीख दी गयी है। इससे गुप्तकालीन प्रशासन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

काव्य-नाटक–साहित्य से भी गुप्तकालीन इतिहास, सभ्यता एवं संस्कृति की अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। इस श्रेणी में हम विशाखदत्त विरचित **देवीचन्द्रगुप्तम्, मुद्राराक्षस, मंजूश्रीमूलकल्प, वात्स्यायन** का **कामसूत्र**, वसुबन्धु का जीवन वृतान्त, **कौमुदीमहोत्सव,** शूद्रक की **मृच्छकटिकम** एवं कालिदास की रचनाओं, इत्यादि को रख सकते हैं। विशाखदत्त ने **देवीचन्द्रगुप्तम्** एवं **मुद्राराक्षस** नामक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। **देवीचन्द्रगुप्तम्** में चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं शकों के साथ सम्बन्धों की समीक्षा की गयी है। **मुद्राराक्षस** में कूटनीति का अच्छा वर्णन है। **कौमुदीमहोत्सव** की लेखिका किशोरिका नामक एक विदुषी थी। इस नाटक में मगध के शासक सुन्दरवर्मन एवं चन्द्रसेन (चन्द्रगुप्त प्रथम) के सम्बन्धों की चर्चा की गयी है। इस नाटक से गुप्तों की उत्पत्ति एवं उनके उत्कर्ष पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मंजुश्रीमूलकल्प से राजनीतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। शूद्रक की **मृच्छकटिक** तत्कालीन सामाजिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालती है। **कामसूत्र** से नागरिक जीवन की जानकारी मिलती है। कालिदास की रचनाएँ तो गुप्त-काल के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि इससे राजनीतिक इतिहास की जानकारी कम ही मिलती है, फिर भी सांस्कृतिक अध्ययन के लिए इनका विशेष महत्त्व है। कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के नौ रत्नों में से एक थे। अपनी रचनाओं में उन्होंने तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का सजीव वर्णन किया है। उनके नाटकों में प्रमुख **ऋतुसंहार, रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, मालविकाग्निमित्र** एवं **अभिज्ञान-शाकुन्तलम्** हैं। उपरोक्त वर्णित साहित्यिक ग्रन्थों से गुप्तकालीन इतिहास, सभ्यता एवं संस्कृति की अच्छी जानकारी मिलती है।

विदेशी यात्रियों के वृतान्त–गुप्तकालीन इतिहास की संरचना में विदेशी यात्रियों के वृतान्त भी बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। इनमें प्रसिद्ध चीनी पर्यटक **फाहियान** का विवरण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसने पश्चिम में पुष्कलावती से लेकर पूर्व में ताम्रलिप्ति तक विभिन्न ऐतिहासिक केन्द्रों में रुककर स्थानीय प्रथाओं, धार्मिक विश्वास, जलवायु एवं वनस्पतियों का सुन्दर वर्णन किया है। **ह्वेनसांग, हर्ष** के समय सातवीं सदी में भारत आया था। उसने भी गुप्त-काल के बारे में प्रसंगवश कहीं-कहीं उल्लेख किया है। उसके अनुसार **नालन्दा विश्वविद्यालय** का संस्थापक कुमारगुप्त था। उसने **बुद्धगुप्त,** तथा **बालादित्य** तथा वज्र आदि गुप्त नरेशों का भी उल्लेख किया है। एक अन्य चीनी यात्री इत्सिंग जलमार्ग के द्वारा **श्रीविजय** होता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा। उसने भी नालन्दा-विश्वविद्यालय का वर्णन किया है। **अल्बेरूनी** का यात्रा-वृतान्त **'तहकीके हिन्द'** बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार हिन्दू कुशल दार्शनिक, ज्योतिष एवं खगोलशास्त्र के मर्मज्ञ एवं महान् गणितज्ञ थे। उसने काशी को हिन्दुओं का मक्का कहा है।

पुरातात्विक साधन–इसके अन्तर्गत अभिलेख, सिक्के, स्मारक, मुहर आदि आते हैं। अभिलेखों के अन्तर्गत स्तम्भलेख, शिलालेख तथा ताम्रलेख आते हैं।

नोट

अभिलेख—पुरातात्विक साधनों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान अभिलेखों का है। गुप्त-कालीन अभिलेख शिला, स्तम्भ एवं ताम्रपत्रों पर खुदे हुए हैं। मुहरों (Seals) एवं मुद्राओं पर उत्कीर्ण अभिलेख भी हमारी सहायता करते हैं। इन अभिलेखों से गुप्त-शासकों की वंशावली, उनके कृत्यों, उनकी दानशीलता एवं राजनीतिक निपुणता का पता चलता है। सरकारी अधिकारियों एवं प्रशासनिक व्यवस्था की भी जानकारी अभिलेखों से मिलती है। गुप्तकालीन अभिलेख सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अवस्था की भी जानकारी देते हैं। गुप्त अभिलेखों में सबसे महत्त्वपूर्ण समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति है। यह लेख कौशाम्बी में स्थित मौर्य-सम्राट अशोक के शिलास्तम्भ के निचले भाग में खुदा है। वर्तमान समय में वह स्तम्भ इलाहाबाद के किले में स्थित है। इस प्रशस्ति के लेखक हरिषेण थे। इसमें समुद्रगुप्त के जीवन की घटनाओं का वर्णन है। इसी अभिलेख से उसके 'दिग्विजय' की भी जानकारी प्राप्त होती है। इसी लेख में प्रथम गुप्त शासक श्रीगुप्त से लेकर समुद्रगुप्त तक के गुप्त राजाओं का भी नाम दिया गया है—**"श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य कुमारदेव्यां उत्पन्नस्य महाराजाधिराजस्य श्री समुद्रगुप्तस्य।"** इस अभिलेख से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार श्री गुप्त से लेकर समुद्रगुप्त तक राजा की उपाधि बढ़ती गयी। इस अभिलेख से शासन-व्यवस्था पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है।

अन्य महत्त्वपूर्ण गुप्त-कालीन अभिलेखों में समुद्रगुप्त की एरण प्रशस्ति, नालन्दा एवं गया अभिलेख, रामगुप्त का पूर्वी मालवा का अभिलेख, चन्द्रगुप्त द्वितीय का महरौली लौह-स्तम्भ लेख, मथुरा शिलालेख, प्रथम कुमारगुप्त का दामोदरपुर ताम्रलेख, मंदसौर शिला लेख, स्कंदगुप्त का भितरी स्तम्भ लेख, इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। इन अभिलेखों से गुप्त-नरेशों की राजनीतिक गतिविधियों की जानकारी मिलती है।

गुप्त अभिलेखों के अतिरिक्त समसामयिक नरेशों की प्रशस्तियों, उत्तर-गुप्तवंशी अभिलेखों तथा सामंतों के अभिलेख भी गुप्त-वंश के इतिहास की जानकारी के साधन हैं। ऐसे अभिलेखों में यशोधर्मन, तोरमाण एवं मिहिरकुल के अभिलेखों का नाम लिया जा सकता है। इनसे गुप्तों-हूणों के सम्बन्ध की जानकारी मिलती है।

राजनीतिक इतिहास के अतिरिक्त अभिलेखों से प्रशासनिक व्यवस्था का भी ज्ञान प्राप्त होता है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को **लोकधाम्नोदेवस्य**, अर्थात् पृथ्वी पर देवता कहा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में भी राजा की उत्पत्ति का दैवी-सिद्धान्त लोकप्रिय था। अभिलेखों से विभिन्न मंत्रियों, उनके विभागों, विभागाध्यक्षों, राजकीय पदाधिकारियों, करों के स्वरूप, प्रशासकीय इकाइयों इत्यादि की भी जानकारी मिलती है। सामाजिक-आर्थिक एवं धार्मिक अवस्था की जानकारी के लिए भी ये अभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं। 'वर्ण व्यवस्था' की चर्चा इन अभिलेखों में की गयी है। 'द्विजों' के अतिरिक्त कायस्थों का भी उल्लेख हुआ है। 'आश्रम व्यवस्था' की भी जानकारी इनसे मिलती है। कृषि एवं व्यापार आर्थिक अवस्था के आधार-स्तम्भ थे। 'श्रेणी' एवं 'निगमों' तथा भूमि-माप के आँकड़ों का जिक्र अभिलेखों में किया गया है। जमीन दान देने की चर्चा भी इनमें हुई है। शिव-पूजा, विष्णु-पूजा, अवतार की कल्पना, बौद्ध एवं जैन धर्म आदि के विषय में इन अभिलेखों से जानकारी मिलती है।

मुहर—मुहर भी गुप्तकालीन इतिहास की जानकारी के साधन हैं। गुप्तकालीन मुहरों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि तत्कालीन मुहरें प्रायः मिट्टी की बनायी जाती थीं। सिर्फ कुमारगुप्त द्वितीय की भीतरी राजमुद्रा अपवाद है। वह चाँदी की बनी हुई है। गुप्तकालीन अधिकांश मुहरें संस्कृत में लिखी गयी थीं। अधिकांश मुहरें वैशाली एवं नालन्दा से प्राप्त हुई हैं। इनमें कुछ मुहरें धार्मिक हैं तो कुछ पदाधिकारियों के, तो कुछ व्यक्तिगत। वैशाली की मुहरों में ध्रुवस्वामिनी की मुहर काफी प्रसिद्ध है। ध्रुवस्वामिनी (ध्रुवदेवी) चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी थीं। अधिकारियों की मुहरों में **कुमारामात्यधिकरण** शब्द का बार-बार प्रयोग किया गया है। मुहरों में अन्य पदाधिकारियों तथा **रणभाण्डागारिक, महादण्ड नायक, विनतस्थितिस्थापक** आदि का उल्लेख हुआ है। धार्मिक मुहरों से ब्राह्मण धर्म के प्रभुत्व का आभास मिलता है। **श्रेष्ठी, कुलिक** एवं सार्थवाहक का भी वर्णन मुहरों में किया गया है। वैशाली से दान-पात्र सम्बन्धी एक मुहर भी प्राप्त हुई है जिसे कुमारामात्य ने अंकित कराया था। नालन्दा से प्राप्त गुप्तकालीन मुहरें राजकीय वंशावली की भी चर्चा करती हैं। प्रथम कुमारगुप्त के बाद सिंहासन सम्बन्धी विवाद का वर्णन भी इनमें मिलता है। साथ ही कुमारगुप्त द्वितीय की नालन्दा मुहर में श्रीगुप्त से लेकर कुमारगुप्त तक की वंशावली का उल्लेख है। नालन्दा मुहर की विशेषता यह है कि इस प्रमाण के आधार पर ही विष्णुगुप्त का गुप्त वंशावली में स्थान स्थिर हो सका है।

नोट

सिक्के–गुप्तकालीन इतिहास की संरचना में सिक्के बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। गुप्त नरेशों के सिक्के सोने, चाँदी व ताम्र के बने हुए हैं तथा पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक विभिन्न स्थानों में मिले हैं। इससे उनके साम्राज्य विस्तार का पता चलता है। कुछ सिक्कों में विशेष घटनाएँ उत्कीर्ण हैं। उदाहरणस्वरूप एक स्वर्णमुद्रा के एक भाग पर चन्द्रगुप्त प्रथम और उसकी पत्नी कुमारदेवी का चित्र तथा दूसरे भाग में 'लिच्छवय:' शब्द उत्कीर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि इस काल में गुप्तों तथा लिच्छवियों में वैवाहिक सम्बन्ध कायम हुआ था। समुद्रगुप्त के एक सिक्के में अश्वमेध के घोड़े का चित्र अंकित है जो इस बात का प्रमाण है कि उसने अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के रजत सिक्के शक-सिक्कों के आदर्श पर ढाले गए थे, जिससे यह पता चलता है कि उसने शकों को पराजित किया था और शकारि की विरुद धारण की थी। समुद्रगुप्त को एक सिक्के में वीणा बजाते हुए दिखाया गया है जिससे उसके संगीत-प्रेमी होने का परिचय मिलता है। कुछ सिक्कों द्वारा गुप्त सम्राट व्याघ्र तथा सिंह का आखेट करते हुए प्रदर्शित किए गए हैं। सिक्कों द्वारा गुप्त-सम्राटों की शक्ति, समृद्धि तथा उनके विशाल साम्राज्य का परिचय मिल जाता है।

स्मारक–गुप्तकालीन स्मारकों में मन्दिर, स्तम्भ, मूर्तियाँ तथा गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। गुप्तकालीन मन्दिरों में नागोद राज्य स्थित भूमरा का शिव मंदिर, जबलपुर के निकट तिगवा का विष्णु मंदिर, अजयगढ़ राज्य के नचनाकुठार का पार्वती मन्दिर, देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, भीतरगाँव का ईंट-निर्मित मंदिर तथा लाड़खान मन्दिर उल्लेखनीय हैं। ये तत्कालीन वास्तुकला, उत्कीर्ण-भास्कर, धार्मिक विश्वास एवं प्रचलन के भव्य परिचायक हैं। मंदिरों में शिखर-निर्माण की परम्परा गुप्तकाल से प्रारम्भ होती है। देवगढ़ का दशावतार मंदिर इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कुमारगुप्त द्वितीय कालीन मंदसौर के लेख (मालव संवत् 529 = 372-72 ई.) से ज्ञात होता है कि मालवा के दशपुर का सूर्यमंदिर अपने उत्तुंग शिखर के लिए प्रसिद्ध था।

मौर्यकालीन स्तम्भों की भाँति गुप्तकालीन स्तम्भ भी प्राय: एक ही विशाल प्रस्तर खंड को तराश कर बनाए गए हैं। स्कन्दगुप्त-कालीन भीतरी-स्तम्भ और बुद्ध-कालीन एरण का गरुड़-स्तम्भ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। महरौली का लौह-स्तम्भ सदियों की धूप-वर्षा के बावजूद भी जंगमुक्त है। यह उस समय के उन्नत लौह-व्यवसाय का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अनेक वैष्णव, शैव, जैन तथा बौद्ध प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, जो समकालीन तक्षण-कला के उज्ज्वल पक्ष पर प्रकाश डालती हैं। इनसे गुप्त सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता का पता चलता है। कुमारगुप्त द्वितीय कालीन सारनाथ की बौद्ध प्रतिमा के अधोभाग में एक लेख उत्कीर्ण है। जिसके अनुसार गुप्त-संवत् 154 (423 ई.) में अभयमित्र नामक भिक्षु ने माता-पिता तथा गुरुओं के पुण्यार्जन के निमित्त इस मूर्ति की स्थापना की थी।

गुप्तकालीन गुहा-मन्दिर (चैत्य-गृह) प्रथम वर्गीय हैं। अत्यन्त निपुणता और धैर्य के साथ शिलाखण्ड तराश कर निर्मित ये गुफाएँ तत्कालीन तक्षण-कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें कुछ ब्राह्मण-गुहा और कुछ बौद्ध गुहा हैं। उदयगिरि की गुफा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-कालीन है। इसकी भीतरी दीवार के ऊपर एक लेख मिलता है जिसके अनुसार इसका निर्माण उसके संधिविग्रहिक सचिव वीरसेन ने शिव के प्रति भक्ति के कारण किया था। यह गुफा विशाल चट्टान को काट कर निर्मित की गई थी। इसके भीतर एक देवालय है जो ब्राह्मण गुहा-मन्दिर का प्राचीनतम उदाहरण है। बौद्ध गुफाओं के उदाहरण बाघ और अजन्ता नामक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। बाघ की गुफाएँ चट्टान-खंड को काटकर बनाई गई हैं। वे मठ के रूप में हैं जिनमें बौद्ध भिक्षुक रहते थे। उनके पूजा के लिए स्तूप (चैत्य) भी उनमें बने हुए थे। इसकी भीतरी दीवारों पर चित्रकारी भी हुई है। अजन्ता की गुफाएँ (संख्या 16, 17 एवं 19) गुप्तकालीन हैं। वे महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि इनमें गौतम बुद्ध एवं बोधिसत्व-प्रतिमाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। प्रधानत: ये अपनी चित्रकला के लिए विख्यात हैं।

गुप्त कौन थे ?

गुप्तों की जाति और उत्पत्ति को लेकर आज भी मतभेद बना हुआ है। कुछ इन्हें वैश्य मानते हैं, तो कुछ क्षत्रिय। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो गुप्तों को ब्राह्मण मानते हैं।

प्रो. एच.सी. राय चौधरी ने समुद्रगुप्त की पौत्री और वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय की पत्नी प्रभावती के पूना एवं स्थिपुर अभिलेखों के आधार पर गुप्तों को 'धारण' गोत्र का सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि

नोट

वे शुंग सम्राट अग्निमित्र की पत्नी जारिणी के वंशज थे। लेकिन प्रो. गोयल का कहना है कि ''किसी रानी के नाम का सम्बन्ध उसके समय से लगभग पाँच सौ वर्ष बाद साम्राज्य स्थापित करने वाले वंश के साथ जोड़ना कदापि तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता है।''

एलन महोदय गुप्तों को शूद्र मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्र था उसी प्रकार गुप्त शासक भी शूद्र थे। एलन का यह तर्क भी अकाट्य नहीं है। आजकल अधिकांश विद्वान चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय मानते हैं। इस विचार से गुप्त-शासक क्षत्रिय हुए, न कि शूद्र।

एलन के अतिरिक्त अन्य दूसरे विद्वान भी गुप्तों को शूद्र जाति का मानते हैं। ऐसे विद्वानों में डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल एवं बी.जी. गोखले ने उन्हें मौर्यों की ही तरह निम्नकुलोत्पन्न या शूद्र जाति का प्रमाणित करने की चेष्टा की है। डॉ. जायसवाल निम्न तर्कों के आधार पर गुप्तों को शूद्र साबित करते हैं।

(क) **कौमुदीमहोत्सव** नामक गुप्तकालीन नाटक में चन्द्रगुप्त प्रथम (चन्द्रसेन) को 'कारस्कर' बतलाया गया है और ऐसे नीच जाति के पुरुष को राजगद्दी के अयोग्य माना गया है। इसी नाटक में यह भी वर्णित है कि निम्न जाति में उत्पन्न होने के कारण चन्द्रसेन को गद्दी के लिए अयोग्य घोषित किया गया था।

(ख) डॉ. जायसवाल का दूसरा तर्क यह है कि **कौमुदीमहोत्सव** में गुप्तों का वैवाहिक सम्बन्ध लिच्छवियों के साथ स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। चूँकि लिच्छवि मलेच्छ थे अत: गुप्त भी शूद्र जाति के हुए। बी.जी. गोखले भी लिच्छवियों को 'व्रात्य क्षत्रिय' मानते हैं।

(ग) डॉ. जायसवाल ने 'धारण' गोत्र के आधार पर जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, गुप्तों को जाट भी माना है। **मंजुश्रीमूलकल्प** से भी गुप्तों के जाट होने का आभास मिलता है। डॉ. जायसवाल ने नेपाल में शासन कर रहे गुप्त राजाओं के इतिहास के पन्ने भी पलटे हैं, जिसमें उन राजाओं को 'अहीर' जाति से सम्बन्धित बतलाया गया है। डॉ. शर्मा भी गुप्तों को जाट मानते हैं। उनका कहना है कि 'धारण' गोत्र आज भी जाटों के बीच प्रचलित है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. फाहियान ..... के शासनकाल में भारत आया था।
2. स्कन्दगुप्त के शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भारत पर ..... की है।
3. स्मिथ ने ..... को भारत का नेपोलियन कहा है।

इस तरह उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर कुछ विद्वान गुप्तों को शूद्र, जाट या नीच वंश (जाति) में उत्पन्न मानते हैं। परन्तु इन तथ्यों में अधिक दम नहीं है। **कौमुदी महोत्सव** के 'कारस्कर' शब्द के आधार पर चन्द्रसेन को शूद्र नहीं माना जा सकता है। इस नाटक में पक्षपात का बहुत अधिक अंश है। चूँकि इस नाटक की रचना चन्द्रसेन के प्रतिद्वन्द्वी कल्याणवर्मन् के समय में हुई थी, अत: सम्भव है कि नाटककार ने अपने राजा का पक्ष लेते हुए चन्द्रसेन को निम्न कुल का दर्शाने का प्रयत्न किया हो ताकि चन्द्रसेन गद्दी का दावेदार नहीं हो सके। लिच्छवियों को मलेच्छ मानने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है बल्कि अधिकांश प्रमाण यह इंगित करते हैं कि लिच्छवि क्षत्रिय थे। **दीर्घनिकाय** से यह स्पष्ट हो जाता है कि लिच्छवि क्षत्रिय जाति के थे। पुन: 'धारण' शब्द साम्य अपभ्रंश प्रतिफल है और धारण 'धारि' दोनों शब्दों के मूलरूप भिन्न हैं। यह भी सम्भव हो सकता है कि विभिन्न जाति वालों के गोत्र समान रहते हों, क्योंकि प्राचीन काल में गोत्र निर्धारण बहुधा पुरोहितों के नाम पर हुआ करता था। अत: 'धारण' और 'धारि' की समानता एक-दूसरे से नहीं की जा सकती है या इस समानता के आधार पर गुप्तों को जाट नहीं माना जा सकता है। उन्हें शूद्र प्रमाणिक करने के लिए भी स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

अन्य कई विद्वान, जैसे, अनंत सदाशिव अल्तेकर, एस.के.ए. आयंगर, वी.वी. मिराशी इत्यादि गुप्तों को वैश्य मानते हैं। इन लोगों ने अपनी धारणा इन राजाओं की पदवी 'गुप्तों' के आधार पर व्यक्त की है। ब्राह्मण एवं बौद्ध ग्रन्थों

नोट

में अनेक ऐसे व्यक्तियों, शासकों, राजपुत्रों का उल्लेख हुआ है, जिनके नामों का अन्त 'गुप्त' से होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता है कि 'गुप्त' की उपाधि प्राचीनकाल में बहुधा वैश्य ही धारण करते थे। वस्तुत: गुप्तों का गोत्र 'धारण' वैश्यों से सम्बन्धित अग्रवालों का गोत्र था। इस प्रकार गुप्त शासक वैश्य जाति के थे। परन्तु जैसा प्रो. गोयल ने अपनी पुस्तक में दिखलाया है कि ''प्राचीन काल में गुप्त नामान्त व्यक्ति सभी जातियों में पाए जाते थे।'' उदाहरणस्वरूप अर्थशास्त्र का लेखक विष्णुगुप्त एवं सुप्रसिद्ध खगोलशास्त्री ब्रह्मगुप्त ब्राह्मण जाति के थे। इसी प्रकार मृच्छकटिक का कुमार गुप्तायक क्षत्रिय था। अत: इस आधार पर ही गुप्तों को वैश्य की श्रेणी में रखना उचित प्रतीत नहीं होता है।

अन्य विद्वानों ने गुप्त-राजाओं को क्षत्रिय जाति का प्रमाणिति करने का प्रयास किया है। इसके प्रतिपादकों में गौरीशंकर हीरानन्द ओझा एवं सुधारक चट्टोपाध्याय जैसे विद्वान प्रसिद्ध हैं। आजकल यह मत बहुत अधिक प्रचलित है। इनका निम्नलिखित तर्क है–

(क) **कौमुदीमहोत्सव** नाटक में मगध के शासक सुन्दरवर्मन को क्षत्रिय स्वीकार किया गया है। इसी राजा ने चन्द्रसेन को अपना दत्तक पुत्र बनाया था। भारतीय परम्परा के अनुसार ज्यादातर स्वाजातीय को ही दत्तक पुत्र बनाया जाता है। अत: यह सम्भव है कि चन्द्रसेन क्षत्रिय जाति का ही रहा हो। इस दृष्टिकोण से चन्द्रसेन या चन्द्रगुप्त प्रथम क्षत्रिय था अत: गुप्त शासक भी क्षत्रिय ही थे।

(ख) यद्यपि गुप्त नरेशों ने अपने अभिलेखों में अपनी जाति का उल्लेख नहीं किया है और न ही सामयिक ग्रन्थों में इस पर प्रकाश डाला गया है; परन्तु परवर्ती गुप्त अभिलेखों से इस विषय की कुछ जानकारी मिलती है। उदाहरणार्थ मगध प्रदेश के एक गुप्तवंशीय राजा महाशिवगुप्त को सिरपुर (रायपुर) अभिलेख में चन्द्रवंशीय क्षत्रिय कहा गया है। पंचोभ (बिहार) ताम्रपत्र-अभिलेख में भी गुप्त नामक उपाधि वाले 6 राजाओं का उल्लेख मिलता है। वे अपने को शैव मतावलम्बी एवं अर्जुन (क्षत्रिय) का वंशज मानते हैं।

(ग) धारवाड़ (महाराष्ट्र) के गुत्तल नरेश अपने को चन्द्रगुप्त द्वितीय का वंशज मानते हैं। इन्हें सोमवंशी क्षत्रिय बतलाया गया है। इस आधार पर गुप्तों को भी क्षत्रिय माना जा सकता है। इसकी पुष्टि **मंजुश्रीमूलकल्प** से भी होती है।

(घ) जावा के एक ग्रन्थ **तंत्री-कामन्दक** में इक्ष्वाकुवंशीय महाराज ऐश्वर्यपाल अपने को समुद्रगुप्त के परिवार से संबंधित बतलाते हैं।

(ङ) गुप्त-शासकों के नागों, लिच्छवियों और वाकाटकों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि गुप्त राजा **क्षत्रियवंशी** थे, क्योंकि इन वंशों की क्षत्रियता प्रामाणिक है और ऐसा स्पष्ट है कि उस समय प्रतिलोम विवाह को निन्दनीय समझा जाता था। अत: कोई ऐसा कारण नहीं था कि नाग और लिच्छवि शासक अपनी पुत्रियों का विवाह निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्तियों से करते। यद्यपि वाकाटक ब्राह्मण राजकुमार का प्रभावती गुप्त के साथ विवाह होना अनुलोम विवाह का एक ज्वलंत उदाहरण है फिर भी इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि ब्राह्मणवंशीय वाकाटक राजाओं ने क्षत्रियों से भी निम्न गुप्तों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध कायम किए। इस प्रकार गुप्तों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि गुप्त क्षत्रिय जाति के थे।

प्रो. गोयल उपरोक्त वर्णित तर्कों को मानने से इन्कार कर देते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि अभिलेखों में क्षत्रिय शासकों के गुप्तों से सम्बन्ध का जिक्र मिलता है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि गुप्त भी क्षत्रिय ही थे। उसी प्रकार गुप्तों की विवाह संधियों से सिर्फ इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त क्षत्रिय से निम्न वर्ग के नहीं थे। इससे उनके वैश्य या शूद्र होने की सम्भावना तो बिल्कुल ही समाप्त हो जाती है, परन्तु उनके ब्राह्मण होने की सम्भावना बढ़ जाती है। अत: प्रो. गोयल का कहना है कि गुप्त-शासक ब्राह्मण जाति के थे। उनका कहना है कि स्कन्द-पुराण में धर्मारण्य प्रदेश (पूर्वी उत्तर प्रदेश, मिर्जापुर) में रहने वाले धारण गोत्रीय ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। चूँकि गुप्त भी पूर्वी उत्तर-प्रदेश के रहने वाले थे एवं उनका गोत्र **'धारण'** था, अत: वे ब्राह्मण थे। इस सन्दर्भ में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि किसी प्रारम्भिक गुप्त शासक ने कदम्ब नरेश **काकुत्स्थ वर्मा** की पुत्री से विवाह

नोट

किया था। इसकी जानकारी शान्ति वर्मा (कदम्ब राजा) के **तालगुण्ड-अभिलेख** से मिलती है। चूँकि कदम्ब ब्राह्मण जाति के थे, अत: उन्होंने ब्राह्मणों के ही साथ अपनी पुत्री का विवाह किया होगा। गुप्त शासकों ने अपनी पुत्रियों का विवाह ब्राह्मणों के साथ किया था। जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। वालादित्य एवं भानुगुप्त ने भी अपनी बहनों का विवाह ब्राह्मण से किया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त शासक ब्राह्मण जाति के थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न विद्वानों द्वारा उपलब्ध प्रमाणों को अपने-अपने ढंग से व्यवहार में लाया गया है। अपने-अपने तर्कों के आधार पर किसी न किसी तरह से समाज के चारों वर्णों के साथ गुप्तों का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। अत: इस सम्बन्ध में एक ठोस निष्कर्ष पर पहुँचना मुश्किल है।

गुप्तों का मूल निवास स्थान

गुप्तों की जाति के ही समान उनके मूल निवास स्थान के विषय में भी विद्वानों में काफी मतभेद है। इत्सिंग (I-tsing) के विवरण के आधार पर अनेक विद्वानों का कहना है कि गुप्तों का आदि स्थान मगध था। इत्सिंग का कहना है कि **चे-लि-कि-तो** नामक राजा (श्रीगुप्त) ने मृगशिखावन (सारनाथ) के समीप चीनी यात्रियों के लिए एक मन्दिर का निर्माण करवाया तथा उसके प्रतिपालन के लिए चौबीस ग्राम दान में दिए। यह राजा चूँकि चीनी यात्री से बोध गया में मिला था, अत: ऐसा कहा जाता है कि वह मगध का शासक था। परन्तु इस बात से उसके मगध के शासक होने का प्रमाण नहीं मिलता है। इससे तो इसी बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि उसका शासन पूर्वी उत्तर प्रदेश में था क्योंकि उसने बनारस के पास एक मन्दिर का निर्माण करवाया था।

मुद्राओं एवं अभिलेखों के प्राप्ति स्थान से भी इस सम्भावना की पुष्टि होती है। चन्द्रगुप्त प्रथम की अधिकांश मुद्राएँ उत्तर प्रदेश के अयोध्या, लखनऊ, सीतापुर, टांडा, गाजीपुर एवं बनारस आदि स्थानों में प्राप्त हुई हैं। बिहार से सिर्फ एक मुद्रा मिली है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुप्त स्वर्ण-मुद्राएँ अधिकांश पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही मिली हैं। इससे यह साफ जाहिर होता है कि प्रारम्भिक गुप्त-सम्राटों का पूर्वी उत्तर प्रदेश के साथ अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था।

अभिलेखीय प्रमाणों से भी इसी बात का संकेत मिलता है कि गुप्तों का निवास स्थान पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही था। प्रारम्भ से लेकर स्कन्दगुप्त के काल तक के 15 अभिलेखों में से 8 पूर्वी उत्तर प्रदेश से मिले हैं। बिहार में सिर्फ दो अभिलेख (समुद्रगुप्त का गया एवं नालन्दा ताम्रपत्र अभिलेख) मिले हैं, इनकी विश्वसनीयता भी संदेहास्पद है। बिहार और बंगाल (5) में मिले अभिलेख दानपत्र हैं, जबकि अन्य महत्त्वपूर्ण अभिलेख (प्रयाग प्रशस्ति) पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही मिले हैं।

पुराणों में मिलने वाली गुप्तवंश सम्बन्धी सूचनाओं से भी सिद्ध होता है कि गुप्त पूर्वी उत्तर प्रदेश के ही थे। **वायुपुराण** के अनुसार ''गुप्तवंशीय नरेश अनुगंगा, प्रयाग, साकेत और मगध को भोगेंगे।'' **विष्णुपुराण** में भी कहा गया है कि ''अनुगंगा प्रयाग मागधागुन्तापश्च भौक्ष्यन्ति'', अर्थात् प्रयाग तक विस्तृत गया के तटवर्ती प्रदेश को मागध और गुप्त भोगेंगे, इसमें गुप्तों और लिच्छवियों के संयुक्त राज्य का वर्णन है और लिच्छवियों को मागध कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश का प्रयाग तक विस्तृत भूखण्ड और मागधों के साह-शासक होने की वजह से मगध और प्रयाग—दोनों प्रदेश इस संयुक्त राज्य के अंग थे। अत: गोयल महोदय का कहना है कि गुप्तादिराज्य मगध के पश्चिम में था और उसका केन्द्र प्रयाग था।

8.2 गुप्त वंश का उदय (Rising of Gupta's Dynasty)

गुप्त वंश के प्रारम्भिक इतिहास का बहुत कम ज्ञान है। पुराणों के अनुसार गुप्तों का उदय प्रयाग और साकेत के बीच सम्भवत: कौशाम्बी में लगभग तीसरी शताब्दी के अन्त में हुआ था। कहा जाता है कि इस राजवंश का संस्थापक श्रीगुप्त था।

नोट

श्रीगुप्त–प्रभावती गुप्त के पूना ताम्रपत्र अभिलेख में श्रीगुप्त को 'गुप्त वंश का आदिराज' बताया गया है। ऋद्धापुर ताम्रपत्र अभिलेख में कहा गया है कि श्रीगुप्त धारण गोत्र का था। डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसार हम अस्थायी रूप से गुप्त वंश के श्रीगुप्त को ईत्सिंग द्वारा वर्णित महाराज श्रीगुप्त मान सकते हैं। ईत्सिंग का बताया हुआ मन्दिर मगध में नहीं बल्कि उत्तरी या केन्द्रीय बंगाल की पश्चिमी सीमाओं पर स्थित था। श्रीगुप्त के राज्य में बंगाल का कुछ भाग सम्मिलित रहा होगा।

गुप्त आलेखों में 'महाराज' की उपाधि श्रीगुप्त और घटोत्कच दोनों के लिए प्रयोग की गई है। यह उपाधि आमतौर पर सामन्तों द्वारा प्रयोग की जाती थी। यह सुझाव दिया गया है कि प्रारम्भिक गुप्त राजा मुरूण्डों के अधीन शासक थे, किन्तु इसका कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

घटोत्कच–घटोत्कच को गुप्त आलेखों में श्रीगुप्त का पुत्र तथा उत्तराधिकारी बताया गया है। किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त के दो अभिलेखों में घटोत्कच को प्रथम गुप्त राजा कहा गया है। घटोत्कच किस प्रकार गुप्त वंश का संस्थापक समझा जाने लगा, यह बताना सम्भव नहीं है। किन्तु राजवंश के घटोत्कच को वैशाली से प्राप्त कुछ मुहरों में उल्लिखित घटोत्कच गुप्त समझना ठीक नहीं है। घटोत्कच गुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में उस प्रान्त का प्रमुख था जिसकी राजधानी वैशाली थी। यह उल्लेखनीय है कि उसे 'महाराज' न कह कर केवल 'कुमारामात्य' ही कहा गया है।

चन्द्रगुप्त प्रथम–इस वंश का तीसरा राजा चन्द्रगुप्त प्रथम शक्तिशाली शासक हुआ। उसने **'महाराजाधिराज'** की उपाधि धारण की। इससे स्पष्ट होता है कि वह अन्य दो राजाओं की तरह अधीनस्थ शासक न होकर एक स्वतंत्र शासक बन बैठा। इससे गुप्तों की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इससे यह भी आभास मिलता है कि इस राजा ने अपने राज्य का भी विस्तार किया होगा। कहा जाता है कि उसने एक सम्वत् भी चलाया था, जो 20 दिसम्बर 318 ई. अथवा 26 फरवरी 320 ई. से प्रारम्भ होता है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि यह सम्वत् चन्द्रगुप्त प्रथम ने नहीं, अपितु समुद्रगुप्त ने चलाया था।

लिच्छवि राजकुमारी से विवाह–चन्द्रगुप्त के जीवन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उसका लिच्छवि-राजकुमारी **कुमारदेवी** से विवाह करना था। इस वैवाहिक सम्बन्ध का प्रमाण चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी की मुद्राओं, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा परोक्षता पुराणों से मिलती है। ये सिक्के किसी समय चन्द्रगुप्त के लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह की स्मृति में जारी किये गये थे। इन सिक्कों पर एक तरफ चन्द्रगुप्त प्रथम तथा लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी का चित्र अंकित है, तो दूसरी ओर सुख एवं सम्पन्नता की देवी लक्ष्मी की मूर्ति विद्यमान है। प्रयाग प्रशस्ति में भी समुद्रगुप्त को 'लिच्छवि दौहित्र' कहा गया है। राजनीतिक दृष्टिकोण से गुप्त इतिहास में इस वैवाहिक सम्बन्ध का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस वैवाहिक सम्बन्ध के पश्चात् ही गुप्त वंश का वैभव बढ़ा था। डॉ. वी.ए. स्मिथ का मत है कि लिच्छवि-वंशी शासक पाटलिपुत्र में कुषाणों के सामन्त के रूप में राज्य करते थे और चन्द्रगुप्त ने उनसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके अपने पत्नी के सम्बन्धियों का यह अधिकार प्राप्त कर लिया। फलस्वरूप चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र का शासक बन गया। अल्तेकर महोदय के विचारानुसार इस विवाह के परिणामस्वरूप लिच्छवि और गुप्त राज्य संयुक्त हो गए थे। इससे लिच्छवियों को गुप्तों के बराबर प्रतिष्ठा मिली और उनकी राजकुमारी कुमारदेवी केवल चन्द्रगुप्त की रानी होने के कारण ही नहीं वरन् राज्याधिकारिणी शासिका होने के कारण 'महादेवी' कहलायी। कुछ विद्वान इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं कि कुमारदेवी राज्य की उत्तराधिकारिणी थी। प्रो. गोयल ने यह सुझाव दिया है कि कुमारदेवी लिच्छवि राज्य की उत्तराधिकारिणी नहीं थी। इसलिए वह संयुक्त-राज्य की सहशासिका भी नहीं थी। लिच्छवि राज्य का विधि सम्मत अधिकारी उसका पुत्र समुद्रगुप्त था। लेकिन यह अनायास माना जा सकता है कि कुमारीदेवी के पिता जो घटोत्कच का समकालीन था, की मृत्यु 319 ई.पू. के आस-पास ही हुई होगी। उस समय समुद्रगुप्त के अल्पायु होने के कारण लिच्छवि राज्य का शासन-भार कानूनन नहीं तो कम-से-कम व्यावहारिक रूप में चन्द्रगुप्त ने ही सम्भाला होगा।

साम्राज्य विस्तार–चन्द्रगुप्त प्रथम की विजयों का कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु विद्वानों ने पौराणिक एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर उसके राज्य की सीमा निश्चित करने का प्रयास किया है। **इतिहासकार स्मिथ** के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम का अधिकार तिरहुत, दक्षिण बिहार, अवध तथा इसके सभी पर्वतीय प्रदेशों पर था। **वायुपुराण** से पता चलता है कि गुप्त के वंशज अनुगंगा, प्रयाग, साकेत तथा मगध पर राज्य करेंगे। इस उक्ति से इन जगहों पर

नोट

चन्द्रगुप्त के अधिकार का आभास मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार वैशाली पर भी चन्द्रगुप्त का अधिकार था, परन्तु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त ने **शकों** अथवा **कुषाणों** को हराया और मगध को उनके चंगुल से मुक्त किया किन्तु अन्य लेखक इस मत को स्वीकार नहीं करते। कुछ का कहना है कि पाटलिपुत्र चन्द्रगुप्त का पैतृक राज्य था तथा चन्द्रगुप्त व कुमारदेवी के विवाह से गुप्तों और लिच्छवियों के राज्य एक हो गये।

आर. डी. बनर्जी का भी कहना है कि चन्द्रगुप्त ने उत्तर भारत में कुषाणों के विरुद्ध स्वतंत्र संग्राम का नेतृत्व किया था। काशी प्रसाद जायसवाल ने कौमुदीमहोत्सव नाटक के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि चन्द्रगुप्त ने मगध नरेश सुन्दरवर्मा की हत्या कर मगध पर अधिकार कर लिया था। आर. जी. वसाक और एस. के. आयंगर जैसे विद्वान तो उसे **महरौली अभिलेख** का शासक 'चन्द्र' भी प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं। लेकिन इसके लिए स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है।

प्रमाणों के आधार पर यह पता चलता है कि अपने जीवन के अंतिम समय में चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। प्रयाग प्रशस्ति में **हरिषेण** कहता है कि चन्द्रगुप्त ने, जिसके रोम प्रसन्नता से खड़े हुए थे और नेत्रों में हर्ष के अश्रु थे, समुद्रगुप्त को 'तुम सर्वश्रेष्ठ हो' कहकर गले लगा लिया और उससे समस्त पृथ्वी पर शासन करने का अनुरोध किया। चन्द्रगुप्त द्वारा समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी मनोनीत करने की बात की पुष्टि **एरण अभिलेख** एवं रिथपुर दान शासन से भी होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम ही गुप्तों का पहला महत्त्वपूर्ण शासक हुआ। उसके समय से ही गुप्तों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ने लगा और वे सम्पूर्ण भारत के स्वामी बन गये। समुद्रगुप्त के गया-ताम्रलेख के अनुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु लगभग 328 ई. में हुई।

8.3 समुद्रगुप्त : सिंहासनारोहण, विजय और साम्राज्य का संगठन (Samudragupta : Crowned, Victory and Organization of Kingdom)

जानकारी के साधन—समुद्रगुप्त की विजयों, राज्य विस्तार तथा चरित्र के सम्बन्ध में हमें जानकारी के पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं। उसके दो शिलालेखों तथा दो ताम्रलेखों का विशेष महत्त्व है। सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है, इलाहाबाद के अशोक के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त का उत्कीर्ण लेख। इसमें उस समय की देश की राजनीतिक दशा तथा समुद्रगुप्त की सफलताओं और व्यक्तित्व का विस्तृत वर्णन है। यह एक प्रशस्ति है जिसकी रचना सम्राट के उच्च पदाधिकारी हरिषेण ने की थी। इसके अतिरिक्त एरण अभिलेख, रघुवंश आर्यम-श्रीमूलकल्प तथा मुद्राओं इत्यादि से भी इन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। पर इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयाग प्रशस्ति ही है।

समुद्रगुप्त का सिंहासनारोहण—इलाहाबाद के लेख से प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त अपने पिता का सबसे बड़ा पुत्र न था, किन्तु उसके चरित्र-बल तथा योग्यता के कारण चन्द्रगुप्त ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी चुना। दरबार के सामने राजा ने नेत्रों में आँसू भरकर अपने पुत्र से कहा, "तुम योग्य हो, इस सारी पृथ्वी पर शासन करो।" कवि लिखता है कि इस घोषणा से दरबारियों को बहुत प्रसन्नता हुई, किन्तु अन्य लोगों को जो समुद्रगुप्त के प्रतिद्वन्द्वी थे और स्वयं सिंहासन प्राप्त करने के इच्छुक थे, बहुत डाह हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त ने अपने अन्तिम दिनों में राज्य त्याग दिया था और अपने जीवनकाल में ही समुद्रगुप्त को सिंहासन पर बिठा दिया था। अन्य विद्वानों के मतानुसार समुद्रगुप्त पिता की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा।

विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि समुद्रगुप्त के भाइयों ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया और सबसे बड़े भाई काच को सिंहासन पर बिठा दिया। काच नाम के राजा के कुछ सिक्के मिले हैं जो समुद्रगुप्त के सिक्कों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। किन्तु एलन तथा अन्य विद्वानों का मत है कि "काच सम्राट का ही मूल नाम था, बाद मे अपनी विजयों के उपलक्ष्य में उसने समुद्रगुप्त नाम धारण किया।"

इस बात का भी अनुमान लगाया गया है कि समुद्रगुप्त के सिंहासन पर बैठने के समय राज्य में कुछ गड़बड़ी फैल गयी थी। पड़ोस के राजाओं ने उसके उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं किया और अनेक राजाओं ने मिलकर उस पर

नोट

आक्रमण भी किया, किन्तु समुद्रगुप्त सब आपत्तियों पर विजयी हुआ और शीघ्र ही उसने अपनी स्थिति को दृढ़ कर लिया।

जहाँ तक समुद्रगुप्त के राज्यारोहण का प्रश्न है इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ लेखकों के अनुसार वह 340 तथा 350 ई. के बीच किसी समय सिंहासन पर बैठा। अन्य विद्वान उसके सिंहासनारोहण की तिथि 325 और 335 ई. के बीच मानते हैं। सम्भवत: वह चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् 328 ई. या 330 ई. में गद्दी पर बैठा और 380 ई. के लगभग तक शासक बना रहा।

समुद्रगुप्त की विजयें–जिस समय महान् शासक समुद्रगुप्त, जिसे विद्वानों ने 'भारतीय नेपोलियन' की उपाधि से विभूषित किया है, गद्दी पर बैठा उस समय भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त ही डावांडोल थी। नाग तथा वाकाटक राजाओं के दबाव के कारण गंगा-यमुना दोआब में महान कुषाणों की शक्ति नष्ट हो चुकी थी, किन्तु पश्चिमी पंजाब तथा सीमान्त प्रदेश अब भी उनके अधिकार में थे। इस क्षेत्र में (पूर्वी एवं दक्षिणी पंजाब) भी अन्य कई स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। लगभग यही अवस्था मध्य भारत में भी थीं। बुन्देलखंड तथा विन्ध्य के दुर्गम प्रदेशों में स्वतन्त्र जातियों का निवास था जो स्थानीय सामन्तों के अधिकार में थीं। देश के अन्य भागों में भी स्वतंत्र शासक थे। इस प्रकार देश विभिन्न राजनीतिक इकाइयों में विभक्त था। देश में किसी केन्द्रीय शक्ति का सर्वथा अभाव था। इस समय की राजनीतिक अवस्था बहुत कुछ मौर्य-साम्राज्य के पतन के समय की अवस्था के समान थी। एक महत्त्वाकांक्षी सम्राट होने के कारण समुद्रगुप्त इस अवस्था को समाप्त कर एक सुसंगठित साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। इसके लिए उसने दिग्विजय की नीति अपनाई। प्रयाग प्रशस्ति से इस पर प्रकाश पड़ता है। समुद्रगुप्त की विजयों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) आर्यावर्त (उत्तरी भारत) (2) आटविक राज्य (3) दक्षिण भारत के राज्य (4) सीमान्त राज्य एवं (5) गणराज्य।

(1) आर्यावर्त की विजय–प्राचीन काल में विन्ध्यपर्वत तथा हिमालय के बीच का प्रदेश 'आर्यावर्त' के नाम से विख्यात था। इन्हें उत्तरी भारत के राज्य भी कहा जाता है। आर्यावर्त की विजय के सिलसिले में समुद्रगुप्त ने नौ प्रमुख राज्यों को पराजित कर उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार उसने उत्तरी भारत में एकछत्र राज्य की स्थापना की। प्रयाग प्रशस्ति में 'आर्यावर्त' के इन राजाओं के नामों का तो उल्लेख है पर इनके राज्य की सीमा नहीं बतलाई गयी है। इन राजाओं के नाम थे–**रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दि एवं बलवर्मा।**

इन नौ राजाओं की पहचान विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। **रैप्सन** महोदय का विचार है कि ये राजा **विष्णुपुराण** में वर्णित **नव नाग नरेश** हैं। इन नागवंशी नरेशों ने एक सम्मिलित राज्य स्थापित किया था जिन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित कर अपने राज्य में मिला लिया था। परन्तु इस मत को समर्थन प्राप्त नहीं है। सच तो यह है कि ये शासक विभिन्न स्थानों पर राज्य करते थे। इतिहासकार जायसवाल तथा दीक्षित महोदय रुद्रदेव को वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम मानते हैं यद्यपि बहुत से विद्वान उस समीकरण से संतुष्ट नहीं हैं। **मतिल** के विषय में अभी तक कोई मत निश्चित नहीं हो सका है। इतिहासकार इसे उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर के समीप का शासनकर्ता मानते हैं, जहाँ पर इसकी नामांकित मुहर मिली है। एलन इस मत से सहमत नहीं हैं। साथ ही काशी प्रसाद जायसवाल इसे अन्तरदेवी में शासन करने वाला नागवंशी शासक मानते हैं। **नागदत्त** की बहुत सी मुद्राएँ मथुरा के निकट प्राप्त हुई हैं। इस आधार पर विद्वान 'नागदत्त' को मथुरा के निकटवर्ती प्रदेश का शासक मानते हैं, परन्तु डॉ. जायसवाल इसे भी नाग-राजा ही मानते हैं। चन्द्रवर्मन की पहचान भी अनिश्चित है। सूसूनिया (बांगलादेश, बांकुड़ा) से प्राप्त शिलालेख में इसे 'पुष्करण' का शासक बतलाया गया है। इस पुष्करण को हरप्रसाद शास्त्री मारवाड़ का पोकरण तथा चन्द्रवर्मन को मारवाड़ का शासक बतलाते हैं। परन्तु डॉ. भण्डारकर एवं डॉ. चटर्जी इसे स्वीकार नहीं करते हैं। जायसवाल तो इसे पूर्वी पंजाब का शासक मानते हैं। इस प्रकार इस राजा के विषय में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। गणपति नाग नागवंशी राजा था। यह नागों की राजधानी पद्मावती (ग्वालियर के निकट पद्म-पवाया) का शासक था। डॉ. भण्डारकर के अनुसार सम्भवत: यह नागों की विदिशा शाखा पर शासन करता था जिसका उल्लेख विष्णुपुराण में किया गया है।

नोट

इस राजा के सिक्के मारवाड़ तथा बेसनगर के समीप प्राप्त हुए हैं। नागसेन भी नागवंशी राजा था। वह नागों की दूसरी शाखा का राजा था और सम्भवत: मथुरा का शासक था। कुछ विद्वान इसे हर्षचरित में वर्णित नागसेन भी मानते हैं जो उचित नहीं है। अच्युत के समीकरण में भी बहुत मतभेद है। जायसवाल अच्युत तथा नन्दि को एक मानते हैं तथा उसे अहिच्छत्रा (बरेली, उ. प्र.) का शासक स्वीकार करते हैं। अन्य विद्वानों की धारणा है कि अच्युत भी कोई नागवंशी शासक ही था और वह अहिच्छत्रा का शासक था। नन्दि भी नाग-राजा ही था। इसके राज्य की सीमा निश्चित नहीं है। बलवर्मा प्रयाग प्रशस्ति की 'आर्यावर्त' सूची का अंतिम शासक है। इसके सम्बन्ध में विद्वानों की कोई निश्चित धारणा नहीं है। कुछ विद्वान् इसे हर्षवर्द्धन के समकालीन आसाम के राजा प्रभाकरवर्मन् का पूर्वज मानते हैं जो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। इन सभी राजाओं को पराजित कर समुद्रगुप्त ने इन पर अपना अधिकार कायम कर लिया तथा अपने साम्राज्य की सीमा काफी विस्तृत कर ली।

(2) आटविक राज्य—उत्तरी भारत के शासकों को पराजित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने अपना ध्यान दक्षिण भारतीय राज्यों की तरफ दिया। परन्तु दक्षिण विजय के पूर्व उसे **आटविक नरेशों** को पराजित करना आवश्यक हो गया। कारण दक्षिण जाने के लिए मध्य भारत के विस्तृत घने जंगलों से ही उसे गुजरना पड़ता। प्रयाग-प्रशस्ति में कहा गया है, **'परिचारिकीकृत सर्वाटविकराजस्य'।** उसने आटविक राजाओं को जीता तथा उन्हें अपना सेवक बनाया। एरण की प्रशस्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है। **फ्लीट** के अनुसार आटविक नरेश गाजीपुर से लेकर जबलपुर तक फैले हुए थे। परिव्राजक वंश के एक राजा के एक शिलालेख से पता चलता है कि आटविक-राज्यों की संख्या 18 थी। इस क्षेत्र को **महाकान्तार** भी कहा गया है, जिसे डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी मध्य भारत का जंगल मानते हैं और रायदास जी जबलपुर से छोटानागपुर तक झारखण्ड का क्षेत्र। इन राजाओं को परास्त करने के बाद ही वह दक्षिणापथ की ओर बढ़ा।

(3) दक्षिण भारत की विजय—मध्य भारत को पारकर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ पर आक्रमण किया तथा वहाँ के राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर लिया। प्रयाग प्रशस्ति में इन शासकों का उल्लेख कया गया है। डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार इन दक्षिणी नरेशों ने संयुक्त होकर **कोलेरू** तालाब के किनारे समुद्रगुप्त का मार्ग रोककर उसके साथ युद्ध किया। इन राजाओं का नेतृत्व **मन्तराज** तथा **विष्णुगोप** कर रहे थे। यह युद्ध 345-46 ई. के लगभग हुआ था। परन्तु अनेक अन्य विद्वानों की धारणा है कि दक्षिणी नरेशों के साथ अलग-अलग स्थानों पर युद्ध हुए। इस युद्ध में दक्षिण के राजा पराजित हुए तथा उन लोगों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली। दक्षिणापथ के पराजित राजाओं की नामावली इस प्रकार है—

कोशल का महेन्द्र (महाकोशल, विलासपुर, रायपुर और सम्बलपुर के जिले)—इस कोशल को दक्षिण कोशल कहते हैं जिसकी राजधानी श्रीपुर (रायपुर) थी।

महाकान्तार व्याघ्रराज—व्याघ्रराज महाकान्तार का शासक था। महाकान्तार विस्तीर्ण जंगलों के लिए प्रयुक्त होता है।

केरल का मन्तराज (कोशल का मन्तराज)—दक्षिण भारत का कोराड़ अथवा सोनपुर का प्रदेश जिसकी राजधानी महानदी के तीर पर ययातिनगरी थी। कोलहर्ण के अनुसार यह प्रदेश गोदावरी तथा कृष्णा के बीच कोलेरुकासार था। सम्भवत: यह प्रान्त उड़ीसा तथा मद्रास के बीच था।

पैष्टपुरक-महेन्द्रागिरि-कौट्टुर का स्वामिदत्त—पिष्टपुर, महेन्द्रगिरि और कौट्टुर का शासक स्वामिदत्त था। पिष्टपुर को कुछ लोग कलिंग प्रदेश का प्रधान नगर मानते हैं। महेन्द्रगिरि तथा कोट्टुर गंजाम जिले में हैं।

एरण्डपल्ल का दमन—यह स्थान गंजाम जिले में चिकाकोल के समीप एरण्डपल्ली में है। दमन के सम्बन्ध में कुछ जानकारी नहीं है।

कांचेय का विष्णुगोप—विष्णुगोप कांची का शासक था। मद्रास के निकट कांजीवरम् ही कांची है।

आवमुक्त का नीलराज—इसकी राजधानी गोदावरी के निकट पिथुंडा थी।

बैंगेय का हस्तिवर्म—हस्तिवर्म बेंगी का राजा था। यह स्थान सम्भवत: एलेर में पेडवेगी से मिलता है।

पल्लक का उग्रसेन—राजा उग्रसेन पल्लक का शासक था। यह स्थान नेलोर जिले में है। कुछ लोग इसे कृष्णा जिले में मानते हैं।

नोट

दैवराष्ट्र का कुबेर–राजा कुबेर दैवराष्ट्र स्थान का था। यह स्थान विजगापट्टम् जिले का एलमंचि है। यह आन्ध्र प्रदेश में था।

कोस्थलपुर का धनंजय–कोस्थलपुर का शासक धनंजय था। यह स्थान उत्तर आरकट का कुट्टलुर है।

(4) सीमान्त राज्य–दक्षिण भारतीय नरेशों को पराजित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने सीमान्त शासकों (प्रत्यम नृपतियों) को अपने अधीन किया। ऐसे राजाओं की दो श्रेणियों का उल्लेख इलाहाबाद अभिलेख में किया गया है। इनमें से पाँच विभिन्न प्रदेशों के शासक थे जिनके लिए 'नृपति' (राजा) शब्द का व्यवहार किया गया है। इसके अतिरिक्त नौ अन्य राज्यों का भी नाम मिलता है जो गणराज्य थे। इस अभियान के अन्तर्गत समुद्रगुप्त ने उत्तर और पूरब के राजाओं तथा पश्चिम में नौ गणराज्यों को पराजित कर अपने अधीन किया। इन सीमांत शासकों के नामों का उल्लेख तो प्रशस्ति में नहीं किया गया है परन्तु इनके राज्यों के नामों का जिक्र अवश्य मिलता है।

ऐसे राजतंत्रात्मक राज्यों में ***(i)* समतट *(ii)* दवाक *(iii)* कामरूप *(iv)* नेपाल *(v)* कर्तृपुर** के राज्य थे। समतट पूर्वी बंगाल का (बंगला देश) समुद्री तट का प्रदेश था। यह गंगा तथा ब्रह्मपुत्र के मध्य में स्थित था। इसकी राजधानी कर्मान्त थी। दवाक में बोगरा, दीनाजपुर तथा राजशाही (थंगलादेश) के जिले सम्मिलित थे। कामरूप (आसाम) प्राग्ज्योतिषपुर के राज्य का एक भाग था। नेपाल का तत्कालीन शासक संभवत: जयदेव प्रथम था। यद्यपि इसके नाम का उल्लेख अभिलेख में नहीं हुआ है परन्तु इसी समय से नेपाल में गुप्त संवत का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। कर्तृपुर आधुनिक कर्तारपुर है जो जालंधर के पास है। इस राज्य में संभवत: कुमायूँ, गढ़वाल और रुहेलखंड के प्रदेश शामिल थे। इन राज्यों की विजय के पश्चात् समुद्रगुप्त पश्चिम की तरफ मुड़ गया एवं गणराज्यों को अपना अधीनस्थ बनाया।

(5) गणराज्य–भारत के पश्चिमी क्षेत्रों में अति प्राचीन काल से ही विभिन्न गणों (संघों) का प्रभुत्व था। राजनीतिक अराजकता का लाभ उठाकर ये गणराज्य काफी शक्तिशाली बन गए थे। मौर्यों एवं कुषाणों ने भी इनकी तरफ पूरा ध्यान नहीं दिया था; परन्तु समुद्रगुप्त ने इनको हमेशा के लिए समाप्त करने का निश्चय किया। इन राज्यों की स्वतंत्रता नष्ट कर दी गयी। यद्यपि वे पूर्ववत् शासन करते रहे परन्तु वे समुद्रगुप्त के अधीनस्थ राज्य बन गए। ये गणराज्य निम्न थे–(1) मालव गणराज्य, इसमें अजमेर से चित्तौड़ तक प्रदेश था। (2) अर्जुनायन, यह अलवर तथा भरतपुर जिले का क्षेत्र था। (3) यौधेय गणराज्य, यह यमुना तथा सतलज नदी के बीच के प्रदेश में था। (4) मद्रक रावी और चिनाव के बीच का क्षेत्र। (5) आमीट गणराज्य, यह सौराष्ट्र तथा मध्य भारत क्षेत्र के पर्वतीय और बेतवा नदी के बीच का प्रदेश था। (6) अर्जुन-गणराज्य, यह मध्य प्रदेश के नरसिंहपुर जिले के समीप था। (7) खरपरिक गणराज्य, यह मध्य प्रदेश के दमोह जिले के क्षेत्र में था। (8) सनकानिक और (9) काक गणराज्य विदिशा के समीपवर्ती क्षेत्र में स्थित था।

इस प्रकार अपने विजय अभियानों से समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य की सीमाओं का सम्पूर्ण भारत में व्यापक विस्तार किया। किन्तु उसमें दिग्विजय की नीति का पालन करते हुए केवल आर्यावर्त के शासकों को छोड़कर अन्य शासकों को अपने-अपने राज्यों में स्वतंत्र रूप से शासन करने के लिए छोड़ दिया। उन्होंने केवल सम्राट की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे वार्षिक कर देकर तथा अन्य सेवाओं के द्वारा संतुष्ट रखा।

विदेशी राज्यों से सम्बन्ध अथवा पर राष्ट्रनीति–समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाओं से परे भारत के भीतर और बाहर विदेशी राज्य थे; जैसे, सिंहल और समुद्र-पार के द्वीप, जिनके साथ वह समुचित सम्बन्ध रखना चाहता था, जिससे शान्ति स्थापित करने में सहायता मिल सके। उसने उन लोगों के साथ निम्नलिखित शर्तों पर 'सेवा और सहयोग की सन्धियाँ' कीं–

–आत्मनिवेदन (मैत्री का प्रस्ताव),

–कन्योपायन (राजमहल में सेवा के लिए कन्याओं का उपहार),

–दान (स्थानीय वस्तुओं की भेंट),

---

1. सर्व-दान-आज्ञकरण-प्रमाण आगमन-परितोषित-प्रचण्डशासनस्य।
2. दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डै:सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनक न्योपायनदानगरुत्पदंकस्वविषय भुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतवाहवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य।

नोट

–उनकी स्वायत्तता और सुरक्षा (स्वविषयभुक्ति) को प्रमाणित करने वाली मुद्रांकित सनदों का याचन (गरुत्मदंकस्वविषयभुक्तिशासनयाचन।)[1]

ये विदेशी राज्य इस प्रकार वर्णित किये गये हैं–(1) **दैवपुत्रशाही शाहानुशाही**[2]–ये लोग उत्तर-पश्चिमी में शासन करने वाले कुषाण थे; (2) **शक**–जो उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत में विद्यमान् थे; (3) मुरूण्ड–एक कुषाण जाति का नाम था। **सिंहल** और **हिन्दमहासागर** के छोटे-छोटे द्वीपों में वह शक्ति नहीं थी कि वे समुद्रगुप्त का सामना करते। प्रयाग-प्रशस्ति में **सर्वद्वीपवासिन्** शब्द का भी व्यवहार हुआ है। **दक्षिण-पूर्वी एशिया** के द्वीप समूहों में बसे भारतवासियों का भारत से अभी तक गहरा सम्बन्ध रहा होगा। सिंहल के राजा मेघवर्मन ने समुद्रगुप्त की राजसभा में उपहार-सहित एक दूतमण्डल भेजकर बोधगया में यात्रियों के ठहरने के लिए एक मंदिर बनवाने की अनुमति माँगी थी और समुद्रगुप्त ने इसे मंजूर भी किया था। फाहियान को जावा में एक सम्पन्न हिन्दू उपनिवेश देखने को मिला था। जाबानी **तान्त्रिका-मण्डक** के आधार पर यह ज्ञात होता है कि वहाँ का इक्ष्वाकुवंश का महाराज **ऐश्वर्यपाल** अपने को **समुद्रगुप्त** का **वंशज** मानता था। इन सब कारणों से समुद्रगुप्त को एक शक्तिशाली नौसेना रखने का श्रेय होना चाहिए, जिससे वह समुद्र-पार के देशों और द्वीपों के साथ अपना सम्बन्ध निबाह सका। उसके काल में **बृहत्तर भारत** का श्रीगणेश हुआ।

समुद्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार–डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार समुद्रगुप्त के साम्राज्य में "कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमी राजपूताना, सिन्ध और गुजरात के अतिरिक्त शेष सारा भारत सम्मिलित था और छत्तीसगढ़ तथा उड़ीसा के प्रदेश व पूर्वी तट के साथ-साथ दक्षिण में विंगनपट तक या उससे भी आगे तक के प्रदेश साम्राज्य में सम्मिलित थे।" **डॉ. आर. के. मुखर्जी** के अनुसार, समुद्रगुप्त ने अपना साम्राज्य पूर्व में ब्रह्मपुत्र तक, दक्षिण में नर्मदा तक और उत्तर में हिमालय तथा कश्मीर तक बढ़ाया। **डॉ. वी. ए. स्मिथ** के अनुसार "चौथी शताब्दी के मध्य में उत्तरी भारत के सर्वाधिक जनसंख्या वाले तथा उपजाऊ प्रदेश समुद्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित थे। पूर्व में ब्रह्मपुत्र से पश्चिम में यमुना व चम्बल तक तथा उत्तर में हिमालय के आधार से, दक्षिण में नर्मदा तक यह साम्राज्य फैला हुआ था। इन विस्तृत सीमाओं से आगे आसाम तथा गंगा के डेल्टा के सीमावर्ती राज्य और हिमालय की दक्षिणी ढलानों के राज्य तथा राजपूताना और मालवा की स्वतंत्र जातियाँ साम्राज्य के साथ मैत्रीपूर्ण सन्धियों से सम्बन्धित थीं और दक्षिण के लगभग सभी राज्यों पर सम्राट की सेनाओं ने विजय प्राप्त की थी और उन्होंने उसकी अरोध्य शक्ति को स्वीकार किया। इस प्रकार यह साम्राज्य छः शताब्दियाँ पूर्व के अशोक के साम्राज्य के पश्चात् भारत में सबसे बड़ा था और स्वाभाविक था कि विदेशी राज्य भी उस साम्राज्य के स्वामी का सम्मान करें।"

साम्राज्य का संगठन–समुद्रगुप्त केवल महान विजेता ही न था। जिस प्रकार उसने विजित देशों को संगठित किया, उससे उसकी उच्च कोटि की राजनीतिज्ञता प्रकट होती है। वह महत्त्वाकांक्षी था और एक सार्वदेशिक साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। किन्तु उसने समस्त साम्राज्य पर एक केन्द्र से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। उसने केन्द्रीय प्रभुत्व तथा स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्तों का अच्छा समन्वय किया। उसने विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों को रोकने तथा साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचाने के लिए दृढ़ केन्द्रीय सत्ता की स्थापना की, किन्तु साथ ही साथ उसने दूरस्थ प्रदेशों के शासकों को केवल करद बनाकर छोड़ दिया। पड़ोस के विदेशी शासकों के साथ भी उसने इसी प्रकार का मैत्री-सम्बन्ध रखा। साम्राज्य की प्रतिरक्षा की दृष्टि से यह नीति अत्यन्त-दूरदर्शितापूर्ण थी।

अश्वमेध–उसके समय उसके समान प्रतापी नरेश और कोई नहीं था। महान् विजय-रूपी यज्ञ की पूर्णाहुति-स्वरूप अब समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। अश्वमेध का अनुष्ठान सार्वभौम प्रभुता का सूचक था। इस यज्ञ में दान के लिए उसने सोने के सिक्के भी ढलवाये। उन सिक्कों पर एक ओर यज्ञस्तम्भ (यूप) में बँधे हुए घोड़े की मूर्ति है, दूसरी ओर हाथ में चँवर लिए समुद्रगुप्त की महारानी का चित्र अंकित है और उन सिक्कों पर अश्वमेध पराक्रम लिखा हुआ है। समुद्रगुप्त के लिए उसके वंशजों ने 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः' कहा है, जिससे स्पष्ट है कि चिरकाल से न होने वाले अश्वमेध-यज्ञ का उसने फिर से अनुष्ठान किया। इसका अनुष्ठान उसने सामरिक योजनाओं के पश्चात् किया होगा, क्योंकि प्रयाग-प्रशस्ति में इसका उल्लेख नहीं। प्रभावतीगुप्त के पूना प्लेट अभिलेख से मालूम होता है कि उसने एक से अधिक अश्वमेध-यज्ञों का अनुष्ठान किया। इसके धर्म से अनुप्रमाणित प्राचीन राजनीतिक आदर्शों के पुनरुत्थान की सूचना मिलती है। यह भारत की राजनीतिक एकता का भी द्योतक था।

नोट

मुद्राएँ–उसने विभिन्न प्रकार की मुद्राएं जारी कीं, जिनसे उसके गुण और कर्म प्रकट होते हैं। ध्वज-प्रकार की मुद्राओं से उसकी प्रभुशक्ति प्रकट होती है; धनुर्धर और युद्ध-परशु के प्रकारों से उसकी सामरिक शक्ति का आभास मिलता है; **वीणावादक** प्रकार से उसके संगीत प्रेम और अश्वमेध प्रकार से उसकी विजय का परिचय प्राप्त होता है। वह 'अप्रतिवार्यवीर्यः' अर्थात् अजेय शक्ति रखने वाला था। **व्याघ्रहन्ता** प्रकार की मुद्राओं से वन भूमियों पर उसकी विजय परिलक्षित होती है। उसकी मुद्राओं पर राजा की वेशभूषा, दुर्गा, लक्ष्मी, कार्तिकेय आदि भारतीय देवी-देवताओं की आकृतियाँ, व्याघ्र, सिंह, गेंडा, हाथी आदि भारतीय पशुओं के चित्र तथा गरुड़ध्वज का अंकन मिलता है। कुषाण-मुद्राओं का प्रभाव उसके सिक्कों पर देखा जाता है। मुद्राओं में उसे **अप्रतिवार्यवीर्य, अजितराजजेताजितः** (अजित राजाओं पर विजय प्राप्त करने वाला), **व्याघ्रपराक्रमः** (व्याघ्र के समान भयंकर), **धरणीबन्धस्य** (देश का एकीकरण करने वाला), **मृदुहृदयः** (कोमल हृदय वाला), **अनुकंचा, लोकानुग्रह, विग्रहवान, अमनुज और कविराज** भी कहा गया है। उसके सिक्कों को छः प्रकारों में बाँटा जा सकता है– (*i*) **गरुड़ध्वजांकित** सम्राट के बाँये हाथ के नीचे **समुद्र या समुद्रगुप्त** अंकित है और पास में **पराक्रमः** लिखा हुआ है। (*ii*) दूसरे प्रकार के सिक्कों में **अप्रतिरथो विजित्य क्षितिसुचरितैः दिवे जयति** लिखा हुआ है। (*iii*) तीसरे प्रकार के सिक्कों में चारों ओर गोलाई में **कृतान्तपरशुर्जयत्याजतराजजेताजितः** लिखा हुआ है। (*iv*) चौथे प्रकार के सिक्कों में **व्याघ्रपराक्रमः** और राजा **समुद्रगुप्त** लिखा हुआ है। (*v*) पाँचवें प्रकार के सिक्कों में संगीतप्रेमी सम्राट का चित्र है। (*vi*) छठे प्रकार के सिक्कों में **राजाधिराजः पृथ्वी विजित्वा दिवं जयत्याहतवाजिमेधः** लिखा हुआ है और दूसरी ओर **अश्वमेध -पराक्रमेः।** उसके सोने के सिक्कों की तौल 118-122 ग्रेन है। उसके दो ताँबे के सिक्के भी मिले हैं जिन पर गरुड़ का चित्र है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. गुप्तकाल में राज्य की आमदनी का मुख्य साधन ..... था।
   (*a*) वन कर (*b*) भूमिकर
   (*c*) सिंचाई कर (*d*) इनमें से कोई नहीं।
5. महासेनापति कहा जाता था–
   (*a*) सेना के सर्वोच्च अधिकारी को (*b*) हाथियों की सेना के अध्यक्ष को
   (*c*) अश्वारोही सेना के अध्यक्ष को (*d*) इनमें से कोई नहीं।
6. ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी पत्नी थी।
   (*a*) समुद्रगुप्त (*b*) स्कन्दगुप्त
   (*c*) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (*d*) इनमें से कोई नहीं।
7. नरसिंहगुप्त को कर देने पर ..... ने बाध्य किया था।
   (*a*) मिहिरकुल (*b*) तोरमाण
   (*c*) सिकन्दर (*d*) इनमें से कोई नहीं।

समुद्रगुप्त की शासन प्रणाली–महान विजेता, पराक्रमी और संगीतज्ञ होने के साथ ही साथ समुद्रगुप्त एक सफल शासक भी था। उसने केवल एक विशाल साम्राज्य की स्थापना ही नहीं की वरन् उसे संगठित करके उसमें एक

---

1. "Whatever his earlier position, Samudragupta turned out to be one of the ablest Gupta sovereigns and by his exploits more than justified his father's selection." —*R. S. Tripathi*
2. "Samudragupta, the second Gupta monarch was one of the most remarkable and accomplished kings of Indian history." —*V. A. Smith*

नोट

शक्तिशाली और सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन की भी स्थापना की। उसने शासन को केन्द्रीयकरण की नीति पर आधारित किया और साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त करके उनमें प्रान्तीय शासक नियुक्त किये। इन शासकों पर उसका पूरी तरह नियंत्रण था। केन्द्रीय शासन में अनेक विभाग थे जो पूर्ण प्रकार से संगठित और व्यवस्थित थे। शासन-कार्य की देखभाल करने तथा सम्राट को राजकाज में परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिमण्डल भी था। उसने पदाधिकारियों को अनेक प्रकार की उपाधियाँ प्रदान कीं और उनके सिथियन नामों के स्थान पर नवीन नाम प्रदान किए। अत: प्रधान सेनापति को महाबलाधिकृत और प्रधान न्यायाधीश को महादण्डनायक कहा जाने लगा। उसका शासन इतना सुसंगठित और शक्तिशाली था कि उसके अधीन राजाओं को कभी उसके विरुद्ध विद्रोह अथवा षड्यन्त्र करने का साहस ही न हुआ और केवल उसके शासन काल में ही नहीं वरन् उसके पश्चात् भी साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था यथापूर्व स्थिर रही।

समुद्रगुप्त का मूल्यांकन–डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी के शब्दों में, "समुद्रगुप्त की प्रारम्भिक स्थिति चाहे जो भी रही हो, वह गुप्तवंश का एक महान् सम्राट था।"[1] **स्मिथ** ने कहा है, "समुद्रगुप्त, जो गुप्तवंश का द्वितीय सम्राट था, भारतीय इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा सर्वगुण-सम्पन्न सम्राट था।"[2] उसकी बहुमुखी प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए **डॉ. मजूमदार** ने लिखा है, "समुद्रगुप्त की सैनिक विजय तो महान् थी ही, उसकी व्यक्तिगत साधनाएँ भी कम महान् न थीं। उसके राजकवि (हरिषेण) ने विजित लोगों के प्रति उसकी उदारता, उसकी परिष्कृत प्रतिभा, उसके धर्मशास्त्रों के ज्ञान, उसका काव्य-सौष्ठव, उसकी संगीत योग्यता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।" वस्तुत: पराक्रमांक समुद्रगुप्त का राज्य-काल भारतीय इतिहास के पृष्ठों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना का मधुमय निदर्शन है। उसकी विलक्षण बहुमुखी प्रतिभा प्रशस्त गुणों से सम्पन्न एक ऐसे सम्राट का प्रतिनिधित्व करती है जो कुशल योद्धा, प्रवीण सेनापति, सफल संगठनकर्ता, काव्य-प्रेमी तथा कला-संस्कृति का प्रकाण्ड उन्नायक था। उसका मूल्याकंन अग्रलिखित आधार पर किया जा सकता है–

आकर्षक व्यक्तित्व–समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक और प्रभावोत्पादक था। वह अत्यन्त पराक्रमी और साहसी था, जिसकी चर्चा अभिलेखों में की गयी है। **स्मिथ** के शब्दों में, "समुद्रगुप्त अद्‌भुत व्यक्तिगत समता का व्यक्ति था। उसमें असाधारण विभिन्न गुण थे। वह एक वास्तविक व्यक्ति, एक विद्वान्, एक कवि, संगीतज्ञ तथा सेना नायक था।"[1] उसके उच्च व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए हरिषेण ने प्रयाग प्रशस्ति में कहा है, "जिस प्रकार शिव की जटाजट-रूपी अन्तर्गुहा के बन्धन से उन्मुक्त होने के पश्चात् गंगा का पवित्र जल तीनों ही लोकों को पवित्र करता है, ठीक उसी भाँति उस सम्राट का संचित विमल यश, दान-परायणता, बाहुबल एवं शास्त्र-ज्ञान के उत्कर्ष द्वारा अनेक भागों से शान्तिपूर्वक ऊपर उठता हुआ तीनों लोकों को पवित्र करता है।"[2] नि:सन्देह समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व महान् था।

महान् विजेता–समुद्रगुप्त निश्चित रूप से एक महान् विजेता भी था। सम्पूर्ण उत्तर भारत, मध्य भारत, दक्षिण भारत तथा सीमान्त प्रदेश का वह सफल विजेता था। जैसा कि विदित है उसने आर्यावर्त के नौ राजाओं–रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपति नाग, नागसेन अच्युत, नन्दि एवं बलवर्मा को पराजित किया। इतना ही नहीं समुद्रगुप्त ने आटविक प्रदेश के 18 राजाओं को पराजित किया, जिससे उसके राज्य की सीमा जबलपुर से लेकर गाजीपुर तथा छोटानागपुर तक फैल गयी। इस प्रकार सम्पूर्ण विन्ध्य प्रदेश उसके अधिकार में आ गया। प्रयाग प्रशस्ति में 'सर्वदक्षिणापथ राजग्रहण' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ यह है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत के सभी राजाओं को नतमस्तक कर दिया था। इनमें कोशल का महेन्द्र, महाकान्तार का व्याघ्रराज, केरल का मन्तराज, पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि, कोट्टुर का स्वामीदत्त, काँची का विष्णुगोप, अवमुक्त का भीलराज, बेंगी का हस्तिवर्मा, पल्लक का उग्रसेन, देवराष्ट्र का कुबेर एवं कोस्थलपुर का धनंजय थे। दक्षिण विजय के फलस्वरूप समुद्रगुप्त की चक्रवर्ती सम्राट

---

1. "Samudragupta was a man of exceptional personal capacity and unusually varied gifts. He stands forth as a real man, a scholar, musician and a warrior." —*V. A. Smith*
2. "यस्य प्रदान-भुज विक्रम-प्रशम-शास्त्र वाक्योदयै रूपर्च्युपरि-संचयोच्छित मनेक मार्ग यश: पुनाति भुवनत्रयं पशु पतेर्ज्जरान्तर्गहा निरोध-परिमोश-लीघ्रमिव पांडुगांगपय:।"

नोट

बनने की महत्त्वाकांक्षा पूरी हुई। उसके दक्षिण विजय से आतंकित होकर सीमान्त प्रदेश के राजा स्वेच्छा से समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर लेने को तैयार हो गए तथा समय-समय पर सम्राट को उपहार भेंट आदि देना स्वीकार किया। उसकी दिग्विजय उसके महान् सेनानायक होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है। उसे **'समरशतावतरणदक्षः'** अर्थात् 'सौ युद्धों का विजेता' कहा गया है। एक शिलालेख में उसे 'अप्रतिवार्यवीर्यः' अर्थात् अजेय वीर कहा गया है। उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक तथा पूर्व में पूर्वी मालवा से लेकर पश्चिम में बंगाल तक विस्तृत था। उस विशाल साम्राज्य के बाहर भी स्थित अनेक गणराज्य तथा दक्षिण भारत के अनेक राज्य उसके प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत थे। इसके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर भारत में स्थित कुछ विदेशी शक्तियों, सिंहलद्वीप तथा कुछ अन्य द्वीपों के शासकों के साथ उसने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये थे।

महान् शासक–समुद्रगुप्त एक महान् विजेता के अतिरिक्त एक महान् शासक भी था। अपने विशाल साम्राज्य में शासन करने के लिए उसने सामन्ती प्रथा का प्रचलन किया। उसने साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों का शासन अपने सामन्तों को सौंप दिया, जो सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। संधिविग्रहिक, कुमारामात्य, महादण्डनायक आदि विभिन्न बड़े-बड़े पदाधिकारी थे। हरिषेण संधिविग्रहिक या परराष्ट्रमंत्री था। साम्राज्य के उच्च कोटि के पदाधिकारी कुमारामात्य थे। महादण्डनायक सेनापति था जो सेना का संचालन करता था। प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को अनेक भुक्तियों तथा विषयों में विभाजित कर दिया था। भुक्ति का तात्पर्य आधुनिक प्रान्त और विषय का आधुनिक जनपद अथवा जिले से था। अहिच्छत्र, श्रावस्ती, कोशाम्बी, वर्द्धमान आदि उसके शासन-काल के भुक्ति थे। पूर्वी मालवा भी उसके साम्राज्य का एक प्रान्त था।

मुद्रा में सुधार लाकर समुद्रगुप्त ने एक कुशल शासक का परिचय दिया। उसने उत्तरकालीन कुषाणों की निम्न कोटि की स्वर्ण-मुद्राओं का परित्याग कर शुद्ध स्वर्ण-मुद्राओं का प्रचलन करवाया। उसकी स्वर्ण-मुद्राएँ छः प्रकार (गरुड़, धनुर्धर, परशु, अश्वमेध, व्याघ्र-निहन्ता एवं वीणाधारण) की थीं। इनमें प्रथम तीन प्रकार की मुद्राएँ (गरुड़, धनुर्धर एवं परशु) सम्राट के सैनिक एवं वीर जीवन से सम्बन्धित हैं। गरुड़ मुद्राएँ इसी सम्राट ने प्रचलित की थीं। बयाना-निधि में समुद्रगुप्त की 183 मुद्राएँ मिली हैं जिनमें 136 गरुड़ प्रकार की हैं। इससे प्रतीत होता है कि उस समय गरुड़ मुद्राएँ अधिक लोकप्रिय थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि गरुड़, धनुर्धर एवं परशु मुद्राओं को उसने उस समय प्रचलित किया होगा जब वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों तथा शत्रुओं के उन्मूलन में लगा होगा। दिग्विजय होने के उपलक्ष्य में उसने अवश्मेध मुद्राएँ प्रचलित की होंगी। अपने कुल में उसी ने सर्वप्रथम अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था, अतएव उसके उत्तराधिकारियों ने उसे अश्वमेधहर्त्ता की उपाधि प्रदान की थी। व्याघ्र-निहन्ता वर्ग की मुद्राएँ उसके सर्वाटविकराज-विजय तथा दक्षिणापथ-नरेश व्याघ्रराज विजय से सम्बन्धित लगती हैं। सम्भवतः यह उसकी व्यक्तिगत अभिरुचि (आखेट-प्रेम) का भी परिचायक है। वीणाधारण (गान्धर्व-ललित) भाँति की मुद्राएँ समुद्रगुप्त के कला प्रेम पर प्रकाश डालती हैं। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार वह संगीत शास्त्र का मर्मज्ञ था। समुद्रगुप्त की व्यक्तिगत अभिरुचि, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ, साम्राज्य-सीमा, धार्मिक एवं आर्थिक दशाओं के परिज्ञान की दिशा में उसकी मुद्राएँ काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। आजकल उसकी अधिकांश मुद्राएँ ब्रिटिश संग्रहालय, लखनऊ-संग्रहालय, बयाना-निधि, भारतीय संग्रहालय, ऑक्सफोर्ड संग्रहालय आदि स्थानों में सुरक्षित हैं।

महान् राजनीतिज्ञ–समुद्रगुप्त एक महान् राजनीतिज्ञ भी था। **डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त** के शब्दों में, "ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त एक शक्तिशाली तथा दृढ़-संकल्प शासक था और उसमें एक राजनीतिज्ञ के महान् गुण विद्यमान थे।"[1] प्रयाग स्तम्भलेख से हमें पता चलता है कि समुद्रगुप्त में सम्पूर्ण भारत को एकराष्ट्र बनाने की आकांक्षा थी। किन्तु, एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के रूप में उसने अनुभव किया कि आवागमन की कठिनाइयों के कारण यह कठिन है। अतएव उसने केवल उत्तर भारत के ही कुछ प्रदेशों को अपने साम्राज्य में शामिल कर एक सुसंगठित तथा

1. "It appears that Samudragupta was a vigorous and resolute ruler and had the great qualities of a stateman." —*P. L. Gupta*
2. "Samudragupta was versatile genius. He was proficient not only in war but also in the sacred lore. Himself highly cultured he was fond of the company of the learned." —*R. S. Tripathi*

नोट

सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की। एक चतुर तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाँति उसने अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने की व्यवस्था की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने आटविक-नरेशों को अपना सेवक बनाया। सीमान्त प्रान्तों में उसे कर देकर, उसकी आज्ञा मानकर तथा अभिवादन कर उसकी सत्ता स्वीकार की जाती थी। इन सीमान्त प्रान्तों के साथ उसका बड़ा आदर तथा दयापूर्ण व्यवहार रहता था। उसने विजित राजाओं को पदच्युत नहीं किया, वरन् उनका राज्य तथा उनका धन लौटा दिया। इससे वे सम्राट के परम भक्त बन गए। इससे गुप्त साम्राज्य को स्थायित्व प्राप्त हुआ। यह समुद्रगुप्त के एक महान् राजनीतिज्ञ होने के दावे की पुष्टि करता है।

साहित्य-कला का पोषक—डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी के शब्दों में "समुद्रगुप्त अद्‌भुत प्रतिभा का व्यक्ति था। वह न केवल शस्त्रों में वरन् शास्त्रों में भी कुशल था। वह स्वयं ही सुसंस्कृत व्यक्ति था और उसे विद्वानों की संगति बड़ी प्रिय थी।"[2] उसके मंत्री हरिषेण ने प्रयाग-प्रशस्ति में लिखा है, "संगीत, कला में उसने नारद तथा तुम्बुरु को भी लज्जित कर दिया था। अनेक काव्यों को लिखकर उसने कविराज की उपाधि प्राप्त की थी।" इससे पता चलता है कि उसने सरस्वती और लक्ष्मी के विरोध को मिटा दिया था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। बौद्ध विद्वान् वसुबंधु, कवि हरिषेण आदि उसके दरबार में थे। समुद्रगुप्त कलाप्रेमी भी था। नारद के साथ उसकी तुलना उससे वीणा-वादन का मर्मज्ञ प्रमाणित करती है। वह अपने एक सिक्के पर वीणा बजाता हुआ अंकित किया गया है। इससे उसके संगीत-प्रेमी होने का परिचय मिलता है।

उदार शासक—समुद्रगुप्त एक उदार शासक था, वह दानी तथा कोमल प्रकृति (मृदुहृदस्य) का था। विद्वानों और ब्राह्मणों को पुरस्कृत करने में वह थकता नहीं था। गुप्तवंशीय अभिलेखों में उसे कोटि, गौओं एवं सुवर्ण मुद्राओं का प्रदाता (अनेक-गो-हिरण्य-कोटि-प्रदस्य) कहा गया है। वह सज्जनों का उद्धारक तथा दुष्टों का संहारक (साद्धवसाधूदय-प्रलय-हेतु-पुरुषस्य) कहा गया है। वह असहाय, दीन, अनाथ तथा रोगी व्यक्तियों के लिए अवलम्ब था। फाहियान के यात्रा-वृतान्त से ज्ञात होता है कि दीन-हीन, अपंग-अकिंचन एवं विधवाओं की निःशुल्क चिकित्सा की जाती थी तथा उन्हें भोजन-वस्त्र मिल जाता था। इससे समुद्रगुप्त के प्रजावत्सल सम्राट होने का परिचय मिलता है।

धर्म सहिष्णु—समुद्रगुप्त धर्मपरायण सम्राट था। प्रयाग-प्रशस्ति में उसे धर्म की चहारदवारी (धर्म प्राचीरबन्धः) कहा गया है। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह वैष्णव था। उसकी राजाज्ञाएँ गरुड़ मुद्रा में अंकित (गरुत्मदंक) हुआ करती थीं। उसके सिक्कों पर गरुड़ध्वज एवं वैष्णवधर्म के प्रतीक अंकित हैं। किन्तु, वह अन्य धर्मों (जैन, बौद्ध) के प्रति सहिष्णु था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान, वसुबंधु उसके दरबार में था। हेमचन्द्र रायचौधरी का मत है कि वह अपनी दयालुता एवं सहृदयता के कारण कभी-कभी अशोक का स्मरण दिलाता है। श्रीलंका के शासक मेघवर्ण ने बोधगया में एक बौद्ध मंदिर के निर्माण की अनुमति प्राप्त करने के लिए समुद्रगुप्त के पास एक दूत भेजा था। समुद्रगुप्त ने बौद्ध-मंदिर निर्माण की अनुमति दे दी। कालान्तर में यह मंदिर एक विशाल बौद्ध मठ के रूप में विकसित हुआ।

भारत का नेपोलियन—चूंकि समुद्रगुप्त वीर, साहसी तथा पराक्रमी योद्धा था। अतः स्मिथ ने उसे **'भारत का नेपोलियन'** कहा है। उनके ही शब्दों में "वह वास्तव में विलक्षण प्रतिभा का व्यक्ति था और वह भारत नेपोलियन कहलाने का अधिकारी है।"[1] जिस प्रकार फ्रांस का सम्राट नेपोलियन एक महान् योद्धा तथा विजेता था और अपने बाहुबल तथा रणकौशल से सम्पूर्ण यूरोप को आतंकित कर दिया था, उसी प्रकार समुद्रगुप्त ने भी अपने अलौकिक पराक्रम से न केवल समस्त भारत को बल्कि सीमान्त एवं विदेशी राज्यों को भी नतमस्तक कर दिया। नेपोलियन के विषय में कहा जाता है कि वह चालीस युद्धों का विजेता था, किन्तु समुद्रगुप्त को समरशत (सौ युद्धों) का विजेता कहा गया है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि समुद्रगुप्त की तुलना नेपोलियन से केवल इसलिए की जाती है कि वह नेपोलियन की भाँति एक महान् विजेता था। नेपोलियन की तरह घृणा, उसका धर्म, प्रतिशोध, उसका कर्त्तव्य और क्षमादान कलंक नहीं था। इस दृष्टि से समुद्रगुप्त के समक्ष नेपोलियन का व्यक्तित्व मन्द पड़ जाता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त गुप्त वंश का पराक्रमी दिग्विजयी सम्राट के अतिरिक्त कुशल शासक, प्रवीण, राजनीतिज्ञ, धर्म सहिष्णु एवं साहित्य-कला का पोषक था।

---

1. "He was in fact a man of genius who may fairly claim the title of Indian Napoleon."
—*Smith*

नोट

रामगुप्त–कुछ समय पहले तक इतिहासकारों का विश्वास था कि समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासन पर बैठा था। किन्तु कुछ अन्य तथ्यों के प्रकाश में आने के बाद यह धारणा बदल गयी है। विशाखदत्त-रचित 'देवी चन्द्रगुप्त' नामक एक नाटक के कुछ उद्धरण प्राप्त हुए हैं, मूल ग्रन्थ तो लुप्त हो चुका है। इन उद्धरणों से पता चलता है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त गद्दी पर बैठा; किन्तु वह दुर्बल और कायर निकला। एक बार किसी शक राजा से उसका युद्ध छिड़ गया जिसमें वह स्वयं घिर गया और भीषण विपत्ति में फंस गया। अन्त में अपनी तथा प्रजा की रक्षा के लिए रामगुप्त ने अपनी रानी **ध्रुवदेवी** अथवा **ध्रुवस्वामिनी** को शक राजा के रनिवास में भेजना स्वीकार कर लिया। छोटा भाई **चन्द्रगुप्त** इस अपमान को न सह सका। अपने वंश तथा अपनी भाभी के सम्मान की रक्षा के लिए उसने एक चाल खेली। वह स्वयं ध्रुवस्वामिनी के वेश में शक राजा के खेमे में पहुँचा और वहीं उसकी हत्या कर दी। इस घटना से प्रजा तथा ध्रुवदेवी की दृष्टि में चन्द्रगुप्त की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी और रामगुप्त को अपकीर्ति भुगतनी पड़ी। दोनों भाइयों में मनमुटाव हो गया। चन्द्रगुप्त का जीवन संकट में पड़ गया। आत्मरक्षा के लिए उसने पागल होने का बहाना किया और अन्त में रामगुप्त को मारकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया और ध्रुवस्वामिनी को अपनी रानी बना लिया।

इस कहानी के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। बाणभट्ट-रचित 'हर्षचरित' में प्राप्त कुछ उल्लेखों के आधार पर इसकी पुष्टि की गयी है। फिर विशाखदत्त गुप्त-युग में हुआ था, इसलिए उसके नाटक का ऐतिहासिक आधार अवश्य रहा होगा। किन्तु उसके विरोध में यह कहा जाता है कि रामगुप्त के सिक्के नहीं मिले हैं और न गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों में उसका जिक्र ही है। कुछ लेखकों का यह भी कहना है कि उस युग में अपने बड़े भाई की पत्नी से विवाह करना शास्त्रानुकूल नहीं था। किन्तु ये तर्क अधिक युक्तिसंगत नहीं हैं। रामगुप्त का शासनकाल अत्यन्त अल्प था, इसलिए उसको नये सिक्के चलाने का अवसर न मिला होगा। गुप्तों के राजकीय अभिलेखों में रामगुप्त का उल्लेख नहीं है, यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि अभिलेखों में वंशावली दी जाती थी, न कि राजाओं की परम्परा। फिर भी जब तक यह निश्चयपूर्वक प्रमाणित नहीं हो जाता कि रामगुप्त नाम का कोई राजा था, तब तक यह प्रश्न विवादाग्रस्त ही रहेगा।

8.4 चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (Chandragupt II Vikramaditya)

समुद्रगुप्त के पश्चात् गुप्तवंश का सबसे महान सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' हुआ। अपने पिता के ही समान वह योग्य सेनानी एवं कूटनीतिज्ञ था। सम्भवत: इसके इन्हीं गुणों से प्रसन्न होकर उसके पिता ने रामगुप्त को गद्दी से च्युत कर दिया था तथा चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। विशाखदत्त रचित **देविचन्द्रगुप्तम्** नाटक से ऐसा आभास होता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त की हत्या कर गद्दी पर अधिकार कर लिया था तथा रामगुप्त की विधवा ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया था। यद्यपि इस नाटक की ऐतिहासिकता संदेहास्पद है, पर यह निश्चित है कि समुद्रगुप्त का वास्तविक उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय ही हुआ जिसकी माता का नाम दत्तदेवी था। चन्द्रगुप्त के विषय में जानकारी 6 महत्त्वपूर्ण अभिलेखों से मिलती है–**मथुरा स्तम्भलेख, उदयगिरि गुहा-लेख, गढ़वा शिलालेख, सांची लेख, उदयगिरि गुफालेख, मथुराशिलालेख एवं महरौली का लौह स्तम्भलेख।**

इन स्रोतों के आधार पर यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त लगभग 380 से 414-15 ई. तक शासक बना रहा। उसकी माता का नाम दत्तदेवी था। उसका प्रारम्भिक नाम चन्द्रगुप्त था, परन्तु सम्राट बनने के पश्चात् उसने **'विक्रमादित्य'** की उपाधि धारण की। गुप्त एवं वाकाटक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसका दूसरा नाम देवराज और देवगुप्त भी था। उसकी प्रथम रानी का नाम **कुबेरनागा** था जो एक नाग-कन्या थी। इसी रानी की पुत्री प्रभावती गुप्त थी। ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी उसकी दूसरी पत्नी थी जिससे गोविन्दगुप्त एवं कुमारगुप्त का जन्म हुआ था।

वैवाहिक सम्बन्ध–अपने समकालीन महत्त्वपूर्ण राजवंशों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके अपनी स्थिति को दृढ़ करना गुप्त सम्राटों की वैदेशिक नीति का एक मुख्य अंग था। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवियों से नाता जोड़कर अपनी शक्ति तथा साम्राज्य का विस्तार किया था। समुद्रगुप्त ने भी यही नीति अपनाई थी। उसने अपने अनेक अधीन सामन्तों की कन्याओं से विवाह किया। इन सम्बन्धों से उसे नये देशों को जीतने तथा विजित देशों पर अपनी सत्ता कायम

नोट

रखने में बड़ी सहायता मिली होगी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी अपने पूर्वजों की नीति का अनुसरण किया। अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए तत्कालीन महत्त्वपूर्ण शक्तियों के साथ वैवाहिक संबंध कायम किए। सर्वप्रथम उसने नाग-वंश की एक राजकुमारी कुबेरनागा से अपनी शादी की। इससे उसे प्रभावतीगुप्त नामक पुत्री की उत्पत्ति हुई जिसका विवाह उसने वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से कर दिया। इन वैवाहिक संबंधों से नागों एवं वाकाटकों की मैत्री सहज ही प्राप्त हो गयी। नागों से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण वाकाटकों से वैवाहिक संबंध था। गुप्तकाल में वाकाटक नरेश काफी शक्तिशाली थे। यद्यपि समुद्रगुप्त ने वाकाटक नरेश रुद्रसेन (रुद्रदेव) को पराजित कर उसे कमजोर बना दिया था फिर भी रुद्रसेन द्वितीय ने मध्य दक्षिणी भारत में अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली थी और वह एक महत्त्वपूर्ण शासक बन गया था। उसका प्रभाव भी ऐसे क्षेत्र में था, जहाँ से वह गुजरात और सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों के विरुद्ध किसी भी उत्तर भारतीय राजा के अभियान में मदद या बाधा पहुँचा सकता था। संभवत: चन्द्रगुप्त ने इस स्थिति का अन्दाज कर लिया था और इसीलिए उसने वाकाटक नरेश से वैवाहिक संबंध स्थापित किए। इस विवाह के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त की बिना कठिन परिश्रम के ही एक महत्त्वपूर्ण शक्ति से मित्रता हो गयी।

वाकाटकों के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुन्तल नरेश से भी मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए। कुन्तल (बम्बई का दक्षिणी तथा मैसूर का उत्तरी भाग) पर कदम्ब वंश के शासकों का अधिकार था। कुन्तलेश्वर के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय के घनिष्ठ संबंध का प्रमाण उपलब्ध है। महाकवि भोज के श्रृंगार प्रकाश में कालिदास तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच कुन्तल के राजा के विषय में बात-चीत होने का उल्लेख किया गया है। सम्भवत: कालिदास को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त ने कुन्तल शासक के यहाँ भेजा था। कदम्ब शासक मयूरशर्मन का पुत्र और पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के समवर्ती शासक थे। तालगुण्डा प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कुन्तल नरेश (संभवत: ककुत्स्यवर्मन) ने अपनी पुत्री का विवाह गुप्त नरेश से किया था। क्षेमेन्द्र की **औचित्य विचार चर्चा** से भी इस वैवाहिक संबंध की पुष्टि होती है, इसके अलावा शान्तिवर्मन के तालगुण्डा अभिलेख के अनुसार कदम्ब शासक ककुत्स्यवर्मन ने गुप्तवंश एवं अन्य वंशों के साथ वैवाहिक संबंध कायम किए। डॉ. दिनेशचन्द्र सरकार का सुझाव है कि कदम्ब राजा ने अपनी एक पुत्री का विवाह नरेन्द्रसेन (वाकाटक) तथा दूसरी का विवाह चन्द्रगुप्त के पुत्र या पौत्र के साथ किया था। इन वैवाहिक संबंधों के द्वारा 'विक्रमादित्य' ने तत्कालीन महत्त्वपूर्ण शासकों को अपना हितैषी बना लिया। इन शासकों की मित्रता ने गुप्त साम्राज्य को भरपूर सुरक्षा प्रदान की। कुछ विद्वानों ने तो चन्द्रगुप्त के विजय अभियानों से भी ज्यादा महत्त्व उसके वैवाहिक संबंधों को ही दिया है।

चन्द्रगुप्त का विजय अभियान—हिन्दू अनुश्रुतियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय को एक अत्यन्त पराक्रमी विजेता के रूप में याद किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने पिता की ही तरह वीर और महत्त्वाकांक्षी था। किन्तु उसे एक विशाल साम्राज्य विरासत में मिला था, इसलिए साम्राज्य-निर्माण का कार्य उसे प्रारम्भ से नहीं करना पड़ा था फिर भी देश की सीमाओं के भीतर अनेक ऐसे शासक थे जो केवल नाम मात्र को गुप्त सम्राट की प्रभुता स्वीकार करते थे। इनमें मालवा और सौराष्ट्र के शक और पश्चिमी पंजाब के कुषाण अधिक शक्तिशाली थे। शकों पर विजय प्राप्त करने के लिए चन्द्रगुप्त ने एक विशाल सेना का निर्माण किया और पूरी तैयारी के बाद उन पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त के युद्ध तथा शान्ति-मन्त्री वीरसेन का मालवा में उदयगिरि की पहाड़ी में एक लेख प्राप्त हुआ है। वीरसेन सम्राट के साथ स्वयं मुहिम पर गया था। लेख से पता लगता है कि भिलसा के मार्ग से गुप्त सेनाओं ने प्रयाण किया था। युद्ध में क्षत्रप रुद्रसिंह तृतीय हारा और मारा गया। चन्द्रगुप्त की यह विजय हर दृष्टि से पूर्ण निर्णायक सिद्ध हुई। मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र गुप्त-साम्राज्य के अंग बन गये। साम्राज्य की सीमाएँ पश्चिमी समुद्र तक फैल गयीं। इससे आन्तरिक तथा वैदेशिक दोनों प्रकार के व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। पश्चिमी समुद्रतट के व्यापारिक नगर तथा बन्दरगाहों पर गुप्त सम्राटों का अधिकार हो जाने से साम्राज्य की आर्थिक दृष्टि से बहुत उन्नति हुई। इन बन्दरगाहों के द्वारा पश्चिमी देशों के साथ अच्छा व्यापार चलता था। विजित प्रदेश अत्यन्त उर्वर थे। इससे राज्य की आय बहुत बढ़ गयी। इस विजय का एक और भी महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। उज्जैन, जो विद्याकला और साहित्य का केन्द्र थी, साम्राज्य की दूसरी राजधानी बन गयी।

नोट

नोट्स चन्द्रगुप्त के विषय में जानकारी 6 महत्त्वपूर्ण अभिलेखों से मिलती है–मथुरा स्तम्भलेख, उदयगिरि गुहा-लेख गढ़वा शिलालेख सांची लेख, मथुरा शिलालेख एवं महरौली का लौह स्तम्भ लेख।

इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने और भी अनेक महत्त्वपूर्ण विजयें प्राप्त कीं। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास लौह स्तम्भ है, उस पर चन्द्र नामक एक राजा की विजयों का वर्णन है उसमें लिखा है कि चन्द्र ने बंग में शत्रुओं के एक संघ का नाश किया और सिन्धु के सात मुहानों को पार करके वाह्लीक को जीता। यह चन्द्र सम्भवत: चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही था। इतिहास में अन्य किसी ऐसे चन्द्र राजा का पता नहीं है जिसने पूर्व में बंगाल तक और पश्चिम में सिन्धु नदी के उस पार तक विजयपताका फहरायी हो। ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल के छोटे-छोटे सामन्तों ने, जिन्हें समुद्रगुप्त ने अपने अधीन कर लिया था, गुप्त सम्राट के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा खड़ा किया और उसने प्रभुत्व का जुआ उतार फेंकने की कोशिश की, किन्तु वे पराजित हुए और सम्भवत: अब सम्पूर्ण बंगाल सीधा गुप्त शासन के अन्तर्गत आ गया।

पश्चिमोत्तर में चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी पंजाब तथा अफगानिस्तान के कुषाण शासकों पर आक्रमण किया होगा। यदि हम वाह्लीक का अर्थ बलख (बैक्ट्रिया) लगायें, तब तो हमें मानना पड़ेगा कि चन्द्रगुप्त को जो सफलता मिली वह कभी किसी हिन्दू राजा को न प्राप्त हो सकी थी, यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त मौर्य भी वहाँ तक न पहुँच सका था। किन्तु चन्द्रगुप्त का यह दावा सत्य भी हो तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी विजयों के कोई स्थायी राजनीतिक परिणाम हुए, क्योंकि इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि बंगाल की भाँति सम्पूर्ण पंजाब और अफगानिस्तान कभी गुप्त-साम्राज्य के अंग थे। इसीलिए कुछ विद्वानों ने वाह्लीक का अर्थ व्यास नदी की घाटी लिया है। यदि यह भी मान लिया जाये तो भी चन्द्रगुप्त की सैनिक सफलताएँ आश्चर्यजनक थीं, इसमें सन्देह नहीं। कहा जाता है कि इन विजयों के स्मारकस्वरूप ही चन्द्रगुप्त ने विष्णुपद पहाड़ पर लौह-स्तम्भ खड़ा किया था, जिसे ग्यारहवीं शताब्दी में राजा अनंगपाल दिल्ली उठा ले गया।

इन विजयों के फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य का विस्तार काफी अधिक हो गया। उसमें समस्त बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश का कुछ भाग, समस्त मध्यभारत, गुजरात और कठियावाड़ के प्रदेश सम्मिलित थे।

चन्द्रगुप्त की उपाधियाँ–चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पराक्रम, प्रताप तथा दिग्विजयों के कारण अनेक उपाधियाँ धारण कीं। जैसे–विभिन्न छोटे-छोटे गणराज्य का अन्त करके 'गणारि' और शकों पर विजय के पश्चात् 'शकारि' की उपाधि धारण की। अपनी दिग्विजयों के उपरान्त उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की। उसकी अन्य उपाधियों में 'नरेशचन्द्र', 'सिंहचन्द्र', 'सिंहविक्रम', 'देवराज', 'देवश्री' तथा 'देवगुप्त' भी कहा गया है।

राजधानियाँ–प्राय: यही माना जाता है कि चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र ही गुप्त साम्राज्य की राजधानी थी परन्तु जब शकों ने आक्रमण की तैयारी की तो उसने गुप्त साम्राज्य की अस्थायी राजधानी पूर्वी मालवा में विदिशा बनायी। शकों के प्रभाव के पश्चात् उनकी राजधानी उज्जैन हो गयी। चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'श्रेष्ठतम नगर उज्जैन का स्वामी' और 'सर्वश्रेष्ठ नगर पाटलिपुत्र' का स्वामी कहा गया है। सम्भवत: पश्चिमोत्तर क्षेत्र में विजय अभियान के समय अयोध्या भी उसकी राजधानी रही हो। ऐसा वसुबन्धु की जीवन कथा में उल्लेख किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि उसने उज्जैन से उत्तरी भारत की ओर जाने वाले प्रमुख राजमार्ग पर स्थित कोशाम्बी को भी अपनी अस्थायी राजधानी बनाया था। एलन के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वारा चलाये गये ताँबे के सिक्के प्राय: अयोध्या तथा उसके निकट पाये गये हैं।

शासन प्रबन्ध–चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान् विजेता होने के साथ-साथ सफल शासक भी था। उसने अपने विशाल राज्यों को संगठित कर उनकी शासन-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध किया। उसका शासन एकतन्त्र शासन-प्रणाली पर आधारित था। सारे राज्य का प्रशासन साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से संचालित होता था। राजा वंशानुगत होते थे।

नोट

सारी सत्ता चन्द्रगुप्त के हाथ में होते हुए भी वह निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी सम्राट नहीं था। धर्म, नीति, परम्पराएँ तथा मंत्रिमंडल उसकी निरंकुशता पर अंकुश थे। सम्राट प्रजावत्सल था। वह सेना का स्वयं प्रधान सेनापति तथा राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश भी था। युद्ध के समय वह स्वयं वीर योद्धा के समान युद्ध करता था।

उसकी सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद् थी जिसके मंत्रियों का पद पैतृक होता था। उसका प्रधान मंत्री 'मंत्रिन' कहलाता था। 'शांति विग्रहिक' युद्ध, शांति तथा संधि का मंत्री होता था। वीरसेन उसका ऐसा मंत्री था जो मंत्री प्रशासन संभालता था, वही सेना की भी देखभाल करता था।

प्रशासन की सुविधा के लिए सारे साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया था जिन्हें 'देश' या 'मुक्ति' कहते थे। इसके सर्वोच्च अधिकारी को 'गोत्री', मुक्ति के अधिकारी को 'उपरिक' कहा जाता था। प्रत्येक प्रान्त जिलों में विभाजित था जिन्हें प्रदेश या 'विषय' कहा जाता था। इसके सर्वोच्च अधिकारी को 'विषयपति' कहा जाता था। प्रत्येक विषय कई नगरों तथा गाँवों से मिलकर बना था। गाँव के शासक को 'ग्रामिक' कहते थे। गाँव के मुखिया को यह पद प्राप्त होता था। ग्रामिक की सहायता के लिए गाँव की पंचायतें होती थीं।

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय अधिकारियों की पृथक्-पृथक् पदवियाँ होती थीं। जैसे–'उपरिक', 'बलाधिकरण', 'रण मंडाधि करण', 'महादंडनायक', 'महाप्रतिहार', 'मश्वपति' आदि।

उसके समय सारे न्यायालय चार श्रेणियों में विभक्त थे। सम्राट न्याय का प्रमुख था। वह स्वयं मुकद्में सुनकर फैसला देता था। अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता था। भयंकर अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। राजद्रोहियों का दाहिना हाथ काट लिया जाता था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में शांति और सुव्यवस्था होने के कारण व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का खूब विकास हुआ। इस समय भारत का पश्चिमी तटीय राष्ट्रों से समुद्री व्यापार भी होता था। आन्तरिक व्यापार भी उन्नति पर था।

व्यापार विनिमय के लिए विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग किया जाता था। चन्द्रगुप्त ने सुन्दर तथा कलापूर्ण, सोने, चांदी व ताम्बे के सिक्के प्रचलित किये।

वह बड़ा धर्मपरायण, उदार तथा दानी सम्राट था। वह दीन-दुखियों, अनाथों तथा पीड़ितों को सदैव दान देता था। धार्मिक अवसरों पर वह ब्राह्मणों को खूब दान देता था। उसने एक अधिकारी के नियन्त्रण में दान-विभाग की स्थापना की।

वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था तथा विष्णु का उपासक था। परन्तु शैव, बौद्ध तथा जैन धर्म आदि सभी के प्रति सहिष्णु था। राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उसका एक मंत्री बौद्ध था तथा दूसरा वैष्णव।

इस तरह उसने बड़ी योग्यता से अपने विशाल साम्राज्य को लम्बे समय तक कायम रखने के लिए पूर्ण व्यवस्था की स्थापना की तथा प्रशासन के प्रत्येक अंग का प्रजा के हितों को ध्यान में रखते हुए निरीक्षण किया।

मूल्यांकन–चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की गणना भारत के महान् शासकों में होती है। उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन निम्नलिखित तथ्य बिन्दुओं में किया जा सकता है–

विजेता–चन्द्रगुप्त एक महान् विजेता था। अपने पिता समुद्रगुप्त की भाँति उसने भी दिग्विजय-नीति का अनुसरण किया। उसने शकों को पराजित कर पश्चिम मालवा और गुजरात को गुप्त साम्राज्य में शामिल कर लिया। उसने वाह्लीकों या उत्तर कुषाणों को पराजित किया। उसे बंग-विजय का भी श्रेय प्राप्त है। उसने गणराज्यों को भी गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसने अपनी महान् विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया और विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। उसका साम्राज्य पश्चिम में पंजाब से लेकर पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में कश्मीर की दक्षिण सीमा से लेकर दक्षिण-पश्चिम में गुजरात और कठियावाड़ तक विस्तृत था।

शासक–चन्द्रगुप्त एक कुशल शासक था। शासन-कार्यों में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् थी। वीरसेन संधिग्रहिक मंत्री था। शिखर-स्वामी, आम्रकार्दव, गोविन्दपुत्र, सनकानिक महाराज, महाराज त्रिकमल आदि उच्च पदाधिकारी और सामन्त थे। प्रान्तीय अधिकारी को उपरिक कहा जाता था। प्रान्त कई जिलों में बंटा था। जिले

नोट

को विषय कहा जाता था। नगर और ग्राम शासन का उत्तम प्रबन्ध था। चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था पर्याप्त रूप में अभिनव भी थी। साम्राज्य की नयी पद्धति पर संगठन, अमात्य-मंडल का संगठन, नवीन कर्मचारियों की नियुक्ति, सुरक्षा तथा शान्ति-व्यवस्था के उपाय आदि उसकी मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं।

कूटनीतिज्ञ—चन्द्रगुप्त कूटनीति में निपुण था। उसने अपनी कूटनीति का परिचय कई अवसरों पर दिया। ज्ञात है कि नारी का वेश धारण कर उसने शकपति की हत्या की थी और पागल बनने का स्वांग रचकर अपने भाई रामगुप्त की हत्या कर राजसिंहासन प्राप्त किया था। उसकी वैवाहिक नीति भी उसकी कूटनीति का परिचायक है। नागवंशीय राजकुमारी कुबेरनागा के साथ अपना, अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त का वाकाटक-नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ तथा अपने पुत्र कुमारगुप्त का कदम्बवंशीय राजकुमारी के साथ विवाह कर उसने अपनी स्थिति दृढ़ कर ली थी। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वह राजनीति का प्रकांड विद्वान् था और परिस्थित्यनुकूल काम करता था।

साहित्य-कला का पोषक—चन्द्रगुप्त द्वितीय साहित्य-कला का पोषक था। वह स्वयं विद्यानुरागी था। महाकवि कालिदास ने लिखा है, "स्वभाव से परस्पर विरोधी स्थानों में रहने वाली लक्ष्मी और सरस्वती ने इस नरेश में अपना संयुक्त निवास-स्थान बना लिया है।" काव्यमीमांसा के रचयिता राजशेखर ने कहा है कि सम्राट ने अपने अन्त:पुर में एकमात्र संस्कृत भाषा के प्रयोग की आज्ञा दे रखी है। सुबंधु ने भी अपने वासवदत्ता नामक ग्रन्थ में विक्रमादित्य के काव्य-प्रेम की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उसके निधन से काव्य का ह्रास हो गया। वह कवियों और कलाकारों का संरक्षक था। उसके दरबार में नवरत्न-धन्वन्तरि, क्षपणक, उदयसिंह, शंकु, बेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर तथा वररुचि रहते थे। इनमें कालिदास का नाम अग्रगण्य है जिन्होंने रघुवंश, मेघदूत, कुमारसंभव, ऋतुसंहार, अभिज्ञान शाकुन्तलम् आदि की रचना की, जो आज भी संस्कृत साहित्य की अक्षय निधि हैं। विक्रमादित्य का संधिविग्रहिक मंत्री वीरसेन एक उच्च कोटि का व्याकरणाचार्य, नैयायिक, राजनीतिज्ञ तथा कवि था। राजशेखर की काव्यमीमांसा से प्रतीत होता है कि उज्जयिनी और पाटलिपुत्र में विशेषज्ञ परिषदें थीं जो काव्यकारों की परीक्षा लिया करती थीं।

चन्द्रगुप्त कला-मर्मज्ञ भी था। मुद्रा-निर्माण कला में उसने नवयुग का प्रवर्त्तन किया। उसके द्वारा निर्मित स्वर्ण, रजत तथा ताम्र सभी प्रकार की मुद्राओं में उच्च कोटि की कलात्मकता दृष्टिगोचर होती है। उसकी सिंहनिहन्ता, अश्वारोही, ध्वजधारी, चक्रविक्रम एवं पर्यक-स्थित राजा-रानी मुद्राएँ मौलिक तथा नूतन हैं और उसके चरित्र की विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डालती हैं। उसकी सिंहनिहन्ता मुद्राएँ और उसके शौर्य, वीरत्व तथा साहस की परिचायक हैं। पाटलिपुत्र और उज्जयिनी में जो अनुपम प्रासाद निर्मित थे, उनसे भी उसके कला-प्रेम का परिचय मिलता है। पाटलिपुत्र के राजप्रासाद की कलात्मक बनावट देखकर फाहियान ने इसे देव-निर्मित बतलाया था। कथासरितसागर के अनुसार उज्जयिनी नगर पृथ्वी का भूषण था। कालिदास ने भी इसे स्वर्ण का एक कान्तियुक्त खंड कहा था।

धर्म-सहिष्णु—चन्द्रगुप्त द्वितीय धार्मिक मामलों में बड़ा उदार और सहिष्णु था। वह स्वयं वैष्णव था, किन्तु उसके साम्राज्य के अन्य धर्मावलम्बियों को पूरी धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। सांची शिलालेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्मावलम्बी आम्रकार्दव उसका सेनापति था। इसी प्रकार उसका संधिविग्रहिक मंत्री वीरसेन शैव था। बौद्ध-विहारों और जैन-मंदिरों की स्थिति संतोषजनक थी। विभिन्न सम्प्रदायों में सद्भाव और सहानुभूति की भावना थी। लोग मिल-जुलकर रहते थे। सांप्रदायिक दंगों और कटुता के लिए कोई स्थान नहीं था।

इस प्रकार, उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान् विजेता, कुशल शासक, कूटनीति-विशारद, साहित्य-कला-मर्मज्ञ एवं धर्म सहिष्णु सम्राट था। उसका राज्य-काल अपनी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण गुप्तवंशीय इतिहास के स्वर्णिम परिच्छेद का प्रतिनिधित्व करता है। **अरविन्द** के शब्दों में, "भारत ने अपने सर्वांगीण जीवन का प्रस्फुटन इस तरह कभी नहीं देखा है।" इसी तरह **स्मिथ** ने कहा है, "भारत प्राच्य-विधि से इस तरह कभी शासित नहीं था जिस तरह चन्द्रगुप्त द्वितीय के अधीन यह शासित था।"

8.5 फाहियान (399-411 ई.) का विवरण (Explanation of Phaiyan)

नोट

परिचय एवं यात्राएँ—फाहियान एक चीनी यात्री था, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में स्थलमार्ग से भारत आया तथा समुद्री मार्ग से वापस गया। वह एक बौद्ध भिक्षु था। धर्म की पुस्तकों की खोज तथा बौद्ध तीर्थ-स्थानों के दर्शन के लिए यात्रा के अनेक कष्टों को सहता हुआ बुद्धदेव की पवित्र भूमि भारत आ पहुँचा। पूरी यात्रा में उसे 15 वर्ष लगे जिनमें से छः वर्ष उसने भारत में बिताये, जिसमें से तीन वर्ष वह पाटलिपुत्र में ठहरा।

जैसा कि विदित है कि फाहियान पश्चिमी चीन से पूर्व तुर्किस्तान होता हुआ तारतार पहुँचा। यहाँ उसने कई बौद्ध-भिक्षुकों को भारतीय भाषा व पुस्तकें पढ़ते देखा। यहाँ से वह खोतान पहुँचा जहाँ उसने 14 विहार देखे। केवल **गोमती** विहार में ही 14 हजार भिक्षु थे। यहाँ से वह काशगार, कुफेन (काबुल) गान्धार व तक्षशिला होता हुआ पुरुषपुर (पेशावर) पहुँचा। इन सभी स्थानों पर बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव था। अफगानिस्तान में उसने महायान तथा हीनयान शाखा के तीन हजार बौद्ध भिक्षु देखे। गान्धार देश में भी हीनयान मतावलम्बियों की संख्या अधिक थी। तक्षशिला में तो उसने बौद्ध स्तूपों पर इतनी भीड़ देखी कि वहाँ पुष्प तथा दीप चढ़ाने वालों का कभी तांता नही टूटता था।

पेशावर से फाहियान पंजाब पहुँचा जहाँ उसकी भेंट लगभग 10 हजार भिक्षुओं से हुई। यहाँ से वह मथुरा आया जहाँ उसने 20 विहार देखे तथा 3 हजार बौद्ध भिक्षुओं से मिला। यहाँ से वह मध्य प्रदेश पहुँचा। यहाँ से कन्नौज रुकता हुआ श्रावस्ती पहुंचा जहाँ उसने अनेक बौद्ध स्मारक देखे। उसके बाद उसने गौतम बुद्ध से सम्बन्धित सभी स्थल कपिलवस्तु, राजगृह, कुशीनगर, वैशाली, सारनाथ, बोधगया, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों की यात्रा की और वह ताम्रलिप्ति बन्दरगाह पहुँचा। यहां से वह सिंहल द्वीप (लंका) पहुँचा जहाँ उसने दो वर्ष व्यतीत किये। यहाँ से जावा होता हुआ समुद्री मार्ग से चीन वापस लौट गया।

सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि फाहियान अपनी भारत-यात्रा तथा यहाँ के अध्ययन में इतना मग्न रहा कि उसने उस समय के शासन की बहुत प्रशंसा की है। सामाजिक-धार्मिक व आर्थिक दशा को सराहा परन्तु तत्कालीन शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय का कहीं भी नाम नहीं दिया है। उसका विवरण इस प्रकार है—

फाहियान का भारत-वर्णन

राजनीतिक दशा—फाहियान के विवरण के अनुसार मगध के राजा का शासन श्रेष्ठ व कुशल था। राज्य का उद्देश्य अधिक-से-अधिक जनता का हित करना था। शासन में लोगों को सभी प्रकार की स्वतंत्रता थी। समस्त साम्राज्य का प्रशासन राजधानी पाटलिपुत्र से संचालित होता था। राजतंत्र प्रमुख था। राजा वंशानुगत होते थे और साम्राज्य की सारी सत्ता राजा में केन्द्रीभूत होती थी। फिर भी, राज्य लोककल्याणकारी थे। धर्म, नीति, परम्पराएँ मंत्रिपरिषद् आदि उसकी निरंकुशता पर नियंत्रित थे।

शासन संचालन के लिए एक मंत्रिपरिषद् होती थी। इनका पद प्रायः पैतृक होता था। युद्ध, संधि व शांति का एक ही मंत्री होता था जो 'शांति विग्रहिक' कहलाता था। वह युद्ध-स्थल में सम्राट के साथ रहता था। अन्य विभागों में भी मंत्री होते थे।

प्रशासन की सुविधा के लिये सम्पूर्ण साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था जिन्हें देश या मुक्ति कहा जाता था और इसके सर्वोच्च अधिकारी को 'उपरिक' कहा जाता था। यह अधिकतर राज परिवार के होते थे। प्रान्त जिलों में विभाजित था, जिन्हें प्रदेश या विषय कहा जाता था और इसके प्रधान को विषयपति। गाँव के शासक को ग्रामिक कहते थे।

राज्य की आमदनी का मुख्य साधन भूमि कर था जिसे उद्रंग कहते थे। यह उपज का 1/6 भाग होता था। भूमि के उर्वरापन के हिसाब से 16% से लेकर 25% तक कर लगाया जाता था। राज्य के प्रमुख करों में उपरिक जिन्हें भूस्वामित्व प्राप्त नहीं था उनसे लिये जाते थे। 'वट', 'भूत', 'धान्य' (अनाज कर), हिरण्य (मूल्यवान धातुओं पर कर), न्याय शुल्क, अर्थ दण्ड, भोग कर (व्यापारिक वस्तुओं पर) आदि थे।

साम्राज्य की विशालता तथा प्रशासन चलाने हेतु अनेक सरकारी कर्मचारी व अधिकारी थे जिनकी फाहियान ने सूची दी है—

नोट

(1) राजामात्य (सम्राट का परामर्शदाता) (2) महासामन्त व महाप्रतिहार (अन्त:पुर का अधिकारी), (3) राजस्थानीय (सम्राट के राजप्रासाद का अधिकारी), (4) देशपाशाधिकारी (पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी), (5) चौरोद्धरणिक (गुप्तचर विभाग का अधिकारी), (6) मट (पुलिस का सिपाही), (7) उपरिक (न्याय व राजस्व अधिकारी), (8) विनय-स्थिति स्थापक (मुख्य दण्डाधिकारी), (9) दण्डनायक व महादण्ड नायक (न्याय विभाग के अन्य अधिकारी), (10) भांडागाराधिकृत (कोष विभाग का अध्यक्ष), (11) महाक्षपटलिक (राजकीय लेखे-जोखे का अधिकारी), (12) महासेनापति (सेना का सर्वोच्च अधिकारी), (13) महापीलुपति (हाथियों की सेना का अध्यक्ष), (14) महाश्वपति (अश्वारोही सेना का अध्यक्ष), (15) रणभांडागारिक (युद्ध व रसद सामग्री का अधिकारी)।

इन सभी अधिकारियों को राज्य की ओर से नकद वेतन मिलता था। वे पूर्ण ईमानदारी और निष्ठा से कार्य करते थे। देश में शान्ति व व्यवस्था थी और चोरी व अपराध कम होते थे। फाहियान वर्षों तक अकेला निर्जन मार्गों तथा वनों में घूमता रहा परंतु उसे किसी भी चोर-लुटेरे ने तंग नही किया। उसके अनुसार अपराध कम होते थे तथा दण्ड-विधान कठोर नहीं था। अधिकांश अभियुक्त केवल जुर्माना द्वारा ही दण्डित किए जाते थे। बार-बार विद्रोह करने वालों का अंगभंग कर दिया जाता था या हाथी से कुचलवा दिया जाता था। देशद्रोहियों की आँखें निकलवा ली जाती थीं। यात्रियों को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था। वे बिना प्रवेश-पत्र के एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम सकते थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. श्रीलंका के शासक मेघवर्ण ने बोधगया में एक बौद्ध मंदिर के निर्माण की अनुमति प्राप्त करने के लिए समुद्रगुप्त के पास एक दूत भेजा था।
9. चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छिवियों से नाता जोड़कर अपनी शक्ति तथा साम्राज्य का विस्तार किया था।
10. रघुवंश, मेघदूत, कुमार संभव की रचना बाणभट्ट ने की।
11. महाश्वपति युद्ध व रसद सामग्री का अधिकारी होता था।

दान धर्म की कई संस्थाएँ थीं। सड़कों के किनारे या उनसे दूर लोग दानगृह बनवाते थे। सड़क के दोनों ओर छायादार वृक्ष व धर्मशालाएँ बनी हुई थीं, जहाँ यात्रा करने वाले भिक्षुओं व यात्रियों को बिस्तर व भोजन की सुविधा मिलती थी। स्थायी निवासी व यात्री भिक्षुओं को बिस्तरों व चटाइयों और खाने तथा कपड़े सहित रहने के लिए कमरे दिए जाते थे। सारीपुत्त, मोगालन, अभिधम्म, आनन्द विनय व सुत्तों के सम्मान में पैगोडे बनाए जाते थे। यादि कोई विदेशी यात्री किसी विहार में जाता था तो उच्च पुरोहित उसे अतिथि-गृह तक छोड़ने जाते थे तथा उसके वस्त्र व दानपात्र भी उठाते थे। वे उन्हें पैर धोने के लिए पानी व मालिश के लिए तेल देते थे तथा उनके लिए विशेष खाना बनाया जाता था। कुछ विश्राम के पश्चात् धर्माचार्य की पदवी व स्थिति पूछी जाती थी और उसके अनुसार स्थान व बिस्तर दिया जाता था।

सामाजिक दशा–गुप्त काल में शान्ति, समृद्धि, सुव्यवस्था, उदारता, सहिष्णुता, विद्यानुराग एवं ललित कलाओं के संरक्षण में सामाजिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति, पुनर्जागरण, आत्मचेतन व सांस्कृतिक सृजन का वातावरण उत्पन्न हो गया था। लोगों का जीवन सुखी व सम्पन्न था। देश के निवासियों की उदारता, धर्मपरायणता, दानशीलता, सुख-सुविधापूर्ण धर्मशालाएँ, समृद्ध कृषि व विभिन्न दान के स्थल इस बात के प्रमाण हैं कि साधारण जनता सुखी व समृद्ध थी।

फाहियान के अनुसार इस युग के लोगों में शिष्टाचार, दान, अतिथि सत्कार, सदाचारिता, उच्च नैतिकता आदि गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। लोग इतने ईमानदार थे कि लेन-देन के लिए लिखा-पढ़ी नहीं की जाती थी। चोरी, लूट व अपराध बहुत कम होते थे। अधिकतर लोग अहिंसा का सिद्धान्त मानते थे। मदिरापान बुरा माना जाता था। लोग मांस, लहसुन, प्याज भी नहीं खाते थे। चाण्डाल समाज से बहिष्कृत होते थे। भारत में जो विदेशी जातियाँ जैसे शक, पल्लव, हूण, यूनानी व कुषाण आदि आयी थीं, वे धीरे-धीरे भारतीय समाज में विलीन हो गयी थीं।

नोट

समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के अतिरिक्त चार आश्रम–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम को समाज के सभी वर्ग मानते थे। ब्राह्मणों का समाज में सबसे अधिक सम्मान था। वे वैदिक मंत्रों, सूत्रों, भाष्यों व प्रवचनों में प्रवीण होते थे और समाज के सभी धार्मिक कार्य सम्पन्न कराते थे। क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करते थे। वैश्य व्यापार, वाणिज्य तथा शूद्र सेवा कार्य करते थे। कुछ हीन व्यवसाय करने वाली जातियाँ भी थीं जैसे-चाण्डाल आदि। ये लोग नगर के बाहर रहते थे और जब नगर में प्रवेश करते थे तो उन्हें लकड़ी बजाते हुए चलना पड़ता था जिससे कोई उनसे स्पर्श न हो जाये।

समाज में संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। परिवार का मुखिया वयोवृद्ध व्यक्ति होता था, जो परिवार के सारे सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था के लिए जिम्मेदार होता था। समाज में दास प्रथा का भी प्रचलन था। ये खरीदे या बेचे जाते थे अथवा जो ऋण नहीं दे पाते थे वे स्वयं को बेच देते थे या दास हो जाते थे। पर्दे की प्रथा का प्रचलन नहीं के बराबर था। स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक भ्रमण करती थीं, हाँ उच्च कुल की स्त्रियाँ घर से बाहर निकलने पर घूँघट का प्रयोग करती थीं।

स्त्रियाँ पुरुषों के साथ-साथ सामाजिक व धार्मिक कार्यों में भाग लेती थीं। साधारणतया वे गान, नृत्य व गृह-कार्य में प्रवीण होती थीं। कभी-कभी वे शासन-संचालन में भी योगदान दिया करती थीं। दक्षिण भारतीय स्त्रियाँ तो सार्वजनिक रूप से नृत्य-कला का प्रदर्शन किया करती थीं।

समाज में एक विवाह की प्रथा प्रचलित थी परन्तु उच्च वर्ग में बहु-विवाह का प्रचलन भी था। विधवा-विवाह तथा कुछ अंशों तक बेमेल विवाह भी प्रचलित थे। विभिन्न जातियाँ तथा सम्प्रदायों में अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। समाज में अनुलोम व प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह का प्रचलन था।

स्त्री और पुरुष दोनों ही सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। पुरुष एक ऊपरी वस्त्र तथा नीचे धोती का प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ साड़ी, लुंगी व चोली धारण करती थीं। कहीं-कहीं स्त्रियाँ छोटा-सा घाघरा व दुपट्टा पहनती थीं। शकों के प्रभाव से कोट, ओवर कोट व पाजामे का प्रयोग भी होने लगा था। पगड़ी बाँधने का प्रचलन था। स्त्रियाँ या पुरुष प्रायः नंगे पैर रहा करते थे।

स्त्री व पुरुष दोनों ही शृंगार तथा आभूषणप्रिय थे। मुख व होंठों की सौंदर्य वृद्धि हेतु विभिन्न प्रकार के सुगन्धित लेपों का प्रयोग किया जाता था। मुख पर चन्दन का पाउडर लगाया जाता था। फाहियान को जब पहली बार एक उत्सव में इत्र लगाया गया तो वह उसकी सुगंध से बहुत प्रसन्न हुआ था। केशों में सुगंधित तेलों का प्रयोग होता था तथा स्त्रियाँ केश-विन्यास विभिन्न प्रकार से करती थीं। आभूषणों में कान की बालियाँ, मोतियों की मालाएँ, चम्पाकली व तरह-तरह के हार, दस्तबन्ध, बाजूबन्द, रत्नजड़ित चूड़ियों व अंगूठियों का बहुत प्रचलन था। नथ या नाक की लौंग का प्रयोग नहीं किया जाता था।

आर्थिक दशा–फाहियान लिखता है कि इस काल में देश धन-धान्य से पूर्ण था और आर्थिक समृद्धि चारों ओर विराजमान थी। लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। गेहूँ, दाल, चावल, जूट, मक्का, कपास, विभिन्न फल व सब्जियाँ, मसाले, सुपारी, नील आदि की खेती की जाती थी। देश का प्रमुख व्यवसाय कपड़ा उद्योग था जो गुजरात, बंगाल, आसाम व तमिल देश में बनाए जाते थे। रेशमी वस्त्र बनारस व मथुरा में बनाए जाते थे।

धातुओं को गला कर विभिन्न वस्तुएँ बनाई जाती थीं। महरौली का लौह स्तम्भ उस युग की धातुकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जो आज भी बिना जंग लगे शताब्दियों से विद्यमान है। विभिन्न प्रकार के रत्नों को काटने-छाँटने व चमकाने की कला उन्नत दशा में थी। जलपोत भी बनाए जाते थे। हाथी दाँत की बहुत सुन्दर मूर्तियाँ बनायी जाती थीं।

इस काल में विभिन्न व्यवसाय करने वाले शिल्पियों, जुलाहों, कुम्हारों व महाजनों की व्यापारिक श्रेणियाँ थीं। बड़े नगरों में वणिकों, महाजनों तथा शिल्पियों के निगम भी होते थे। इस काल में वैशाली में एक व्यापक निगम था जिनके नियम, उपनियम तथा विधियाँ थीं।

गुप्तकाल में जल व स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। व्यापार की वस्तुओं में सूती व रेशमी वस्त्र, सोना, चाँदी, रत्न, नमक व मसाले मुख्य थे। व्यापार के प्रमुख केन्द्र विदिशा, उज्जैन, मथुरा, साकेत, प्रयाग, बनारस, गया, ताम्रलिप्ति, भृगुकच्छ (भड़ौंच), पुष्पपुरा, मदुरा आदि थे। देश के आन्तरिक व्यापार के लिए पर्याप्त राजमार्ग थे। एक

नोट

थल मार्ग जबलपुर से होता हुआ दक्षिण की ओर होता हुआ पूर्वी समुद्रतट के नगरों की ओर जाता था तथा दूसरा विदिशा, उज्जैन, नासिक होता हुआ पश्चिमी समुद्र तट के बन्दरगाहों व नगरों को जाता था। पाटलिपुत्र से एक थल-मार्ग पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत को जाता था। इस थल-मार्ग से उत्तर-पूर्व में तिब्बत, खोतान, चीन आदि देशों से और पश्चिम में ईरान, अरब व अन्य देशों से व्यापार होता था। नौकाओं द्वारा गोदावरी, कृष्णा व ब्रह्मपुत्र नदी से व्यापार होता था। इसके अलावा समुद्री मार्ग से पूर्वी तथा पश्चिमी देशों से व्यापार होता था। रोमन साम्राज्य को शृंगार-प्रसाधन की विभिन्न वस्तुएँ भेजी जाती थीं। चीन से रेशमी वस्त्र आता था। व्यापार-विनिमय में विभिन्न प्रकार के सोने, चाँदी व ताँबे की मुद्राओं का उपयोग किया जाता था। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का उपयोग भी होता था।

धार्मिक दशा—फाहियान के लेखों से भारत की तत्कालीन धार्मिक अवस्था का भी पता चलता है। इसके विवरण से यह पता चलता है कि उस समय ब्राह्मण-धर्म बड़ी उन्नत दशा में था और मध्य-भारत में उसका बड़ा जोर था। चन्द्रगुप्त स्वयं वैष्णव धर्म का अनुयायी था। परन्तु पंजाब, मथुरा और बंगाल में बौद्ध धर्म की प्रधानता थी और महायान एवं हीनयान दोनों ही सम्प्रदाय विद्यमान थे। फाहियान ने स्वयं देश के विभिन्न भागों में अनेक बौद्ध-विहार देखे थे।

फाहियान शान-शान गया जहाँ उसे हीनयान धारा के 4,000 बौद्ध भिक्षु मिले। तारतार प्रदेश में उसने कई बौद्ध भिक्षुओं को भारतीय भाषा तथा पुस्तकें पढ़ते देखा। खोतान में उसने महायान धारा के हजारों भिक्षु देखे। केवल गोमती विहार में ही 3,000 भिक्षु थे और खोतान में इस प्रकार के चौदह विहार थे। काशगर में उसने एक हजार बौद्ध भिक्षु देखे और वहाँ का राजा भी बौद्ध था जो हीनयान धारा का अनुयायी था। फाहियान ने गान्धार, तक्षशिला और पेशावर की यात्रा भी की और इन स्थानों में असंख्य बौद्ध स्मारक थे। अफगानिस्तान में उसने महायान और हीनयान धाराओं के 3,000 भिक्षु देखे। उसने बन्नू की यात्रा भी की और वहाँ भी बहुत से बौद्ध भिक्षु थे। पंजाब में उसने कई बौद्ध विहार देखे और इनमें अनुमानत: 10,000 से भी अधिक भिक्षु थे। केवल मथुरा में ही उसने 10 विहार देखे जिनमें 3,000 बौद्ध भिक्षु थे। फाहियान ने मध्यदेश नामक प्रदेश की भी यात्रा की। श्रावस्ती में उसने कई बौद्ध स्मारक देखे। लुम्बिनी, वैशाली, नालन्दा, गया, बोधगया और राजगृह आदि बौद्ध स्थानों की उसने यात्रा की। उसने लंका की यात्रा भी की और वहाँ दो वर्ष रहा। लंका से वह जावा गया और वहाँ से वापस चीन पहुँचा।

फाहियान के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त काल में भारतीयों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

शिक्षा—फाहियान के शब्दों में, गुप्तकाल में शिक्षा का भी पर्याप्त प्रचार था। यद्यपि राज्य की ओर से सुसंगठित शिक्षण संस्थाएँ नही थीं फिर भी गुरु अपने आश्रमों में विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। ये आचार्य अधिकतर पवित्र तीर्थ स्थानों, राजधानियों व विशाल नगरों में निवास करते थे। पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा तथा राज्य के सहयोग से उनका खर्च चलता था। उस समय के प्रमुख शिक्षा केन्द्र पाटलिपुत्र, पद्मावती, मथुरा, उज्जयिनी, अयोध्या, वस्तगल्म, वाराणसी, नासिक व ललमी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। मन्त्र, सूत्रों व भाष्यों में अयोध्या के विद्वान बहुत प्रसिद्ध थे। तक्षशिला जो प्राचीन-काल में शिक्षा का केन्द्र रहा अब अवनत दशा में था किन्तु नालन्दा एक महान् विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया था, जहाँ बौद्ध धर्म के अलावा ब्राह्मण व जैन धर्म का भी व्यापक एवं विशद् अध्ययन किया जाता था। सौराष्ट्र में वल्लभी भी प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र था। ब्राह्मणों में शिक्षा का अधिक प्रचार था किन्तु शूद्र अशिक्षित ही रहते थे। इस युग में वेदों के स्थान पर पुराण, स्मृति, तर्क, दर्शन, न्याय व व्याकरण आदि का अध्ययन किया जाता था। लौकिक विषयों में ज्योतिष, गणित व आयुर्वेद भी पढ़ाये जाते थे। शिक्षा समाप्ति पर परीक्षा की उपाधि नहीं दी जाती थी। इस काल में शिक्षा के साथ-साथ साहित्य की भी अपूर्व प्रगति हुई और संस्कृत भाषा का उत्कर्ष हुआ। इस समय के उत्कीर्ण लेख काव्यमयी संस्कृत में लिखे गये हैं।

पाटलिपुत्र का वर्णन—फाहियान ने पाटलिपुत्र का भी एक विवरण उपस्थित किया है। पाटलिपुत्र नगर और अशोक के महल से फाहियान अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसके विचार में कई भवनों वाला महल आत्माओं ने बनाया था जो पत्थरों पर पत्थर रखती गईं, दीवारें और द्वार बनाए, चित्रकारी की और अमानुषिक ढंग से कढ़ाई तथा नक्काशी की। फाहियान की यात्रा के समय भी अशोक का महल बना हुआ था। अशोक के बनवाए एक स्तूप के निकट फाहियान ने दो विहार देखे जिनमें से एक में महायान धारा के और दूसरी में हीनयान धारा के बीच भिक्षु रहते थे। दोनों विहारों

नोट

में कुल छः सात सौ भिक्षु रहते थे। किन्तु अपनी विद्वत्ता के लिए वे इतने प्रसिद्ध थे कि दूर-दूर से विद्यार्थी तथा जिज्ञासु उनके भाषण सुनने आते थे। स्वयं फाहियान ने संस्कृत भाषा सीखने में तीन वर्ष लगाए। भिक्षुओं की नीति-पुस्तकें प्राप्त करके वह अति प्रसन्न हुआ। बीस बड़े और सुसज्जित रथों वाले विशाल जुलूस की उसने बहुत सराहना की। ये जुलूस हर साल निकाले जाते थे और दूसरे महीने की आठवीं तिथि को इसे शहर में घुमाया जाता था। उनमें शासक और संगीतज्ञ भी होते थे। फाहियान ने हमें बताया है कि ऐसे जुलूस और शहरों में भी निकाले जाते थे।

फाहियान से हमें ज्ञात होता है कि धनी लोगों ने "अपनी राजधानियों में निःशुल्क औषधालय बना रखे हैं और सभी निर्बल या असहाय रोगी, अनाथ, विधवाएँ और पंगु वहाँ आते हैं। वहाँ इनकी अच्छी देख-रेख की जाती है एवं वैद्य उनकी चिकित्सा करता है और खाना तथा औषधियाँ उनके आवश्यकतानुसार निःशुल्क दी जाती हैं, उन्हें आराम पहुँचाया जाता है और जब वे ठीक हो जाते हैं तो वे चले जाते हैं।"

कुमारगुप्त (415 से 455 ई. तक)

सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र कुमारगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। उसके शासनकाल में गुप्त साम्राज्य की शक्ति स्थिर रही किन्तु अन्तिम वर्षों में पुष्यमित्र **शुंग** के वंशजों ने गुप्त साम्राज्य पर भीषण आक्रमण आरम्भ कर दिये। कुमारगुप्त ने वृद्धावस्था एवं अस्वस्थता के कारण स्वयं आक्रमणकारियों का सामना नहीं किया। उसने इस कार्य का भार अपने सुयोग्य पुत्र स्कन्दगुप्त को सौंप दिया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार कुमारगुप्त स्वयं आक्रमणकारियों का सामना करते हुए युद्ध-भूमि में काम आया। उसके पश्चात् स्कन्दगुप्त ने शत्रुओं का दमन करने के लिए युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान किया। स्कन्दगुप्त के शत्रु बड़े विकराल, साधन सम्पन्न और अत्यधिक शक्तिशाली थे। उनका आवास नर्वदा तट पर नर्मदा से उद्‌गम के समीप था। स्कन्दगुप्त ने अतुलित पराक्रम का प्रदर्शन करके अन्त में अपने शत्रुओं को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की।

कुमारगुप्त के शासन काल के अनेक अभिलेख उपलब्ध हो चुके हैं, इतने अभिलेख और किसी गुप्त शासक के नहीं मिलते। उनसे उनके राज्यकाल की घटनाओं पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि जो साम्राज्य उसे अपने पिता से मिला था उसे उसने अक्षुण्ण रखा। पश्चिमी भारत में दूर-दूर तक उसके सिक्के मिले हैं, जिनसे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

कुमारगुप्त के सिक्कों से सिद्ध होता है कि अपने दादा समुद्रगुप्त की भाँति उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। यह यज्ञ किन्हीं नयी विजयों के उपलक्ष्य में किया गया था अथवा अन्य किसी कारण से यह कहना कठिन है।

कुमारगुप्त ने सोने के अनेक नये प्रकार के सिक्के चलाये। एक सिक्के में एक ओर कार्तिकेय को मोर पर सवार दिखाया गया है और दूसरी ओर राजा मोर का अभिवादन कर रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह कार्तिकेय का परम भक्त और उपासक था। लगभग 445 या 446 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके सम्बन्ध में **डॉ. आर. सी. मजूमदार** ने लिखा है—"कुमारगुप्त के राज्य को प्रायः रुचिहीन और महत्वशून्य समझा जाता है। लेकिन उसके चरित्र और कार्यों का ठीक मूल्यांकन करते समय हमें उन महत्त्वपूर्ण विवरणों को उपयुक्त महत्ता देनी चाहिए जिन्हें आमतौर पर उपेक्षित कर दिया जाता है। इस समय के अनेक अभिलेखों में केवल एक सैनिक अभियान का उल्लेख है जो उसके राज्यकाल के अन्त में भेजा गया। इसके अतिरिक्त अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक उसकी अपनी देख-रेख में एक शान्तिमय और सुस्थिर प्रशासन का आभास होता है। इतने बड़े साम्राज्य को केवल एक सशक्त और उपकारी शासन ही इस प्रकार नियंत्रण में रख सकता था। उसकी मृत्यु के शीघ्र पश्चात् ही हूणों तथा अन्य शत्रुओं की पराजय से राजसेना की कुशलता का प्रमाण मिलता है। कुमारगुप्त के लिए यह श्रेय की बात थी कि लगभग 40 वर्ष तक शान्तिपूर्ण समय में भी राज-सेना को सुरक्षित रखा गया। यह असम्भव नहीं कि आधुनिक इतिहासज्ञ कुमारगुप्त के प्रशासन और व्यक्तित्व को कितना श्रेय प्रदान करते हैं उससे अधिक श्रेय उसे देना चाहिए। उसके राज्य को एक अन्धकारमयी पृष्ठभूमि समझा जाता है, जिसके सामने उसके उत्तराधिकारी और दो पूर्वाधिकारियों के राज्य चमकते दिखाई देते हैं। हमें ज्ञात है कि यह सम्भवतः उचित नहीं है और वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य से संगत नहीं है।"

नोट

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (455-467 ई. लगभग)

स्कन्दगुप्त गुप्त वंश का अंतिम महान् सम्राट था। उसने अपने पिता द्वारा बनाये गये विशाल साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा, परन्तु उसके समय से ही साम्राज्य पर विपत्ति के बादल मंडराने लगे, जिसके परिणामस्वरूप उसके मृत्यु के कुछ ही वर्षों पश्चात् विशाल गुप्त साम्राज्य को पतन के दिन देखने पड़े।

डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार का मत था कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के उपरान्त गद्दी पर अधिकार करने के लिए गृह युद्ध हुआ। इस युद्ध में स्कन्दगुप्त ने अपने सभी भाइयों, यहाँ तक कि पुरुगुप्त को भी जिसका सिंहासन पर वैध अधिकार था, को पराजित कर दिया तथा स्वयं सम्राट बन बैठा। इसके बाद उसने स्वयं सम्राट की उपाधि धारण की तथा जैसे भगवान कृष्ण ने देवकी का उद्धार दिया था वैसे ही उसने अपनी माता का उद्धार दिया। डॉ. मजूमदार का यह मत भिटारी अभिलेख पर आधारित है जिसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं, उनका यह भी कहना है कि इस अभिलेख में तथा विहार अभिलेख में जो वंशावली दी गयी है, उसमें स्कन्दगुप्त की माता का नाम नहीं दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह मुख्य रानी नहीं थी। इस प्रकार स्कन्दगुप्त सिंहासन का वैध उत्तराधिकारी नहीं था। सिंहासन का वास्तविक उत्तराधिकारी कुमारगुप्त एवं अनन्तदेवी का पुत्र पुरुगुप्त था।

क्या आप जानते हैं स्कन्दगुप्त के शासनकाल में हुए हूण आक्रमण का स्पष्ट उल्लेख उसके भिटारी अभिलेख में हुआ है।

आधुनिक विद्वान इस मत को नहीं मानते हैं। अनेक साहित्यिक एवं मौद्रिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम कुमारगुप्त ने अपने जीवन के अन्तिम काल में राज्य का भार अपने एक पुत्र को सौंप दिया था। यह पुत्र प्रो. गोयल के मतानुसार, स्कन्दगुप्त ही होना चाहिए क्योंकि **कथासरितसागर** में उसे विक्रमादित्य कहा गया है जो स्कन्दगुप्त की उपाधि थी तथा उसे मलेच्छों पर विजय प्राप्त करने का गौरव प्रदान किया गया है। अत: डॉ. मजूमदार की गृह-युद्ध की धारणा बहुत तर्कपूर्ण नहीं है। वास्तव में स्कन्दगुप्त की सैनिक प्रतिभा (पुष्यमित्रों का दमन) से प्रसन्न होकर ही कुमारगुप्त ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था।

स्कन्दगुप्त के शासन काल की सबसे बड़ी घटना भारत पर हूण आक्रमण की है। ये हूण बर्बर जाति के थे और अपनी शक्ति का विस्तार कर वे यूरोप तथा एशिया में लूटमार मचाया करते थे। पाँचवीं शताब्दी ई. में हूण मध्य एशिया की एक सशक्त शक्ति बन बैठे थे। इनकी एक शाखा **श्वेत हूण** ने ऑक्सीस घाटी पर अपना अधिकार जमा लिया था। यहाँ से वे गान्धार तक बढ़ आए तथा अब भारत पर अपनी गिद्ध दृष्टि जमाए हुए थे।

स्कन्दगुप्त के शासनकाल में हुए हूण आक्रमण का स्पष्ट उल्लेख उसके भिटारी अभिलेख में हुआ है। लेकिन उसकी जूनागढ़ प्रशस्ति में हूण के स्थान पर 'मलेच्छ' नाम का उल्लेख किया गया है। यद्यपि कुछ विद्वानों की धारणा है (सुधाकर चट्टोपाध्याय, राधाकृष्ण चौधरी, इत्यादि) कि हूण एवं मलेच्छ अलग-अलग थे, परन्तु ज्यादा विद्वान दोनों को एक ही मानते हैं। हूणों की चर्चा सोमदेव कृत कथासरितसागर में भी की गयी है।

उपरोक्त वर्णित स्रोतों में इस बात का जिक्र नहीं किया गया है कि स्कन्दगुप्त एवं हूणों के बीच संघर्ष कहां हुआ, लेकिन इस आक्रमण की भयंकरता का आभास इनसे अवश्य मिलता है। भिटारी अभिलेख में कहा गया है कि जब स्कन्दगुप्त ने हूणों के विरुद्ध युद्ध किया तो उसकी भुजाओं के प्रताप से धरा प्रकम्पित हो उठी और एक भयंकर बवण्डर उठ खड़ा हुआ। परन्तु इस विभीषिका के बावजूद स्कन्दगुप्त की हूणों पर विजय हुई। इस विजय ने हूणों के हौसले को काफी समय तक के लिए पस्त कर दिया। वे पाँचवीं शताब्दी के अन्त तथा छठी शताब्दी के प्रारम्भ तक फिर आक्रमण करने का साहस नहीं प्राप्त कर सके।

इस प्रकार एक कठिन परिस्थिति में गद्दी पर बैठते हुए भी स्कन्दगुप्त ने इन कठिनाइयों पर सफलता प्राप्त की। उसने अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त साम्राज्य को बनाए रखा यद्यपि वह कोई नयी विजय प्राप्त नहीं कर सका। उसके जूनागढ़ लेख तथा गरुड़, वेदी और नन्दी प्रकार की रजत मुद्राओं से उसका अधिकार पश्चिमी प्रान्तों पर सिद्ध होता है। इन्दौर (बुलन्दशहर), भिटारी (गाजीपुर), कहोम (गोरखपुर) तथा सूपिया (रीवा) लेखों एवं मयूर प्रकार के सिक्कों से

नोट

स्पष्ट होता है कि उसका अधिकार मध्य प्रदेश पर भी था। बंगाल और बिहार से प्राप्त स्वर्णमुद्राओं से इन प्रदेशों पर भी उसके अधिकार होने की पुष्टि होती है। कुमारगुप्त प्रथम के समान ही उसके अधिकार में पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में गुजरात-कठियावाड़ तक के क्षेत्र तथा उत्तर प्रदेश की पश्चिमी सीमा, उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक की विस्तृत भूमि उसके अधीन थी।

स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य को बचाए रखने के साथ-साथ इसके कुशल प्रशासन की भी व्यवस्था की। उसने इस क्षेत्र में आवश्यक सुधार किए। पुराने प्रांतपतियों के स्थान पर सभी प्रांतों में नए गवर्नर नियुक्त किए गए। जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने पर्णदत्त को सौराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त किया। चक्रपालित को गिरनार का अधिकारी बनाया गया। इसने 456 ई. में सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण करवाया। देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए यज्ञ किये तथा सुदर्शन झील के समीप विष्णु भगवान (चक्रभृत) का एक मन्दिर भी बनवाया। इनके अतिरिक्त शर्व्वनाग एवं प्रभाकर तथा भीम वर्मा भी स्कन्दगुप्त के अधीन शासक या प्रान्तपति थे।

स्कन्दगुप्त के अभिलेखों से स्थानीय प्रशासन पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। विहार शिलालेख में **अग्रहारिक, सौलिक** तथा **गौलमिक** नामक अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। इनमें से पहले शुल्क वसूल करने वाले थे तथा दूसरा जंगलों का अधिकारी था। जूनागढ़ अभिलेख से शहरों के प्रधान–**नगररक्षक** के कार्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। चक्रपालित ऐसा ही एक नगररक्षक था, जिसके कार्यों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

स्कन्दगुप्त अपनी वीरता, जन-कल्याण की भावना एवं चारित्रिक विमलता के लिए विख्यात था। भिटारी अभिलेख में उसे **जगतिभूज-बलाद्यो गुप्तवंशैकेवीरः** कहा गया है। उसकी तुलना इन्द्र एवं राम से की गयी है। उसकी धर्मपरायणता और सत्यवादिता की भी चर्चा की गयी है तथा उसकी तुलना धर्मराज युधिष्ठिर से की गयी है। उसकी कुछ मुद्राओं पर उसे 'पराहितकारी' बतलाया गया है। स्कन्दगुप्त धार्मिक दृष्टिकोण से वैष्णव धर्मावलम्बी था लेकिन वह अन्य धर्मावलम्बियों को भी आदर की दृष्टि से देखता था। उसके राज्य में सभी धर्मों के मानने वालों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी।

अतः यह स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त अपने वंश का एक महान सम्राट था। उसने संकट की घड़ी में गुप्त साम्राज्य की रक्षा की। **आर्यमंजुश्रीमूलकल्प** के लेखक ने उसको 'उस अधम युग' में शासन करने वाला **'श्रेष्ठ', 'बुद्धिमान'** और **'धर्मवत्सल'** राजा बतलाया है।

पुरुगुप्त तथा कुमारगुप्त द्वितीय

स्कन्दगुप्त की मृत्यु 467 ई. के लगभग हुई। उसके बाद पुरुगुप्त सिंहासन पर बैठा। वह संभवतः स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था और कुमारगुप्त की मुख्य रानी अनन्तदेवी से उत्पन्न हुआ था। उसके सिक्कों से विदित होता है कि उसने 'श्रीविक्रम' और 'प्राकाशादित्य' के विरुद धारण किये थे। इसी काल में कुमारगुप्त द्वितीय नाम के एक और गुप्त राजा का उल्लेख आया है। वह 474 ई. में शासन कर रहा था। इन दोनों का एक-दूसरे से क्या सम्बन्ध था, यह कहना कठिन है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह स्कन्दगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसे हटाकर पुरुगुप्त ने सिंहासन प्राप्त कर लिया था। अन्य विद्वानों की कल्पना है कि वह पुरुगुप्त का पुत्र रहा होगा और उसके बाद सिंहासन पर बैठा। इन दोनों राजाओं का शासनकाल अत्यन्त सीमित था।

बुद्धगुप्त

पुरुगुप्त के बाद बुद्धगुप्त सिंहासन पर बैठा। उसके अनेक उत्कीर्ण लेख मिले हैं। वह 477 ई. में शासन कर रहा था। उसने सम्भवतः बीस वर्ष अथवा उससे कुछ अधिक काल तक शासन किया। उसने साम्राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम रखी। मालवा, गुजरात और बंगाल आदि प्रांतों पर उसका आधिपत्य कायम रहा। फिर भी उसके काल में गुप्त-साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा कम होने लगी थी। दूरस्थ प्रान्तों के शासकों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और उनमें से अनेक केवल नाममात्र के लिए गुप्त सम्राट का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। बुद्धगुप्त की मृत्यु 500 ई. के लगभग हुई होगी।

नोट

अंतिम गुप्त शासक

बुद्धगुप्त के बाद उसका भाई नरसिंहगुप्त सिंहासन पर बैठा। उसके बाद कुमारगुप्त तृतीय तथा विष्णुगुप्त शासक हुए। इन तीनों ने मिलकर लगभग 570 ई. तक राज्य किया होगा। इसी काल में वैन्यगुप्त तथा भानुगुप्त दो अन्य गुप्त हुए। उनका गुप्त वंश की मुख्य शाखा से क्या सम्बन्ध था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। भानुगुप्त का केवल एक उत्कीर्ण लेख एरन (मध्य प्रदेश के सागर जिले में) मिला है। उससे पता चलता है कि भानुगुप्त तथा उसके एक करद सामन्त गोपराज ने एक युद्ध में महान पराक्रम का परिचय दिया। सम्भवत: यह युद्ध हूणों के विरुद्ध लड़ा गया था। युद्ध में गोपराज मारा गया और उसकी पत्नी सती हो गयी।

गुप्तों की मुख्य शाखा में नरसिंह गुप्त जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, अन्तिम महान् शासक हुआ। उसने बालादित्य की उपाधि धारण की।

नरसिंहगुप्त के शासनकाल में गुप्त-साम्राज्य पर अनेक विपत्तियाँ आयीं। मालवा में यशोधर्मन नाम का एक प्रतापी विजेता हुआ, जिसने गुप्त-साम्राज्य को भारी क्षति पहुँचायी और अनेक प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। उसके सम्बन्ध में अधिक विस्तार से हम आगे बतायेंगे।

इसी काल में मिहिरकुल हूण ने भी साम्राज्य पर बार-बार आक्रमण किये और नरसिंहगुप्त को कर देने पर बाध्य किया। हूण विजेता ने जनता पर भयंकर अत्याचार भी किये। विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त का वंशज इस अपमान को कैसे सहन कर सकता था। युवान च्वांग के वर्णन से मालूम होता है कि नरसिंहगुप्त बालादित्य ने मिहिरकुल पर पूर्ण विजय प्राप्त की और उसको बन्दी बना लिया, किन्तु अन्त में उसे छोड़ दिया। युवान च्वांग के वर्णन से मालूम होता है कि नरसिंह बौद्ध धर्म का संरक्षक था। उसने नालन्दा में एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया।

नरसिंह गुप्त के उत्तराधिकारी दुर्बल निकले और पतन की प्रक्रिया को न रोक सके। उनके समय में गुप्तों का भाग्य पूर्ण तेजी से अस्ताचल की ओर जाने लगा। चारों ओर आन्तरिक विद्रोह उठ खड़े हुए। परिणामस्वरूप, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाहुबल से निर्मित गुप्त साम्राज्य पतन के गर्त में डूब गया।

8.6 गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण (The Reason of Decline Gupta's Kingdom)

गुप्त-साम्राज्य का निर्माण समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बड़े यत्न से किया था, परन्तु उनके उत्तराधिकारी इतने दुर्बल निकले कि वे इस विशाल साम्राज्य को बचाने में असफल रहे। अयोग्य उत्तराधिकारियों के अतिरिक्त पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से भारत की राजनीतिक स्थिति तेजी से परिवर्तित हो रही थी। इसका प्रभाव भी साम्राज्य के अस्तित्व पर पड़ा। सचमुच उस समय अनेक स्थानीय राजाओं का उदय हुआ जिनके चलते गुप्त साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। यह विचारणीय है कि विशाल गुप्त साम्राज्य का पतन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। मुगल साम्राज्य की भाँति गुप्त साम्राज्य का पतन भी क्रमिक था। इसकी पृष्ठभूमि में कमजोर उत्तराधिकारी, राजदरबार में फूट, प्रान्तपतियों की स्वतंत्रता, नये राजवंशों का उदय, आर्थिक कमजोरियाँ एवं विदेशी आक्रमण मुख्य थे।" गुप्त साम्राज्य के पतन के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे–

अयोग्य उत्तराधिकारी–गुप्त साम्राज्य के विस्तार में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय का अपूर्व योगदान रहा था। स्कन्दगुप्त के शासन-काल तक तो स्थिति संतोषजनक बनी रही किन्तु स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त वंश में कोई ऐसा सम्राट नहीं हुआ, जो साम्राज्य की एकता को सूत्र में बाँध कर रख सकता। **बुद्धगुप्त, भानुगुप्त, वैन्यगुप्त, नरसिंहगुप्त** आदि सभी के सभी कमजोर शासक थे। उनमें न तो बल-पराक्रम था और न सुयोग्य शासक के गुण ही थे। परिणामस्वरूप केन्द्रीय शासन शिथिल पड़ गया तथा साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हुआ।

विदेशी आक्रमण–गुप्त साम्राज्य पर हुए बाह्य आक्रमणों ने भी साम्राज्य को विशेष क्षति पहुँचाई। गुप्त साम्राज्य को क्रमश: पुष्यमित्रों, हूणों तथा यशोधर्मन के आक्रमण का सामना करना पड़ा। प्रत्येक आक्रमण ने साम्राज्य की स्थिति को और भी दयनीय बना दिया। गुप्त साम्राज्य पर पहला आक्रमण कुमारगुप्त प्रथम के काल में पुष्यमित्रों ने किया।

नोट

यद्यपि इस आक्रमण से साम्राज्य को कोई विशेष क्षति नहीं पहुंची, परन्तु इस आक्रमण ने अन्य आक्रमणकारियों का मार्ग अवश्य ही प्रशस्त कर दिया। इसके पश्चात् तो आक्रमणों का सिलसिला ही प्रारम्भ हो गया। पुष्यमित्र के आक्रमण ने गुप्त-सम्राटों की प्रतिष्ठा को काफी ठेस पहुँचायी।

पुष्यमित्र के आक्रमण से भी ज्यादा घातक हूणों का आक्रमण था। इस आक्रमण ने गुप्त-सम्राटों की प्रतिष्ठा एवं उनकी अजेयता को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया। कुमारगुप्त ने हूणों से युद्ध किया या नहीं यह तो निश्चित नहीं है, परन्तु स्कन्दगुप्त को उनके आक्रमण का सामना अवश्य करना पड़ा। यद्यपि इस युद्ध में विजयश्री स्कन्दगुप्त को ही प्राप्त हुई पर इस आक्रमण के दूरगामी परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। हूणों के हौसले लगातार बढ़ते गए और उन्होंने स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् फिर से साम्राज्य पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। बाद के दुर्बल गुप्त शासक इन विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए। पुरुगुप्त के समय से हूणों के हौसले और बढ़ गए। पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में हूणों की बाढ़-सी आ गयी और वे उत्तरी भारत में पूरी तरह जम गए। तोरमाण एवं मिहिरकुल के नेतृत्व में हूणों ने साम्राज्य पर चोट करना प्रारम्भ कर दिया। इसके चलते साम्राज्य काफी कमजोर हो गया। हूण आक्रमणों से प्रेरणा पाकर अन्य भारतीय प्रदेश भी धीरे-धीरे गुप्त साम्राज्य से अपने को स्वतंत्र करने लगे। आधी शताब्दी के भीतर ही कई स्वतंत्र राज्यों का जन्म हो चुका था। इस प्रकार हूण आक्रमणकारियों ने साम्राज्य के अस्तित्व को गहरा धक्का पहुँचाया। कुछ विद्वानों की तो यह भी धारणा है कि गुप्त-साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण हूण-आक्रमण ही था। परन्तु यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती है। यह ठीक है कि हूण आक्रमण से साम्राज्य को काफी क्षति पहुँची, परन्तु इसके साथ अन्य कई महत्त्वपूर्ण कारणों ने भी गुप्त साम्राज्य के पतन में योगदान दिया। किन्तु डॉ. मजूमदार का विचार है कि गुप्त साम्राज्य के मूलोच्छेदन में हूणों से अधिक हाथ महत्त्वाकांक्षी सरदार यशोधर्मन का था।

टास्क गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों पर विस्तार से चर्चा कीजिए।

नयी शक्तियों का उदय—वास्तव में गुप्त साम्राज्य को भारत के भीतर उभरती हुई नयी शक्तियों से भी काफी हानि पहुँची। गुप्त-सम्राटों की कमजोरी एवं हूणों से प्रेरणा लेकर कई स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। इनमें सबसे प्रमुख मालवा का **यशोधर्मन** था। उसने गुप्त सम्राटों की अवहेलना कर अपना प्रभुत्व बढ़ाया। **नरसिंहगुप्त** के शासन काल में ही इसने साम्राज्य के अनेक प्रदेशों पर अपना अधिकार कायम कर लिया। यशोधर्मन के उदय ने राहु की तरह गुप्त साम्राज्य के सूर्य को ग्रसित कर लिया। मन्दसौर-अभिलेख से पता चलता है कि वह राजाधिकार एवं परमेश्वर की उपाधियाँ धारण करता था। इसी अभिलेख से यह भी पता चलता है कि जिन प्रदेशों पर गुप्त नरेशों ने शासन नहीं किया था, उन पर इसने अपना आधिपत्य स्थापित किया। हूण भी उससे दुम दबाकर भागते थे। यशोधर्मन सामन्त-कुल में उत्पन्न हुआ था और उसका उत्कर्ष बड़ा ही आकस्मिक था। **मन्दसौर-स्तम्भलेख** के अनुसार उसने अपने परिवार की सीमाओं का अतिक्रमण किया था। उसने अपने वंश को औलिकर वंश (प्रख्यात औलिकर लाच्छन आत्मवंशी) कहा है। उसने शक्ति-संवर्द्धन कर अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। उसका राज्य पूर्वी सागर से लेकर लोहित्य नदी के उपकंठ तक विस्तृत था। इससे पता चलता है कि उसने मगध-नरेश कुमारगुप्त तृतीय को पराजित किया था यह घटना 532 ई. की है। संभवत: इसी समय उसने हूण नरेश मिहिरकुल को भी पराजित किया। उससे प्रेरणा पाकर अन्य विभिन्न स्थानों पर भी स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गयी। फलस्वरूप गुप्तों का अधिकार सिमटकर मगध और निकटवर्ती क्षेत्रों तक ही सीमित रह गया। इस प्रकार मौखरी, मैत्रक, गौड़ आदि शक्तिशाली राज्यों का जन्म गुप्त-साम्राज्य के अवशेषों पर ही हुआ। दक्षिण भारत में भी गुप्तों की शक्ति समाप्त हो चुकी थी एवं अन्य स्वतंत्र राज्यों का जन्म हो चुका था। इस प्रकार गुप्त-साम्राज्य धीरे-धीरे नष्ट हो रहा था।

उत्तराधिकार के निश्चित नियम का अभाव—इन बाह्य परिस्थितियों के अतिरिक्त साम्राज्य की आन्तरिक व्यवस्था ने भी गुप्त-साम्राज्य के पतन को अवश्यंभावी बना दिया। गुप्त-व्यवस्था में सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें उत्तराधिकार के नियम सुनिश्चित नहीं किए गये थे। समुद्रगुप्त के समय से ही ज्येष्ठपुत्र को सिंहासन से वंचित कर

नोट

उसके बदले में अन्य राजपुत्र को गद्दी पर बैठने की जो प्रथा प्रारम्भ हुई, उसने गुप्त-साम्राज्य के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया। उत्तराधिकार के नियम की अनिश्चितता के कारण गुप्त-साम्राज्य को लगभग प्रत्येक शासक के समय में कलह एवं उत्तराधिकार के युद्ध का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि गुप्त वंश के अनेक असंतुष्ट राजकुमार जैसे हरिगुप्त और प्रकाशादित्य ने हूण आक्रमणकारियों का साथ दिया। इसके चलते आन्तरिक दृष्टि से साम्राज्य कमजोर पड़ने लगा। गुप्तों की प्रतिष्ठा भी घटती गयी जिसका लाभ अधीनस्थ शासकों ने उठाया। इस प्रक्रिया ने तो अंत में गुप्त-वंश को दो शाखाओं में भी विभक्त कर दिया।

प्रशासनिक कमजोरियाँ–प्रो. रोमिला थापर एवं प्रो. गोयल के अनुसार गुप्त-साम्राज्य की अवनति एवं पतन का मुख्य कारण वह प्रशासकीय व्यवस्था थी जिसकी आधारशिला समुद्रगुप्त ने रखी थी। उसने अपने साम्राज्य को अनेक सामन्ती इकाइयों के संघ के रूप में संगठित किया था। गंगा घाटी के बाहर के क्षेत्रों के राजाओं एवं गणराज्यों को आंशिक स्वतंत्रता प्रदान की गयी थी। ये परिव्राजिका एवं उच्चकल्प के रूप में गुप्त-साम्राज्य द्वारा जीते गए विशाल भू-भाग पर अपना सामंती अधिकार बनाए हुए थे। साम्राज्य के प्रमुख केन्द्रों पर ही सम्राटों का सीधा नियंत्रण था। गुप्त राजाओं ने जो उपाधियाँ धारण कीं–**परमेश्वर, महाराजाधिराज, परम भट्टारक** इत्यादि–उनसे गुप्तों के अधीन सामंतों या अधीनस्थ शासकों का स्पष्ट रूप से पता चलता है। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों ने भी अधीनस्थ शासकों की संख्या को कम करने के बदले उसमें वृद्धि ही की। गुप्त-साम्राज्य में मालवा की तो विशेष स्थिति थी। वहाँ के राजा गुप्तों के अधीन होते हुए भी गुप्त-संवत् का उल्लेख नहीं करते थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें विशेष छूट दी गयी थी। मालवा में वंशानुगत शासन करने वाले राजाओं के अस्तित्व को बर्दाश्त किया गया था। यह गुप्त शासकों की एक भयंकर भूल थी जिसका परिणाम उन्हें आगे भुगतना पड़ा। भूमि अनुदान की प्रथा ने तो इन सामंतों की संख्या में और भी वृद्धि कर दी। ऐसी व्यवस्था सुयोग्य शासक के काल में ही टिक सकती थी। दुर्बल गुप्त-शासक इन अधीनस्थ राजाओं को अपने नियंत्रण में नहीं रख सके। मौके का फायदा उठाकर ये स्वतंत्र हो गए। इतना ही नहीं इनमें से बहुतों ने गुप्तों के विपरीत आक्रमणकारियों एवं नवोदित शासकों का साथ भी दिया। इन सब कारणों के चलते गुप्त-साम्राज्य के पतन की प्रगति तीव्र हो चली।

आर्थिक कारण–गुप्त साम्राज्य के पतन के कुछ आर्थिक कारण भी थे। गुप्तकाल के पहले से ही भूमिदान देने की प्रथा प्रचलित थी। दान प्राप्त किए गए व्यक्तियों को नमक एवं खानों का भी स्वामित्व दे दिया गया, जिस पर पहले राजा का स्वामित्व रहता था। इसके अतिरिक्त नए भूमि-अनुदान के मालिकों को कुछ प्रशासनिक अधिकार भी सौंप दिए गए। इससे जहाँ एक तरफ तो राजा की शक्ति में ह्रास हुआ वहीं दूसरी तरफ आर्थिक व्यवस्था पर भी इसका प्रभाव पड़ा। इस व्यवस्था ने कृषकों की स्वतन्त्रता समाप्त कर उन्हें कृषि-दास अथवा अर्द्ध-कृषि दास बना दिया। इसके चलते कृषि पर उनका पूरा ध्यान नहीं जा सका फलतः उत्पादन में कमी आने लगी। बेगारी की प्रथा (Vishti) ने तो और बुरा प्रभाव डाला। इसके कारण किसानों, कारीगरों, शिल्पियों की गतिशीलता (Mobility) सीमित हो गयी। इन सबका परिणाम स्वायत्त ग्राम-संस्थाओं (Self-sufficient village units) का उदय हुआ। उत्पादक अब सिर्फ अपनी संस्था के उपयोग लायक सामान ही तैयार करने लगे। इसने आंतरिक एवं विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव डाला। परिणामस्वरूप व्यापार, नगर एवं उद्योग-धन्धों में गिरावट आने लगी। इन सबने मिलकर आर्थिक व्यवस्था को कमजोर कर दिया। गुप्तों के पहले जो मुद्रा अर्थव्यवस्था (Money Economy) थी, वह भी गुप्तकाल में वर्तमान नहीं रह सकी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गुप्तकाल के स्वर्णमुद्राओं की संख्या तो काफी है परन्तु नित्य दिन व्यवहार में आने वाले चाँदी एवं ताम्बे के सिक्कों की संख्या काफी कम है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईसा की प्रथम दो-तीन शताब्दियों में जो मुद्रा अर्थव्यवस्था प्रचलित थी (कुषाणों के तथा अन्य समकालीन राज्यों, यहाँ तक कि गणराज्यों के ताम्बे के सिक्के काफी मात्रा में मिले हैं) वह किसी कारणवश गुप्त-काल में कमजोर पड़ गयी। फाहियान ने भी लिखा है कि आमतौर पर कौड़ियों के आदान-प्रदान का मुख्य चलन था। मुद्रा अर्थव्यवस्था के अभाव में भी व्यापार, नगर एवं उद्योग-धन्धे पनप नहीं सके। ग्रामीण अर्थव्यवस्था ने फिर से जोर पकड़ लिया। इस प्रकार गुप्त शासकों को आर्थिक संकट का भी सामना करना पड़ा। स्कन्दगुप्त के समय से तो सोने के सिक्कों में भी गिरावट आने लगी (Debasement of gold coins)। हूण आक्रमण एवं तत्कालीन राजनीतिक अव्यवस्था ने भी आर्थिक ढाँचे को हिला कर रख दिया। आंतरिक एवं विदेशी व्यापार पर इनका

नोट

प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। बिना किसी सुदृढ़ आर्थिक ढाँचे के किसी भी साम्राज्य का अस्तित्व बहुत दिनों तक नहीं बना रह सकता और यही घटना गुप्तों के साथ भी घटी।

सामन्तों के विद्रोह—गुप्तकाल में सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी। प्रयाग प्रशस्ति से पता चलता है कि समुद्रगुप्त के काल से ही सामन्त लोग वर्तमान थे, जो सम्राट को सब तरह का कर देते थे तथा सम्राट की आज्ञाओं का पालन करते थे। ये सामन्त अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र नरेश की तरह शासन करते थे। इनमें **मौखरि, परिव्राजक महाराज, औलिकर, मैत्रक** आदि उल्लेखनीय हैं। **मन्दसौर प्रशस्ति** से प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन सामन्त विशेष राजनीतिक अधिकारों से विभूषित थे। फलतः अनुकूल अवसर आने पर वे सम्राट के विरूद्ध विद्रोह कर देते थे। अतः कालान्तर में सामन्तवाद की प्रथा गुप्त साम्राज्य के लिए विपत्तिजनक सिद्ध हुई और इनमें स्वतंत्रता की प्रवृत्ति आने लगी। सर्वप्रथम बल्लभी के मैत्रक वंश के शासकों ने गुप्त सम्राटों से अपने को मुक्त कर लिया। उदाहरणस्वरूप, **द्रोणसिंह** के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में गुप्तों की संप्रभुता की स्वीकृति का कोई उल्लेख नहीं है। फलतः सौराष्ट्र प्रान्त (गुजरात और कठियावाड़) गुप्त साम्राज्य से अलग हो गया। इसी तरह छठी शताब्दी के प्रथमार्द्ध में **यशोधर्मन** मालवा का स्वतंत्र शासक बन गया। छठी शताब्दी के मध्य तक मौखरियों ने **ईशानवर्मा** के नेतृत्व में कान्यकुब्ज में एक स्वतंत्र राजवंश की नींव डाली। उसके **हरहा-लेख** (554 ई.) में गुप्तसत्ता को स्वीकार करने का कोई संकेत नहीं मिलता। **ईशानवर्मा** बिल्कुल एक स्वतंत्र नरेश की तरह आचरण करने लगा। उसने महाराजाधिराज की उपाधि भी धारण की। उसने अनेक शासकों को पराजित भी किया और उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार (नतक्षितीचरणः) कर ली। उसी समय मगध में **कुमारगुप्त** के नेतृत्व में उत्तर-गुप्त राजवंश स्वतंत्र हो गया था। **अफसढ़-लेख** में उसे वीरों में अग्रगण्य (पुरुःसरम्) तथा युद्धक्षेत्र में अपनी शक्ति के लिए विख्यात (विख्यातशक्ति भाजिषु) कहा गया है। इसी तरह 543 ई. के बाद बंगाल (पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति और वर्द्धमान भुक्ति) गुप्तों के राज्य से निकल गया। **हरहा-लेख** से विदित होता है कि 554 ई. में बंगाल में गौड़ लोग बड़े शक्तिशाली हो गए थे। इस प्रकार मांडलिकों के स्वतंत्र आचरण से गुप्त साम्राज्य को बड़ा धक्का लगा। सुदूर प्रान्त गुप्तों के अधिकार से निकल गए।

प्रान्तपतियों के विशेषाधिकार—राजकुमारों के अतिरिक्त विश्वस्त और सुयोग्य कर्मचारी भी प्रान्तपति के पद पर नियुक्त किए जाते थे। सौराष्ट्र में पर्णदत्त और उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति) में चिरातदत्त प्रान्तपति थे। इसी तरह अन्तर्वेद (गंगा-यमुना के दोआब) में शर्व्वनाग तथा नर्मदा और यमुना नदियों के बीच दोआब में सुरश्मिचन्द्र प्रान्तपति थे। ये अपने-अपने प्रान्तों में उप-नरेश की भांति आचरण करते थे। उन्हें नृप, महाराज, उपरिक-महाराज आदि उपाधियाँ धारण करने के अधिकार प्राप्त थे। अभिलेखों में इनमें से कुछ को सम्राट का तत्पादपरिगृहीत कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि वे सम्राट के विशेष कृपापात्र थे। उन्हें प्रान्तीय कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त था। **जूनागढ़-अभिलेख** से पता चलता है कि स्वयं पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को सौराष्ट्र प्रान्त के अधिष्ठान (राजधानी) का नगराधीश नियुक्ति किया था। पुण्ड्रवर्द्धन के राज्यपाल चिरातदत्त ने वेत्रवर्मा को कोठिवर्ष नामक विषय (जिला) का विषयपति (जिलाधीश) नियुक्त किया था। प्रान्तीय कर्मचारियों को 'तन्नियुक्त' अर्थात् राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया जाता था। अभिलेखों से पता चलाता है कि बंगाल में कोई दत्त परिवार था जिसके सदस्य परम्परागत आधार पर उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति) के राज्यपाल क्रमशः नियुक्त किए गए थे, क्योंकि पर्णदत्त के बाद ब्रह्मदत्त और जयदत्त राज्यपालों के नामोल्लेख हैं। इससे यह भी पता चलता है कि राज्यपाल का पद पैतृक हो गया था। गुप्त साम्राज्य के स्थायित्व के लिए घातक सिद्ध हुआ।

सैनिक कारण—गुप्त साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण सैनिक संगठन भी था। मौर्यों की तरह गुप्तों के पास एक विशाल, सुसंगठित अपनी सेना नहीं थी। अभिलेखों में सैन्य बल एवं सैनिक संगठन का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। चीनी यात्री फाहियान ने भी गुप्त सेना के संख्यात्मक स्वरूप का उल्लेख कहीं नहीं किया है। जैसा कि यूनानी एवं रोमन इतिहासकारों ने किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त राजाओं को सामन्ती एवं अधीनस्थ राजाओं पर ही निर्भर रह जाना था। अतः बाद में केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने पर सामन्तों ने गुप्त सम्राटों की मदद नहीं की। इतना ही नहीं गुप्तों की कमजोरी से लाभ उठाकर वे उन पर हावी हो गये। फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

नोट

धार्मिक कारण–गुप्त साम्राज्य के पतन के लिए धार्मिक कारण भी प्रमुख था। प्रारम्भिक गुप्त सम्राट वैष्णव धर्मावलम्बी थे, परन्तु बाद के सम्राटों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया जो साम्राज्य के लिए अहितकर साबित हुआ। इसने गुप्त सम्राटों की युद्धप्रियता, जो साम्राज्य की सुरक्षा एवं स्थायित्व के लिए आवश्यक थी, नष्ट कर दी। वास्तव में बौद्ध नीति के फलस्वरूप उनमें सैनिकवादी कार्यों के प्रति उदासीनता आ जाना स्वाभाविक था। इस धर्म के प्रभावस्वरूप गुप्त सम्राटों ने सैनिक कुशलता को विशेष महत्त्व नहीं दिया। ह्वेनसांग ने उल्लेख किया है कि जब मिहिरकुल बालादित्य पर आक्रमण करने पहुँचा तब बालादित्य ने अपने मंत्रियों से कहा, "मैंने सुना है कि ये चोर आ रहे हैं और मैं उनसे युद्ध नहीं कर सकता। यदि मेरे मंत्री मुझे अनुमति प्रदान करें तो मैं कीचड़ में छुप जाऊँ।" उसने केवल यह कहा ही नहीं; वरन् अपनी बहुत-सी प्रजा के साथ एक द्वीप में चला गया। ह्वेनसांग ने यह भी बतलाया है कि युद्ध में मिहिरकुल को बंदी बना लिया गया, परन्तु बालादित्य की माता के कहने पर उसे छोड़ दिया गया। परवर्ती सम्राटों की इस तरह की नीति साम्राज्य के पतन का करण बनी।

साम्राज्य की विशालता–गुप्त साम्राज्य के पतन का एक मौलिक कारण गुप्त साम्राज्य की विशालता भी माना जाता है। चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुप्त साम्राज्य का काफी विस्तार किया। गुप्तों का साम्राज्य भारत के विशाल भूभाग पर स्थित था। उन दिनों आवागमन के साधन विकसित नहीं थे। गुप्तचरों का समुचित प्रबन्ध नहीं था। अत: इतने विशाल साम्राज्य पर शासन करना कठिन था। योग्य सम्राटों के समय तो कोई गड़बड़ी नहीं हुई, किन्तु उत्तरकालीन गुप्त नरेशों के समय विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ने लगीं। फलत: दूरस्थ प्रान्तों ने शासकों के केन्द्रीय शासन से अपने को मुक्त कर लिया।

गुप्तकालीन दण्डनीति–गुप्तकालीन दण्डनीति अत्यन्त नम्र थी। बड़े से बड़े अपराध पर कठोर दण्ड नहीं दिया जाता था। दण्डनीति में उदारता लाने तथा प्राणदण्ड को स्थगित कर देने से देश में आन्तरिक शत्रुओं को अशान्ति और अव्यवस्था फैलाकर साम्राज्य का विनाश करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त होने लगा और वे अपने साम्राज्य विरोधी कार्यों में सफल होने लगे।

विदेश नीति का परित्याग–परवर्ती गुप्त सम्राटों ने अपने पूर्वजों की विदेश नीति का परित्याग कर दिया। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवियों के साथ, समुद्रगुप्त ने विदेशी जातियों के साथ, चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वाकाटक, नाग और कदम्बों के साथ कूटनीतिक एवं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। बाद के सम्राटों ने इस नीति का परित्याग कर दिया। फल यह हुआ कि अवसर पड़ने पर भी उन्हें अन्य लोगों से सहायता नहीं मिल पाती थी। फिर उनका पतन अनिवार्य हो गया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लगभग 550 और 595 ई. के बीच गुप्त साम्राज्य का सूर्यास्त हो गया। गुप्त वंश की स्थापना 319 ई. में हुई थी। चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुप्त साम्राज्य को काफी विस्तृत किया। कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त तक तो साम्राज्य खड़ा रहा, किन्तु स्कन्दगुप्त के बाद कमजोर गुप्त नरेशों के राज्य काल में लड़खड़ाने लगा। पुष्यमित्रों और हूणों के आक्रमण बढ़ गये। आन्तरिक कलह भी सुलगने लगी। उत्तरकालीन गुप्त नरेशों (बुधगुप्त, बालादित्य आदि) की शान्ति-अहिंसा नीति भी साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई। सामन्तों की स्वतंत्रता, मालवा के गुप्त, कान्यकुब्ज के मौखरि और वल्लभी के मैत्रकों के उदय ने गुप्त साम्राज्य को ग्रस लिया।

8.7 सारांश (Summary)

नेपोलियन के विषय में कहा जाता है कि वह चालीस युद्धों का विजेता था, किन्तु समुद्रगुप्त को समरशत (सौ युद्धों) का विजेता कहा गया है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि समुद्रगुप्त की तुलना नेपोलियन से केवल इसलिए की जाती है कि वह नेपोलियन की भाँति एक महान् विजेता था। नेपोलियन की तरह घृणा, उसका धर्म, प्रतिशोध, उसका कर्त्तव्य और क्षमादान कलंक नहीं था। इस दृष्टि से समुद्रगुप्त के समक्ष नेपोलियन का व्यक्तित्व मन्द पड़ जाता है।

8.8 शब्दकोश (Keywords)

- प्रशासन (Administration)–शासन-तंत्र।
- न्याय (Justice)–इंसाफ।

नोट

8.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. समुद्रगुप्त एक महान विजेता था इसकी विवेचना कीजिए।
2. गुप्त साम्राज्य के पतन के क्या कारण थे?
3. गुप्त सम्राटों के शासन काल में साहित्य का चरम विकास हुआ विवेचना करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य	2. हूण आक्रमण	3. समुद्रगुप्त
4. (*b*)	5. (*a*)	6. (*c*)
7. (*a*)	8. सत्य	9. सत्य
10. असत्य	11. असत्य।	

8.10 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
2. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*

नोट

इकाई–9: गुप्तकालीन भारत (India in Gupta's Age)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
9.1 केन्द्रीय शासन (Central Ruling)
9.2 स्थानीय प्रशासन (Local Administration)
9.3 सामाजिक दशा (Social Conditions)
9.4 धार्मिक अवस्था (Religious Conditions)
9.5 आर्थिक अवस्था (Economical Conditions)
9.6 शिक्षा और साहित्य (Education and Literature)
9.7 कला (Art)
9.8 सारांश (Summary)
9.9 शब्दकोश (Keywords)
9.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
9.11 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- गुप्तकालीन सामाजिक दशा को जानने में।
- गुप्तकालीन भारत में कला का सर्वोत्तम विकास हुआ का अध्ययन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मौर्य साम्राज्य के बाद भारत में फिर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना और राजनीतिक शक्तियों को एक सूत्र में संगठित करने का श्रेय गुप्त वंश के शासकों को है। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे शक्तिशाली सम्राटों के नेतृत्व में मगध के गुप्त गौरव का पुनरुद्धार हुआ। फिर, भारत के एक बड़े भाग में विशाल साम्राज्य का संगठन हुआ। गुप्त सम्राटों ने न सिर्फ एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की बल्कि इसके प्रशासन की भी सुव्यवस्था की। इस युग की शासन पद्धति के अध्ययन के लिए फाहियान का विवरण, अभिलेख और सिक्के, विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', कालिदास-ग्रन्थावली, कामन्दकीय, 'नीतिसार', विभिन्न स्मृतियाँ आदि सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। पर गुप्तों की शासन व्यवस्था उतनी सुदृढ़ नहीं थी जितनी मौर्यों की। दोनों शासन-पद्धतियों में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ मौर्यों के अधीन सत्ता के केन्द्रीकरण पर बल दिया गया था, वहाँ गुप्तकाल में हम सत्ता का विकेन्द्रीकरण पाते हैं।

नोट

गुप्त साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन हम केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

9.1 केन्द्रीय शासन (Central Ruling)

राजा—राजतंत्रीय व्यवस्था के ही अनुरूप गुप्त-सम्राटों में राजा की सारी शक्ति निहित रहती थी। सिद्धान्ततः वह राज्य का प्रधान होता था तथा सारे कार्य उसी की आज्ञानुसार चलते थे। इस युग में राजा उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त काफी लोकप्रिय था। यही कारण है कि प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को **'पृथ्वी पर देवता (लोक धाम्नोदेवस्य)'** कहा गया है। इस सिद्धांत के प्रचलन ने राजा की शक्ति और प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व वृद्धि की। गुप्त शासकों और उनका अनुकरण करते हुए अन्य शासकों ने **महाराजाधिराज, परम भट्टारक, परमेश्वर, परमदेवता** जैसी उपाधियाँ धारण कीं। राजाओं की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि होने के बावजूद गुप्त शासक प्रजावत्सल थे, निरंकुश और अत्याचारी नहीं थे। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। स्मृतियों एवं अन्य तत्कालीन धर्म ग्रंथों ने आदर्श राज्य की स्थापना पर बल दिया है। राजा पर कुछ व्यावहारिक नियंत्रण भी रहते थे। वह राज्य के कार्यकारिणी, न्यायपालिका एवं सेना का प्रधान था।

युवराज—गुप्त-सम्राटों ने युवराज को भी प्रशासन में उचित स्थान प्रदान किया। राजकुमारों की समुचित शिक्षा पर बल दिया जाता था तथा उन्हें महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक पद सौंपे जाते थे। सम्राट का ज्येष्ठ पुत्र युवराज बनाया जाता था परन्तु विशेष अवस्था में छोटे परन्तु योग्य राजकुमार को भी युवराज बनाया जा सकता था। परन्तु यह व्यवस्था उचित नहीं थी। इसने आगे चलकर गृह-युद्ध को बढ़ावा दिया तथा गुप्त साम्राज्य के पतन में योगदान दिया। युवराज को अनेक प्रशासनिक अधिकार दिए गए थे। वह शासन में सम्राट की सहायता करता था। उसे प्रांतपति के रूप में भी नियुक्त किया जाता था।

मंत्रिपरिषद्—राजा विभिन्न मंत्रियों की सहायता से शासन करता था। इन मंत्रियों या सचिवों की संख्या निश्चित नहीं थी। इनका प्रमुख कार्य राजा की सहायता करना एवं उसे मंत्रणा देना था। **नारद-स्मृति** से पता लगता है कि मंत्रीगण "धर्मशास्त्र में कुशल, अर्थज्ञान में प्रवीण, कुलीन और सत्यवादी थे।" राजा इनकी मदद से ही प्रशासन की देखभाल किया करता था। इन मंत्रियों का पद बहुधा वंशानुगत होता था। एक ही मंत्री कई विभागों का प्रधान हुआ करता था। हरिषेण एक ही साथ **सन्धि-विग्रहिक, कुमारामात्य** और **महादण्डनायक** था। राजा स्वयं मंत्रिपरिषद् की अध्यक्षता करता था। इस काल में पुरोहित को मंत्रिपरिषद् में स्थान नहीं दिया गया था। मंत्रियों के जिम्मे विभिन्न विभाग सौंपे गए थे। **सन्धिविग्रहिक, कुमारामात्य, महादण्डनायक** आदि पदों का उल्लेख विभिन्न अभिलेखों में हुआ है।

नौकरशाही—केन्द्रीय नौकरशाही अथवा केन्द्रीय शासन प्रणाली के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है परन्तु कर्मचारियों के पदों का जिक्र अवश्य किया गया है। गुप्त शासकों ने किसी नयी व्यवस्था को जन्म नहीं दिया बल्कि आवश्यक परिवर्तनों के साथ पुरानी पद्धति को ही बनाए रखा।[1] गुप्तकालीन अभिलेखों में निम्नलिखित पदाधिकारियों का उल्लेख हुआ है—

महासेनापति—सिद्धांततः राजा स्वयं सैन्य व्यवस्था का प्रधान होता था, परन्तु उसके अधीन विभिन्न सेनापति एवं महासेनापति भी होते थे जो युद्ध-क्षेत्र में सेना का संचालन करते थे।

रणभाण्डागारिक—ये भी सैन्य व्यवस्था से ही सम्बन्धित थे। इसका मुख्य कार्य सेना के लिए आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करना था।

महाबलाधिकृत—यह सेना, छावनी एवं व्यूहरचना विभाग का प्रधान था। इसके अधीन अनेक बलाधिकृत होते थे। वह संभवतः सैनिक की बहाली करता था।

1. "If imperial Guptas continued the traditional machinery of bureaucratic administration with nomenclature mostly borrowed or adopted from earlier times." —*U. N. Ghosal*

नोट

दण्डपाशिक–यह पुलिस विभाग का प्रधान था। इसके अधीन शांति-सुव्यवस्था बनाए रखने वाले अनेक कर्मचारी थे, जैसे चौरोद्धरणिक (चोरों को पकड़ने वाला), दूत, भट आदि थे। कुछ अभिलेखों में इस अधिकारी को दण्डपाशाधिकरणिक भी कहा गया है।

महादण्डनायक–इसका कार्य युद्ध एवं न्याय सम्बन्धी था। युद्ध के अवसर पर वह महासेनापति के अधीन सेना का संचालन करता था। इसके अधीन **महाश्वपति, अश्वपति, महापीलुपति, पीलुपति** (हाथी की सैन्य टुकड़ी का सेनापति) आदि रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहा जाता था। युद्ध में परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर आदि अस्त्रों का व्यवहार होता था। महादण्डनायक न्यायाधीश का भी कार्य करता था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. मुद्राराक्षस ..... की रचना है।
2. ..... का मुख्य कार्य सेना के लिए आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करना था।
3. स्कन्दगुप्त के समय में सौराष्ट्र के राज्यपाल का पुत्र चक्रपालित ..... में नगरपति था।

महासन्धिविग्रहिक–उसका कार्य राजदूत के समान था। वह अन्य राज्यों के साथ युद्ध या सन्धि सम्बन्धी मामलों का निर्धारण करता था, दूसरे शब्दों में वह राज्य की वैदेशिक नीति का प्रधान होता था।

विनयस्थितिस्थापक–वह शान्ति एवं व्यवस्था (धर्म नीति) का अधिकारी था।

भण्डागाराधिकृत–यह राजकीय कोष का प्रधान होता था।

महाक्षपाटलिक–यह अभिलेख विभाग का प्रधान था।

सर्वाध्यक्ष–यह सम्भवत: केन्द्रीय सचिवालय की देख-रेख करने वाला अधिकारी था।

महाप्रतिहार–यह राज-प्रासाद की सुरक्षा करने वाला प्रमुख अधिकारी था।

ध्रुवाधिकरण–इस विभाग के अधीन राज्य की कर वसूली का कार्य था। इसी विभाग के अधीन **शौल्किक** (भूमि कर वसूलने वाला) था।

गोल्मिक–(जंगलों से राजस्व प्राप्त करने वाला), **गोप** (ग्रामों की देखभाल करने वाला), **करणिक** (आधुनिक रजिस्ट्रार) और लेखक या लिपिक कार्य करते थे।

पुस्तपाल–महाक्षपाटलिक का सहायक।

अग्रहारिक–दान-विभाग का प्रधान।

इनके अतिरिक्त भी अन्य कई तरह के पदाधिकारियों का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। जैसे **स्थापित सम्राट प्रतिनर्तक, युवराजकुमारामात्य, परमभट्टारक, पादीय, कुमारामात्य, युवराज भट्टारक पादीय कुमारामात्य,** इत्यादि प्रमुख हैं। केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभाग अधिकरण कहलाते थे एवं साम्राज्य के प्रमुख पदों पर काम करने वाले राजकुल से सम्बन्धित व्यक्ति **कुमारामात्य** कहे जाते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुद्रा होती थी। इनमें से बहुत से अधिकारियों का पद वंशानुगत होता था। इन्हें नकद वेतन के साथ-साथ भूमि-अनुदान भी सेवा के बदले में प्राप्त होता था। परिणामस्वरूप ये धीरे-धीरे शक्तिशाली बनते गये।

सैन्य-संगठन–सैनिक विभाग केन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग था। सम्राट ही सेनाध्यक्ष होता था। वृद्ध सम्राट की सेना की अध्यक्षता युवराज करता था। राजा के नीचे प्रधान सेनापति होता था जिसे महादण्डनायक कहा जाता था। गजसेना और अश्वसेना सेना के मुख्य अंग थे। गजसेना के प्रधान को **महापीलुपति** कहा जाता था। इसके नीचे कई उपाध्यक्ष होते थे जिन्हें **पीलुपति** कहते थे। अश्वसेना के अध्यक्ष को **महाश्वपति** कहा जाता था। प्रयाग-प्रशस्ति में फरसा (परशु), वाण (शर), शंकु, तोमर, भिन्दिपाल आदि युद्ध-हथियारों का उल्लेख मिलता है।

नोट

पुलिस—गुप्तकाल में पुलिस की समुचित व्यवस्था थी। पुलिस विभाग का बड़ा अधिकारी दण्डपाशिक कहलाता था। साधारण कर्मचारियों को चाट तथा भाट कहा जाता था। पहरेदार को रक्षिन् कहा जाता था। फाहियान के यात्रा-वृतान्त से पता चलता है कि उस समय कोई चोरी-डकैती नहीं होती थी। इससे पता चलता है कि उस समय पुलिस प्रशासन काफी कठोर था। साम्राज्य में शान्ति व्यवस्था थी। चोरी, डकैती, हत्या आदि अपराध बहुत कम होते थे। गुप्तचर विभाग काफी दक्ष था। इसके कर्मचारी दूत कहे जाते थे। पुलिस और गुप्तचर काफी सतर्क रहते थे।

न्याय व्यवस्था—गुप्त शासन में न्याय विधान पूर्णत: विकसित था। न्याय प्रणाली बड़ी उत्तम थी। न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकरी सम्राट होता था। विभिन्न न्यायालयों के विवादपूर्ण मामलों में सम्राट का निर्णय ही अन्तिम माना जाता था। नारद स्मृति के अनुसार उस समय चार प्रकार के न्यायालय थे—(1) कुल न्यायालय, (2) श्रेणी न्यायालय, (3) गुण न्यायालय और (4) राजकीय न्यायालय। प्रथम तीन प्रकार के न्यायालय जनता के अपने न्यायालय थे। चौथा सरकारी न्यायालय होता था। शिल्प संघों के न्यायालय शिल्पियों और कारीगरों के विवादों को निपटाते रहते थे।

गुप्त सम्राटों का दण्ड विधान कठोर नहीं था। मृत्युदण्ड किसी को भी नहीं दिया जाता था। देशद्रोहियों अथवा बार-बार चोरी करने वाले अपराधियों का हाथ काट दिया जाता था। प्राय: अपराधियों को आर्थिक दण्ड ही दिया जाता था। दण्ड की मात्रा अपराधी की आर्थिक स्थिति के अनुसार न्यायाधीश द्वारा निश्चित की जाती थी। फाहियान के अनुसार अपराध बहुत कम होते थे। गुप्त सम्राट न्यायक्षेत्र में बड़े उदार थे। वे प्राय: सभी प्रकार के अपराधियों को न्यायालय से दण्ड पाने के उपरान्त क्षमा याचिका प्रस्तुत करने पर क्षमा कर दिया करते थे। बड़े-बड़े भीषण अपराध भी क्षमा याचना करने पर प्राय: क्षमा कर दिये जाते थे।

राजस्व व्यवस्था—राज्य की आय के कई प्रमुख साधन थे। सबसे अधिक आय भूमि कर से होती थी। इसके अतिरिक्त तत्कालीन साहित्य और लेखों में आय के कई और साधनों का भी उल्लेख मिलता है; जैसे-नियमित कर, सामयिक कर, अर्थ दण्ड, राज्य सम्पत्ति से आय और अधीनस्थ सामन्तों से प्राप्त उपहार। नियमित कर के अन्तर्गत **उद्रंग** (भूमि कर), **उपरिकर** (भोगकर), **भूतोवात, प्रत्याय, विष्टी** तथा अन्य प्रकार के कर थे। राजा उपज का छठा भाग कर के रूप में लेता था। नगरों तथा गाँवों में बाहर से आने वाले माल पर चुँगी लगती थी। बंजर भूमि, जंगलों, चरागाहों, नमक की खानों पर राज्य का स्वामित्व होता था। यह भी आय के साधन थे।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के लिए गुप्त साम्राज्य को विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में विभक्त किया गया था। गुप्तकालीन अभिलेखों से पता चलता है कि उस काल में प्रान्त को **'भुक्ति'** कहा जाता था एवं राज्य को **देश, राष्ट्र, पृथ्वी,** आदि। इस प्रकार गुप्त साम्राज्य निम्न **भुक्तियों** में विभाजित था।

1. **पुण्ड्रवर्धन भुक्ति**—इसमें उत्तरी बंगाल और पूर्णिया का कुछ भाग सम्मिलित थे। यहाँ कर्ण कायस्थ वंशीय उपरिक महाराज जयदत्त और ब्रह्मदत्त का जिक्र मिलता है।
2. **वर्धमान भुक्ति** (बंगाल का ही एक भाग)—यह महाराज विजयसेन के अधीन था।
3. **तीर भुक्ति** (तिरहुत या उत्तरी बिहार)—यहाँ का राज्यपाल गोविन्द गुप्त था।
4. **मालवा भुक्ति**—(मन्दसोर, मध्य प्रदेश)।
5. **कोशाम्बी भुक्ति**—(उत्तर प्रदेश)।
6. **सौराष्ट्र भुक्ति**—(कठियावाड़)—यहाँ का राज्यपाल पर्णदत्त था।
7. **मगध या श्रीनगर भुक्ति।**
8. **नव्याव काशिक भुक्ति**—यहाँ नागदेव राज्यपाल था।

भुक्ति का प्रधान **प्रांतपति, उपरिक महाराज, राष्ट्रीय, भोगपति, गोप्ता** आदि नाम से भी जाने जाते थे। ये सभी राज्यपाल केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। इनकी सहायता के लिए भी क्षेत्रीय मन्त्रिमण्डल था। दामोदरपुर ताम्रपत्र पर अंकित लेखों का अनुशीलन यह बतलाता है कि भुक्ति की कार्याविधि पाँच वर्षों की होती थी। **महादण्डनायक, महाप्रतिहार, रणभांडागारिक** आदि कर्मचारी भुक्ति-शासन में सहायता प्रदान करते थे।

नोट

भुक्ति के अन्तर्गत कई विषय या जिले हुआ करते थे। इसका शासक **विषयपति** कहलाता था। वह **तन्नियुक्तक** भी कहलाता था। प्रांतपति ही इसकी नियुक्ति करता था। केन्द्रीय शासक से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। वह प्रमुख नगर में रहता था जो अधिष्ठान कहलाता था। उसके कार्यालय को अधिकरण कहते थे। वैशाली से प्राप्त मुहरों पर इससे काफी प्रकाश पड़ता है। विषयपति की सहायता के लिए भी एक स्थानीय समिति रहती थी जिसकी मद्द से वह शासन चलाता था। **विषय** की क्षेत्रीय कार्यसमिति का उल्लेख दामोदरपुर ताम्रपत्र में किया गया है। इसके अनुसार इस समिति में निम्नलिखित चार सदस्य होते थे–नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम कुलिक तथा प्रथम कायस्थ। इनमें से नगर श्रेणी प्रमुख होता था। सार्थवाह व्यापारियों का प्रतिनिधित्व करता था। प्रथम कुलिक प्रधान शिल्पी अथवा शिल्प संघ का प्रमुख था। प्रथम कायस्थ प्रधान लिपिक था। अभिलेखों में एक अन्य अधिकारी **साधनिक** का भी उल्लेख मिलता है जो संभवत: प्रशासकीय साधनों का उपाय करता था। **विषयपति** जिले के **महत्तरों** की भी नियुक्ति करता था। (प्रमुख व्यक्ति) जो शासकीय मामलों में उसकी सहायता करते थे। जिले की शान्ति व्यवस्था, सुरक्षा एवं कर उगाही का कार्य जिलाधिकारियों पर ही था। इन कार्यों में वह **युक्त, आयुक्त, नियुक्त, दण्डपाशिक, चौरोद्धरणिक, दण्डनायक, पुस्तपाल** आदि की मद्द लेता था।

विषयपति के कार्यकारिणी की अवधि का ज्ञान दामोदरपुर ताम्र-अभिलेख से मिलता है। राज्यपाल की तरह इनकी भी नियुक्ति पाँच वर्ष के लिए होती थी। इस अभिलेख में (गु. स. 124 और 129) एक समान पदाधिकारियों का उल्लेख है, जिसके आधार पर इनके कार्यकाल की अवधि पाँच वर्ष की मानी गयी है। ये पदाधिकारी थे–विषयपति–कुमारामात्य वेत्रमर्वन, नगर श्रेष्ठी–धृतिपाल, सार्थवाह–बंधुमित्र, प्रथम कुलिक–धृतिमित्र, प्रथम कायस्थ–शांबपाल तथा पुस्तपाल–रिसिदत्त, जयनन्दि एवं विभुदत्त।

नोट्स गुप्तकाल में ब्राह्मण राजवंशों के नाम मिलते हैं जिनमें वाकाटक और कदम्ब प्रमुख थे।

विषयपति की विभिन्न उपाधियाँ थीं। निम्नलिखित उपाधियों का जिक्र अभिलेखों में किया गया है–कुमारामात्याधिकरण, युवराज पादीय कुमारामात्य, युवराज भट्टारक पादीय कुमारामात्य, एवं परमभट्टारक पादीय कुमारामात्य।

इनमें कुमारामात्य शब्द विवादास्पद है। इसका अर्थ कुछ विद्वान राजकुमार के सभासद से लगाते हैं। प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण को भी कुमारामात्य कहा गया है। संभवत: यह अमात्य राजकुमार के सदृश सम्मान प्राप्त करता था। 'युवराज पादीय' शब्दों का भी अर्थ स्पष्ट नहीं है। यह अधिकारी संभवत: राजकुमार के कार्यालय से सम्बन्धित था। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त-सम्राटों ने प्रांतीय शासन-व्यवस्था पर काफी बल दिया। उनकी प्रांतीय व्यवस्था मौर्यों से अधिक सुदृढ़ थी।

9.2 स्थानीय प्रशासन (Local Administration)

गुप्तकालीन अभिलेख हमें नगर एवं ग्राम प्रशासन का भी ज्ञान कराते हैं। नगर का पदाधिकारी **द्रांगिक** कहलाता था। स्कन्दगुप्त के समय में सौराष्ट्र के राज्यपाल का पुत्र चक्रपालित सौराष्ट्र (गिरनार) में नगरपति था। इसका प्रमुख कार्य नगर को स्वच्छ बनाए रखना, नगरवासियों के स्वास्थ्य पर ध्यान देना तथा नगर से करों की वसूली करवाना था। इसकी मद्द के लिए नगर सभा होती थी। **पुरपाल** नामक कर्मचारी का भी उल्लेख शहरों में मिलता है। ये निगम-सभाओं की मद्द से शासन करते थे।

विषय के अन्तर्गत कई ग्राम हुआ करते थे। इनका प्रधान **ग्रामपति** या **महत्तर** कहलाता था, यह ग्राम प्रशासन का अध्यक्ष होता था। इसकी सहायता के लिए पंचायत होती थी। पंचायत के सदस्यों का उल्लेख **दामोदरपुर** ताम्रपत्र में हुआ है। ये सदस्य थे–**महत्तर, आटकुलाधिकारी, ग्रामिक** तथा **कुटम्बिन**।

ग्राम शासन का भार इसी पंचायत के ऊपर था। प्रशासनिक मामलों में इन्हें काफी स्वतंत्रता थी। ग्रामों के आय-व्यय का हिसाब रखने वाला कर्मचारी **तलवारक** था। ग्राम सभा का प्रमुख कार्य ग्रामों में शान्ति सुव्यवस्था बनाये रखना, कर की वसूली करवाना एवं जमीन के क्रय-विक्रय का लेखा-जोखा रखना था।

9.3 सामाजिक दशा (Social Conditions)

नोट

वर्ण-व्यवस्था—गुप्तकाल का समाज परम्परागत चार वर्णों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। शैक्षणिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक विशेषाधिकार उसे प्राप्त थे। प्रधानत: उसके छह कर्म थे—वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना।[1] ये कर्म उसके स्वधर्म के अन्तर्गत आते थे। वह समाज के विकास में अनवरत् सचेष्ट रहता था। अपनी तपश्चर्या और साधना से वह समाज के लोगों का सन्मार्ग और सद्भाव का मार्गदर्शन करता था। गुप्तकालीन साहित्यिक कृतियों से विदित होता है कि उस समय ब्राह्मण को प्राणदंड नहीं दिया जाता था। शूद्रक के मृच्छकटिक के नौंवें अंक में ब्राह्मण चारुदत्त को हत्यारा सिद्ध किये जाने पर भी आक्रमण होने के कारण उसे प्राणदंड नहीं दिया गया था। मनु ने ब्रह्महत्या को महापातक माना है।[2] दशकुमारचरित में ब्राह्मण मंत्री राजद्रोह का दोषी होने पर केवल अंधा बना दिया गया था। गुप्तकाल में ब्राह्मण राजवंशों के प्रमाण मिलते हैं जिनमें वाकाटक और कदम्ब प्रमुख थे। गुप्तों का सामन्त शासक मातृविष्णु ब्राह्मण था। मनु का कथन है कि क्षत्रियकर्म से जीवन-निर्वाह न कर सकने के कारण ब्राह्मण वैश्य के कर्म—कृषि, गो-पालन और व्यापार ग्रहण कर सकता था।[3] संकट के समय वह व्यापार कर सकता था। मनु का कथन है कि ब्राह्मण को धनवर्द्धक वस्तुएँ बेचनी चाहिए।

समाज में क्षत्रियों की स्थिति ब्राह्मणों के बाद थी। गुप्तकालीन सभी स्मृतिकारों और पुराणकारों ने क्षत्रियों को द्वितीय स्थान प्रदान किया है। उन पर ही देश और समाज का रक्षा-प्रबन्ध था। युद्ध में जीती हुई सारी वस्तुएँ क्षत्रिय की होती थीं। मनु के अनुसार रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य (सब प्रकार के अन्न), पशु, स्त्रियाँ (दासी आदि), सब तरह के द्रव्य (गुड़, नमक आदि) और कुप्य (सोना-चाँदी के अतिरिक्त ताँबा-पीतल आदि धातु) जो योद्धा जीतकर लाता था, उसी का होता था।[4] जीती हुई वस्तुओं पर उसका पूर्ण स्वामित्व होता था। यही नहीं, विजित राजाओं और अधीनस्थ राजाओं से मिलने वाले उपहार राजा की विशेष सुविधाएँ थीं। सम्राट समुद्रगुप्त को ऐसे ही अनेक राजाओं से उपहार में बहुमूल्य धन-सम्पत्ति और राज-कन्याएँ प्राप्त हुई थीं। मनु ने क्षत्रियों को वैश्य कर्म अपनाने की सलाह दी है, पर कृषिकर्म उनके लिए वर्जित कहा है।[5] पारिवारिक संकट-काल में वे वाणिज्य-व्यापार भी कर सकते थे।

समाज में वैश्यों का स्थान क्रमानुसार तीसरा था। व्यापारिक व्यवस्था और कृषि का समस्त भार उनके ऊपर था। गुप्तयुग में उन्हें श्रेष्ठि, वणिक्, सार्थवाह आदि नामों से संबोधित किया जाता था। राज्य को अधिकाधिक कर प्रदान करने वाला वर्ग वैश्य ही था, जो अपने वस्तुओं के विक्रय की आय में राजा को कर देता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह वैश्य भी आपत्तिकाल में दूसरे कर्म करते थे। गौ, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता था।

---

1. "अध्यापनमध्ययनं यजनं तथा।
   दानं प्रत्रिग्रहश्चैव षट् कर्माव्यग्रजन्नम:।।"—मनुस्मृति, 10.75
2. "ब्रह्महत्या सुरायानं स्तेयं गुर्वङनागम:।
   महान्ति पातकान्याहु: संसर्गश्चाति नै, सह।"—मनुस्मृति, 11.54
3. "उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
   कृषि गोरक्षमास्थाय जीवे द्वैश्यस्य जीविकाम्।"
4. रथाश्चं हस्तिनं धनं धान्यं पशुन्स्त्रिय:।
   सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्।।—मनुस्मृति, 7.96
5. वैश्यवृत्यापि जीवंस्तु ब्राह्मण: क्षत्रियोडपिव।
   हिंसाप्रायां पराधीनां कृषि यत्नेन वजेयेत्।।

नोट

समाज में शूद्र का स्थान अत्यन्त निम्न था। हेमचन्द्र ने शूद्रों के लिए छह नाम निर्दिष्ट किए हैं–शूद्र, अन्त्यवर्ण, वृषल, पद्य; पज्ज: और जघन्य। वह पतित और हेय माना जाता था। उसमें उत्साह, प्रयास और व्यवहार का अभाव था। उसके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और नैतिक जीवन से सम्बन्धित जितने भी नियम थे, सभी उसकी नीचता प्रदर्शित करते थे। मनु ने उन्हें कुछ सुविधाएँ दी थीं। काष्ठशिल्प, धातुशिल्प, भांडशिल्प, चित्रकला आदि कर्म करने की उन्हें अनुमति दी गई। उन्हें विद्या-ग्रहण करने की भी अनुमति दी गई। पुराणों में भी उनके प्रति उदार भावना व्यक्त की गई है तथा इन्द्रिय-निग्रह के साथ मोक्ष-प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है। फिर भी शूद्र पूर्णरूपेण द्विजों की दया पर निर्भर थे।

गुप्तकालीन स्मृतियों में कुछ मिश्रित जातियों–मूर्द्धाविषिक्त, अम्बष्ठ, पारशव, उग्र तथा करण के उल्लेख मिलते हैं। इस काल के प्राप्त शिलालेखों से यह स्पष्ट होता है कि बाद की अपेक्षा इस काल में उपजातियों में गतिशीलता अधिक थी। फाहियान के यात्रा-वृतान्त से उस समय तक एक अस्पृश्य (अछूत) जाति का उल्लेख मिलता है। वे निम्न वृत्ति का पालन करते थे। जंगली जानवरों का शिकार करना, मछली मारना, श्मशान-घाट की रखवाली करना आदि उनके कार्य थे। उन्हें बस्ती के बाहर रहना पड़ता था। ग्राम या नगर में प्रवेश करते समय वे ढोल बजाते थे, ताकि उन्हें स्पर्श करने से बच जाएँ। उन्हें स्मृतियों में अंत्यज अथवा चाण्डाल तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न कहा गया है।

विवाह प्रथा–तत्कालीन लेखों और सहित्य से उस समय की वैवाहिक प्रथा का भी पता चलता है। राजवंशों में अन्तर्जातीय विवाह होते थे। क्षत्रिय गुप्तों का विवाह सम्बन्ध ब्राह्मण, वाकाटक और नाग राजाओं के साथ था। विधवा विवाह और सती प्रथा का भी प्रचलन था। बहु-विवाह की प्रथा भी थी। अनमेल विवाह भी होता था जिसका उदाहरण कुमारगुप्त है। ऊँची जाति का पुरुष नीची जाति की स्त्री से विवाह कर सकता था। ऐसे विवाहों को अनुलोम कहा गया था। ऊँची जाति की स्त्रियाँ और नीची जाति के पुरुष में भी सम्बन्ध हो सकता था। ऐसे विवाह को प्रतिलोम कहा जाता था। ऐसे विवाहों के भी उदाहरण इस युग में मिलते हैं। कदम्ब राजा ब्राह्मण थे किन्तु उनकी कन्याएँ गुप्त परिवार में ब्याही गयी थीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. गुप्तकालीन समाज में ..... का स्थान सर्वोच्च था।
   (*a*) ब्राह्मण (*b*) क्षत्रिय
   (*c*) वैश्य (*d*) शूद्र।
5. गुप्तकाल में गणिकाओं को ..... दृष्टि से देखा जाता था।
   (*a*) हेय (*b*) सम्मानपूर्ण
   (*c*) *a*, *b* दोनों (*d*) इनमें से कोई नहीं।
6. किस राज्य में स्थित भूमरा और खोह में एकमुख शिवलिंग की प्रतिमाएँ मिली हैं।
   (*a*) जबलपुर (*b*) काशी
   (*c*) नागौदे (*d*) इनमें से कोई नहीं।
7. गुप्तकालीन मूर्तियों का संग्रह ..... के संग्रहालय में किया गया है।
   (*a*) अजमेर (*b*) वाराणसी
   (*c*) कन्नौज (*d*) इनमें से कोई नहीं।

दास-प्रथा–संसार के अन्य देशों की भाँति भारत में भी घरेलू ढंग की दास प्रथा अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही थी। महाजनपदों के काल में इसका उल्लेख किया जा चुका था, आश्चर्य की बात यह है कि विदेशी यात्रियों ने इसका जिक्र नहीं किया है, युद्धबन्दियों, कर्जदारों और हारे हुए जुआरियों को बहुधा दासता स्वीकार करनी पड़ती

नोट

थी। कभी-कभी अकाल के समय गरीब लोग अपनी इच्छा से धनी लोगों की दासता स्वीकार कर लेते थे, जिससे उन्हें जीवन-निर्वाह के लिए भोजन आदि मिल जाता था। किन्तु भारतवर्ष में दास-प्रथा यूरोपीय देशों की भाँति नहीं रही। दास स्वतंत्र भी हो सकते थे। उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। अधिकतर उन्हें घरेलू काम-धन्धे ही करने पड़ते थे। पुराने यूनान अथवा रोम की भाँति हम हजारों की संख्या में दासों को खेतों पर काम करते हुए नहीं पाते।

रहन-सहन—अधिकांश जनता का भोजन साधारण तथा सात्विक था। लोग ज्यादातर शाकाहारी थे; माँस-मदिरा आदि का प्रयोग चाण्डाल किया करते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुप्तकाल में भी लोगों पर जैनधर्म और बौद्धधर्म का विशेष प्रभाव बना रहा।

जनता साधारण वस्त्रों का प्रयोग करती थी। साधारण श्रेणी के लोग सूती वस्त्र और उच्च श्रेणी के लोग रेशमी वस्त्र का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों को आभूषणों का बड़ा चाव था। तरह-तरह के सुन्दर आभूषण प्रयोग में लाये जाते थे। स्त्रियाँ कानों में जड़ाऊ और बालियाँ, गले में मोतियों की मालाएँ और हार, हाथों में रत्नजड़ित चूड़ियाँ, कंगन और कड़े, उँगलियों में अँगूठियाँ और कमर में करधनी पहनती थीं। पैरों में पायजेब भी पहने जाते थे। स्त्रियाँ केश-सँभार में विशेष रुचि लेती थीं। उस काल में केश-विन्यास के नमूने अजन्ता की चित्रकारी में दिखाये गये हैं। ये नमूने बड़े ही आकर्षक हैं। पुरुष भी गले में मालाएँ, कानों में कुंडल, हाथ में कड़े और उँगलियों में अँगूठियाँ पहनते थे। मुख और होंठों की सुन्दरता के लिए रंगों और सुगन्धित पाउडरों का प्रयोग किया जाता था। विलासिता की वस्तुएँ उस समय के समाज में अधिकता से प्रयोग की जाती थीं।

मनोरंजन—उस समय के समाज में खेल-कूद मनोरंजन के साधनों का यथेष्ट प्रचार था। स्त्री-पुरुष दोनों ही चौपड़ तथा शतरंज खेलते थे। भेड़ों और मुर्गों की लड़ाई देखने का जनता को बड़ा चाव था। समारोहों और उत्सवों के अवसर पर स्त्रियाँ गाती, बजाती, नाचती और गेंद के कई प्रकार के खेल खेलती थीं। बालकों को गेंद और आँखमिचौनी के खेलों में अभिरुचि थी। नाटक तथा खेल-तमाशे मनोरंजन के साधन समझे जाते थे। उस युग के समाज में धार्मिक उत्सवों का विशेष प्रचार था। जनता उत्सवों में बड़ी रुचि रखती थी। उनमें सम्मिलित होकर वह आनन्द प्राप्त करती थी। रथों की दौड़ और रथ-यात्रा का अधिक प्रचार था। स्त्रियाँ भी रथ-यात्रा में सम्मिलित होती थीं। उस समय की गणिकाएँ नाच-गाकर समाज का मनोरंजन करती थीं। गणिकाओं को समाज में सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था। गुप्त-सम्राटों को शिकार खेलने का बड़ा शौक था। वे बड़ी तैयारियों के साथ शिकार को जाया करते थे। सामज में गोष्ठियों का भी प्रचलन था। गोष्ठियाँ प्राय: एक ही स्तर और स्वभाव के लोगों में होती थीं।

कौटुम्बिक व्यवस्था—इस युग में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा थी। पिता कुटुम्ब की सम्पत्ति का स्वामी समझा जाता था। लेकिन भाइयों तथा पुत्रों का भी हिस्सा होता था। इस युग में मिताक्षर नियम प्रचलित था जिसके अनुसार पुत्र का अपने पूर्वजों की सम्पत्ति में जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था। विधवाओं को केवल जीवन-वृत्ति मिलती थी। कन्याओं को पिता की सम्पत्ति में भाग नहीं मिलता था।

स्त्रियों की स्थिति—समाज में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। बाल विवाह का प्रचलन था। कुछ स्मृति ग्रंथों में पिताओं के लिए यह अनिवार्य ठहराया गया है कि वे अपनी कन्याओं का विवाह उनके रजस्वला होने के पूर्व ही कर दें। जो ऐसा नहीं करते थे, वे नरक के भागी होते हैं। गुप्तकालीन स्मृति ग्रंथ स्त्रियों को शिक्षा देने की अनुमति नहीं प्रदान करते। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च कुलों में नारियों को शिक्षा दी जाती थी। आश्रमवासिनी कन्यायें इतिहास और पुराण का अध्ययन करती थीं। वे स्वयं भी पद्य-रचना करती थीं। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में अनसूया शकुन्तला के छन्दोबद्ध प्रणय-संदेश को समझ लेती है। महाकवि कालिदास ने आदर्श पत्नी के अन्य गुणों के साथ उसकी ललित कला निपुणता का भी उल्लेख किया है। शकुन्तला की सखी अनसूया चित्रकला में और यक्ष की पत्नी वीणावादन में कुशल थीं। अमरकोश में नारी शिक्षिकाओं (उपाध्याया और उपाध्यायी) तथा वैदिक मंत्रों की शिक्षा देने वाली नारियों का उल्लेख है। 'ललित विस्तर' से विदित होता है कि गोपा नामक राजकन्या अनेक शास्त्रों में प्रवीणा थी। मनु ने लिखा है कि सभ्य नागरिक पत्नी को दैनिक, मासिक तथा वार्षिक आय-व्यय का विवरण रखने के लिए ज्ञान होना आवश्यक है। स्त्रियों का संपत्ति पर भी अधिकार था। याज्ञवल्क्य ने निर्देश दिया

नोट

है कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही उत्तराधिकारिणी है। वृहस्पति ने भी उसके उत्तराधिकार को स्वीकार किया है। भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने भी स्त्री-धन को कम से कम छः प्रकार का बताया है–पिता, माता, भ्राता और पति द्वारा दिया हुआ, अग्नि की सन्निधि में विवाह के समय कन्यादान के साथ प्राप्त तथा अधिवंदन के निमित्त मिला हुआ धन। यही नहीं, विवाह होने के पश्चात् प्रीतिपूर्वक सास, श्वसुर आदि से पादवन्दनादि प्रथा में स्त्री को जो प्राप्त होता था, वह भी स्त्री-धन था। स्त्री-धन के अन्तर्गत परिवार की भूमि के अतिरिक्त उसके मूल्यवान वस्त्राभूषण भी होते थे जिनका वह स्वयं उपयोग करती थी। गुप्तकालीन समाज में कुछ सीमा तक पर्दा-प्रथा का भी प्रचलन था। कुलीन स्त्रियाँ घरों से निकलने पर घूंघट अथवा पर्दे का प्रयोग करती थीं। विधवाओं की स्थिति दयनीय होती जा रही थी। उन्हें न केवल पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करना पड़ता था बल्कि उनके लिए 'सती' हो जाना श्रेयष्कर माना जाता था। उत्तर भारत की कुछ सैन्य जातियों में बड़े पैमाने पर विधवाओं के जल-मर जाने की प्रथा थी।

वेश्यावृत्ति–मृच्छकटिक के द्वारा गणिकाओं के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में वेश्या के घर को युवकों का निवास-स्थान कहा गया है, वेश्यागामी को समाज निम्न दृष्टि से देखता था। जो वेश्याएँ वृद्धा हो जाती थीं, उनका रूप-व्यापार समाप्त हो जाता था। अतएव वे कुट्टनी का काम करना प्रारम्भ कर देती थीं। वे एक तरह से नई वेश्याओं के लिए मार्गदर्शिका का काम करती थीं और इसके लिए उनकी आमदनी में भाग लेती थीं। दयनीय दशा में पड़ी युवतियों को गणिका-वृत्ति सिखा देना और युवकों को पथभ्रष्ट करना उनका काम था। कुट्टनियों के हथकंडों एवं उनकी गर्हित जीवन-वृत्ति पर दो प्राचीन ग्रंथ 'कुट्टीनीमतम्' और 'दूतीकर्म-प्रकाश' उल्लेखनीय हैं।

जन-जीवन–गुप्तकालीन जनता समृद्धि-सम्पन्न और सुखी थी। साम्राज्य के विभिन्न भागों में अनेको समृद्धिपूर्ण विशाल नगर अपनी अद्‌भुत आभा से साम्राज्य की शोभा वृद्धि कर रहे थे। साम्राज्य की जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ती जा रही थी, जिसका प्रमुख कारण जनसाधारण के सुखमय जीवन, भोजन, आवास तथा वस्त्राभूषणों की बहुलता पर आधारित था। चीनी यात्री फाहियान ने भारतीयों के सदाचार और नैतिक गुणों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। वह लिखता है–"लोगों का आपसी व्यवहार बड़ा सुन्दर था। वे प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे।" माँस, मदिरा आदि का सेवन सिवाय चाण्डालों के और कोई नहीं करता था। लहसुन, प्याज आदि का भी प्रयोग नहीं होता था। सुअर और मुर्गी पालना घृणित समझा जाता था। अन्त्यज और चाण्डाल ही इस काम को करते थे। समाज में नैतिकता की भावना प्रबल थी। समृद्ध लोग मुक्तहस्त से दीन व्यक्तियों की सहायता करते और मन्दिर, धर्मशालायें बनवाने तथा प्याऊ आदि लगवाने में भारी धनराशि व्यय करते रहते थे। धनवानों की ओर से धर्मार्थ औषधालय एवं अन्न क्षेत्र खुले हुए थे, जिनमें बीमारों का इलाज होता तथा भूखे-प्यासे अपाहिजों को भोजन कराया जाता था। बाजारों में दुकानों पर आवश्यकता की सभी वस्तुएँ विक्रयार्थ रखी रहती थीं।

9.4 धार्मिक अवस्था (Religious Conditions)

वैदिक धर्म–गुप्त सम्राट वैष्णव थे और वैदिक धर्म की पूरी तरह राज्य की ओर से संरक्षण प्रदान कर रहे थे, जिससे गंगा-यमुना के मध्य के देश और मध्य भारत आदि में वैदिक धर्म का कुछ प्रचार हुआ। पिछले वर्षों में वैदिक यज्ञों का प्रचलन पुनः बढ़ गया था। गुप्त युग में भी यह प्रक्रिया चलती रही। इस काल के नाग, वाकाटक, गुप्त आदि वंशों के राजाओं ने अनेक अश्वमेध तथा अन्य यज्ञ किये, किन्तु फिर भी वैदिक धर्म अब उतना लोकप्रिय न रह गया था। यज्ञ आदि करना राजा, महाराजाओं तथा धनी लोगों का ही काम था। साधारण जनता के आर्थिक साधनों से वे परे थे और न उनमें उनका अधिक विश्वास ही रह गया था। इस युग की स्मृतियों ने स्पष्ट लिखा है कि यज्ञ उन्हीं को करना चाहिए जिनके भण्डारों में तीन वर्ष के लिए पर्याप्त साधन जमा हों। साधारण लोग स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म की ओर झुक रहे थे। इस प्रकार वैदिक धर्म अवनति की ओर अग्रसर हो रहा था और आगे चलकर उसका महत्त्व और भी अधिक घट गया।

वैष्णव–गुप्त सम्राटों के वैष्णव भागवत धर्म का अनुयायी होने के कारण उनके संरक्षण में यह धर्म **निर्बाध** गति से उन्नति करने लगा था। अनेक वैष्णव मन्दिरों का निर्माण इस युग में हुआ। धार्मिक भावना और विश्वास का स्वरूप परिवर्तित हुआ। विष्णु के दस अवतारों में वराह और कृष्ण की पूजा का प्रचलन इस काल में विशेष रूप से हुआ।

नोट

इस अवतार के सम्बन्ध में पुराणों में उल्लिखित है कि वराह ने पृथ्वी का उस समय उद्धार किया था, जिस समय वह प्रलय के तीव्र वेग में जलमग्न होती जा रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वराह अवतार की पूजा को इसी धार्मिक गाथा ने बल दिया था क्योंकि गुप्त सम्राटों ने भी दस्युओं और म्लेच्छों के निरन्तर आक्रमणों से उत्पन्न प्रलय की-सी अवस्था में से भारतभूमि का वराहावतार की तरह ही उद्धार किया था। इस काल तक राम को भगवान विष्णु का अवतार मानकर पूजा करने की प्रवृत्ति का श्रीगणेश नहीं हो पाया था क्योंकि राम की पूजा के सम्बन्ध में इस युग के अवशेषों का अन्वेषण करने पर हमें किसी भी तरह का संकेत अब तक नहीं मिल सका है। अनेक शिलालेखों में कृष्ण की पूजा का उल्लेख पाया जाता है। यह सत्य है कि कृष्ण की ही भाँति राम की उपासना का भी प्रचलन अभी तक नहीं हुआ था। परन्तु फिर भी राम के अत्यन्त महान और परम पावन चरित्र में भगवान के अर्थात् दैवी अंश का विचार इस समय में विकसित होना प्रारम्भ हो गया था। फिर भी राम की पूजा का प्रारम्भ भारत में छठवी शताब्दी के बाद से ही आरम्भ हुआ था।

क्या आप जानते हैं गुप्तकाल में विष्णु के दस अवतारों में वराह और कृष्ण की पूजा का प्रचलन विशेष रूप से हुआ।

शैव धर्म–गुप्तकाल में शैवधर्म का काफी प्रचार था। गुप्त सम्राटों के मंत्री, सेनानायक और उच्च अधिकारी शैव थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री वीरसेन ने उदयगिरि में शिव मंदिर का निर्माण किया था। कुमारगुप्त प्रथम के समय में ध्रुवशर्मा शैव था जिसने कार्तिकेय मन्दिर को दान दिया था। गुप्तों के सामन्त महाराज हस्तिन के खोह-अभिलेख में 'नमों महादेव' शब्द उत्कीर्ण हैं। दामोदर-अभिलेख में शिवपूजा के निमित्त अग्रहारदान का उल्लेख मिलता है। मथुरा में माहेश्वर नामक एव शैव संप्रदाय था। वाकाटक, नल, मैत्रिक, कदम्ब और परिव्राजक वंशीय नरेश शैव धर्मावलम्बी थे।

गुप्तकाल की शिव मूर्तियाँ भी मिली हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय एकमुख या चतुर्मुख शिव की पूजा का प्रचलन था। नागोद राज्य में स्थित भुमरा और खोह में एकमुख शिवलिंग की प्रतिमाएँ मिली हैं। गुप्तकालीन मूर्तियों का संग्रह अजमेर के संग्रहालय में किया गया है। इसमें चतुर्मुख लिंग तथा शिव की प्रतिमाएँ काफी हैं। करमदंडा से भी एक शिवलिंग मिला है। इसे पृथ्वीषेण ने बनवाया था। त्रिशूल और नन्दी के अनेक चिह्न मिले हैं।

गुप्तकाल में शक्ति (देवी) पूजा का भी प्रचलन था। कालान्तर में शक्ति और शिव पूजा का एक-दूसरे के साथ समन्वय होना प्रारम्भ हो गया। शिव और शक्ति की पूजा उनके करुणामय और भयंकर दोनों प्रकार के रूपों में की जाती थी। देवी के विभिन्न रूपों में उमा, गौरी, पार्वती, भवानी, अन्नपूर्णा, ललिता आदि करुणाशील रूप थे तथा चामुण्डा, दुर्गा, कालरात्रि, कात्यायिनी और भैरवी के रूप भयंकर थे। देवी के सभी रूपों की प्रतिमाएँ भारत के विभिन्न भागों में पाई गई हैं। बंगाल शाक्त सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था।

शिव पूजा के साथ गणेश और कार्तिकेय की पूजा का भी प्रचार था। गणेश और कार्तिकेय शिव तथा शक्ति (पार्वती) के पुत्र थे। कार्तिकेय को स्वामी महासेन भी कहा जाता था। गणेश की पूजा भी होती थी। कालान्तर में गणेश के उपासकों का एक सम्प्रदाय बना गया। पहाड़पुर में गणेश की कई प्रतिमाएँ पाषाण तथा धातुओं की बनी हुई मिली हैं। गणेश बड़े ही लोकप्रिय देवता थे। उनको समस्त विपत्तियों का नाशक तथा सफलतादायक समझा जाता था। न केवल हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय, बल्कि बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक मतों के अनुयायी भी उनकी पूजा करते थे। बौद्धों ने गणेश-मूर्ति का प्रचार हिन्देशिया में भी किया था।

जैन धर्म–गुप्तकालीन उत्कीर्ण लेखों के आँकड़ों से साफ मालूम होता है कि वैदिक-धर्म को मानने वालों की संख्या बहुत अधिक थी, बौद्ध धर्म को मानने वाले भी काफी थे, किन्तु उत्तर-भारत में जैन धर्म को मानने वालों की संख्या बहुत कम थी। एक तो अपने कठोर आचरण के कारण यह बहुसंख्यक जनता को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता था, दूसरी ओर आचरणहीन विदेशियों से अपने को बचाने के लिए जैन धर्म धीरे-धीरे दक्षिण की ओर खिसक रहा था। वैदिक और बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म में भी तीर्थकरों की मूर्तियों की पूजा मन्दिरों में होती तथा स्तुति,

नोट

अर्चन, पूजन, तीर्थयात्रा, दान-प्रण्यादि प्रचलित थे। देवरिया जनपद में प्राप्त स्कन्धगुप्तकालीन, वहाँ के अभिलेख से मालूम होता है कि मद्र नामक व्यक्ति ने पाँच जैन तीर्थकरों की मूर्तियों की स्थापना की थी।

सूर्य की उपासना–इस काल में सूर्य के भी कई मन्दिर बने थे। सूर्य का एक मन्दिर मालवा में मन्दसोर में, दूसरा ग्वालियर में, तीसरा इन्दौर में और चौथा **बघेलखंड** में प्राप्त हुआ है। बंगाल में सूर्यदेव की कुछ मूर्तियाँ भी मिली हैं।

नाग तथा यक्ष की पूजा–इस काल में नाग तथा यक्ष की भी पूजा प्रचलित थी, परन्तु यह पूजा केवल निम्न-वर्ग के लोगों ही तक सीमित थी।

मन्दिरों का निर्माण–गुप्तकाल में मन्दिरों का निर्माण बहुत बड़ी संख्या में हुआ। इन मन्दिरों में लोग पूजा-पाठ किया करते थे और इनमें व्याख्यान भी हुआ करते थे। मन्दिरों के निर्माण के फलस्वरूप शिल्प-कला तथा चित्र-कला की भी बड़ी उन्नति हुई। इन मन्दिरों में कीर्तन तथा नृत्य भी होते थे। अतएव इससे नृत्य कला का भी विकास हुआ। इन मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थीं। मूर्तियाँ बनने लग गई थीं। अत: उनकी पूजा आदि का ढंग और भी अधिक जटिल हो गया। देवता को प्रात: मधुर संगीत द्वारा जगाना, सुन्दर वस्त्र पहनाना, आरती उतारना, उनका भोग लगाना आदि सभी बातें प्रचलित हो गई थीं। इसके अतिरिक्त इस युग में भजन संध्या, उपासना, व्रत, उपवास, श्राद्ध आदि का भी महत्त्व बढ़ गया। कहने का अर्थ यह है कि गुप्त युग के आते-आते वर्तमान सनातन धर्म का रूप लगभग पूर्णतया निश्चित हो चुका था। साधारण लोगों में अब भी सर्पों, वृक्षों और पशुओं आदि की पूजा प्रचलित थी और बलि आदि चढ़ाने की प्रथा भी जारी थी।

धार्मिक सहिष्णुता–सहिष्णुता की भावना सदैव से भारतीय जीवन की विशेषता रही है। इस युग में भी हमें यह बात स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। वैष्णव, शैव, बौद्ध तथा जैन धर्म इस काल में साथ-साथ फले-फूले। अधिकतर गुप्त सम्राट वैष्णव थे, किन्तु शिव, सूर्य आदि के उपासकों तथा बौद्धों और जैनों का वे समान रूप से आदर करते। यही नहीं सब सम्प्रदायों को धार्मिक विश्वास तथा पूजा-पाठ की स्वतन्त्रता थी बल्कि दान तथा सरकारी नौकरियों आदि में भी किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाता था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सेनापति अमरकर्दव बौद्ध था। समुद्रगुप्त पक्का हिन्दू था किन्तु उसने अपने पुत्र की शिक्षा का भार प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु को सौंपा। नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध विहार को गुप्त सम्राटों ने मुक्तहस्त से दान किया और उनके संरक्षण में वह संस्था खूब फली-फूली। इस युग के अन्य राजवंशों की भी यही नीति थी।

9.5 आर्थिक अवस्था (Economical Conditions)

गुप्तकालीन भारत में आर्थिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। गुप्तों के विशाल साम्राज्य में शान्ति व्यवस्था व्याप्त थी। अत: कृषि, उद्योग-धन्धे एवं व्यापार व्यवसाय का प्रभूत विकास हुआ। देश धन्य-धान्य से परिपूर्ण था और लोग सुखी-सम्पन्न थे। आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलू निम्नलिखित थे–

कृषि–गुप्तकाल और उसके परवर्ती काल तक आकर कृषि अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई थी। उसका विस्तार बढ़ गया था। वराहमिहिर ने तीन फसलों का उल्लेख किया है–गर्मी (रबी), पतझड़ (खरीफ) और साधारण समय में होने वाली फसलें। अमरकोश में भी ऐसी फसलों का उल्लेख हुआ है। गेहूँ, धान, जुआर, ईख, बाजरा, मटर, दाल, तिल, सरसों, अलसी, अदरख, सब्जी, काली मिर्च आदि विभिन्न अनाज उपजाए जाते थे। उस युग में धान के नीवार, शालि और कलम नामक अनेक प्रकार हो गए थे। चावल की एक फसल साठ दिन में तैयार कर ली जाती थी।

मगध में उत्पन्न होने वाले चावल की सुगन्ध बहुत सुन्दर होती थी। यह महँगा पड़ता था। इसका व्यवहार उच्च वर्ग के लोग करते थे। सेब, अंगूर, अनार आदि भी उपजाए जाते थे। केला, आम, द्राक्षा, कटहल आदि भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में पाए जाते थे। केसर की खेती दाटेल (अफगानिस्तान) और कश्मीर में होती थी। गरम मसालों में काली मिर्च, इलायची, लौंग आदि भी बोये जाते थे। पांड्य देश (आधुनिक केरल) के तटीय भागों में इनकी खेती अधिकता से होती थी।

नोट

सिंचाई के लिए लोग वर्षा पर निर्भर करते थे। वर्षा के अभाव में कृत्रिम सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। झील, कूप, तड़ाग, कुल्पा आदि का उपयोग सिंचाई के लिए किया जाता था। वराहमिहिर ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों का अध्ययन करके वर्षा के विषय में विस्तृत विवरण दिया है। सिंचाई के लिए बड़ी-बड़ी कृत्रिम झीलें बनायी जाती थीं। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-अभिलेख से विदित होता है कि सौराष्ट्र के गिरिनार नगर की सुदर्शन झील का पुनरुद्धार किया गया।

उपलब्ध प्रमाणों से पता चलता है कि भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्व था। जो भूमि बेकार पड़ी रहती थी, वह राज्य की सम्पत्ति समझी जाती थी। बहुत से गाँवों में कृषि योग्य कुछ ऐसी भूमि होती थी जो राज्य की भूमि समझी जाती थी। राजा ऐसी भूमि को दान में देता था, दान पाने वाले व्यक्ति इस भूमि के मालिक हो जाते थे। जो भूमिपति स्वयं खेती नहीं कर सकते थे, वे अपनी भूमि किसानों को दिया करते थे। ऐसी दशा में किसान को उपज का 33 से 50 प्रतिशत तक मिलता था। भूमि का मूल्य उसकी उर्वरा शक्ति पर निर्धारित होता था। जंगलों से सागौन, सन्दल तथा आबनूस की लकड़ी मिलती थी।

उद्योग धन्धे—कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त विविध प्रकार के उद्योग-धन्धे भी होते थे। देश के विभिन्न भागों में सूत की कताई एवं कपड़े की बुनाई के काम होते थे। बढ़ई, लोहार, कुम्हार आदि व्यवसायी अपने-अपने कार्यों में सदा व्यस्त रहते थे। मोती, सोना, चाँदी के आभूषण बनते थे। ताम्बे एवं काँसे की मूर्तियाँ एवं बर्तन बनते थे। लौह-व्यवसाय बड़ा ही उन्नत था। लौहकार बड़े ही निपुण होते थे। दिल्ली के पास का लौह-स्तम्भ उस समय की उत्कृष्ट लौह-कला का सर्वोत्तम नमूना है। यह सदियों की धूप एवं वर्षा की चपेट को सहते हुए भी जंग से मुक्त है। नाव-जहाज भी बनते थे। हाथी दाँत से अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुएँ बनायी जाती थीं।

व्यापारियों के निगम तथा शिल्पियों की श्रेणियाँ जिनका हम पहले कई बार उल्लेख कर आए हैं इस युग में भी पूर्ववत कार्य करती रहीं। उनका महत्त्व कम नहीं हुआ था, बल्कि बढ़ गया था।[1] ये संस्थाएँ बैंकों का भी काम करती थीं। लोग उनके पास अपना धन जमा करते थे और नियमित रूप से ब्याज पाते थे। यदि किसी निगम अथवा श्रेणी के लोग सामूहिक रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जाते तो भी लोगों का उनमें विश्वास बना रहता। इन संस्थाओं का प्रबन्ध छोटी-छोटी समितियों के हाथ में रहता था, जिनमें चार-पाँच सदस्य और एक सभापति होता था। राज्य उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता था। वे स्वयं अपने नियम तथा उपनियम बनाती थीं। सदस्यों के पारस्परिक झगड़े उन्हीं की कार्यपालिकाएँ तय कर देती थीं। राज्य के न्यायालयों में उन्हें नहीं जाना पड़ता था।

नगर—गुप्तकाल में नगर व्यापार-व्यवसाय और संस्कृति के केन्द्र थे। इनमें पाटलिपुत्र, वैशाली, उज्जयिनी, दशपुर, भृगुकच्छ, ताम्रलिप्ति आदि प्रमुख थे। फाहियान ने पाटलिपुत्र के राजप्रासाद का बड़ा रोचक वर्णन किया है। वैशाली तीर भुक्ति (तिरहुत) की राजधानी थी। फाहियान इस नगर में आया था। वह लिखता है कि इसके भीतर एक विहार था जिसे आम्रपाली नामक सुप्रसिद्ध वेश्या ने गौतम बुद्ध के प्रति श्रद्धा के कारण उनके निवास के निमित्त बनवाया था। पश्चिम भारत में उज्जयिनी का नगर सबसे प्रसिद्ध था। मृच्छकटिक के वर्णन से लगता है कि गुप्तकाल में यह नगर अत्यन्त समृद्धशाली था। यहाँ अनेक विहार, देवालय, सरोवर, कूप तथा यज्ञयूप विद्यमान थे जिनके कारण इसकी शोभा अवर्णनीय थी। नगर-वेश्या वसन्तसेना का भव्य प्रासाद बड़ा मनमोहक था। रघुवंश में उज्जयिनी के राजप्रासाद, महाकाल-मन्दिर, शिप्रा नदी एवं उपवनों का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है। दशपुर भी पश्चिम भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। मन्दसोर-लेख में इसका बड़ा मनोरम और सजीव वर्णन है। मेघदूत में भी दशपुर का वर्णन मिलता है। भृगुकच्छ (भड़ौंच) पश्चिम समुद्रतट का सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह था। पेरिप्लस के वर्णन के अनुसार यह नगर भारतीय आयात-निर्यात का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। ताम्रलिप्ति पूर्वी समुद्रतट का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। पैठन, विदिशा, प्रयाग, बनारस, गया, कोशाम्बी, मथुरा, पेशावर आदि भी इस काल के प्रमुख नगर थे।

---

1. "The mention, in an inscription of the corporation of guild presidents, traders and chiefs of groups of artisans and of kindered bodies, etc. provides interest in glimpses in the economic organisation of the Gupta period. Corporate activity seems to have been the outstanding feature of all the three aspects of national life, social, political and economic."

—*R. N. Dandekar :* A history of the Guptas, P. 195

नोट

टास्क गुप्तकालीन समाज की आर्थिक अवस्था पर विस्तार से चर्चा करें।

व्यापार–गुप्तों के पूर्व व्यापार की काफी उन्नति हुई थी, अत: नगर बढ़े और समृद्ध हुए। गुप्तकाल के आरम्भिक दौर में यह समृद्धि जारी रही। न केवल भारत के भीतर और पश्चिमी एशिया के साथ, बल्कि दक्षिणी-पूर्व एशिया के साथ भी व्यापार होता था। बहुत-से व्यापारी माल लेकर विदेशों में जाने लगे और उसे भारी मुनाफा पर बेचने लगे। व्यापार में वृद्धि के साथ-साथ समुद्री-यात्रा और जहाज-निर्माण के ज्ञान में भी वृद्धि हुई। पहले से बड़े जहाज बनाए जाने लगे और पश्चिमी और पूर्वी तटों के बन्दरगाहों में पहले से अधिक जहाज आने-जाने लगे।

गंगा के डेल्टा में स्थित **ताम्रलिप्ति** (तामलुक) बंदरगाह से दक्षिण-पूर्व एशिया के **सुवर्णभूमि** (बर्मा), **यवद्वीप** (जावा) और **कम्बोज** (कंपूचिया) जैसे देशों के साथ सबसे ज्यादा व्यापार होता था। **भड़ौंच, सोपारा** और **कल्याण** पश्चिमी तट पर मुख्य बंदरगाह थे और वहाँ से भी दक्षिण-पूर्व को जहाज भेजे जाते थे। व्यापार के साथ-साथ भारतीय धर्म और संस्कृति-बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म, संस्कृत भाषा, कला तथा भारतीय संस्कृति के अन्य रूप दक्षिण-पूर्व एशिया में पहुँचे। दक्षिण-पूर्व एशिया के लोगों ने भारतीय संस्कृति के कुछ पहलुओं को पसंद किया और उन्हें अपना लिया। किन्तु उन्होंने अपनी परम्पराओं तथा संस्कृति को भी कायम रखा। आज भी भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया की संस्कृति के बीच अनेक बातें समान हैं।

मालाबार तट के **कालीकट** और **कोचीन** जैसे बंदरगाहों से भारतीय माल अफ्रीका, अरब, ईरान तथा भूमध्यसागरीय देशों को ले जाए जाते थे। व्यापारियों के काफिले और धर्म-प्रचारकों के दल भी स्थल-मार्ग से मध्य एशिया और चीन जाया करते थे।

आन्तरिक व्यापार की वस्तुएँ कपड़े, खाद्य-पदार्थ, मसाले, नमक तथा बहुमूल्य धातुएँ थी। भड़ौंच, उज्जयिनी, पैठन, विदिशा, ताम्रलिप्ति, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलिपुत्र, वैशाली, कौशाम्बी, मथुरा, पेशावर आदि नगर एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। वे व्यापार के केन्द्र थे। वस्तुएँ सड़कों तथा नदियों दोनों के द्वारा भेजी जाती थीं। सामान बैलगाड़ियों और जानवरों की पीठ पर ढोया जाता था। बड़ी-बड़ी नावों का निर्माण किया जाता था। गुप्तकाल में जलमार्ग का अधिक प्रचलन था। आन्तरिक व्यापार में नदियों का उपयोग किया जाता था, जिनमें छोटी-बड़ी सभी प्रकार की नावें चला करती थीं। सिन्धु, रावी, चेनाब, गंगा, यमुना, सरयू आदि नदियों में नावें चलती थीं। कालिदास ने लिखा है कि व्यापारियों के कारवाँ पहाड़ी मार्ग में इस प्रकार चलते थे जैसे वे उनके भवन हों, नदियों पर ऐसे विहरते थे मानों वे कूप हों तथा वनों के मार्ग में ऐसे जाते थे जैसे वे उपवन हों।[1] बड़े-बड़े जलपोत सागरों और महासागरों में चलते थे। बालि, सुमात्रा, जावा, सुवर्णभूमि जैसे देशों में भारतीय व्यापारी समुद्री मार्ग से जा सकते थे। ताम्रलिप्ति बंगाल का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। यहाँ से चीन, लंका, जावा तथा सुमात्रा से व्यापार होता था। दक्षिण में गोदावरी और कृष्णा नदियों के मुहाने पर बहुत अच्छे-अच्छे बन्दरगाह थे, जिनके द्वारा पूर्वी द्वीपसमूह तथा चीन से व्यापार होता था। कल्याण, चोल, भड़ौंच तथा काम्बे-दक्षिण व गुजरात के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। बहुमूल्य पत्थर, कपड़े, सुगंधित वस्तुएँ, मसाले, नील, औषधियाँ, नारियल, हाथी दाँत आदि वस्तुओं का निर्यात किया जाता था। सोना, चाँदी, तांबा, टिन, शीशा, रेशम, कपूर, मूँगा, खजूर, घोड़े आदि का आयात किया जाता था। भृगुकच्छ (भड़ौंच) बन्दरगाह से निर्यात की जाने वाली भारतीय विलास-सामग्रियों की रोम में बड़ी माँग थी। वहाँ के बाजारों में भारतीय मलमल, जवाहरात, मोती तथा सिल्क भरे रहते थे। प्लिनी ने हार्दिक क्लेश प्रकट किया है कि उसके देशवासी अपनी विलासिता के कारण देश की अतुल धनराशि भारत भेज देते थे। उसके अनुसार प्रतिवर्ष रोम की लगभग पाँच करोड़ मुद्राएँ भारत आती थीं।

---

1. "The high standard of living and the luxury of town life, to which the literary records of the Gupta age bear witness, tell their own tale of economic prosperity at least among the upper classes of the people." —*R. C. Majumdar*

नोट

परन्तु गुप्तकाल के अन्तिम दौर में उत्तर भारत में व्यापार का पतन हुआ। गंगा के मैदान के नगरों में इस पतन के लक्षण प्रकट होते हैं। इसका आंशिक कारण था हूणों की हलचल से मध्य एशिया में पैदा हुई अस्थिर परिस्थितियाँ। एक अन्य कारण हो सकता है—बाढ़ों से और नदी मार्गों में हुए परिवर्तन से गंगा की द्रोणी के वातावरण में आया परिवर्तन।

लेन-देन में प्राय: वस्तु विनिमय-प्रथा प्रचलित थी। प्रतिदिन की वस्तुओं को खरीदने में कौड़ी का प्रयोग किया जाता था। गुप्त सम्राटों ने विभिन्न तरह की स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि मुद्रायें प्रचलित कीं। इससे उनके ऐश्वर्य एवं सम्पन्नता का पता चलता है।

9.6 शिक्षा और साहित्य (Education and Literature)

गुप्तकाल में शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व विकास हुआ। अनेक इतिहासकारों ने गुप्त युग की साहित्यिक समृद्धि की तुलना एथेंस के इतिहास के पेरिक्लीयन युग और अंग्रेजी साहित्य के इतिहास के एलिजाबेथ युग से की है।[1]

यद्यपि उस काल में राज्य की ओर से शिक्षण-संस्थाएँ नहीं थीं। गुरु अपने निवास गृहों में व्यक्तिगत रूप से अपने शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे। प्रसिद्ध आचार्य अपने-अपने आश्रमों में विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। पाटलिपुत्र, मथुरा, उज्जैन, अयोध्या, बनारस, नासिक, वत्सगुल्म और वल्लभी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। इस काल में बिहार में नालंदा विश्वविद्यालय का उत्कर्ष हो रहा था। सौराष्ट्र में वल्लभी भी महत्त्वपूर्ण विद्यापीठ थी। दक्षिण भारत में शिक्षा का केन्द्र काँची था, जहाँ हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों की शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध-विहार भी शिक्षा का प्रचार करते थे। ब्राह्मण वर्ग में शिक्षा का विशेष प्रचलन था। तांत्रिक और व्यावसायिक शिक्षा शिल्पियों के परिवारों को दी जाती थी। इस युग में पुराण, स्मृति, महाकाव्य, तर्क, दर्शन, न्याय, व्याकरण आदि का विशद् अध्ययन किया जाता था। ज्योतिष, गणित तथा आयुर्वेद जैसे विषय भी पढ़ाये जाते थे। शूद्रों और अछूतों में शिक्षा का अभाव था। प्रारम्भिक शिक्षा के लिए गाँवों में पाठशालाएँ थीं, जिन्हें लिपिशालाएँ कहा जाता था।

साहित्य—इस काल में संस्कृत साहित्य का काफी विकास हुआ। संस्कृत का प्रयोग शिला लेख, स्तंभ लेख, दानपत्र लेख आदि में किया जाने लगा। संस्कृत साहित्य को राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ। बौद्ध एवं जैनों ने भी प्राकृत और पाली भाषा को छोड़कर संस्कृत को अपना लिया था। परिणामस्वरूप संस्कृत को नयी स्फूर्ति मिली और उसने इस काल में जितनी उन्नति की उतनी पहले कभी नहीं की थी। वास्तव में गुप्त सम्राटों ने विद्वानों एवं कवियों को अपने दरबार में प्रश्रय दिया। कुछ शासक तो स्वयं विद्वान थे। समुद्रगुप्त में आश्चर्यजनक काव्यात्मक तथा कलात्मक प्रतिभा थी।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्नों को संरक्षण दिया गया था। इनमें 'कालिदास' सबसे प्रतिभावान नक्षत्र था, जो भारतीय ही नहीं वरन् विश्व साहित्य की अनुपम विभूति है। वह संस्कृत का अद्वितीय नाटककार तथा कवि था। कालिदास के प्रसिद्ध ग्रंथों में कुमारसम्भव और रघुवंश दो महाकाव्य, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 'विक्रमोर्वशीयम्', 'मालविकाग्निमित्र' तीन नाट्क, 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' दो गीति काव्य हैं।

रामायण तथा महाभारत से जिस महाकाव्य परम्परा का प्रारम्भ हुआ था, कालिदास की लेखनी ने उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। उन्होंने हिन्दुओं के आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन के आदर्शों को अपने काव्य का आधार बनाकर उनकी अत्यन्त परिष्कृत रूप में अभिव्यंजना की है। इस काल के अन्य महाकवियों में वत्सभट्टी थे, जिन्होंने 'रावण-वध' नामक महाकाव्य की रचना की जिसके प्रत्येक श्लोक में संस्कृत व्याकरण के किसी-न-किसी नियम की समीक्षा की गयी है। दण्डी में 'दशकुमार चरित' तथा 'रीति ग्रन्थ काव्यादर्श' की रचना की। वीरसेन साव चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में प्रसिद्ध कवि और महाव्याकरणाचार्य था। 'किरातार्जुनीयम्' का लेखक भारवि इस युग का प्रतिभासम्पन्न कवि था। विद्वानों का मत है कि भर्तृहरि भी इसी काल में हुए, जिनके तीन काव्य-ग्रंथ अतुलनीय हैं—

1. "Gupta period is in the annals of classical, India almost what Periclean age in the history of Greece." —*Barnett*

नोट

'शृंगार शतक', 'वैराग्य शतक' और 'नीति शतक'। इस युग के अन्य कवियों में भ्रातृगुप्त, सौमिल्ल और कुलपुत्र उल्लेखनीय हैं। ममट्ट 'काव्यालंकार' का लेख इस युग की निधि था।

यह काल संस्कृत के नाटकों के लिए भी प्रसिद्ध है। कालिदास के अतिरिक्त शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' नाटक लिखा। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' और 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक प्रसिद्ध हैं। 'स्वप्नवासवदत्ता' का लेखक भास भी इस युग का प्रसिद्ध नाटककार था।

इस काल में रचे गये नीति ग्रन्थों में 'कामन्दक का नीतिसार' ग्रन्थ अनुपम है। इस काल में स्मृति ग्रन्थों या कानून ग्रन्थों की भी रचना हुई। इनमें नारद स्मृति, कात्यायन स्मृति, बृहस्पति स्मृति, पराशर स्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति आदि प्रसिद्ध हैं।

इस काल में कोश और व्याकरणों की भी रचना हुई। अमरसिंह ने 'अमर कोश' इसी युग में लिखा। इस काल में पाणिनी, कात्यायन और पातंजलि के व्याकरण ग्रन्थ प्रसिद्ध थे, परन्तु चन्द्रगोपी नामक बौद्ध भिक्षुक का 'चन्द्र व्याकरण' बहुत लोकप्रिय हुआ।

इस काल में 'पंचतन्त्र' एवं 'हितोपदेश' दो गल्प-ग्रन्थ भी लिखे गये। पंचतन्त्र मूल-ग्रंथ विष्णु शर्मा द्वारा लिखा गया था। ये गल्प-ग्रन्थ विभिन्न कथाओं द्वारा मनोरंजक ढंग से नीति की शिक्षा देते हैं।

गुप्तकाल में विभिन्न धर्मों के आचार्यों और प्रवर्तकों ने परस्पर वाद-विवाद तथा मनन-चिन्तन के लिए नवीन तर्क और दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये। इससे ब्राह्मण, जैन और बौद्ध दर्शन का काफी विकास हुआ तथा तीनों के अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी।

शवर स्वामी ने मीमांसा दर्शन पर 'शवरभाष्य' सन् 300 के लगभग लिखा। ईश्वर कृष्ण ने सांख्य पद्धति पर 'सांख्यकारिका' ग्रन्थ लिखा। योग दर्शन पर आचार्य व्यास ने 'व्यास भाष्य' की रचना की। वात्स्यायन ने न्याय दर्शन पर 'न्याय भाष्य' लिखा।

गुप्तकाल में बौद्ध दार्शनिक साहित्य का भी खूब विकास हुआ। आर्य देव ने 'चतु:शतक', आसंग ने 'योगाचार भूमि शास्त्र', 'महायानसूत्रालंकार' और बसुबन्धु ने अनेक ग्रन्थ लिखे; जैसे 'अभिधर्म कोश' , 'विंशतिका', 'त्रिंशतिका'। इस काल का सबसे प्रसिद्ध बौद्ध लेखक दिग्नाथ था, जिसके 'प्रमाण समुच्य' तथा 'न्यायमुख' प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। बुद्धघोष ने त्रिपिटकों पर अनेक भाष्य लिखे।

इस काल में जैन साहित्य का भी विकास हुआ। जैन आचार्य सिद्धसेन ने न्याय दर्शन पर ग्रंथ लिखे, उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्यायावतार' है। भद्रबाहु द्वितीय ने प्राचीन जैन-ग्रंथों पर भाष्य लिखे और नवीन शैली में दार्शनिक विचारों को प्रकट किया। आचार्य उमास्वामी, जिन चन्द्रमणि और देवनन्दनी अन्य प्रसिद्ध विद्वान थे।

इस काल में हिन्दू धर्म के साहित्य को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए धार्मिक ग्रन्थों को संशोधित करके ब्राह्मण धर्माचार्यों ने पुन: रचना की। इसके परिणामस्वरूप अनेक स्मृतियों और सूत्रों पर भाष्य लिखे गये। पुराण, महाभारत और रामायण आदि महाकाव्यों का अन्तिम सम्पादन इस युग में किया गया। इस काल में दक्षिण भारत में भी साहित्यिक प्रगति हुई। इसी तरह साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति के कारण इस युग को भारत का 'आगस्टन युग' कहा जाता है।

विज्ञान—गुप्तकालीन भारत में विज्ञान की विशेष प्रगति हुई। खगोलविद्या, गणित तथा चिकित्साशास्त्र में नए-नए अन्वेषण हुए। इनमें वराहमिहिर, आर्यभट्ट, नागार्जुन, वाग्भट्ट प्रथम के नाम उल्लेखनीय हैं। वराहमिहिर खगोलविद्या के प्रकांड विद्वान् थे। वृहत्संहिता और पंचसिद्धान्तिका इनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वृहत्संहिता में ज्योतिष, वास्तु तथा तक्षण कला का विवेचन किया गया है। पंचसिद्धान्तिका में ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों (पैतामह सिद्धान्त, वाशिष्ठ सिद्धांत, सूर्य सिद्धांत, पौलिश सिद्धांत तथा रोमक सिद्धांत) का प्रतिपादन किया गया है। आर्यभट्ट महान् गणितज्ञ थे। उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् है। उन्होंने दशमलव, पाई के मूल्य (वृत्त के व्यास एवं परिधि का अनुपात), ग्रहण

1. "The glories of Gupta age proper have been made permanent through the visible creations of its art." —*V. S. Agarwal*

नोट

आदि के बारे में बतलाया। उन्होंने बतलाया कि ग्रहण में राहु तथा केतु का कोई स्थान नहीं है। यह सूर्य और चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया का परिणाम है। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह बतलाया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर सूर्य की परिक्रमा करती है। नागार्जुन एक लब्धप्रतिष्ठ चिकित्सक थे। वे रसायनशास्त्र के आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने रस-चिकित्सा नामक एक नवीन पद्धति का आविष्कार किया। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी आदि धातुओं की भस्मों से असाध्य रोगों का उपचार संभव है। उन्होंने ही पारद (पारा) का आविष्कार किया। वाग्भट्ट उच्च कोटि के आयुर्वेदाचार्य तथा चिकित्सक थे। उन्होंने अष्टांगसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें चरक-संहिता तथा सुश्रूत संहिता का सारांश है।

9.7 कला (Art)

गुप्तकाल में कला की बड़ी प्रगति हुई। **डॉ. वी. एस. अग्रवाल** के शब्दों में, "इस काल की दृष्टिगत कलाकृतियों ने गुप्तकाल के गौरव को स्थायित्व प्रदान किया।"[1] गुप्तकालीन कला में ओज, संयम तथा प्राविधिक सौष्ठव पाया जाता है। **डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार** के शब्दों में, "सामान्यत: उच्च कोटि का आदर्श, माधुर्य तथा उच्च कोटि की सौन्दर्य भावना गुप्तकला की विशेषता है।" गुप्तकालीन कला में विदेशीपन का अभाव है और यह शुद्ध भारतीय कला के रूप में विकसित हुई। इसमें गांधार शैली की तरह न तो भारतीय विषय और न ही यूनानी हाथ है। यूनानी, कुषाण, सीथियन आदि विदेशी जातियों की कला से गुप्तकालीन कला अप्रभावित है। इस युग की कला की एक दूसरी विशेषता सरलता है। गुप्तकालीन मूर्तियों में न तो वस्त्राभूषण का भार है और न कोमलांगों का उभार ही। एक तीसरी विशेषता कलाकारों की सौन्दर्यप्रियता है। गुप्तकालीन कलाकारों ने पारदर्शक वस्त्रों का निर्माण ऐसी कुशलता के साथ किया है कि उनमें स्वाभाविक सौन्दर्य तथा मनोहरता दृष्टिगोचर होती है। एक अन्य विशेषता आध्यात्मिकता है। उदाहरणस्वरूप सारनाथ में पद्मासीन महात्मा बुद्ध की जो शान्त एवं गम्भीर मुद्रा में निर्मित मूर्ति है, उससे आध्यात्मिकता प्रकट होती है। एक अन्य विशेषता भद्रता तथा शालीनता है। फलत: इस काल में नग्न मूर्तियों का निर्माण बन्द-सा हो गया था। एक अन्य विशेषता समानुपात और संतुलन है। इस काल की मूर्तियों का प्रत्येक भाग नपा-तुला है, न ही अधिकता है न न्यूनता। गुप्तकालीन कला के विभिन्न अंग निम्नलिखित हैं–

स्थापत्य-कला–इस युग में देवी-देवताओं के अनेक मंदिर छोटे और पाषाण के बनाये जाते थे, जो केवल मूर्तियों को प्रतिष्ठित करने के लिए होते थे। इनमें भक्तों के बैठने के लिए कोई विशाल सभा भवन नहीं थे। शुरू में इनकी छतें चपटी होती थीं। परन्तु बाद में इनके ऊपर शिखर निर्मित किये जाने लगे। प्रवेश द्वार के स्तम्भों और चौखटों पर असाधारण कला उत्कीर्ण होती थी। इन मन्दिरों में कई अभी भी विद्यमान हैं। जैसे–देवगढ़ जिला झांसी में विष्णु का मन्दिर जिसका 12 मीटर ऊँचा शिखर भारत में सबसे प्राचीन है। भूमरा (मध्य प्रदेश) का शिव मन्दिर, नचना कुठार (मध्य प्रदेश) का पार्वती मन्दिर, भीतर गाँव (कानपुर) का मन्दिर, बीजापुर का ऐहोल मन्दिर, उदयगिरि (विदिशा) का विष्णु मन्दिर, चित्तौड़ और माँडू का सूर्य मन्दिर।

इस काल में बौद्ध-धर्म के भी अनेक विहार, स्तूप और चैत्य निर्मित किये गये। सारनाथ में गुप्तकालीन अनेक बौद्ध विहारों के अवशेष पाये गये हैं। राजगीर का स्तूप, जौलियान और पुष्कलावती का बौद्ध विहार और स्तूप, साँची और बोध गया के बौद्ध मन्दिर भी गुप्तकालीन हैं।

उदयगिरि की पहाड़ी में वैष्णव और शैवमत की अनेक गुफाएँ काटकर हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयीं। अजन्ता, ऐलोरा (महाराष्ट्र), बाघ (मध्य-प्रदेश) की गुफाएँ, विहार, चैत्य और स्तूप पहाड़ी काटकर बनाये गये हैं। अजन्ता की गुफा नम्बर 16, 17, 19 गुप्तकाल की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति प्रस्तुत करती हैं। दक्षिणी भारत की भोगलराजपुटम् और अखन्न-मदन्न की गुफाएँ भी गुप्तकाल में निर्मित की गयीं। इस काल में प्रस्तर स्तम्भ और ध्वज स्तम्भ भी निर्मित किये गये। दुर्भाग्यवश वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्तों की उपलब्धियों के अधिक अवशेष प्राप्त नहीं हैं।

---

1. "In general a subline idealism combined with a highly developed sense of rhythem and beauty characterises the Gupta sculpture." —*R. C. Majumdar*

नोट

चित्रकला–गुप्तकाल में चित्रकला की बड़ी प्रगति हुई। **डॉ. वासुदेव अग्रवाल** के शब्दों में, "गुप्तकाल में चित्रकारी अपने पूर्ण विकास को पहुँच गई थी।"[1] महाकवि कालिदास ने चित्रकला की शिक्षा देने के लिए 'चित्राचार्य' शब्द का प्रयोग किया है। वात्स्यायन ने चित्रकला की गणना 64 कलाओं में की है। अपने कामसूत्र में उन्होंने कला के रूप-भेद, प्रमाण भाव, लावण्य-योजन, सादृश्य तथा वर्णिका-भंग आदि छः अंगों का उल्लेख किया है।

अजन्ता और बाघ की चित्रकारी गुप्तकालीन चित्रकला के अनुपम उदाहरण हैं। प्रसिद्ध कलाविद् **राथेन्सटीन** के शब्दों में, "इन चट्टानों से कटे मन्दिरों की सैकड़ों दीवारों और स्तम्भों पर हम एक विशाल नाटक देखते हैं जिसे राजकुमारों, ऋषियों और नायकों तथा प्रत्येक प्रकार के पुरुषों एवं स्त्रियों ने विभिन्न पृष्ठभूमि में अभिनीत किया है।" **डॉ. अग्रवाल** के शब्दों में, "रेखाओं का समाश्वासन तथा उनकी कमनीयता, रंगों की शुभ्रता, अभिव्यंजना की समृद्धता के साथ-साथ उदितव्य भावनाओं और स्पंदित जीवन ने इस कला को सभी कालों के लिए सर्वोत्कृष्ट बना दिया है।"[2] जलगाँव स्टेशन से 35 मील दूर फर्दापुर नामक गाँव से दक्षिण-पश्चिम चार मील की दूरी पर अजन्ता स्थित है। वहाँ चट्टान को तराशकर 29 गुफाएँ बनाई गई थीं। 10वीं गुफा के स्तम्भलेख तथा 16वीं-17वीं गुफाओं में प्राचीर चित्र गुप्तकालीन हैं। 10वीं गुफा से स्तम्भों पर पुरुषों तथा स्त्रियों के चित्र व वेशभूषा गांधार-कला से प्रभावित हैं। 16वीं और 17वीं गुफाओं में कथानक को चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अलंकरण के अन्तर्गत फल-पत्तियाँ, पशु-पक्षियाँ उत्कीर्ण हैं। 16वीं गुफा प्राचीर-चित्र में एक मरणासन्न राजकुमारी का चित्र अंकित है। यह चित्र बड़ा ही स्वाभाविक है। चतुर्दिक् खड़े उसके स्वजन अत्यन्त विवश तथा दुःखी दिखाये गये हैं। यह चित्र आख्यानात्मक अथवा भावात्मक चित्र का एक सुन्दर उदाहरण है। 17वीं गुफा के चित्र वर्णनात्मक हैं और इनमें विभिन्न कथाओं को चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। ये चित्र बड़े ही ओजपूर्ण, सजीव तथा स्वाभाविक हैं। इसमें भगवान् बुद्ध को अत्यन्त ही निर्लिप्त मुद्रा में दिखाया गया है। इस गुफा में चित्रों में माता तथा पुत्र नामक चित्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस चित्र में गौतम बुद्ध की पतनी यशोधरा अपने पुत्र राहुल को अपने पति को समर्पित करती हुई प्रदर्शित की गई है। इसमें माता की ममता तथा पुत्र-वत्सलता दर्शनीय है। इस गुफा के अन्य चित्र में कोई सम्राट एक सुनहले राजहंस की बातों को बड़ी ही अभिरुचि के साथ सुनता हुआ चित्रित किया गया है। 17वीं गुफा के एक-दूसरे चित्र में गौतम बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का दृश्य दिखाया गया है। यह काफी स्वाभाविक है।

बाघ की चित्रकला भी अनुपम है। बाघ ग्वालियर के समीप एक छोटा-सा ग्राम है। यहाँ पर विंध्य की पहाड़ियों को तराश कर गुफाएँ बनाई गई हैं। इनकी भीतरी दीवार के चित्र गुप्तकालीन हैं। अजन्ता के चित्र प्रधानतया धार्मिक विषय से सम्बन्धित हैं, किन्तु बाघ के चित्र मनुष्य के लौकिक जीवन से लिए गए हैं। इन चित्रों से तत्कालीन वेशभूषा, केश-विन्यास तथा अलंकार प्रसाधन को समझने में सुविधा होती है। एक चित्र में महिलाओं को नृत्य-गान करते हुए दिखलाया गया है। बाघ की चित्रकला की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके चित्रों को बनाने की कल्पना एक ही समय की गई थी। फलतः ये चित्र दर्शकों के समक्ष समरूपता का भाव प्रकट करते हैं।

मूर्तिकला–इस युग की सबसे बड़ी देन हिन्दू, जैन और बौद्ध की कलापूर्ण प्रतिमाएँ हैं। सारनाथ, मथुरा और पाटलिपुत्र में अनेक बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ निर्मित की गयीं। ताँबे और काँसे की भी मूर्तियाँ बनायी गयीं। यहाँ अनेक प्रस्तर खण्डों पर बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाएँ उत्कीर्ण की गयीं।

इस काल में ब्रह्मा, विष्णु, शिव और पार्वती की मूर्तियाँ भी बनाई गयीं। कलाकारों ने विष्णु और शिव के अनेक अवतारों की पौराणिक गाथाएँ पाषाणों में उत्कीर्ण कीं; जैसे–देवगढ़ के मन्दिर में कृष्णलीला, कृष्ण का गोकुल जाना, कंस-वध, कृष्ण-सुदामा मिलन आदि। रामलीला के दृश्य, राम वनगमन आदि। बंगाल के राजशाही जिले में कृष्ण लीला सम्बन्धी अनेक दृश्य उत्खनन में प्राप्त हुए हैं।

इस काल की मथुरा और गोरखपुर में जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी उपलब्ध होती हैं। इस युग में पकाई हुई मिट्टी और मसालों की भी मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। इस युग की मूर्तियों में आकृति, मुद्रा और हाव-भाव पूर्णतया भारतीय हैं।

---

1. "The art of painting reached its perfection in the Gupta age." —*V. S. Agarwal*
2. "The assurance and delicacy of lines, the brilliancy of colours, the richness of expression with buoyant feelings and pulsating life have rendered this art supreme for all time." —*Ibid*

नोट

धातुकला—इस कला में अनेक धातुओं को गलाकर उन्हें मिश्रित कर अनेक वस्तुएँ तथा मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। ताँबें की प्रतिमाएँ बनाने का कार्य विशेष प्रगति पर था। सुल्तानगंज (बिहार) में बुद्ध की भव्य प्रतिमा, नालन्दा में 80 फीट ऊँची काँसे की बुद्ध प्रतिमा और महरौली का ढाला हुआ लौह स्तम्भ गुप्तयुग की धातुकला के उच्च उदाहरण हैं।

संगीत, नृत्य और अभिनय कला—गुप्त सम्राट स्वयं संगीत प्रेमी और इसके उदार संरक्षक थे। प्रयाग की स्तम्भ प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त वीणा बजाने में नारद और तुम्बारू से भी श्रेष्ठ था। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही गाते थे, नृत्य करते थे और भेरी, झांझ, टिपरी, बाँसुरी आदि अनेक प्रकार के वाद्य यंत्र बजाते थे। रंगमंच और नाटक कला का भी विकास हो गया था।

मुद्राकला—भारतीय ढंग के अनेक सोने और चाँदी के सिक्के इस युग में ढाले गये। इन सिक्कों पर गुप्त नरेशों की मूर्तियाँ, लक्ष्मी की मूर्ति, गरुड़ध्वज और सिंह की आकृतियाँ अंकित हैं। ये गुप्त सम्राटों की गौरव कथाएँ भी प्रदर्शित करते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. गुप्तकाल में वैष्णव मंदिरों का निर्माण नहीं हुआ–
9. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्नों को संरक्षण दिया गया था–
10. वराहमिहिर खगोल विद्या के प्रकांड विद्वान थे–
11. गुप्तकाल में बाल विवाह का प्रचलन नहीं था–

इस तरह गुप्त युग में भारतीय समाज, कला, धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, ललित-कला आदि के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। यही कारण है कि इस युग को स्वर्ण युग के नाम से जाना जाता है।

स्वर्ण युग—भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्ण युग की संज्ञा दी जाती है। इतिहास में स्वर्ण युग उस काल को कहा जाता है जिसमें राज्य और प्रजा का चतुर्दिक विकास होता है। निस्सन्देह गुप्तकाल में भारत की बहुमुखी प्रगति हुई और अन्य राष्ट्रों के सम्मुख हमारे देश का मस्तक उन्नत हुआ। इस काल में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास हुआ और प्रजा की आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक प्रगति हुई। **डॉ. स्मिथ** का कथन है, **"हिन्दू भारत के इतिहास में महान् गुप्त सम्राटों का काल किसी भी अन्य काल से अधिक सौम्य तथा संतोषजनक चित्र उपस्थित करता है। साहित्य, कला तथा विज्ञान की सामान्य से कहीं अधिक उन्नति हुई और बिना किसी अत्याचार के धर्म में क्रमागत परिवर्तन सम्पादित किये गये।"** भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्ण युग कहे जाने के निम्नांकित मुख्य कारण हैं–

महान् सम्राटों का युग—राजनीतिक दृष्टिकोण से गुप्तकाल महान् व्यक्तियों का युग था। इस युग में कई महान् एवं प्रतिभावान् सम्राट पैदा हुए जिन्होंने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्द गुप्त आदि वीर और साहसी सम्राट इसी युग में पैदा हुए थे, इन महान् व्यक्तियों ने साम्राज्य का निर्माण भी किया और उसका संगठन भी। उन्होंने समस्त भारत पर विजय करके उस पर आधिपत्य कायम किया और विदेशियों को भी भारत से खदेड़ भगाया। उनके शासनकाल में भारत की भूमि पर विदेशी शक्ति को पैर जमाने का अवसर नहीं मिला और भारत इस काल में सदैव स्वतन्त्र रहा। शासन और देश की सर्वांगीण उन्नति की दृष्टि से भी गुप्त-वंश के राजा महान् थे। गुप्त राजाओं ने हमेशा प्रजा का ध्यान रखा।

राजनीतिक एकता का गुण—अशोक के मरणोपरांत भारत की एकता समाप्त हो गयी थी और देश छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गया था। इस विलुप्त राजनीतिक एकता को गुप्त राजाओं ने फिर से स्थापित किया और देश का संगठन किया। गुप्त राजाओं ने दिग्विजय की नीति अपनाकर भारत में एकछत्र और सार्वभौमिक सत्ता की स्थापना की; उन्होंने अपने प्रचंड पराक्रम तथा अद्‌भुत शौर्य के बल पर लगभग सम्पूर्ण भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँध दिया था।

नोट

उनका एकछत्र साम्राज्य गुप्त-सम्राटों की महत्ता का द्योतक है। इस प्रकार देश की राजनीतिक एकता की दृष्टि से भी गुप्तकाल महान् था।

शान्ति तथा सुव्यवस्था का युग–गुप्तकाल भारतीय इतिहास में शान्ति तथा सुव्यवस्था का युग माना जाता है। यह एक ऐसा युग था जिसमें प्रजा को अपनी चरमोन्नति का सुअवसर प्राप्त हुआ। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक ऐसे विशाल, सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की थी कि वह कई शताब्दियों तक चलता रहा। इस काल में दण्ड-विधान यद्यपि मौर्य-काल की तरह कठोर न था, लेकिन न्याय की उचित व्यवस्था की गई थी। यातायात के साधनों की पर्याप्त व्यवस्था करके गुप्त सम्राटों ने व्यापार को खूब प्रोत्साहन दिया। खानों तथा जंगलों के विकास का भी यत्न किया, कृषि के विकास पर भी ध्यान दिया गया और जलाशयों तथा जल-कुण्डों का निर्माण कर सिंचाई की उचित व्यवस्था की गयी।

प्रजा के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए भी इस समय राज्य की ओर से प्रयास किया गया। दीन-दुखियों को सहायता मिले इसके लिए भी राज्य ने प्रयास किया। स्थानीय संस्थाओं को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। स्वायत्त शासन को इस काल में पूरा प्रोत्साहन मिला। इस कारण यह काल स्वर्णयुग माना जाता है।

साहित्य के उत्कर्ष का युग–गुप्तकाल भारतीय इतिहास में साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इस काल में साहित्य का अद्‌भुत विकास हुआ। कई गुप्त सम्राट स्वयं विद्वान् एवं लेखक थे और अन्य विद्वानों तथा कलाकारों का भी सम्मान करते थे। समुद्रगुप्त का नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। वह काव्य एवं संगीत का बड़ा प्रेमी था। उसका दरबारी कवि **हरिषेण** उच्च कोटि का विद्वान् था। उसका प्रयाग स्थित प्रशस्ति-लेख संस्कृत भाषा में स्तुत्य रचना है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक मन्त्री **वीरसेन** भी उच्च कोटि का विद्वान् था। **वसुबन्धु** और **दिंगनाग** इस काल के सुविख्यात बौद्ध विद्वान् थे और वे संस्कृत में ही लिखा करते थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय भी विद्या एवं विद्वानों का प्रेमी था। अनुश्रुति के अनुसार उसका दरबार नौ प्रकांड विद्वानों से सुशोभित था। वे नवरत्न के नाम से विख्यात थे। सभी के नामों का ठीक-ठाक पता नहीं है, किन्तु उनमें **कालिदास** का नाम सर्वोपरि है। ये काव्य तथा नाटक के क्षेत्र में अपना सानी नहीं रखते थे। संस्कृत साहित्य में इनका वही स्थान है जो अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपियर का है।

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रेम-कहानी है। दुष्यन्त एक राजा का लड़का था और शकुन्तला एक अप्सरा की लड़की थी। सभ्य विश्व की प्रायः सम्पूर्ण भाषाओं में इस नाटक का अनुवाद हो चुका है। देश-विदेश के विद्वानों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। एक भारतीय विद्वान् के शब्दों में "नम्र एवं कोमल हृदय वाली वन-वासिनीं शकुन्तला से बढ़कर मृदु एवं मनोहर कल्पना मनुष्य की लेखनी से कभी नहीं निकली।" एक जर्मन महाकवि के शब्दों में "शकुन्तला वह चीज है जो यौवनावस्था में उत्पन्न हुई, अनुरागरूपी कली को प्रौढ़ावस्था में उत्पन्न हुए भाव-रूपी फल से मिला देती है। यह पृथ्वी का स्वर्ग के साथ मेल कराती है।" **मेघदूत भी** विरह का एक उत्कृष्ट नमूना है। कालिदास की अन्य रचनाएँ भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

कालिदास के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध नाटककार एवं साहित्यकार भी हुए। शूद्रक ने मृच्छकटिकम् और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्रगुप्तम् नामक नाटकों की रचना की। भट्टि ने रावण वध नामक महाकाव्य प्रस्तुत किया। गद्य के क्षेत्र में वसुबन्धु ने वास्वदत्तम लिखा और बाण ने इस पुस्तक की बहुत प्रशंसा की है। पंचतन्त्र भी उल्लेखनीय है। इसमें रोचक एवं उपयोगी कथाओं का वर्णन कर शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया है। विश्व की अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। आर्थर राइडर एक पाश्चात्य विद्वान् ने पंचतन्त्र को विश्व का सर्वोत्तम कथा-संग्रह माना है।

वैज्ञानिक उन्नति का युग–गुप्तकाल में विज्ञान की भी बड़ी उन्नति हुई। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन विज्ञान तथा धातु-विज्ञान की इस युग में बड़ी प्रगति रही। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं कि रेखागणित का अभ्यास इस युग में होता था। दशमलव भिन्न का अन्वेषण भी इसी काल में हुआ था। आर्यभट्ट नामक विद्वान् ने 'आर्य भट्टीयम' नामक ग्रन्थ की रचना इसी काल में की थी, जिसमें अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित तीनों की विवेचना की गई है। ज्योतिष की भी इस काल में बड़ी उन्नति हुई। आर्यभट्ट इस काल के बहुत बड़े ज्योतिषी थे। इन्होंने पुराणों

नोट

तथा श्रुतियों के इस मत का खण्डन किया कि ग्रहण राहु-केतु के कारण होता है और इस बात को सिद्ध किया कि चन्द्रमा के सूर्य तथा पृथ्वी के बीच में आ जाने से ग्रहण लगता है। आर्यभट्ट ने इस तथ्य को भी सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। वराहमिहिर इस युग के दूसरे प्रतिष्ठित तथा विश्रुत ज्योतिषी थे। वैद्यक की इस काल में बड़ी उन्नति हुई और बड़े-बड़े नगरों में औषधालयों की समुचित व्यवस्था की गई थी। चरक तथा सुश्रुत इस काल के प्रसिद्ध वैद्य थे।

कला की चरमोन्नति का युग—गुप्तकाल में भारतीय कला का खूब विकास हुआ। वास्तुकला, शिल्पकला, मूर्ति-निर्माण-कला, संगीत कला आदि सभी का पर्याप्त विकास गुप्तकाल में हुआ था। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी, बौद्ध तथा हिन्दू मूर्तियाँ, मंदिर, विहार, चैत्य तथा स्तूप इस काल की श्रेष्ठता के प्रबल प्रमाण हैं। इस युग के पत्थर तथा मिट्टी के अनेक मन्दिर अथवा उनके भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं। इनमें जबलपुर जिले का विष्णु मन्दिर, नागौड़ का शिव मन्दिर, अजयगढ़ के पास का पार्वती मन्दिर, देवगढ़ का दशावतार तथा कानपुर जिले में भीतरगाँव का मंदिर बहुत प्रसिद्ध हैं। भीतरगाँव का मन्दिर ईंट का है, इसकी दीवारों पर हिन्दू पौराणिक दृश्य बने हुए हैं। भारतीय स्थापत्य के इतिहास में इस मंदिर का महत्त्वपूर्ण स्थान है, विशेषकर इसकी मेहराबों के लिए। इस युग के मन्दिरों की छतें बहुधा समतल हुआ करती थीं और उनके सामने ड्योढ़ी बनी रहती थी। इस युग के अन्त तक मन्दिरों पर शिखर बनाने की परिपाटी भी चल पड़ी थी। देवगढ़ के दशावतार के मन्दिर का शिखर लगभग 40 फीट ऊँचा था। आगे के युग में यह शैली विशेष रूप से विकसित हुई।

पत्थर की चट्टानों को काटकर विहार और चैत्य बनाने की कला भारत में काफी पुरानी हो चुकी थी। इस युग में उसका और भी अधिक विकास हुआ। अजन्ता, एलोरा तथा बाघ के गुहा-विहार इसी युग में खोदे गए थे। छेनी और हथौड़े के सहारे बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर इतनी सुन्दर गुफाएँ बनाना अलौकिक कलाकारों का काम था।

वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा का युग—गुप्त युग के राजा वैदिक सभ्यता के पोषक थे। वे आर्य सभ्यता को परम आदर से देखते थे तथा उसकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे। उस समय तक वैदिक धर्म का बड़ा पतन हो चुका था। गुप्त राजाओं ने उसको अपनाकर उसमें एक नयी जान डाल दी। अश्वमेध-यज्ञ कराकर गुप्त-सम्राटों ने फिर से वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा को स्थापित किया। इस काल में अनेक शैव और वैष्णव मन्दिर बने। ब्राह्मणों को दान देकर तथा उनको सम्मानित करके गुप्त-सम्राटों ने वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा फिर से स्थापित की। वैदिक धर्म के साथ-साथ संस्कृत का भी विकास हुआ। इससे संस्कृत को फिर से अपना पुराना गौरव मिल गया। अब बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म वाले भी संस्कृत में ही अपने ग्रंथों की रचना करने लगे। इस प्रकार, वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति को गुप्त सम्राटों के संरक्षण में उन्नति करने का पूरा अवसर मिला।

धार्मिक सहिष्णुता का युग—कहा जाता है कि भारतीय इतिहास में गुप्तकाल धार्मिक सहिष्णुता, सार्वभौमिकता और सदाशयता का युग था। देश में विभिन्न धर्मावलम्बी रहते थे, लेकिन धर्म के नाम पर कभी हिंसा नहीं हुई और राजाओं ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पूरा अवलम्बन किया। गुप्तों का युग हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का युग था। इस समय के प्रायः सभी राजा-महाराजा किसी-न-किसी रूप में धर्म को ही मानते थे। ऐसी स्थिति में यदि गुप्त-सम्राट चाहते तो बौद्ध धर्म का समूलोन्मूलन कर सकते थे। लेकिन, उन्होंने ऐसा नहीं किया और अपने अपूर्व धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। उनके शासन-काल में **बौद्धधर्म** तथा **जैनधर्म** दोनों को हिन्दूधर्म के साथ फूलने-फलने का अवसर दिया गया। ये तीनों धर्म उस समय भारत में साथ-साथ चल रहे थे। कश्मीर, पंजाब तथा अफगानिस्तान बौद्धधर्म के प्रमुख केन्द्र थे। भारत के अनेक स्थानों पर बौद्धधर्म अभी भी बड़ा लोकप्रिय था और उनके अनुयायियों की संख्या में कोई कमी नहीं आयी थी। फिर भी, सम्पूर्ण गुप्तकाल के इतिहास में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि किसी भी बौद्ध के साथ धर्म के नाम पर कोई अन्याय किया गया हो। इसके विपरीत राजा, सेठ-साहूकार, शिल्पियों के संघ आदि बौद्ध-विहारों को दान देते थे और भिक्षुओं की सहायता करते थे। कुण्ड महार, बेडसा कन्हेर, जन्हार, अजन्ता-एलोरा आदि स्थानों पर बने हुए मन्दिरों, विहारों और गुफाओं के सहायतार्थ प्रचुर धनराशि दान के रूप में दिया करते थे। तमिलनाडु में कांची बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र था।

जैनधर्मावलम्बियों के साथ भी गुप्त राजाओं का व्यवहार बड़ा सराहनीय रहा। इस काल में जैनों की एक विशाल सभा वल्लभी में की गयी थी, जिसमें जैनधर्म के ग्रन्थों की अनेक टीकाएँ और भाष्य संस्कृत भाषा में लिखे गए। इस

नोट

काल में यद्यपि जैनधर्म, बौद्धधर्म, ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों में बड़ी प्रतिस्पर्धा थी, फिर भी सर्वत्र धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण छाया हुआ था।

विदेशों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार का युग–गुप्तकाल भारत के विदेशों से सम्पर्क के कारण भी इतिहास में महत्त्वपूर्ण रहेगा। बाह्य संसार के साथ भारत का सम्पर्क जितना इस युग में बढ़ा हुआ था, उतना कभी नहीं बढ़ा था। गुजरात और सौराष्ट्र के गुप्त साम्राज्य में विलय हो जाने पर यूरोपीय देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध की स्थापना हुई। गुप्त सम्राटों के राजदूत उन देशों में सम्मान प्राप्त करते थे। इस निरन्तर सम्पर्क के कारण ही सांस्कृतिक विचारों का भी आदान-प्रदान होता रहा और सांस्कृतिक उत्थान को इससे सहयोग प्राप्त हुआ। चीन, मध्य एशिया, जावा, सुमात्रा, हिन्दचीन, बोर्नियों आदि में भारतीय संस्कृति का भारी प्रसार हुआ। शताब्दियों तक वहाँ हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का प्रभाव स्थापित रहा। आज भी इन देशों में करोड़ों बौद्ध अनुयायी बने हुए हैं जिनके रीति-रिवाजों, उत्सवों और त्यौहारों में भारतीयता की पुट मिली हुई स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

समीक्षा–इस प्रकार इस युग में कोई भी क्षेत्र ऐसा न रह गया था, जिसमें उन्नति अपनी चरम सीमा पर न पहुँच गई हो। साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म, समाज, संस्कृति, व्यापार, उद्योग-धन्धे, कृषि, शासन व्यवस्था और विदेशों के साथ सम्पर्क आदि सभी क्षेत्रों में महान् प्रगति हुई थी। गुप्त सम्राटों के उदार दृष्टिकोण, कला प्रेम और संस्कृति के संरक्षण ने इसमें बहुमुखी प्रतिभा का उदय किया था। इन्हीं कारणों से गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है।

किन्तु कुछ ऐसे भी तत्व मौजूद थे जो इस युग के महत्त्व को कम करते हैं। समाज, अर्थव्यवस्था, प्रशासन तथा सेना का स्वरूप सामन्तवादी था। अनेक इतिहासकारों के मत में कुषाणों का काल गुप्तों की अपेक्षा अधिक समृद्धि का काल था। पुनः गुप्तकालीन समृद्धि केवल उत्तर भारत तक ही सीमित थी। दक्षिण में तो गुप्तोत्तर काल में प्रगति देखने को मिलती है। यह सत्य है कि गुप्तकाल हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का काल था, किन्तु साथ ही यह बौद्ध धर्म के पतन का भी काल था। अतः गुप्त युग को स्वर्णकाल न कहकर प्रगति का काल कहना अधिक उचित होगा। वैसे भी स्वर्ण-युग एक पौराणिक कल्पना है।

9.8 सारांश (Summary)

गुप्त सम्राटों का दण्ड विधान कठोर नहीं था। मृत्युदण्ड किसी को भी नहीं दिया जाता था। देशद्रोहियों अथवा बार-बार चोरी करने वाले अपराधियों का हाथ काट दिया जाता था। प्रायः अपराधियों को आर्थिक दण्ड ही दिया जाता था। दण्ड की मात्रा अपराधी की आर्थिक स्थिति के अनुसार न्यायाधीश द्वारा निश्चित की जाती थी। फाहियान के अनुसार अपराध बहुत कम होते थे। गुप्त सम्राट न्यायक्षेत्र में बड़े उदार थे। वे प्रायः सभी प्रकार के अपराधियों को न्यायालय से दण्ड पाने के उपरान्त क्षमा याचिका प्रस्तुत करने पर क्षमा कर दिया करते थे। बड़े-बड़े भीषण अपराध भी क्षमा याचना करने पर प्रायः क्षमा कर दिये जाते थे।

9.9 शब्दकोश (Keywords)

- मुद्रा (Coin)–सिक्का।
- व्यापार (Trade)–उद्यम।

9.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. गुप्तकालीन भारत की राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन करें।
2. गुप्तकाल भारत के विदेशों से संपर्क के कारण भी महत्त्वपूर्ण रहेगा इस कथन की समीक्षा करें।
3. गुप्तकाल में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी समझाएँ।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. विशाखदत्त	2. रणभाण्डागारिक	3. सौराष्ट्र (गिरनार)	4. (*a*)
5. (*b*)	6. (*c*)	7. (*a*)	8. गलत
9. सही	10. सही	11. गलत।	

9.11 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई–10: धार्मिक आन्दोलन (Religious Movement)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
10.1 धार्मिक आन्दोलन का स्वरूप (Nature of Religious Movement)
10.2 धार्मिक आन्दोलन की सफलता (Success of Religious Movement)
10.3 सारांश (Summary)
10.4 शब्दकोश (Keywords)
10.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
10.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- धार्मिक आन्दोलन के स्वरूप और सफलता को समझने हेतु।
- भारत में हुए धार्मिक आन्दोलनों के कारणों को जानने में।
- धार्मिक आन्दोलन के फलस्वरूप समाज में आए परिवर्तन को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

ईसापूर्व छठी शताब्दी में उत्तरपूर्वी भारत के मध्य गंगा घाटी क्षेत्र में अनेक (62) धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। अनेक मत तथा दर्शनों के प्रादुर्भाव ने बौद्धिक आन्दोलन का रूप ग्रहण किया। विभिन्न मतों को मानने वाले संन्यासी (परिव्राजक) घूम-घूम कर अपने जीवनदर्शन का जनसमुदाय में प्रचार तथा एक-दूसरे के दर्शन का खण्डन करते थे। इस बौद्धिक गतिविधि का केन्द्र मगध था। यह आकस्मिक नहीं है कि यहाँ इस काल में एक ओर विशाल साम्राज्य की नींव पड़ रही थी और दूसरी ओर धार्मिक बौद्धिक आन्दोलन पुरातन जीवन दर्शन के विरोध में चल रहे थे। यह भी कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि इस प्रकार से बौद्धिक आन्दोलन के प्रमाण अन्य देशों में भी मिलते हैं। चीन, ईरान तथा यूनान में पुरातन मान्यताओं को चुनौती देने वाले क्रमशः कन्फ्यूशियस, जरथुष्ट्र तथा पाइथागोरस थे।

10.1 धार्मिक आन्दोलन का स्वरूप (Nature of Religious Movement)

भारत में इस आन्दोलन के अनेक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कारण थे जो तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक पररिवर्तनों में निहित थे। इन परिवर्तनों से प्राचीन वैदिक परम्परा की धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताएँ तथा जीवन प्रणाली के अनेक

नोट

तत्व केवल रूढ़ि बनकर रह गये, जो सामाजिक विकास में बाधक सिद्ध होने लगे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों में से आगे चलकर केवल जैन तथा बौद्ध धर्म ही अधिक प्रसिद्ध हुए। इन धार्मिक सम्प्रदायों ने पुरातन वैदिक ब्राह्मण धर्म के अनेक दोषों पर प्रहार किया। इसलिए इन धर्मों को सुधारवादी आन्दोलन भी कहा जाता है जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। इन सम्प्रदायों के उदय के क्या कारण थे और इनके द्वारा संचालित आन्दोलन का स्वरूप क्या था, इसकी समुचित जानकारी के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन तथा उसके भौतिक प्ररिप्रेक्ष्य को भली भांति समझ लें।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ईरान तथा यूनान में पुरातन मान्यताओं को चुनौती देने वाले ..... थे।
2. ..... में यह उल्लेख है कि यज्ञ अग्नि के माध्यम से जंगल जलाकर वैदिक लोग आगे बढ़े।
3. वैदिक ग्रन्थों में विशेष रूप से ..... में पशुवध की निन्दा की गई है।

उत्तरवैदिक काल में यज्ञ प्रधान वैदिकधर्म अपने-अपने मूल में कुरू पंचाल प्रदेश से उत्तर पूर्व की ओर फैलने लगा। यह मात्र धर्म का प्रसार न था वरन् एक नई उत्पादन तकनीक का प्रसार तथा विकास था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट उल्लेख आया है कि यज्ञ अग्नि के माध्यम से जंगल जलाकर वैदिक लोग आगे बढ़े। यह वस्तुत: जंगल जलाकर या पेड़ों को काटकर भूमि को कृषि योग्य बनाने की प्रक्रिया थी। जंगल की सफाई निश्चित ही अत्यन्त दुष्कर कार्य था। इस काम में लोहे के प्रयोग ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। लोहा (अर्थात् लोहे के अस्त्र-शस्त्र) पहले युद्ध में तो प्रयुक्त होता रहा था, किन्तु आगे चलकर खेती के उपकरण के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा। युद्ध और कृषि दोनों क्षेत्र में इस कठोर धातु के प्रयोग से कुछ मूलभूत सामाजिक परिवर्तन आने लगे। एक शस्त्रधारी व शक्तिशाली नये क्षत्रिय वर्ग का उदय हुआ, जो अपेक्षाकृत कमजोर लोगों या वर्गों पर अपना स्वामित्व स्थापित करके उन्हें युद्ध तथा खेती दोनों कार्यों में लगा सकता था। दूसरी ओर खेती में भी क्रांतिकारी परिणाम सामने आने लगे। जंगल साफ होना सरल हो गया। लोहे के फाल से गहरी जुताई के कारण अधिक उपज होना स्वाभाविक था। कम श्रम से अधिक उत्पादन की क्षमता बढ़ी। एक ऐतिहासिक घटनाक्रम ने व्यापक सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया।

नोट्स ईसा पूर्व छठी शताब्दी में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों में से आगे चलकर केवल जैन तथा बौद्ध धर्म ही अधिक प्रसिद्ध हुए।

लौह तकनीक पर आधारित नवीन कृषि प्रणाली के कारण अधिक उत्पादन अधिशेष प्राप्त होने लगा। यह बड़ी बस्तियों के प्रादुर्भाव तथा अनेक अस्तित्व में सहायक सिद्ध हुआ। उत्तर पूर्व भारत की प्राचीन जनजातीय (कबायली) जीवनप्रणाली में नई उत्पादन तकनीक ने क्रांतिकारी प्रभाव डाला। इन क्षेत्रों के जनजातीय लोग छिटपुट आबादी वाली फसलों का उत्पादन करते थे। ये मांसाहार के लिए ही पशुओं को पालते थे, उनसे दूध प्राप्त करने के लिए अथवा उन्हें खेती में उपयोग करने के लिए नहीं। स्पष्ट है कि इनकी उत्पादनप्रणाली तथा जीवनपद्धति वैदिक आर्यों की अपेक्षा काफी पिछड़े ढंग की थी।

कुरू पंचाल प्रदेश में विकसित कृषि के बावजूद मांसाहार के लिए पशुवध जारी था। यज्ञ विधान की परम्परा के कारण पशुवध विशेष रूप से प्रचलित था। किन्तु नवीन कृषि प्रणाली में कृषि कार्य के लिए अधिकाधिक पशुओं की आवश्यकता पड़ने लगी। लोग पशुओं की सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करने लगे। पशुवध चाहे वैदिक यज्ञों में हो या उत्तर पूर्व के जनजातीय लागों में, यह अब अनावश्यक रूढ़ि बन गई थी। वैदिक ग्रन्थों-विशेष रूप से उपनिषदों में-पशुवध की निन्दा की गई है और अहिंसा के उपदेश दिये गये हैं किन्तु ये उपदेश उतने प्रबल नहीं हैं जितने बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं, जिनमें पशुओं को सुख देने वाला (सुखदा) तथा अन्न देने वाला (अन्नदा) कहा

नोट

गया है। कृषि के विकास के अतिरिक्त लौह उपकरणों के बढ़ते प्रयोग से अनेक शिल्प तथा बढ़ते उद्योगधन्धों में भी प्रगति हुई। फलस्वरूप व्यवस्थाओं का पर्याप्त विकास तो हुआ ही, नगरीकरण की युगान्तकारी प्रक्रिया भी उत्तर पूर्व भारत में प्रारम्भ हुई। पालि ग्रन्थों में उस समय मध्य गंगाघाटी में विकसित अनेक नगरों का वर्णन प्राप्त होता है। जिनमें चंपा, राजगृह, वैशाली, वाराणसी, कौशाम्बी, कुशीनगर, श्रावस्ती तथा पाटलिपुत्र महत्त्वपूर्ण थे। ईसापूर्व 600 से 300 के बीच देश भर में 60 नगरों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। नगरों में मुख्य रूप से अधिकतर शिल्पकार तथा छोटे-बड़े व्यापारी रहते थे। इस काल में मुद्रा (आहतमुद्राओं) के प्रचलन के कारण व्यापार में व्यापक विस्तार हुआ। कृषि तथा व्यापार में क्रांतिकारी विकास के कारण कबायली जीवन की परंपरागत मान्यताएँ टूटने लगीं। शासकवर्ग तथा व्यापारी अत्यधिक धनी होने लगे। निजी सम्पत्ति की धारणा दृढ़तर होने लगी और उसे सामाजिक मान्यता भी मिली। कौशाम्बी महोदय का यह कथन सही है कि गंगाघाटी में नवीन वर्गों का अस्तित्व निर्विवाद रूप से है। कबीले के अंतर्गत वैश्यों के नववैदिक चरवाहा वर्ग के स्थान पर अब ऐसे कृषक आ गये थे जिनके लिए कबीले का कोई अस्तित्व नहीं था। धनाढ्य व्यापारी (श्रेष्ठी तथा गृहपति) अपनी सम्पत्ति के कारण समाज में महत्त्वपूर्ण थे। अब केवल पशु ही सम्पत्ति की इकाई नहीं रह गये। सम्पत्ति का संचय व्यापार, उत्पादन अथवा कृषि के रूप में हो सकता था। यह स्वाभाविक ही था कि साथ में निर्धनता भी बढ़ती। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार धन उपार्जन न करने से निर्धनता का प्रादुर्भाव होता है। निर्धनता के कारण चोरी, झूठ, हिंसा, घृणा, क्रूरता आदि उत्पन्न होते हैं। इसके समाधान के लिए बौद्ध का उपदेश था कि किसानों को बीज तथा अन्य सुविधाएं, व्यापारियों को धन तथा श्रमिकों को उपयुक्त पारिश्रमिक देना चाहिए।

इस भौतिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि परखने पर स्पष्ट होता है कि कुरू पंचाल क्षेत्र में प्रचलित वैदिक संस्कृति के अनेक तत्व अर्थहीन हो गये थे क्योंकि वे सामाजिक विकास में बाधक हो रहे थे। इसी कारण पूर्वोत्तर भारत का प्राचीन जनजातीय जीवन नये सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे के लिए उपयोगी नहीं रह गया था। किन्तु पश्चिमी गंगाघाटी में पल्लवित वैदिक संस्कृति अत्यधिक संगठित होने के कारण उसकी जड़े अधिक मजबूत थीं। वैदिक संस्कृति के अनेक तत्व पूर्व में पहुँच चुके थे जैसे-जातिव्यवस्था, यज्ञ वाद, पुरोहितों की महत्ता सम्बन्धी धारणा तथा वेदवाद। उत्तर पूर्व भारत में धार्मिक आन्दोलन ने इन्हीं तत्वों को अपना प्रहार बिन्दु बनाया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. वैदिक मंत्र देव वाक्य माने जाते थे, उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता था ..... से यह ज्ञात होता था।
   (*a*) ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों से (*b*) आरण्यकों से
   (*c*) स्मृति ग्रन्थों से (*d*) इनमें से कोई नहीं।
5. महात्मा बुद्ध की प्रश्नोत्तरी द्वारा सत्यशोधन एवं उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने का विवरण दिया गया है।
   (*a*) उपनिषदों में (*b*) ब्राह्मण ग्रन्थों में
   (*c*) आरण्यकों में (*d*) बौद्ध साहित्य में।
6. बौद्ध ग्रन्थों में पशुओं को अन्न देने वाला कहा गया है।
   (*a*) सुखदा (*b*) अन्नदा
   (*c*) पशुदा (*d*) इनमें से कोई नहीं।
7. पूजापाठ, यज्ञादि संस्कारों को कराने का दायित्व ..... था।
   (*a*) ब्राह्मणों और पुरोहितों पर (*b*) राजपूतों पर
   (*c*) वैश्यों पर (*d*) शूद्रों पर।

नोट

ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक मंत्र देव वाक्य माने जाते थे, उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। लोगों में यह विश्वास प्रचलित था कि किसी यज्ञ या अनुष्ठान के मंत्रोच्चारण में थोड़ी त्रुटि होने पर भयंकर परिणाम होंगे। ऐसे संस्कृति परिवेश में यह स्वाभाविक ही है कि पुरोहितों का अत्यधिक महत्त्व होता। किन्तु उनकी धनलोलुपता समाज के लिए कष्टकारक होने लगी और साथ ही यज्ञ तथा कर्मकांड भी नीरस, जटिल तथा बाहरी आडंबर बनकर रह गये। राजसूय तथा अश्वमेघ आदि अनेक जटिल तथा दीर्घकालीन यज्ञों में पशुवध तथा पुरोहितों को दी जाने वाली बहुमूल्य दक्षिणा के कारण धन तथा पशु की हानि हो रही थी। हालांकि इन यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले शासक वर्ग तथा धनाढ्य लोगों में विश्वास था कि यज्ञ तथा कर्मकांड से ही स्वर्ग की प्राप्ति संभव है। यज्ञ स्वर्ग ले जाने वाली नौका के समान है। उसी से भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ हो सकता है। यहाँ तक कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड की उत्पत्ति में यज्ञ ही मूल कारण माना जाने लगा जिसे प्रजापति ने सम्पन्न किया था। शतपथ ब्राह्मण में वैदिक यज्ञ विधान का उत्तर पूर्व भारत की ओर प्रसार होने की चर्चा है। उपनिषदों से भी हमें ज्ञात होता है कि राजा जनक ने बड़े वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया। किन्तु इस क्षेत्र में यज्ञमूलक वैदिक संस्कृति समाज में पूर्णरूप से स्वीकृत नहीं हो सकी। कर्म प्रधान वैदिक संस्कृति का प्रवृत्ति मार्गी, धर्म उपनिषद के ज्ञान मार्ग तथा श्रवण परम्परा के निवृत्तिमार्गी संन्यास प्रधान धर्म के विपरीत था। वैदिक संस्कृति में समाज का वर्गीकरण ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चार वर्गों में हो चुका था। वैदिक काल में तो कर्म के अनुसार वर्ण निर्धारित होता था किन्तु इस समय जन्म से ही वर्ण निश्चित होने लगा। समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्णों की श्रेष्ठता स्थापित हो चुकी थी। अपने निर्धारित कर्मों से च्युत होने पर भी इन वर्णों के लोग समाज में सम्मान की उपेक्षा करते थे। वर्णव्यवस्था उत्तरपूर्व भारत में भी प्रचलित थी। जन-जातीय वर्ग के जो लोगा नवीन उत्पादन प्रणाली में सम्मिलित हाते थे वे धीरे-धीरे अपनी हैसियत तथा क्षमता के अनुरूप किसी न किसी वर्ण से सदस्य के रूप में सामाजिक दर्जा प्राप्त करते थे। नवीन उत्पादन प्रणाली के कारण जनसंख्या में काफी वृद्धि होने लगी और वर्ण के आधार पर सामाजिक वर्गीकरण की प्रक्रिया इस काल में और भी तेज हो गयी। इस कारण भी समाज में वर्ण सम्बन्धी अव्यवस्था फैल रही थी। दूसरे क्षत्रिय वर्ग ही शस्त्र धारणा का अधिकारी माना जाने लगा। इसी नये क्षत्रिय वर्ग पर एक प्रकार से राज्य की नींव टिकी हुई थी। वही प्रजा से कर वसूला करता था और कृषकों से उपज का अधिशेष भी। शासकों तथा नये क्षत्रिय वर्ग का अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति सहज होना स्वाभाविक था।

क्या आप जानते हैं वैदिक काल में तो कर्म के अनुसार वर्ण निर्धारित होता था किन्तु इस समय जन्म से ही वर्ण निश्चित होने लगा था।

भारत में होने वाले इन धार्मिक आन्दोलनों का स्वरूप विनाशकारी न होकर सुधारवादी था। जिस प्रकार उन्नीसवीं सदी में लूथर तथा कॉल्विन ने यूरोप में कैथोलिक धर्म में घुसी हुई बुराइयों को सुधारा था उसी प्रकार भारत में बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ने हिन्दू समाज एवं धर्म की प्रचलित कुरीतियों एवं बुराइयों का खंडन किया। वे हिन्दू धर्म में घुसी बुराई को दूर करके उसे सुधारना चाहते थे। वे बुद्धि के विकास को अवरूद्ध करने वाले बन्धनों को काटकर उसे विकासपथ पर आगे बढ़ाना चाहते थे। महावीर और महात्मा बुद्ध के नाम इन सुधारवादियों में सबसे आगे हैं। इन दोनों महान् सुधारकों के बताये हुए मार्ग और धार्मिक सिद्धांतों में कोई नवीनता न थी। उनका विवरण तो पहले ही उपनिषदों में आ चुका था। इन दोनों महात्माओं द्वारा प्रतिपादित वाद-विवाद एवं तर्क-वितर्क भी उपनिषदों में पहले ही से विद्यमान थे। महात्मा बुद्ध की प्रश्नोत्तरी द्वारा सत्यशोधन एवं उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने की प्रणाली का विवरण उपनिषदों में दिया हुआ था। उच्च-कोटि के विद्वानों द्वारा सम्पन्न वादविवाद और तर्कवितर्क, ज्ञानवृद्धि एवं धार्मिक सुधार के पथ पर आगे बढ़ने का महत्त्वपूर्ण अंग था तथा वैदिक ऋषियों को भी मान्य था।

नोट

10.2 धार्मिक आन्दोलन की सफलता (Success of Religious Movement)

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का यह धर्मसुधार आन्दोलन जैन एवं बौद्ध धर्मो के रूप में साकार हुआ और इस आन्दोलन को उस समय पूरी सफलता मिली। इस सफलता का एक मुख्य कारण यह था कि धर्मसुधार आन्दोलन ने जातिव्यवस्था का घोर विरोध किया। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के आते-आते जाति का बन्धन इतना जटिल और कठोर हो गया था कि साधारण जनता इससे ऊब गयी थी। अतएव जब महावीर और बुद्ध ने जातिप्रथा को गलत बताया तो उनके समर्थकों की कमी नहीं रही। फिर, धर्म में जो कुरीतियां घुस गयी थीं उनका मूल कारण अन्धविश्वास था। धर्म सुधार आन्दोलन के प्रवर्त्तकों ने अन्धविश्वास को दूर करने का यत्न किया। इसी तरह धर्मसुधार आन्दोलन के प्रवर्त्तकों ने कर्मकांड, यज्ञादि को गलत बताया। साधारण जनता कई कारणों से इन यज्ञों से घृणा करने लगी थी। अतएव जब धर्मसुधार के प्रवर्त्तकों ने मोक्ष प्राप्ति के लिए सीधा सरल मार्ग को बतलाया तो जनता उनकी ओर आकृष्ट हो गयी।

टास्क छठी शताब्दी ईसा पूर्व में हुए धार्मिक आन्दोलन की सफलता पर विचार दीजिए।

आर्य जनता को प्रारम्भ से ही स्वतंत्रता सबसे अधिक प्रिय थी। वैदिक काल में आर्य जनता को पूरी तरह व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त थी। उत्तर वैदिक काल और महाकाव्यों के युग में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रभुसत्ता ने जनता की इस व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन करके उनके बौद्धिक विकास में भारी अवरोध उत्पन्न कर दिया था। वैश्य और शूद्र वर्णों के बहुसंख्यक लोग पददलित किये जाने लगे। शूद्रों और स्त्रियों की स्वतंत्रता तो नाममात्र की भी शेष न रह गई। उन्हें हीन समझा जाने लगा। छठी शताब्दी ई.पू. में स्वतंत्रता की भावना के जागरूक होने पर जनता धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के विरुद्ध अपनी आवाज ऊंची करने लगी। उस समय के नवोदित धर्मों के संस्थापकों के प्रवचन उन पददलित व्यक्तियों को ऊंचा उठाने और उनके उद्धार का मार्ग तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करने लगे। अत: जनता का एक बड़ा भाग उन धार्मिक नेताओं का अनुसरण करके नवीन धर्मों को सफल बनाने लगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर पूर्वी भारत के मध्य गंगा घाटी क्षेत्र में अनेक (62) धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ।
9. छठी शताब्दी ई. पू. में स्वतंत्रता की भावना के जागरूक होने पर जनता धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक बन्धनों के विरुद्ध अपनी आवाज ऊँची करने लगी।
10. भारत में हुए इन धार्मिक आन्दोलनों का स्वरूप सुधारवादी न होकर विनाशकारी था।
11. इस काल में यज्ञ को स्वर्ग ले जाने वाली नौका के समान माना जाता था।

पूजापाठ, यज्ञादि संस्कारों को कराने का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों और पुरोहितों पर था। इस महत्त्वपूर्ण स्थिति से ब्राह्मणों ने अनुचित लाभ उठा लिया था। देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में उनका बड़ा बोलबाला हो गया था। वे मोक्ष दिलाने के ठेकेदार हो गये थे। धर्मसुधार के प्रवर्त्तकों ने उनकी इस स्थिति को चुनौती दी। जनता, जो ब्राह्मण धर्म से तंग आ चुकी थी, भारी संख्या में उनका अनुयायी बनने लगी जिससे नवीन धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

जिस समय जनता में सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न होने के कारण भारी असन्तोष उत्पन्न हो रहा था, उसी समय अनेक विद्वान व्यक्ति गहन वनों में एकान्तवासी बनकर आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि अनेक गूढ़ समस्याओं की गुत्थियों को

नोट

सुलझाने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने मोक्षप्राप्ति करने के लिए तीन मार्ग स्थापित किये जो बुद्धि मार्ग, तप मार्ग तथा कर्म मार्ग कहलाते हैं। बड़े-बड़े विद्वानों और ज्ञानियों ने प्रकट किया कि ईश्वर की प्राप्ति और आत्मा को परमात्मा में लीन करना केवल उसी समय सम्भव है जबकि मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग करके अपने ज्ञान का विकास करे। इन सभी बातों का जनसाधारण पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ा।

10.3 सारांश (Summary)

ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक मंत्र देव वाक्य माने जाते थे, उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। लोगों में यह विश्वास प्रचलित था कि किसी यज्ञ या अनुष्ठान के मंत्रोच्चारण में थोड़ी त्रुटि होने पर भयंकर परिणाम होंगे। ऐसे संस्कृति परिवेश में यह स्वाभाविक ही है कि पुरोहितों का अत्यधिक महत्त्व होता। किन्तु उनकी धनलोलुपता समाज के लिए कष्टकारक होने लगी और साथ ही यज्ञ तथा कर्मकांड भी नीरस, जटिल तथा बाहरी आडंबर बनकर रह गये।

10.4 शब्दकोश (Keywords)

- राजगृह (Palace)–राजमहल
- अहिंसा (Non-Violence)–हिंसा रहित

10.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत में धार्मिक आन्दोलन के कौन-कौन से कारण थे?
2. धार्मिक आन्दोलन के स्वरूप की व्याख्या कीजिए?
3. भारत में धार्मिक आन्दोलन की सफलता के मुख्य कारण थे।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. जरथ्रुष्ट तथा पाइथागोरस		2. शतपथ ब्राह्मण	3. उपनिषदों
4. (*a*)	5. (*a*)	6. (*b*)	7. (*a*)
8. सही	9. सही	10. गलत	11. सही।

10.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*

नोट

इकाई–11: जैन धर्म और बौद्ध धर्म (Jainism and Buddhism)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
11.1 महावीर स्वामी और जैन धर्म (Mahavir Swami and Jainism)
11.2 महात्मा बुद्ध और बौद्ध धर्म (Mahatma Buddha and Buddhism)
11.3 बौद्ध और जैन धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study of Buddhism and Jainism)
11.4 भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन (Buddhism Gift to Indian Culture)
11.5 वैदिक एवं बौद्ध धर्म से जैन धर्म की भिन्नता (Differentiation of Jainism from Vedic and Buddhism)
11.6 सारांश (Summary)
11.7 शब्दकोश (Keywords)
11.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
11.9 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जैन धर्म के सिद्धांतों एवं प्रचार के वर्णन करने में।
- जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के पतन के कारणों को जानने में।
- बौद्ध धर्म के शिक्षाओं और उपदेशों को समझने में बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कोई समय था जब जैन धर्म को बौद्ध धर्म की एक शाखा मात्र माना जाता था, किन्तु बाद में विद्वानों ने इस बात का पता लगाया कि जैनमत बुद्धमत की शाखा न होकर अपने आप में एक अलग धर्म है। जैन धर्म को संगठित रूप देने का श्रेय महावीर को है, किन्तु जैन साहित्य और परम्परा के अनुसार जैन धर्म बहुत ही प्राचीन है। जैन परम्पराओं के अनुसार महावीर से पहले इस धर्म के तेईस गुरू हो चुके थे जो तीर्थंकर कहलाते थे। महावीर अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर थे। प्रारम्भिक तीर्थंकरों के विषयों में हमारी जानकारी बहुत कम है। जैन साहित्य में उनके सम्बन्ध में जो तथ्य मिलते हैं वे ऐतिहासिक और विश्वसनीय नहीं हैं। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ, लगभग आठवीं

नोट

शताब्दी ईसवी पूर्व में हुए और वे ऐतिहासिक पुरुष जान पड़ते हैं। कल्पसूत्र के अनुसार वे इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रिय राजा अश्वसेन के पुत्र थे वे बनारस के राजा थे। तीस वर्ष की आयु में उन्होंने गृहस्थ जीवन छोड़ दिया और कई महीनों के चिन्तन के उपरान्त उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा सम्पत्ति नहीं रखना उनके चार मुख्य उपदेश थे।

11.1 महावीर स्वामी और जैन धर्म (Mahavir Swami and Jainism)

महावीर की जीवनी—जैनियों के सबसे अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी थे। उनका जन्म ईसा के लगभग छः सौ वर्ष पूर्व वैशाली के पास कुण्डग्राम में हुआ था जो आधुनिक बिहार राज्य के वैशाली जिला में स्थित है। कुण्डग्राम में जान्त्रिक नामक क्षत्रियों का गणराज्य था। महावीर के पिता सिद्धार्थ उसी के गणमुख्य थे। उनकी माता त्रिशुला देवी वैशाली गणराज्य के अधीन छोटे से राज्य लिच्छवी के अधिपति राजा चेतक की बहन थी। बड़े होने पर यशोदा नामक एक युवती से महावीर का विवाह कर दिया गया। उनसे उनको एक पुत्री पैदा हुई थी। अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् तीस वर्ष की आयु में उन्होंने वन में जाकर ज्ञान प्राप्ति के लिए बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की। लोगों ने उन्हें लाठियों से मारा, उन पर ईंट, पत्थर तथा गन्दी वस्तुएँ फेंकीं, उनकी खिल्ली उड़ायी गयी और अन्य तरीकों से उनकी तपस्या भंग करने का यत्न किया गया। लेकिन वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। इस कठोर तपस्या के प्रभाव से उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई और उनका हृदय ज्ञान लोक से जगमगा उठा। अब उन्होंने सांसारिक बन्धनों को तोड़कर मायामोह से छुटकारा पा लिया। अतः वे निग्रन्थ कहलाये जिसका अर्थ होता है बन्धनहीन। उन्होंने अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली थी अतएव वे **जिन** कहलाये। उन्हें बारह वर्ष तक तपस्या के पश्चात जूम्मिक ग्राम के बाहर ऋजुपालिका नदी के तट पर कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। तभी से वे अर्हत (पूजनीय) कहलाने लगे। वे महीनों बिना नहाये-धोये और बिना खाये-पीये तपस्या में लीन रहे। न उन्होंने कभी अपने घावों को भरने का यत्न किया और न दवा प्राप्त करने की कोशिश की। अपार धीरज के साथ उन्होंने सभी मुसीबतों का सामना किया, अतएव वे महावीर कहलाये। पार्श्वनाथ के अनुयायी उन्हें चौबीसवां तीर्थंकर मानने लगे। पार्श्वनाथ के अनुयायी निर्ग्रन्थ कहलाते थे, परन्तु महावीर के जिन अथवा जितेन्द्रिय बन जाने से वे "जैन" कहलाने लगे।

ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत महावीर ने एकान्त में बैठकर अपना जीवन नहीं बिताया, बल्कि तीस वर्षों तक उन्होंने घूम-घूमकर मगध, कोशल, अंग, मिथिला, काशी आदि प्रदेशों में अपनी शिक्षा का प्रचार किया। प्रारम्भ में तो वे अकेले ही घूमा करते थे, पर कुछ काल पश्चात् उन्हें घोषाल नामक एक सहयोगी भी मिल गया। महावीर तथा घोषाल की पहली भेंट नालन्दा में हुई थी। कोल्लाग नामक स्थान पर वे दोनों लगभग छः वर्षों तक साथ रहे। पर तत्पश्चात इन दोनों के उपदेशों में कुछ मतान्तर हो गया और वे पृथक हो गये। घोषाल महावीर की तथा महावीर घोषाल की आलोचना करते थे। घोषाल को ही आजीवक सम्प्रदाय का निर्माता कहते हैं।

महावीर को धर्मप्रचार करने में साधारण कठिनाइयों का ही सामना नहीं करना पड़ा। इस समय भारत में प्राचीन वैदिक धर्म के अनेक सम्प्रदाय तथा कुछ नवीन धार्मिक दल विद्यमान थे। इनमें बुद्ध बार्हस्पत्य, नास्तिक या चार्वाक, वेदान्तीय सांख्य, अपृष्ठनादीय, आजीविक, त्रैराशिक तथा शैव्य मत प्रधान हैं। महावीर के सयम में अनेक धर्मप्रचारक और उनके मत प्रचलित थे। क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद आदि अनेक वादों का प्रचलन काफी जोर पर था। इस समस्त वादों की प्रतिस्पर्धा में महावीर को अपना मत स्थापित करना था।

महावीर ने बड़े लगन के साथ अपना काम जारी रखा। धीरे-धीरे अनेकानेक राजा-महाराजा, धनी व्यापारी, वैश्य, जनसाधारण के लोग आदि उनमें श्रद्धा व्यक्त करके उनके अनुयायी बन गये। महावीर को अपने समकालीन कई राजाओं का सहयोग प्राप्त हुआ। कुछ गणराज्यों में प्रसिद्ध व्यक्ति महाराज बिम्बसार, अजातशत्रु और आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक घोषाल थे। महावीर ने पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित चार मुख्य सिद्धान्तों अर्थात अहिंसा, सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह का प्रतिपादन किया। पाँचवां सिद्धांत अपनी ओर से जोड़ दिया जिसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। ये पाँचों नियम मिलकर 'पंचयम' कहलाते हैं। महावीर अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य पर विशेष बल देते थे और कहते थे कि केवल वही व्यक्ति कैवल्य प्राप्त कर सकता है जो इन तीनों व्रतों का पालन भली भांति करेगा। ईसा से 527 वर्ष पूर्व सत्तर वर्ष की अवस्था में आधुनिक पटना के पास पावापुरी नामक स्थान पर उनको निर्वाण प्राप्त हुआ।

नोट

जैन धर्म के सिद्धांत

ईश्वर सम्बन्धी विचार–जैनियों का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास था या नहीं इस विषय में विद्वानों में भारी मतभेद था। लेकिन अब यह निश्चित हो चुका है कि जैन धर्मावलम्बी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। महावीर स्वयं ईश्वर को सृष्टि का कर्ताधर्ता नहीं मानते थे। उनका विचार था कि "मनुष्य की आत्मा में जो कुछ महान् है और जो शक्ति तथा नैतिकता है, वही भगवान है।" जैनियों का कहना है कि सृष्टि अथवा विश्व का संचालन करने के लिए ईश्वर जैसी किसी अलौकिक सत्ता की आवश्यकता नहीं है। इस धर्म में तीर्थकरों को ही ईश्वर माना गया है तथा मन्दिरों में देवी-देवताओं के बजाय तीर्थंकरों की ही पूजा की जाती है। जैन धर्म में ईश्वर को निराकार माना जाता है। उनका कहना है कि निर्माणकर्ता के हाथ-पैर होते हैं और वह अपने हाथों से काम करके किसी वस्तु का निर्माण करता है। ईश्वर को सभी व्यक्ति निराकार नहीं मानते हैं। अत: ईश्वर जिसका कोई रूप नहीं है वह विश्वकर्ता कदापि नहीं हो सकता। उनके विचार में यह संसार शाश्वत्, अनन्त, अनादि और स्वाधारित है। वे ईश्वर को सर्वज्ञ और वीतराग मानते हैं।

आत्मवाद–अनीश्वरवादी होते हुए भी महावीर अनात्मवादी नहीं थे। उनका कहना था कि विश्व में दो बुनियादी पदार्थ हैं, जीव और अजीव। दोनों ही अनादि हैं, उन्हें किसी ने रचा नहीं और दोनों ही स्वतंत्र हैं। जीव का अर्थ आत्मा ही है। महावीर का विश्वास था कि जीव केवल मनुष्य, पशु और वनस्पति में ही नहीं, बल्कि विश्व के कण-कण में पाया जाता है। पत्थरों और चटट्ानों, जल तथा अन्य प्राकृतिक वस्तुओं में भी जीव हैं। संसार में अगणित जीव हैं और सब समान हैं।

नोट्स महावीर को ईसा से 527 वर्ष पूर्व सत्तर वर्ष की अवस्था में आधुनिक पतन के पास पावापुरी नामक स्थान पर निर्वाण प्राप्त हुआ।

अजीव का अर्थ केवल पदार्थ (मैटर) नहीं है। जीवन को निकालकर जो विश्व शेष रह जाता है यह सब अजीव है। अजीव के अन्तर्गत पांच चीजें सम्मिलित हैं-पुद्गल (पदार्थ मैटर), आकाश, धर्म, अधर्म तथा काल (समय)। स्पर्श, रस, गंध एव वर्णयुक्त द्रव्य पुद्गल कहलाता है। मोटे तौर पर पुद्गल के दो प्रकार हैं-अणु जो अविभाज्य हैं तथा स्कंध जो अणुओं का समूह है। दूसरा द्रव्य धर्म है। धर्म का अर्थ है गति की अवस्था और अधर्म की स्थिरता की अवस्था। आकाश जो चौथा द्रव्य है सब पदार्थों को अवकाश देता है। आकाश के दो भेद लोकाकाश तथा आलोकाकाश है। पाँचवां द्रव्य काल समस्त द्रव्यों के परिवर्तनों में योग देता है। विश्व जीव और अजीव के घात प्रतिघात से चलता और कार्य करता है।

कर्म की प्रधानता–जैन लोग कर्म की प्रधानता को मानते हैं। इन लोगों का विश्वास है कि हमारे पूर्व जन्म के कर्मों से ही इस बात का निर्णय होता है कि किस वंश में हमारा जन्म होगा और कैसा हमारा शरीर होगा। कर्म अनेक प्रकार के होते हैं और उनका फल भी विभिन्न प्रकार का होता है। कर्म के प्रभाव से ही वह राजा अथवा भंगी के घर जन्म लेता है। इस जन्म के अच्छे कर्म करके मनुष्य अपना भविष्य अच्छा बना लेता है। उसे अपने कर्मों के लिए फल अवश्य भोगना पड़ता है। क्रोध, माया, लोभ आदि के कारण ही आत्मा बन्धन में पड़ती है। जैन धर्म मे पुनर्जन्म के सिद्धांत पर भी विश्वास किया जाता है। उनके अनुसार मानव बार-बार जन्म लेता है। वे विश्वास करते हैं कि आत्मा बहुत से बन्धनों में बंधी हुई है। अनेक बार जन्म लेने पर और उन बन्धनों का अन्त करके ही मानव मुक्ति प्राप्त करता है। जैन मतावलम्बी आत्मा के अस्तित्व तथा उसके अमरत्व पर विश्वास करते हैं। ये लोग आत्मा को सर्वद्रष्टा समझते हैं; परन्तु इनकी यह धारणा है कि कर्म के बन्धनों के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। जैनियों का विश्वास है कि आत्मा शरीर से अलग है और यद्यपि इसकी कोई मूर्ति नहीं होती, परन्तु प्रकाश की भांति वह अपना अस्तित्व रखती है। जैनियों के विचारानुसार, आत्मा स्वभाव से ही पूर्ण तथा निर्विकार है, परन्तु कर्मों के कारण यह बन्धन में पड़ जाती है।

नोट

आत्मा की मुक्ति–आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करने के लिए जैन धर्म सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् कर्म रूपी त्रिरत्न को पर्याप्त समझता है। महावीर का कहना था कि मनुष्य के शरीर की तरह आत्मा सभी जीवधारियों के शरीर में निवास करती है। इसीलिए सभी मनुष्यों के लिए यह अच्छा है कि वे संसार के सभी जीवधारियों को समान समझें। यहीं उनका सम्यक् दर्शन था। सम्यक् दर्शन से ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है और मनुष्य को अज्ञानता, क्रोध, लोभ, मोह आदि से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। इन दोनों की प्राप्ति के प्रयत्न के साथ-साथ मनुष्य को सम्यक् कर्म अथवा चरित्र की प्राप्ति के लिए भी यत्न करना चाहिए। इसकी प्राप्ति इन्द्रियों, विचारों और भाषणों पर नियंत्रण रखने से होती है। इन त्रिरत्न की प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य और उसकी आत्मा दोनों को कर्म के बन्धन से मुक्ति मिल जाती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. जैन धर्म के अनुसार मुख्य पाप ..... हैं।
2. खारवेल ..... का अनुयायी था।
3. तिरुवल्लूवर का "....." तमिल साहित्य की उत्तम कृति मानी जाती है।

अठारह पाप–जैन धर्म के अनुसार अठारह मुख्य पाप हैं। आवश्यक सूत्र के अनुसार वे इस प्रकार हैं– (1) हिंसा, (2) झूठ, (3) चोरी, (4) मैथुन, (5) परिग्रह, (6) क्रोध (7) मान, (8) माया, (9) लोभ, (10) राग, (11) द्वेष, (12) कलह, (13) दोषारोपण, (14) चुगली, (15) असंयम में रति और संयम में अरति, (16) निन्दा, (17) छल कपट, (18) मिथ्या दर्शन।

पांच महाव्रत–महावीर स्वामी ने अपनी आँखों से देखा था कि हिन्दू दर्शन के सिद्धांत साधारण जनता के लिए उसी प्रकार ग्राह्य नहीं जिस प्रकार कुछ चुने हुए धर्मविष्ठाताओं या धर्मरत व्यक्तियों को है। जितने नियम हिन्दू विचारकों ने प्रस्तुत किये हैं वे सम्पूर्ण मनुष्यों द्वारा प्रयोग में नहीं लाये जा सकते। सभी तप नहीं कर सकते और न सभी यज्ञ कर सकते हैं अत: उन्होंने दो प्रकार के धर्म का उपदेश देना आवश्यक समझा– (1) संन्यासियों के लिए तथा (2) गृहस्थ या श्रावकों के लिए। महावीर ने सर्वसाधरण के लिए पांच नियम बताये जिसको पाँच महाव्रत कहते हैं और जैन धर्म में इनके पालन पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। इसको पाँच महाशील भी कहा जाता है। इसकी महत्ता इसी बात से प्रकट होती है कि इनका उल्लेख उपनिषदों में भी किया गया है। ये पाँच व्रत अंहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हैं। इन्हीं पाँच महाव्रतों में आगे चलकर रात्रि का भोजन न करना भी सम्मिलित कर दिया गया।

जैन धर्म में अहिंसा के पालन पर बड़ा बल दिया जाता है। अहिंसा का केवल यही तात्पर्य नहीं है कि किसी की हत्या नहीं की जाये, वरन् अहिंसा का वास्तविक तात्पर्य यह है कि न हिंसा की कभी कल्पना करनी चाहिए और न उसके सम्बन्ध में कहना चाहिए; न दूसरों को हिंसा करने की आज्ञा देनी चाहिए और न उन्हें उसके लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इसी तरह सत्य पर भी जैन धर्म में बहुत अधिक जोर दिया जाता है। वे केवल सत्य बोलने का ही उपदेश नहीं देते, बल्कि कहते हैं कि सत्य को सुन्दर तथा मधुर होना चाहिए। इस व्रत को पूरा करने के लिए क्रोध, भय तथा लोभ पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

जैनी लोग अस्तेय, जिसका अर्थ है चोरी न करना, को भी अपना एक महाव्रत मानते हैं। जैन लोग दूसरे का धन नहीं लेने का उपदेश देते हैं। ये अस्तेय और अहिंसा में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाते हैं। जैनियों का चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य है। सभी प्रकार के काम, अर्थात् विषयवासनाओं को त्याग देना ब्रह्मचर्य का अर्थ है। जैनियों का पाँचवां और अन्तिम महाव्रत अपरिग्रह है, जिसका अर्थ होता है किसी वस्तु में आसक्ति नहीं रखना। इन्द्रियां जिन वस्तुओं की ओर आकृष्ट होती हैं, उनको त्याग देना ही अपरिग्रह है।

तपस्या–महावीर ने कठिन तपस्या पर जोर दिया। उन्हें स्वयं कठिन तप के बाद ही ज्ञान प्राप्त हुआ था। भिक्षुओं

नोट

के लिए व्रत, शरीर को कष्ट देना तथा गम्भीर ध्यान और मनन आवश्यक है। जैन साधु तपस्या को इन्द्रियों को वश में करने का अपूर्ण साधन मानते हैं। मुख्य रूप से तपस्या दो प्रकार की होती है। एक है ब्रह्म तपस्या जिसमें अनशन, काया को कष्ट देना तथा रसों का परित्याग सम्मिलित है। दूसरी प्रकार की तपस्या में पाप का प्रायश्चित करना, विनय, सेवा, ध्यान और स्वध्याय सम्मिलित है। केशलुंचन तथा अनशन व्रत धारण करके प्राण त्यागना जैन धर्म के उत्तम तपस्या के सूचक हैं। प्राचीन काल में ऐसे जैन धर्मावलम्बियों का उल्लेख आता है, जो गीन चट्टानों पर बैठे मृत्यु की प्रतीक्षा में असीम वेदना सहते और अन्त में इसी प्रकार प्राण त्याग करते थे।

वस्त्र त्याग–महावीर के अनुसार पूर्ण निर्वाण गृहस्थों को नहीं प्राप्त हो सकता है। उसके लिए सारे संसारिक बन्धनों का यहाँ तक कि वस्त्रों का परित्याग अत्यावश्यक है। यद्यपि अब दिगम्बर सम्प्रदाय के भिक्षु भी वस्त्र धारण करने लगे हैं, किन्तु इस बात को दोनों ही सम्प्रदाय वाले स्वीकार करते हैं कि पूर्ण निर्वाण के लिए वस्त्र का परित्याग अत्यन्त आवश्यक है।

महावीर के बाद जैनधर्म

श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय–महावीर की मृत्यु के उपरान्त लगभग दो शताब्दी तक उनके अनुयायी, भिक्षु तथा उपासक छोटे से सम्प्रदाय के रूप में संगठित बने रहे। महावीर के प्रमुख ग्यारह शिष्यों में दस की मृत्यु महावीर से पहले ही हो चुकी थी। महावीर की मृत्यु के बाद सुधर्मन जैनियों का प्रधान बना। ऐसा प्रतीत होता है कि अजातशत्रु के बाद मगध की गद्दी पर बैठने वाले उद्यन राजा ने भी जैनमत का पक्ष लिया। कलिंग के राजा खारवेल के हाथी गुफा शिलालेखों से पता चलता है कि राजा नन्द की प्रवृत्ति भी जैन धर्म की ओर थी।

मौर्य काल में जैनधर्म दो प्रधान शाखाओं में विभक्त हो गया। एक दिगम्बर सम्प्रदाय और दूसरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय कहलाया। जैन साहित्यों के अुनसार चंद्रगुप्त मौर्य के काल में मगध में भयंकर अकाल पड़ा। कई वर्षों तक पानी नहीं पड़ा था। अत: आधे से अधिक जैनी लोग भाग खड़े हुए और दक्षिण भारत में जा बसे। बारह वर्ष के बाद जब अकाल समाप्त हुआ तब वे पुन: वापस आये। इन लोगों ने उन भिक्षुओं की निन्दा की जिन्होंने उनका साथ नहीं दिया था। उन्हें पथभ्रष्ट कहा गया। इस प्रकार जैनधर्म में दो शाखाएं फूट पड़ीं। दोनों दलों में कई अन्य बातों को लेकर मतमतान्तर हुआ। भद्रबाहु नेपाल की ओर चला गया और "चौदह पूर्वों" में से केवल "दस पूर्व" पढ़ाने की अनुमति स्थूलभ्रद को दे गया। इन दो दलों में मतभेदों को दूर करने के लिए पाटलिपुत्र में एक जैन सभा बुलायी गयी, किन्तु जो भिक्षु दक्षिण से लौटे थे उन्होंने सभा में भाग लेने से इन्कार कर दिया। पाटलिपुत्र की जैन सभा ने जैन सिद्धांतों के एक भाग को स्वीकार कर लिया। इस भाग में ही श्वेताम्बरों के सिद्धांत की उत्पत्ति हुई।

क्या आप जानते हैं दूसरी जैन सभा गुजरात में बल्लभी नामक स्थान पर देव ऋद्धिगणी की अध्यक्षता में हुई थी।

श्वेताम्बर और दिगम्बर मतों में भेद–श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धांत में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही जैन मत के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। इन दोनों का मौलिक सिद्धांत प्राय: एकसा है। अन्तर केवल इतना ही है कि दिगम्बर सम्प्रदाय कट्टरपंथी जैनियों का सम्प्रदाय है। ये लोग जैनधर्म के नियमों का पालन बड़ी कठोरता से करते हैं। इनका दृढ़ और निश्चय विचार है कि जैन साधुओं को सब कुछ त्याग देना चाहिए। इसलिए दिगम्बर मुनि वस्त्र धारण नहीं करते और नग्न रहते हैं। इनके मन्दिरों में भी नग्न मूर्तियों की ही पूजा की जाती है। दिगम्बर सम्प्रदाय का विश्वास है कि जो संन्यासी और साधु सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है, उसे भोजन की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। उनकी भूख, प्यास आदि सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं हो जाती है। इसके मत में स्त्रियों को कर्म बन्धन उस समय तक नहीं मिल सकता तब तक कि वे पुरुष योनि में जन्म न लें। इसके विपरीत श्वेताम्बर सम्प्रदाय का इन विचारों से मेल नहीं खाता। इसके सम्प्रदाय में नियमों की कठोरता कम कर दी गयी है और मानवीय दुर्बलता को पूर्णत: ध्यान से ओझल नहीं किया गया है। वे सफेद वस्त्र धारण करने की बात मानते हैं।

नोट

दूसरी जैन सभा गुजरात में वल्लभी नामक स्थान पर देवऋद्धिगणी की अध्यक्षता में हुई थी। इस सभा का उदेद्श्य था पवित्र मूल पाठों को एकत्र करके उन्हें पुस्तकों का रूप देना। परिमाणस्वरूप ऐसा ही हुआ। सभी मूल पाठों को पुस्तकों का रूप दे दिया गया और वे पुस्तकें आज भी देखने को मिलती हैं।

जैनधर्म का प्रचार

महावीर द्वारा प्रदिपादित जैनधर्म का प्रचार भारत में तीव्रता से हुआ। यद्यपि यह बौद्धधर्म की तरह भारत से बाहर विदेशों में नहीं फैला, लेकिन भारत के अन्दर चारों ओर इसका व्यापक प्रचार हुआ। आरम्भ में इस धर्म का प्रचार बिहार, तिरहुत और अवध के प्रान्तों तक ही सीमित था। मगध में भीषण अकाल पड़ने पर जो बारह वर्ष की लम्बी अवधि तक रहा। सहस्त्रों जैनी सपरिवार प्रसिद्ध जैन साधु भद्रबाहु के साथ मगध से दक्षिण भारत की ओर चल दिये। इन्होंने मैसूर राज्य में श्रवण बेलगोला नामक स्थान को अपना निवास स्थान बनाया। प्रसिद्ध राजा चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी जैन मत अंगीकार करके उसी स्थान पर निराहार व्रत करके मोक्ष प्राप्त किया था। यहीं से जैनधर्म का प्रसार दक्षिण भारत में हुआ और व्यापारियों तथा व्यवसायियों ने भारी संख्या में इस मत को अपनाया। कुषाण काल में मथुरा जैनधर्म का केन्द्र बना हुआ था और यहीं से यह मत धीरे-धीरे गुजरात, कठियावाड़ आदि जगहों में प्रसारित हुआ। उड़ीसा के राजा खारवेल जैनधर्म के अनुयायी थे। इन्होंने जैनधर्म की उन्नति के लिए भरसक प्रयत्न किया और जैनधर्म का अद्भुत उत्थान हुआ।

महावीर ने ज्ञान प्राप्ति के तुरंत बाद अपने धर्म का प्रचार करना शुरू किया। वे वर्ष में आठ महीना घूम-घूम करके अपने मत का प्रचार करते थे और वर्षा ऋतु किसी बड़े नगर में व्यतीत करते थे। ज्यों-ज्यों महावीर की ख्याति बढ़ती गयी त्यों-त्यों जनता द्वारा उनका स्वागत भी बढ़ता गया और बड़े-बड़े सम्राट उनके उपदेश को सुनने के लिए आने लगे। उनके जीवन काल में ही जैन धर्म कोशल, विदेह, मगध तथा अंग राज्यों में फैल गया। कुछ जैन साधु पश्चिम की ओर बढ़े और मथुरा को अपना प्रचार केन्द्र बनाया। इस क्षेत्र में भी जैनधर्म की अच्छी उन्नति हुई। पहली और दूसरी शताब्दी ई.पू. में मालवा और उज्जयिनी जैन मतावलम्बियों के मुख्य केन्द्र हो गये। दक्षिण भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय के जैनियों ने जैन धर्म का प्रचार किया। जैनधर्म के इस तीव्र प्रचार के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे–

राजकीय संरक्षण–जैनधर्म के उत्थान के मूल में एक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इस धर्म को तत्कालीन राजाओं का समर्थन और संरक्षण मिला। अनेक राजा, महाराजा, सामन्त, उच्च राजकीय पदाधिकारी तथा प्रभावशाली व्यक्ति महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके धर्म को स्वीकार कर जैन मतावलम्बी हो गये। राजकीय संरक्षण के मिल जाने से जैन धर्म का प्रचार तेजी से हुआ। जिन राजाओं ने इस धर्म को स्वीकार किया उनकी प्रजा भी इस धर्म की अनुयायी हो गयी। फलत: जैन धर्म का काफी प्रचार हुआ।

बोलचाल की भाषा का प्रयोग–वैदिक धर्म की सभी पुस्तकें संस्कृत भाषा में रची गयी थीं। इसका केवल ब्राह्मण वर्ग के लोग ही अध्ययन कर सकते थे। ये ग्रन्थ साधारण जनता की पहुँच के परे थे। इस कारण वैदिक धर्म के प्रति लोगों की रूचि घटती गयी। लेकिन जैनधर्म के सिद्धांत जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में लिखे गये थे और महावीर तथा उनके शिष्य जनता की भाषा में ही उन्हें उपदेश देते तथा धर्म प्रचार का कार्य करते थे। जनता के लिए इस धर्म के सिद्धांत को समझना आसान था। इस कारण जैनधर्म में उनकी रूचि बढ़ी और वे उस नवीन धर्म की ओर आकर्षित होने लगे।

समानता का सिद्धांत–जैनधर्म मुख्यत: समानता के सिद्धांत पर आधारित था। महावीर ने जातिप्रथा का विरोध किया था और धर्म का द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिया था। उनका कहना था कि संसार की सभी चीजों की आत्मा एक-सी है। मोक्षप्राप्ति के लिए किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता है। उस समय समाज के निम्न श्रेणियों के लिए धर्म के सारे दरवाजे बन्द थे और वे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते थे। जब जैनधर्म ने सभी तरह के नियंत्रणों से समाज को मुक्त करने का निश्चय बतलाया तो पददलित मानवता स्वाभाविक रूप से इसकी ओर आकृष्ट हुई। जन साधारण ने इस नवीन धर्म को अपना समर्थन दिया।

जैन धर्म का व्यावहारिक होना–जैन धर्म आडम्बरों से रहित एक साधारण धर्म था तथा उसके सिद्धांत सरल, सुबोध व्यवहार में आने योग्य और सब की पहुँच के भीतर थे। गृहस्थों के लिए महावीर ने अत्यन्त सरल

नोट

धार्मिक नियम बनाये ताकि उन्हें किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े। कोई भी व्यक्ति बिना किसी विशेष कठिनाई के इन नियमों का पालन कर सकता था। इसमें हिन्दू धर्म जैसी कर्मकांड की क्लिष्ट विधियाँ न थीं। अहिंसा का पालन, सत्य बोलना, चोरी न करना, सबके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार रखना आदि कुछ ऐसे नियम थे जो सभी के लिए प्रिय हो सकते थे और इसका पालन करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हो सकती थी। हिंसा और बलिदान का इस धर्म में कोई स्थान नहीं था। जैन साधुओं के लिए नियम तो अवश्य कड़े थे पर साधारण व्यवहार में आने योग्य नियमों के कारण यह धर्म काफी उन्नति करने लगा और पर्याप्त सफलता मिली।

संघ की स्थापना–जैन धर्म अपने जन्म के साथ ही एक संगठित आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। महावीर ने अपने अनुयायियों को संघ में संगठित किया। संघ के सदस्यों को संयमपूर्ण तथा सरल जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उन्हें अध्ययन और गोष्ठी में अपना समय बिताना पड़ता था और सारा जीवन धर्म के प्रचार में लगाना पड़ता था। महावीर की मृत्यु के बाद भी जैनियों की गतिविधि ज्यों की त्यों बनी रही। जैन संघ के अध्यक्ष सुधर्मन ने बाईस वर्षों तक लगातार जैन धर्म की सेवा की। उनके बाद प्रसिद्ध जैन मुनि जम्बको संघ का प्रधान हुआ। इसके समय में भी जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ।

जैनधर्म का पतन

यद्यपि जैनधर्म का प्रचार बड़े उत्साह से किया गया था। परन्तु कालान्तर में इसकी प्रगति में अवरोध उत्पन्न हो गया। बाद में इस धर्म की लोकप्रियता घटने लगी और यह पतनोन्मुख हो चला। इसके पतन के कुछ प्रमुख कारण निम्न थे–

राजधर्म पर प्रतिष्ठित न होना–यद्यपि महावीर के समय में कुछ राजघरानों ने जैनधर्म को स्वीकार किया था परन्तु कभी भी धर्म को राजधर्म के पद पर प्रतिष्ठित होने का गौरव न प्राप्त हो सका। बहुसंख्यक भारतीय नरेश इस धर्म के प्रति उदार तो अवश्य रहे परन्तु यह उदारता धर्म की देश व्यापकता और अन्तर्देशीयता के लिए पर्याप्त न थी। इस देश में यदि कोई जैन अशोक, समुद्रगुप्त अथवा हर्ष उत्पन्न हुआ होता तो जैनधर्म का प्रचार भी सीमित न रहा होता।

जातिप्रथा का पुनरागमन–प्रारम्भ में जैनियों ने जातिप्रथा का विरोध किया था, लेकिन बाद में धर्मव्यवस्था के अन्तर्गत भी जातिप्रथा का प्रवेश हो गया। इस कारण इसकी नवीनता जाती रही और लोगों में, विशेषकर निम्न जातियों में यह अलोकप्रिय हो गया।

प्रचारकों का अभाव–कालान्तर में जैनधर्म में उत्साही धर्मप्रचारकों का पूरा अभाव हो गया। ऐसे धर्मप्रचारक बहुत ही कम रह गये जो संलग्नता और पूरे उत्साह के साथ इस धर्म का प्रचार करते। उनकी संख्या में भी बहुत कमी हो गयी। जो थोड़े बहुत प्रचारक बच गये उनमें भी कई तरह की बुराइयाँ आ गयीं। वे आत्म संयमी नहीं रहे। उनका झुकाव सांसारिक सुख भोग की ओर हो गया। फलत: जैनधर्म का पतन आरम्भ हुआ।

अन्य धर्मों की प्रतिद्वन्द्विता–जिन दिनों भारत में जैनधर्म का प्रचार हो रहा था। उन दिनों बौद्धधर्म का भी देश में प्रचार हो रहा था। इस प्रकार बौद्धधर्म एक तरह से जैनधर्म का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। बौद्धधर्म अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हो गया। बौद्धधर्म के उपरान्त भी हिन्दू धर्म में अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ जिनको राजाओं का समर्थन मिला। मथुरा के जैन मन्दिरों को चोल राजाओं ने शिव मन्दिरों में बदल डाला। कुछ चालुक्य शासकों ने भी जैन मन्दिरों से जैन प्रतिमाओं को हटावाकर हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठित कराया। उड़ीसा में भी शैवमत का प्रचार हुआ। राजपूत काल में अहिंसा धर्म का महत्त्व घट जाने से जैनधर्म का पतनोन्मुख हो जाना अवश्यम्भावी हो गया।

आन्तरिक मतभेद–शुरू में जैनधर्म एक सशक्त आन्दोलन था। परन्तु कालान्तर में इसमें आन्तरिक मतभेद शुरू हो गया और जैनधर्म स्पष्टत: दो सम्प्रदायों-श्वेताम्बर और दिगम्बर में विभाजित हो गया। यह मतभेद तथा विभाजन जैन धर्म के लिए बड़ा घातक साबित हुआ। मतभेद की हालत में सहयोग के साथ कोई कार्य करना असम्भव हो जाता है।

जनसम्पर्क में कमी–जैनधर्म के प्रचारक धर्म प्रचार में भारी उत्साह के साथ लगे रहते थे। वे कठोर व्रत धारण करके, इच्छाओं का दमन करके शरीर को तपस्या द्वारा शुद्ध करके जितेन्द्रिय बनने के प्रयत्न करते रहते थे। उनकी

नोट

आत्मशुद्धि के वे प्रयास जनता पर गहरा प्रभाव डालते थे। संघ में जनता के साथ सम्पर्क बढ़ाने के महत्त्वपूर्ण साधन थे। अब प्रचारकों में उत्साह का स्त्रोत बहना बंद हो गया था। संघों की सदस्यता में भी कमी आने लगी थी। अस्तु, धर्म प्रचारकों का साधारण जनता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध न रहा और जनता में जैनधर्म के प्रति कोई आकर्षण अथवा रुचि न रही।

तपस्या की कठोरता–जैनधर्म तपस्या पर बड़ा बल देता था। इस धर्म में नग्न रहना, आमरण अनशन करना, केशलुंचन आदि शारीरिक कष्ट वांछनीय बतलाये गये थे। जनसाधारण के लिये ये सारे कार्य दुष्कर थे और इस प्रकार के धर्म का लोकप्रिय बनना असम्भव था। शुरू में जोश में तो बहुतों ने तपस्याव्रत को ग्रहण किया, लेकिन बाद में यह उत्साह मन्द पड़ गया।

भाषा की दुर्बोधता–शुरू में जैन धर्म का प्रचार साधारण बोलचाल की भाषा में हुआ था लेकिन बाद में जैन साहित्य का सृजन संस्कृत भाषा में होने लगा। फलतः जनता से इस धर्म का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा। साधारण जनता जैन साहित्य से अपरिचित रहने लगी।

ब्राह्मण धर्म में सांलग्न्य–शुरू में जैनधर्म ब्राह्मण धर्म के विरूद्ध एक क्रांति के रूप में प्रकट हुआ था, परन्तु बाद में यह अपने को उससे अलग नहीं कर सका। कालान्तर में वह उसके निकट आता गया और ब्राह्मण धर्म के अनेक दोष उसमें घुस गये। ब्राह्मण धर्म की तरह भक्तिवाद और देवी-देवताओं की बहुलता घुस गयी। फलतः जैनधर्म की नवीनता समाप्त हो गयी। इस कारण भी इस धर्म का पतन हुआ।

जैनधर्म भारत के सभी भागों में फैला, किन्तु समय के साथ-साथ इसकी अवनति होनी आरम्भ हो गयी। जैनियों के अनुसार उनके मन्दिर की तबाही पहली बार ब्राह्मणों के विरोध के कारण और विशेषकर 1774-76 ईसवी पश्चात् अजयपाल के काल में हुई थी; किन्तु मुसलमानों ने जितनी हानि इस धर्म को पहुँचाई, उतनी हानि इस धर्म को अजयपाल से नही पहुंची। अलाउद्दीन खिलजी, जिसने गुजरात को 1297-98 में विजय किया था, जैनियों द्वारा "खूनी" कहा गया। उसने जैनियों के अनेक मन्दिरों को बुरी तरह गिराया था। उसने जैनधर्मियों को अधिकाधिक संख्या में मौत के घाट उतारा और उनके पुस्तकालयों को नष्ट कर दिया। जैनियों के मन्दिरों द्वारा प्राप्त सामग्री से भारत में मुसलमानों ने अत्यन्त सुन्दर मस्जिदें बनवाईं।

जैनधर्म तथा हिन्दूधर्म में तुलना

जैनधर्म वास्तव में नया धर्म नहीं था। इसे हम हिन्दू धर्म की शाखा ही मान सकते हैं। क्योंकि यह कई दृष्टियों से प्राचीन धर्म से मिलता-जुलता है। जैन तीर्थकरों ने धर्म के रूप में किसी नवीन धर्म की स्थापना न करके प्राचीन वैदिक धर्म को ही सुधारने का प्रयत्न किया था। उस समय वैदिक धर्म में तरह-तरह की बुराइयाँ घुस गयी थीं। वह आडम्बर और हिंसा से पूर्ण अनेक प्रकार के जटिल कर्मकांडों से युक्त हो उठा था। वैदिक धर्म में बलि पर विशेष जोर दिया जाने लगा था। अतएव अनेक लोग इसके विरोधी बन गये। महावीर के पहले जैनधर्म 'निर्ग्रन्थमत' कहलाता था जो हिन्दू धर्म का विरोधी नहीं था। इस कारण जैनधर्म को हिन्दूधर्म का विरोधी नहीं माना जाना चाहिए। वैदिक धर्म की तरह ही जैन धर्म में भी आत्मा की सर्वव्यापकता, पुनर्जन्म तथा अच्छे-बुरे कर्मों के फलों को भोगना स्वीकार किया गया है। वैदिक धर्म के नियम और प्रमुख सिद्धांत जैन धर्म से मिलते हैं। जैनधर्म में चार्वाकों की वेदविरुद्धता और नास्तिकता के सिद्वान्तों को भी स्थान दिया गया है। जैनधर्म वर्णव्यवस्था का विरोधी नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि जैनी कर्म को ही जाति व्यवस्था का आधार मानते हैं। हिन्दू धर्म के गृहसंस्कार जैनियों में उसी प्रकार मनाये जाते हैं जिस प्रकार हिन्दू घरों में। वे राम और कृष्ण को हिन्दुओं की भांति ही पूजनीय मानते हैं। वर्तमान काल में तो जैनी हिन्दू जाति के वैश्यों के साथ विवाह आदि भी करने लगे हैं। अपने अर्थशास्त्र में संन्यासियों के कर्त्तव्यों की विवेचना करते हुए **चाणक्य** ने लिखा है कि संन्यासियों का प्रमुख कर्त्तव्य अपनी इन्द्रियों को वश में रखना, सांसारिक पदार्थों का त्याग, भिक्षा मांग कर उदरपूर्ति, ग्रामों तथा नगरों से दूर वनों में निवास, अपने निवास स्थान को बदलते रहना, जीवों पर दया दिखलाना, हिंसावृत्ति से दूर रहना, ईर्ष्या द्वेष आदि का त्याग करके दया, क्षमा और सन्तोष आदि का पालन तथा बाह्य एवं आन्तरिक स्वच्छता रखते हुए शुद्ध, पवित्र और सात्त्विक जीवन व्यतीत करना है। ये सब नियम प्रायः सभी जैनग्रन्थों में लिखे हुए हैं। कई इतिहासकारों ने इसीलिए अपना मत प्रकट करते हुए

नोट

व्यक्त किया है कि जैन साधुओं और ब्राह्मण संन्यासियों की जीवनचर्या प्राय: बहुत कुछ एक-दूसरे से मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि जैनधर्म नास्तिक धर्म है और हिन्दू धर्म आस्तिक धर्म है। हिन्दू धर्म ईश्वर की सर्वव्यापकता में आस्था रखते हुए उसे विश्व का रचयिता, पालक और संहारकर्ता मानता है तथा वेदों को प्रमाण मानते हुए यज्ञ और बलिदानों में आस्था रखता है। इसके विपरीत जैनधर्म ईश्वर को संसार का कर्ता, भर्ता और हर्ता नहीं मानता। जैनधर्म के अनुसार जगत् अनादि और अनन्त है। जैनी वेदों को प्रमाण नहीं मानते है और न यज्ञ तथा बलिदानों में ही आस्था रखते हैं।

भारतीय संस्कृति को जैनधर्म की देन

साहित्यिक देन–यद्यपि जैनधर्म का प्रचार बड़ा सीमित रहा और वह कभी प्रभावशाली आन्दोलन नहीं हो सका, परन्तु हमारे देश को इसकी सांस्कृतिक देन बहुत बड़ी है। इसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन साहित्य तथा कला क्षेत्र में देखने को मिलता है। जैन विद्वानों ने विभिन्न कालों में लोकभाषाओं में ग्रन्थों की रचना करके इन भाषाओं के परिवर्द्धन तथा परिमार्जन में बड़ा योग दिया। अधिकांश जैन साहित्य प्राकृत भाषा में लिखे हुए हैं, जिससे प्राकृतिक भाषा के विकास में बड़ा योग मिला। राजपूत काल में अनेक जैन आचार्यों ने प्राकृतिक तथा अपभ्रंश भाषाओं में कई ग्रन्थ लिखे। जैनधर्म का सबसे प्रसिद्ध साहित्य 'श्रुतंग' मागधी भाषा में लिखा हुआ है। इसमें बारह अंगों का संकलन किया गया है, जो जैनधर्म के आधार हैं।

प्राचीन जैन धर्मग्रन्थों और जैन कविता पर जैनियों द्वारा लिखित भाष्य जैन महाराष्ट्री में मिलता है। ईस्वी संवत् के पश्चात् संस्कृत भाषा धीरे-धीरे उत्तर भारत में फैलने लगी। इस भाषा को पहले बौद्धों ने और फिर जैन लेखकों ने अपना लिया। जैन साहित्य का आधे से अधिक सहित्य मध्यकालीन दार्शनिक विचारों से भरा हुआ है। इसके रचयिताओं ने इन ग्रन्थों को लिखते समय नैतिक कथाओं के वर्णन, व्याकरण और कोषरचना में अपने आपको सिद्धहस्त और महान् सिद्ध करने की चेष्टा की है। पञ्चतंत्रों पर लिखे गये दो आलोचना ग्रन्थ जैनियों के प्रभाव के द्योतक हैं।

तमिल सहित्य में जैनियों का शताब्दियों तक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'तमिल साहित्य' की महत्त्वपूर्ण कविता जीवक चिन्तामणि जैनियों की ही देन है। **तिरूवल्लूवर** का "कुंडल" तमिल साहित्य की उत्तम कृति मानी गई है। इसका रचयिता एक जैनी था। प्राचीन तमिल व्याकरण और प्राचीन तमिलकोष दोनों ही जैन लेखकों की कृतियां मानी जाती हैं। तेलुगू साहित्य की नींव भी जैन लेखकों और विद्वानों से ही आरम्भ होती है।

कलात्मक देन–कला के क्षेत्र में भी जैनधर्म की देन अपूर्व है। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दियों में जैन कला का बड़ा विकास हुआ। जैनियों के भव्य मन्दिर आज भी देश के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। बौद्धों की तरह जैनियों ने भी भिक्षुगृहों और गुफाओं का निर्माण किया। इनमें भिक्षु रहा करते थे। उनके इन निवास स्थानों का पता आज भी उदयगिरि में सिंह गुफा, ऐलोरा में इन्द्रसभा, लक्कुण्डी, पुलितान, आबू पर्वत, गिरनार, पार्श्वनाथ की पहाड़ी के भग्नावशेष, जोधपुर में रणपुर, बुन्देलखण्ड में खजाहारी, घण्टाई और आदिनाथ मन्दिर तथा चित्तौड़ आदि में मिलता है। दक्षिण भारत में जैनियों के सुन्दर मन्दिर श्रवण, बेलगोल, मुद्राबिद्री तथा गुरुवायंकेरी के प्रमाण आज भी हैं। जैनियों के अनेक मन्दिरों के चिह्न आज भी मिलते हैं जिनके ध्वंसावशेषों पर मस्जिदें खड़ी की जा चुकी हैं।

हाथ से लिखे गये जैन ग्रन्थों पर सुन्दर चित्र मिलते हैं वे जैन चित्रकारी के नमूने हैं। यद्यपि जैन चित्रकला बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है तथा वह सादगी सम्पन्न है किन्तु इस कला के द्वारा भारतीय संस्कृति के विकास में सहयोग मिला है। जैनियों ने मूर्तियों का भी पर्याप्त विकास किया था।

दार्शनिक देन–जैनियों की दार्शनिक देन भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सत्य की खोज के लिए जैनियों ने जिस स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है, वह उनकी एक अमूल्य देन है। स्याद्वाद का अर्थ होता है 'सम्भवत: ऐसा है' क्योंकि हम सत्य के केवल एक स्वरूप को देखकर ही सम्पूर्ण सत्य की धारणा बना लेते हैं जबकि सत्य के अनेक स्वरूप होते हैं। जैनियों ने इस रहस्य का उद्घाटन करके भारत को एक महान सांस्कृतिक देन से सम्पन्न किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रों में धर्म की महान देन है। यद्यपि जैनधर्म को भारत का एक मुख्य धर्म नहीं माना जाता है, पर यह धर्म पल्लवित रहा। एक समीक्षक ने ठीक ही लिखा है कि "जैनधर्म एक धर्म न होकर नैतिक

नोट

जीवन व्यतीत करने का संग्रह है। यह किसी ईश्वर को नहीं मानता। बल्कि उन महापुरुषों को मानता है जिन्होंने आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्राप्त की। हर व्यक्ति उतना ही श्रेष्ठ हो सकता है जितने वे थे और यदि आवश्यकता पड़े तो जैनधर्म हिन्दूधर्म के किसी सर्वप्रिय देवता को भी अपने में सम्मिलित करने को तत्पर था। जाति के सिद्धांत के विरुद्ध भी यह धर्म नहीं था। दूसरे धर्मों को अपने में मिलाने के लिए यह सदा तत्पर रहता था। इसके मौलिक तत्व के अनुसार यह किसी भी ऐसे सिद्धांत को स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता था जिनसे लौटना असम्भव न हो। इसके विचारानुसार जब सारा ही ज्ञान सम्भव है तो तुम्हारे विरोधी का विचार भी उतना ही ठीक है जितना कि तुम्हारा। यही एक मुख्य कारण था कि जैनधर्म भी यहाँ पर जीवित है जबकि बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि से समाप्त हो गया।

11.2 महात्मा बुद्ध और बौद्धधर्म (Mahatma Buddha and Buddhism)

महात्मा बुद्ध की जीवनी–धर्म के क्षेत्र में ईसवी छठी शताब्दी में बौद्धधर्म का अभ्युदय एक क्रांति था। यह वैदिक कर्मकांड के विरूद्ध प्रतिक्रिया तथा उपनिषदों द्वारा प्रारम्भ किये आंदोलन का तार्किक प्रतिफल था। बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध थे जो महावीर के समकालीन थे। ये जाति के क्षत्रिय थे। इनका प्रारम्भिक नाम गौतम या सिद्धार्थ था। उनका जन्म एक राजकुल में हुआ था। शाक्यवंशीय क्षत्रियों का एक अति प्रसिद्ध गणराज्य हिमालय की तराई में नेपाल राज्य की सीमा में स्थित था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में इस जनपद के शासक महाराज शुद्धोधन थे। बुद्ध का जन्म 563 ई. पू. के लगभग कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी नामक एक उद्यान में हुआ था। उनके जन्म के कुछ ही दिनों के बाद उनकी माता का देहान्त हो गया। इसलिए उनका पालन पोषण उनकी सौतली माता प्रजापति गौतमी ने किया। गौतम उनके गोत्र का नाम था और जब उनको बोध हुआ तब से बुद्ध कहलाये।

सिद्धार्थ बचपन से ही चिन्तनमग्न, शांत और गम्भीर रहते थे और राजपाट, धन-दौलत तथा स्त्री, पुत्र या परिवार में कोई रुचि नहीं रखते थे। प्राय: वे जीवन की गूढ़ समस्याओं पर विचार किया करते थे। उनके पिता ने उनके एकांतप्रेमी और चिन्तनशील प्रवृत्ति को देखकर उन्हें शीघ्र ही गृहस्थ जीवन में फंसा देना चाहा जिससे संसार में उनका मन रम जाये। जन्म के समय ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की थी कि यह बालक या तो चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या गृहत्याग कर संन्यासी बनेगा। इस कारण उनके पिता और भी चिन्तित थे। उन्होंने शीघ्र ही सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नामक एक परम सुन्दरी से कर दिया और भोगविलास की सारी वस्तुएं उनके लिए जुटा दीं। कुछ समय पश्चात् एक पुत्र का भी जन्म हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. "मेरे मरने के पश्चात् जो सिद्धांत मैंने इस जीवन में प्रतिपादित किये हैं वे ही तुम्हारा पथ प्रदर्शन करेंगे" मृत्यु-शय्या पर आनन्द को यह उपदेश दिया था।
   (*a*) महात्मा बुद्ध (*b*) महावीर
   (*c*) पार्श्वनाथ (*d*) इनमें से कोई नहीं।
5. बौद्धों की तीसरी सभा अशोक के राजत्वकाल में ..... में हुई थी।
   (*a*) पाटलिपुत्र (*b*) वैशाली
   (*c*) कुण्डलवन (*d*) इनमें से कोई नहीं।
6. हीनयान सम्प्रदाय में ..... को मानव मानकर धर्म के शुद्ध एवं प्रारम्भिक रूप को स्वीकार किया गया था।
   (*a*) महावीर (*b*) सुधर्मण
   (*c*) महात्मा बुद्ध (*d*) इनमें से कोई नहीं।
7. ऋग्वेद के ..... मण्डल में वर्णित 'पुरुष सूक्त' में चार वर्णों की उत्पत्ति की व्याख्या की गयी है।
   (*a*) आठवें (*b*) दसवें
   (*c*) नौवें (*d*) इनमें से कोई नहीं।

नोट

लेकिन विलासपूर्ण वैवाहिक जीवन से गौतम के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया। उन्होंने चार दृश्यों को देखा जिनका प्रभाव उनके जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सका। प्रात:काल के समय भ्रमण के लिए निकले हुए राजकुमार सिद्धार्थ को क्रमश: एक अति कृशकाय रोगी, कठिनता से चल सकने योग्य वृद्ध पुरुष, एक मृत व्यक्ति और अन्त में एक शंति स्वरूप साधु पुरुष के दर्शन हुए। इन चारों दृश्यों ने उनके जीवन में एक महान् उथल-पुथल पैदा कर दी। उन्हें मनुष्य की इन अवस्थाओं का जरा भी ज्ञान न था। उनके सारथी छंदक ने उन्हें बतलाया कि संसार के सभी मनुष्यों को एक न एक दिन रोगों का शिकार बन कर दारूण दु:ख सहन करने पड़ते हैं। बुढ़ापे में भीषण यातनाएं भोगनी पड़ती हैं और अन्त में मृत्यु अवश्यम्भावी होती है। सिद्धार्थ इन बातों पर जितना ही अधिक विचार करते थे उन्हें उतनी ही अधिक व्याकुलता होती थी लेकिन साधु पुरुष का ध्यान आते ही उनके दग्ध हृदय को कुछ शांति मिलती थी। अंत में उन्होंने राजसी सुखों का त्याग कर संसार के कष्टों को दूर करने के उपाय ढूंढने का दृढ़ निश्चय किया। उनतीस वर्ष की आयु में राजकुमार सिद्धार्थ रात्रि के समय अपने नवजात शिशु राहुल और पत्नी यशोधरा को सोते छोड़ यौवन, स्वास्थ्य और शरीर को अस्थायी तथा संसार को अनित्य एवं दु:खमय जान, समस्त सुख व वैभव का त्याग करके, घोड़े पर सवार होकर छंदक के साथ महल से बाहर निकल पड़े।

इस अवस्था में उनकी मुलाकात कई महात्माओं और साधुओं से हुई और इनका सत्संग हुआ। वैशाली के पड़ोस में आलार कालाम तथा राजगृह के पड़ोस में रामपुत्र रूद्रक नामक दार्शनिक के साथ इनकी बातें हुईं। जहाँ उन्होंने अपनी ज्ञापपिपासा को शांत करने का यत्न किया; किन्तु उनकी आत्मा को सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में वे राजगृह से गया पहुँचे और उरूवेला नामक स्थान पर जंगल में अपने पाँच साथियों सहित कठोर तपस्या करने बैठे। छ: वर्ष तक यह क्रम जारी रहा। इस बीच उनका शरीर जर्जर हो गया किन्तु आत्मा पहले की भांति ही अतृप्त रही। एक दिन उनकी तपोभूमि के निकट के ग्राम की कुछ स्त्रियाँ गीत गा रहीं थीं जिनकी आवाज गौतम के कानों में पड़ी। इस गीत का सार यह था कि "वीणा के तार को इतना न कसो जिससे तार ही टूट जाये और न वीणा के तार को इतना ढीला रखो कि उनसे कोई आवाज ही न निकल सके।" गौतम पर इस गीत का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इस गीत से गौतम ने मध्यम मार्ग या मध्यम प्रतिपदा का पाठ सीखा। वे घोर तपस्या द्वारा अपनी जीवन वीणा के तारों को बुरी तरह कस रहे थे। अतएव, उन्होंने अब मध्यम मार्ग अपनाने का निश्चय किया और तपस्या को त्याग दिया। सुजाता नामक एक स्त्री वृक्ष पूजा हेतु खीर लेकर आयी थी। गौतम ने उससे खीर लेकर खा ली। इस पर उनके अन्य साथियों ने उन्हें पथभ्रष्ट मानकर उनका साथ छोड़ दिया।

अब सिद्धार्थ अकेले मनन करने लगे। इस पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर वे घोर चिन्तन में लीन हो गये। वहीं एक दिन उन्हें ज्ञान का प्रकाश मिला वह बुद्धत्व की प्राप्ति थी। उस समय से सिद्धार्थ बुद्ध कहलाने लगे। जिस पीपल के पेड़ नीचे उन्हें बोध हुआ था वह बोध वृक्ष कहलाया।

प्रचार कार्य–ज्ञान प्राप्ति के बाद बुद्ध अपने ज्ञान का प्रचार करके अपने पाये आदर्श को संसार में फैलाना चाहते थे। सबसे पहले वे अपने उन पाँच पुराने साथियों से मिलना चाहते थे जो उन्हें पथभ्रष्ट समझकर छोड़कर चले गये थे। उनसे मिलने वे सारनाथ पहुँचे और पहला उपदेश उन्हीं साथियों को दिया। उनका प्रथम उपदेश धर्मचक्रप्रवर्तन के नाम से विख्यात है। इसके पश्चात् अपने साथियों के साथ बुद्ध वाराणसी गये और वहां एक धनी सेठ के पुत्र को तथा अन्य अनेक लोगों को अपना शिष्य बनाया। वाराणसी से बुद्ध राजगृह पहुँचे। उस समय मगध में अनेक आचार्य तथा धर्मप्रचारक घूम-घूम कर जनता में अपने सिद्धांतों का प्रचार किया करते थे। उनके सिद्धांतों का खंडन करने तथा अपने विचारों की श्रेष्ठता स्थापित करने में बुद्ध को बहुत समय लगा; किन्तु अन्त में उन्हें सफलता मिली और अनेक व्यक्ति उनके शिष्य बन गये। राजगृह में ही मगधनरेश बिम्बसार ने बुद्ध का उपदेश सुनकर बौद्धधर्म को स्वीकार किया। अब उन्होंने चारों ओर घूम-घूम कर राजा से लेकर रंक तक सभी प्रकार के व्यक्तियों को अपना अनुयायी बनाना शुरू किया। इन व्यक्तियों में सारीपुत्र तथा मौदगल्यायन, उपाली, सेठ अनाथपिंडक तथा अजातशत्रु अधिक प्रसिद्ध थे। राजगृह के अतिरिक्त बुद्ध ने गया, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों का भी भ्रमण किया। कोशल में अनार्थपिंडक के सहयोग तथा सहायता से उन्हें वहां अपना पैर जमाने का अच्छा मौका मिल गया। उसने अपार धन खर्च करके बुद्ध के लिए श्रावस्ती में जेतवन नामक एक विहार बनवा दिया। राजा प्रसेनजीत ने उनके उपदेशों को ध्यान से सुना।

नोट

एक बार बुद्ध कपिलवस्तु भी गये और अपने परिवार के अनेक सदस्यों को जिसमें उनका पुत्र राहुल तथा विमाता महाप्रजापति गौतमी सम्मिलित थीं, अपना अनुयायी बनाया। वैशाली में भी बुद्ध ने कुछ समय बिताया। वहीं पर उन्होंने गौतमी के अनुरोध करने पर भिक्षुणियों का एक संघ बनाने की आज्ञा दे दी। मल्ल लोगों ने बुद्ध के उपदेशों का स्वागत नहीं किया, फिर भी कुछ मल्ल उनके शिष्य हो गये। कौशाम्बी के राजा उदयन ने भी प्रारम्भ में बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति विशेष रूचि नहीं दिखलायी। उसकी एक रानी अवश्य उनकी शिष्या हो गयी। पश्चिम में बुद्ध मथुरा तक गये। अवन्ति के राजा प्रद्योत ने भी एक बार उन्हें आमंत्रित किया किन्तु वहां वे न जा सके। अपने एक शिष्य को उन्होंने भेजा, जिसने अवन्ति में कुछ लोगों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी।

इस प्रकार चौआलीस वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार करके तथा अजातशत्रु, उदयन, प्रसेनजीत आदि अनेक राजाओं, राजकुमारों, सेठ-साहूकारों तथा साधारण वर्ग के व्यक्तियों को बौद्ध मतावलम्बी बना कर हिरण्यवती नदी के तट पर कुशीनगर के समीप अस्सी वर्ष की आयु में 483 ईसवी पूर्व में उन्होंने "महापरिनिर्वाण" प्राप्त किया। उनके शरीर की भस्मी को आठ जातियों ने आपस में बाँट कर उन पर अलग-अलग स्तूप बनवाया। कुशीनगर में जिस स्थान पर महात्मा बुद्ध को महापरिनिर्वाण प्राप्त हुआ था वहां उनकी एक विशाल मूर्ति की स्थापना की गयी। यह मूर्ति आज भी विद्यमान है। कुशीनगर भी बौद्धों का एक अति पवित्र तीर्थ स्थान है। वहां जाकर बौद्ध यात्री महात्मा बुद्ध की विशाल मूर्ति तथा महापरिनिर्वाण स्थल के दर्शन करते हैं। कपिलवस्तु के समीप ही साल वृक्षों के वन में लुम्बिनी वन नामक स्थान भी, जहां महात्मा बुद्ध ने जन्म लिया था, बौद्धों के लिए अति पवित्र स्थल बना हुआ है।

बुद्ध की शिक्षाएँ और उपदेश

गौतम बुद्ध के सिद्धांतों को समझने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि ये ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे, आत्मा को नित्य नहीं मानते थे, किसी ग्रन्थ को स्वत: प्रमाण नहीं मानते थे तथा जीवन प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित नहीं मानते थे। महात्मा बुद्ध ने सामाजिक ऊँच-नीच के प्रतिबन्धों का कट्टरतापूर्वक खण्डन किया। उन्होंने छुआछूत की भावना को अत्याचारपूर्ण बतलाया। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र लोगों और उनसे भी निकृष्ट जातियाँ, यहाँ तक कि वेश्याओं को भी अपना शिष्य बनाया। उनका कथन था कि विशेष माता के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण में उसे ब्राह्मण नहीं कहूँगा। इस सम्बन्ध में बुद्ध से भेंट करने के लिए आये हुए दो ब्राह्मण को महात्मा बुद्ध ने किसी व्यक्ति को जन्म से अथवा कर्म से ब्राह्मण होने के सम्बन्ध में जो उपदेश दिये उसका सारांश हम निम्नांकित शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। यह कथा हमें बौद्ध साहित्य में विस्तार से मिलती है–"वह व्यक्ति जिसकी किसी वस्तु पर ममता नहीं है, जिसके पास कुछ नहीं है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जो भी व्यक्ति क्रोधरहित, सत्याभिलाषी, सत्कर्म करने वाला और इन्द्रियों को पूर्ण निग्रह करने में समर्थ है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा।" उनके कथन का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से न तो कोई ब्राह्मण हो सकता और न ही वह ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न न होने के कारण अब्राह्मण हो सकता है। उनका ब्राह्मण होने का करण एकमात्र कर्म ही है।

महात्मा बुद्ध के उपदेशों का मूल मंत्र अहिंसा था। वह केवल यज्ञानुष्ठानों में पशुबलि का ही कठोर विरोध न करते थे वरन् जीवों का किसी रूप में भी प्रतिपादित करके उन्हें हानि पहुँचाने को भी हिंसा समझते थे और उसका प्रबल विरोध करने के लिए ही उन्होंने अपने अष्टांगिक मार्ग का दिग्दर्शन कराया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'वासत्य' नामक ब्राह्मण को उपदेश देते हुए यह स्पष्ट किया था कि यदि एक त्रयी विद्या का पूर्ण निष्णात ब्राह्मण उस विद्या के गुणों को सदाचार में सन्निविष्ट नहीं करता है, अब्राह्मण का कार्य करता है परन्तु मुख से यह प्रार्थना करता है–मैं ब्रह्मा प्रजापति का आह्वान करता हूँ, मैं इन्द्र का आह्वान करता हूँ, मैं महेश और यम को बुलाता हूँ तो क्या वे उसके पास सजीव मूर्तिमान होकर चले आयेंगे? वस्तुत: ऐसी प्रार्थना में न कोई लाभ ही है और न कोई कर्त्तव्य पालन ही है।

बुद्ध विचारस्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने लोगों को अन्धानुकरण के स्थान पर स्वयं उचित-अनुचित पर विचार करने की अनुमति दी। उनका कहना था कि कोई भी व्यक्ति उनके धर्म का अन्धानुकरण नहीं करे वरन् तर्क की कसौटी पर यदि बौद्ध धर्म खरा उतरे तभी उसका अनुयायी बने। महात्मा बुद्ध बुद्धिवादी थे तथा अन्धविश्वास का उनके धर्म में कोई स्थान नहीं था।

नोट

चत्वारि आर्य सत्यानि–गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का निरूपण इस प्रकार किया : (1) दुख (2) दुख समुदाय, (3) दुखनिरोध और (4) दुखनिरोधगामी आष्टांगिक मार्ग।

दुख–बुद्ध का कहना था कि यह संसार दुखों का आगार है। संसार में दुख ही दुख है–'सर्वे दुखं दुखम'। संसार में आकर प्रत्येक व्यक्ति को दुख भोगना पड़ता है। बुद्ध ने कहा "जन्म भी दुख है, बुढ़ापा भी दुख है, मरण, शोकरूदन, मन की खिन्नता, हैरानी दुख है। अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग भी दुख है। इच्छा करके नहीं पाना–वह भी दुख है।" इस नश्वर संसार में जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी निश्चित है। अत: इस संसार में आकर दुखों से निवृत्ति नहीं हो सकती। एक न एक दुख मनुष्य को भोगना ही पड़ता है।

दुख समुदाय–बुद्ध ने संसार के लोगों को केवल दुख का ही बोध नहीं कराया बल्कि उसका समुदाय (कारण) भी बतलाया। संसार में जिन दुखों का मनुष्य अनुभव करता है उनका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इस प्रकार मृत्यु का कारण जन्म है। यदि आत्मा को नया शरीर धारण करने से मुक्ति मिल जाये तो उसे मृत्यु का दुख न भोगना पड़े। जिस प्रकार अनुभवी वैद्य रोग दूर करने के पहले कारण ढूंढ निकालता है वैसे संसारव्यापी दुख का कारण भी बुद्ध ने खोज निकाला। उनके अनुसार सांसारिक दुखों का मुख्य कारण तृष्णा है। इसी तृष्णा से अहंकार, ममता, राग, द्वेष, कलह आदि दुख उत्पन्न होते हैं। मनुष्य अनेक इच्छाएं करता है जिनमें से कुछ इच्छाएं अपूर्ण रह जाती है। इसी कारण उसको दुख होता है। यदि इच्छाओं का दमन कर दिया जाये तो दु:ख से छुटकारा मिल सकता है।

दुख निरोध–जो दुख मनुष्य प्राप्त करता है उनका निरोध अथवा निवारण या शमन भी किया जा सकता है। यदि दुख का कारण ही न रहे तो दुख अपने आप ही दूर हो जायगा। अविद्या के नाश से ज्ञान प्राप्त होता है और उसी ज्ञान को निर्वाण कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य को जीवन में ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है किन्तु निर्वाण का अर्थ अकर्मण्य होना नहीं है। राग, द्वेष तथा मोह से रहित होकर ज्ञानवान व्यक्ति यदि कर्म करता है तो भी वह बन्धनों में नहीं फंस सकता तथा अन्त में उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है और आवागमन के चक्कर से मुक्ति मिल जाती है। सम्पूर्ण तृष्णाक्षय और दुख रहित अवस्था का नाम निर्वाण है।

दुख निरोधगामी अष्टांगिक मार्ग–दुख निरोध के अष्टांगिक मार्ग का प्रथम उपदेश गौतम बुद्ध ने अपने पाँच साथियों को दिया था जो धर्मचक्र प्रवर्तन के नाम से विख्यात है। बुद्ध ने यह मत प्रतिपादित किया कि तृष्णा, वासना या इच्छा ही दुख का मूल कारण है और इससे छुटकारा पाने के लिए इन्हें दबाना परम आवश्यक है। मृत्यु भी दुख के बन्धन को नहीं काट पाती है क्योंकि वासना और कर्म के कारण मानव जीवन को आवागमन के चक्कर में सदा पड़ा रहना पड़ता है। अतएव तृष्णा के दमन के हेतु बुद्ध ने आठ मार्गों का प्रतिपादन किया। इसे अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। इस मार्ग में निम्न आठ बातें आती हैं : सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। इसमें प्रथम दो ज्ञान, अन्य तीन शील तथा अन्तिम तीन समाधि के अन्तर्गत आते हैं। अष्टांगिक मार्ग का पूर्ण विवेचन इस प्रकार है–

(1) **सम्यक् दृष्टि**–बुद्ध ने चार आर्य सत्यों की घोषणा की थी अर्थात् दुख, दुख का कारण, दुख का दमन तथा दुख के दमन के उपाय। इन चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त करना सम्यक् दृष्टि कहलाती है।

(2) **सम्यक् संकल्प**–सभी प्रकार के भोगविलास और सांसारिक सुखों की कामनाओं का त्याग करना तथा अपने आपको सुधारने का संकल्प करना सम्यक् संकल्प कहलाता है। इसके लिए सांसारिक वस्तुओं, सगे-सम्बन्धियों और मित्र आदि का मोह त्यागना तथा दूसरों को हानि पहुँचाने से बचने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(3) **सम्यक् वाक्**–सदैव सत्य बोलना और अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर झूठ बोलने से बचना ही सम्यक् वाक् अथवा सम्यक् वचन कहलाता है। किसी की निन्दा न करने, कठोर वचनों का प्रयोग न करने और अपशब्दों को मुख से न निकालने देने से सम्यक् के पालन में बड़ी सहायता मिलती है।

(4) **सम्यक् कर्म**–इसका तात्पर्य शुभ कर्म करना है। मनुष्य को अच्छे-अच्छे काम करने चाहिए और बुरे तथा निन्दनीय कर्मों जैसे–चोरी, जुआ खेलना आदि का त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार का प्रयत्न करते-करते मनुष्य सदाचारी बन जाता है और अहिंसाप्रिय तथा जितेन्द्रिय कहलाने लगता है।

नोट

(5) **सम्यक् आजीव**—मनुष्य को अपनी जीविका कमाने में पूर्णरूप से ईमानदारी का व्यवहार करना चाहिये। जीविका कमाते समय ऐसे कर्मों से बचना चाहिये, जिनसे दूसरों को हानि पहुँचने की सम्भावना हो और जिसमें हिंसा का भी मिश्रण हो।

(6) **सम्यक् व्यायाम**—सम्यक् व्यायाम का तात्पर्य सम्यक् उद्योग से है। मनुष्य को कुविचारों और दुष्ट प्रवृत्तियों के दमन और सद्विचारों एवं सद्वृत्तियों को पुष्पित तथा पल्लवित करने के लिए सदा सदुद्योग करते रहना चाहिये।

(7) **सम्यक् स्मृति**—इसका तात्पर्य उन सभी अच्छी-अच्छी बातों को याद रखना है जिन्हें कोई महात्मा बुद्ध के उपदेशों द्वारा ग्रहण कर चुका है। उसे सदा अपने मन, वचन, कर्म और कार्यों पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिये, जिससे वह पथभ्रष्ट न हो सके।

(8) **सम्यक् समाधि**—इसका तात्पर्य मन को एकाग्र कर ब्रह्म में लीन होना और परमानन्द की प्राप्ति है। इसकी चार अवस्थाएं हैं। इन चारों अवस्थाओं को पार करके ही मनुष्य निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसकी प्रथम अवस्था में मनुष्य अपने मन को शुद्ध करने के लिए शुद्ध एवं पवित्र विचारों में लीन होने के निमित्त प्रयत्नशील रहता है। द्वितीय अवस्था उस समय आती है जब मनुष्य का हृदय शुद्ध होकर महात्मा बुद्ध के बतलाये चार आर्य सत्यों में पूर्ण रूप से आस्था रखने लगता है।

अनिश्वरवाद—बुद्ध मूलत: अनिश्वरवादी थे। ईश्वर के अस्तित्व और उसकी सत्ता में उनका विश्वास नहीं था। अपने उपदेशों में प्राय: कहा करते थे कि इस सृष्टि की रचना ईश्वर जैसी किसी शक्ति द्वारा नहीं की गयी है और न ईश्वर नाम की कोई वस्तु इस दुनिया में है। संसार की उत्पत्ति 'प्रतीत्य समुत्पाद' के नियम के अनुसार हुई है। इस नियम का आधार कोई कार्य तथा कारण की श्रृंखला मात्र है, अर्थात् कारण के आधार पर कोई कार्य किया जाता है और वह किया हुआ कार्य दूसरे कार्य की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। इसी प्रकार एक कार्य से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा कार्य उत्पन्न होता रहता है और कार्य तथा श्रृंखला में ही सम्पूर्ण सृष्टि के कार्य चलते रहते हैं।

अनात्मवाद—आत्मवाद उपनिषदों के चिन्तन का मुख्य आधार था और बुद्ध के समय में भी इस सिद्धांत का व्यापक प्रचार था। आत्मवादियों का विश्वास था कि हर प्राणी में आत्मा नाम का एक अजर-अमर तत्व है जो शरीर के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता। बुद्ध ने इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि विश्व आत्मा से शून्य है। मनुष्य में कोई ऐसा तत्व नहीं है जो अविनाशी हो। जिस वस्तुओं के योग से मनुष्य बनता है वे सब नाशवान हैं। वे कहा करते थे कि जिस प्रकार पहिया, धुरी आदि विभिन्न पुर्जों को जोड़कर कारीगर गाड़ी बनाता है उसी प्रकार हमारे इस शरीर की रचना भी विभिन्न अंगों के संयोग से हुई है और उसी प्रकार मनुष्य की बोलचाल, कार्य और विचार भी संस्कार, संज्ञा, स्वरूप, संवेदना और विज्ञान रूपी पाँच समूह द्वारा सम्पन्न होते हैं। जिस प्रकार गाड़ी के अलग-अलग कर देने पर उन पुर्जों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती है, उसी प्रकार शरीर में उन तत्वों के अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई अलग तत्व नहीं है।

कर्मवाद तथा पुनर्जन्मवाद—बुद्ध अनात्मावादी होते हुए भी कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों को मानते थे। उनका कहना था कि पुनर्जन्म तो होता है परन्तु आत्मा का नहीं वरन् मनुष्य के अहंकार का होता है। यह बारम्बार जन्म लेने की क्रिया कर्मवाद और प्रतीत्य समुत्पाद के नियमों के अधीन होती है। तृष्णा के तृप्त होने पर भी अतृप्तता का अनुभव करने से ही अहंकार उत्पन्न होता है और इस अंहकार के कारण ही पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। अतएव, निर्वाण के लिए तृष्णा का परित्याग परम आवश्यक है।

निर्वाण—बुद्ध सम्पूर्ण विश्व को क्षणिक मानते थे। उनका कहना था कि सभी चीजें परिवर्तनशील हैं जो निरन्तर बदलती रहती हैं। केवल प्रवाह के रूप में वे स्थायी दिखायी पड़ती हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या विश्व में कुछ स्थायी भी है? कोई ऐसी भी स्थिति है जिसमें दु:ख नहीं है? बुद्ध ने बतलाया कि निर्वाण की स्थिति स्थायी और दु:ख से रहित है, किन्तु बुद्ध ने निर्वाण का अर्थ स्पष्ट नहीं किया। इसीलिए, अनेक आधुनिक विद्वानों के अनुसार निर्वाण वह अवस्था है जिसमें सब कुछ नष्ट हो जाता है। केवल भौतिक शरीर ही समाप्त नहीं हो जाता बल्कि चेतना और विचार तत्व भी लुप्त हो जाते हैं। निर्वाण का कोई विशेष स्थान नहीं है। वह कहीं भी और किसी

नोट

भी समय प्राप्त किया जा सकता है। इस जीवन में भी मनुष्य को निर्वाण मिल सकता है। उसे साधारण निर्वाण कहा जा सकता है। मृत्यु के बाद जो निर्वाण मिलता है उसे परिनिर्वाण कहेंगे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. महात्मा बुद्ध का जन्म 563 ई.पू. के लगभग कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी नामक एक उद्यान में हुआ था।
9. महावीर ने कहा "जन्म भी दुख है, बुढ़ापा भी दुख है, मरण, शोकरुदन मन की खिन्नता, हैरानी दुख है। इच्छा करके नहीं पाना भी दुख है।"
10. बुद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को मानते थे।
11. बुद्ध धर्म को संगठित रखने के लिये बौद्धों की चौथी सभा अजातशत्रु के शासनकाल में हुई थी।

मध्यम मार्ग–बुद्ध का धर्म मध्यम मार्ग पर आधारित है। उन्होंने बतलाया कि दो अन्तों से बचकर रहना चाहिए–कठोर तप तथा अत्यधिक भोग विलास। इन दोनों के बीच की स्थिति (मध्यम प्रतिपदा) श्रेयष्कर है। इस मार्ग का प्रतिपादन उन्होंने इस प्रकार किया–"भिक्षुओं, संन्यासी को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनों अन्त कौन से हैं? एक तो काम और विषय सुख में फंसना जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य (गंवारू), अनार्य और अनर्थकर हैं, और दूसरा शरीर को व्यर्थ में अति कष्ट देना जो अनार्य और अनर्थकर हैं। इन दोनों अन्तों को त्यागकर तथागत (बुद्ध) ने मध्यम प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को ग्रहण किया है जो आँखे खोलने वाली और ज्ञान को देने वाली है।"

बुद्ध ने वीणा का उदाहरण देकर अपने इस मार्ग का और भी स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया। जैसे वीणा के तारों को यदि बहुत ढीला कर दिया जाये तो वह बजेगी नहीं और यदि उसे अधिक कस दिया जाये तो तार टूटने का डर है। इसी प्रकार न तो भोग विलास का ही जीवन सुखकर है और न कठिन तपस्या का। सम जीवन ही अच्छा है।

दस शील–बुद्ध के नैतिक उपदेशों में शील पर बहुत जोर दिया गया है। नैतिक आचरण के लिए निम्नलिखित दस शीलों का पालन करना आवश्यक बतलाया गया है–(1) दूसरों की सम्पत्ति की चाह न करना, (2) हिंसा न करना, (3) झूठ न बोलना, (4) मादक द्रव्यों का सेवन न करना, (5) व्यभिचार न करना, (6) गाने बजाने में भाग न लेना, (7) सुगन्धित पदार्थों, फूलों आदि का प्रयोग न करना, (8) कुसमय भोजन न करना, (9) आराम देने वाली चारपाई पर न सोना और (10) रुपया पैसा न ग्रहण करना और न रखना।

उपर्युक्त नैतिक शिक्षाओं के अतिरिक्त बुद्ध ने सभी व्यक्तियों को माता-पिता की आज्ञा पालन करने, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, आदर और मान प्रकट करने, सत्पात्रों को दान देने, प्रेम और उदारतापूर्ण व्यवहार करने, किसी प्रकार का नशा न करने और प्राणीमात्र के साथ सद्व्यवहार करने का भी उपदेश दिया।

बुद्ध के बाद बौद्धधर्म

इस सिद्धांतों का प्रचार महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन पर्यन्त किया तथा उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उनके संघ के भिक्षुओं ने भारत के कोने-कोने में इन सिद्धांतों को प्रसारित करने का काम जारी रखा। बुद्ध के सिद्धांतों के उपरोक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि बौद्धधर्म को पनपने का काफी अवसर था क्योंकि हिन्दुओं के लिए बौद्ध सिद्धांतों में अनेक ग्राह्य थे। बौद्धधर्म के सीधे-सादे सरल सिद्धांतों को जनता आसानी से समझ सकती थी और इनका अनुसरण भी कर सकती थी। बुद्ध ने जनसाधारण की भाषा में अपने धर्म का प्रसार किया, जिससे बहुत शीघ्र ही यह धर्म सम्पूर्ण भारत में प्रसारित हो गया।

प्रथम बौद्ध सभा–महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्धधर्म के ग्रंथों का संकलन करने अथवा संघ की व्यवस्था करने के लिए समय-समय पर बौद्ध सभाओं के अधिवेशन होते रहे। मृत्यु-शय्या पर अपने प्रिय शिष्य आनन्द को बुलाकर महात्मा बुद्ध ने आदेश दिया था कि "मेरे मरने के पश्चात् जो सिद्धांत मैंने इस जीवन में प्रतिपादित किये हैं वे ही तुम्हारा पथ प्रदर्शन करेंगे।" बौद्धधर्म वैदिक धर्म की बुराइयों के प्रति एक प्रतिक्रिया थी लेकिन समय के

नोट

साथ-साथ इसमें कई तरह के परिवर्तन आने लगे। इन समस्याओं पर विचार करने के लिए बुद्ध की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद 487 ई.पू. में राजगृह के निकट सतपन्नी में बौद्ध मतावलम्बियों की प्रथम बौद्ध सभा हुई जिसमें लगभग पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया। यहाँ बुद्ध के भाषणों, वार्तालापों और प्रवचनों को संकलित किया गया और उन्हें कई श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया। इन संकलनों को अधिकारिक ग्रंन्थों का रूप दिया गया। बुद्ध की शिक्षाओं को दो भागों में बाँट दिया गया और ये दोनों भाग **विनयपिटक** तथा **धम्मपिटक** के नाम से पुकारे गये।

बौद्धधर्म के त्रिपिटक में सुत्तिपिटक, विनयपिटक और धम्मपिटक आते हैं। सुत्तपिटक में बौद्धधर्म के धार्मिक सिद्धांत प्राप्त होते हैं। विनयपिटक में बौद्ध संघ का संगठन तथा भिक्षुओं के नियमों का वर्णन उपलब्ध होता है तथा अभिधम्मपिटक में इन सिद्धांतों की आध्यात्मिक विवेचना मिलती है। सुत्तपिटक में ही जातक कथाओं का संकलन है।

द्वितीय सभा–बुद्ध की मृत्यु के एक सौ वर्ष पश्चात् 387 ई.पू. में बौद्धों की दूसरी सभा हुई। वैशाली के बौद्ध भिक्षुओं ने कुछ ऐसी प्रथाओं को मान लिया था जो विनयपिटक से विपरीत थीं। फलतः बौद्ध मठों में एक भारी विवाद उठ खड़ा हुआ और बौद्ध भिक्षु स्थविर तथा महासंघिक भागों में विभक्त हो गये। इनमें से स्थविर परिवर्तन विरोधी और महासंधिक परिवर्तन पक्षीय हो गये।

तृतीय सभा–बौद्धों की तीसरी सभा अशोक के राजत्वकाल में पाटलिपुत्र में हुई थी। इस सभा द्वारा प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथों को फिर से विभाजित कर एक नये ग्रंथ की वृद्धि की गयी। इस बार बुद्ध के प्रामाणिक ग्रंथों को इस दृढ़ता से निश्चित किया गया कि इन्हें पुनः भंग करने का अवसर न मिले और संघ में फूट डालने वालों को दण्ड मिल सके। इन नियमों के द्वारा एक बार पुनः बौद्धभिक्षुकगण धर्मप्रचार में उत्साह लेने लगे। इस सभा का दूसरा प्रमुख कार्य था कि एक नवीन पिटक–अभिधम्मपिटक का निर्माण। इस पिटक में प्रथम दो पिटकों की दार्शनिक व्याख्या की गयी है। इस प्रकार बौद्धों के प्रसिद्ध त्रिपिटक का निर्माण इसी काल में होता है।

चतुर्थ सभा–बुद्ध धर्म को संगठित रखने के लिए बौद्धों की चौथी सभा कनिष्क के शासनकाल में हुई थी लेकिन इन सभाओं के बावजूद कालान्तर में बौद्धधर्म स्पष्टतः दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। एक था महायान और दूसरा हीनयान सम्प्रदाय। ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्थ सभा में बौद्ध सम्प्रदायों में काफी वाद-विवाद हुआ। इस सभा में तीनों पिटकों के तीन महाभाष्य रचित हुए तथा महायान धर्म की प्रधानता घोषित की गयी। इसी समय से उत्तरी भारत में महायान धर्म का प्रचार हुआ। महायान सम्प्रदाय ने मूर्तिपूजा को बौद्धधर्म में प्रचलित किया, किन्तु हीनयान सम्प्रदाय बुद्ध के मार्गों पर चलता रहा। धीरे-धीरे उत्तरी भारत से हीनयान सम्प्रदाय का बिल्कुल लोप हो गया तथा भारत के दक्षिणी भागों में और विदेशों में भी हीनयान सम्प्रदाय का ही प्रचार हुआ।

बौद्ध संघ–बौद्धधर्म के प्रचार के लिए महात्मा बुद्ध ने सुसंगठित संघ का निर्माण किया था, जहाँ पर गृहत्याग करके व्यक्ति भिक्षुकों का जीवन व्यतीत करते थे तथा जीवन भर बौद्धधर्म के सिद्धांतों का प्रचार करते थे। बुद्ध के दो तरह के अनुयायी थे–उपासक और भिक्षु। बुद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया था कि भिक्षु बने बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जब तक व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं का त्याग नहीं करता तब तक निर्वाण प्राप्ति असम्भव है। इस प्रकार बौद्धधर्म में संघ की महत्ता पर अत्यधिक जोर दिया गया। संघ के भिक्षु बड़े ही त्यागी और संयमी होते थे। वे भिक्षाटन द्वारा अपना पेट भरते थे और बहुत ही कम वस्त्र धारण करते थे। प्रारम्भ में वे लोग गुफाओं या जंगलों में निवास करते थे, पर बाद में कुछ अनुयायियों ने उनके लिए विहारों का निर्माण करा दिया जो भिक्षुकों का निवास स्थान होता था।

संघ में प्रवेश करने के लिए निश्चित व्यवस्था थी। पन्द्रह वर्ष की आयु से अधिक के व्यक्ति को माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करके संघ में प्रविष्ट होने की अनुमति मिल जाती थी। तत्पश्चात् उसे अपने बाल तथा मूंछ दाढ़ी मुंडवानी पड़ती थी, गेरुआ वस्त्र धारण करना पड़ता था तथा बौद्ध धर्म और संघ के प्रति निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती थी–"बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, सघं शरणं गच्छामि।" तत्पश्चात् भिक्षु के लिखे गये दस आदेशों को दुहराना पड़ता था और वह एक भिक्षु का शिष्य बन जाता था जो उसको बौद्धधर्म ग्रन्थों तथा सिद्धांतों के विषय में समझाता था। जब वह सम्पूर्ण सिद्धांतों से परिचित हो जाता तब एक परिषद् के सम्मुख उपस्थित किया जाता था जिसमें कम से कम दस भिक्षुक होते थे। जब वे लोग सर्वसम्मति से स्वीकृति दे देते तभी वह भिक्षुक बनता था और

नोट

उसको संघ का अनुशासन मानना पड़ता था। अनुशासन भंग करने पर भिक्षुक को दण्ड देने का अधिकार भी संघ के सदस्यों को ही था। संघ की सभा में दस भिक्षुकों का होना अनिवार्य होता था तथा स्त्री भिक्षुणियां और नवीन भिक्षुक को इस संस्था में सम्मिलित नहीं किया जाता था। वह सभा बहुमत द्वारा अपराधी भिक्षुक को दण्ड दे सकती थी। इस प्रकार संघ की व्यवस्था गणमंत्रात्मक थी जहाँ बहुमत का ध्यान हमेशा रखा जाता था। प्रत्येक संघ में संघ का सभापति हर पन्द्रहवें दिन महात्मा बुद्ध के आदेश पढ़कर सुनाता था। भिक्षुकों को निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं होता था।

टास्क जैन एवं बौद्ध धर्म के पतन के कारणों पर चर्चा करें।

संघ में भिक्षु एवं भिक्षुणियों के लिए कठोर नियम थे तथा उन सभी नियमों का उनको पालन करना पड़ता था। मादक द्रव्य, सम्पत्ति, सुवासित वस्तुएँ आदि इनके लिए वर्जित थीं। वर्ष में आठ महीने तो भिक्षु संघ के बाहर ही रहते थे तथा घूम-घूम कर बौद्धधर्म के सिद्धांतों का प्रचार करते थे। वर्षा ऋतु में चार माह तक संघों में निवास करते थे। उस समय बौद्ध धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया जाता था तथा इनके द्वारा अनेक शंकाओं का समाधान करने का अवसर मिलता था। इस संघ के द्वारा भिक्षुओं की नि:स्वार्थ सेवा, त्याग तथा धर्म प्रचार के कारण ही बौद्ध धर्म का विकास इतना शीघ्र सम्भव हो सका।

बौद्ध संघों ने भारतीय संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। ये संघ धर्म प्रचार के ही नहीं वरन् शिक्षा प्रचार के भी केन्द्र थे। दूर-दूर से आने वाले जिज्ञासुओं की ज्ञान पिपासा को शांत करने का यहाँ प्रयास किया जाता था। इस संघ ने अनेक विद्वानों को जन्म दिया जिनके द्वारा साहित्य के भंडार में वृद्धि हुई।

लेकिन, संघप्रथा के कतिपय दोष भी थे। इसका सबसे बड़ा दोष एक केन्द्रीय सत्ता का अभाव था। भारत में हजारों की संख्या में संघ थे किन्तु उनके ऊपर कोई ऐसी सत्ता नहीं थी जो उन सबका संचालन एवं संगठन रख सके। सारे संघ स्वतंत्र थे। इसी का परिणाम हुआ कि किसी संघ में यदि कुछ परिवर्तन भी हो जाये तो अन्य संघों को इसका समाचार नहीं मिल सकता था और यह भी सम्भव था कि अन्य संघ उस परिवर्तन को स्वीकार न करें। परिणामस्वरूप, संघों ने बौद्धधर्म को अनेक सम्प्रदायों में विभक्त कर दिया।

हीनयान एवं महायान सम्प्रदाय

जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे बौद्धधर्म में कई परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे और सिद्धांतों में भिन्नता आने लगी। इस कारण कालान्तर में बौद्धधर्म स्पष्टता दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। एक था महायान और दूसरा था हीनयान।

महायान सम्प्रदाय का अभ्युदय कनिष्क के शासनकाल में ही हुआ। बौद्धधर्म की यह शाखा हीनयान शाखा से भिन्न थी। बात ऐसी हुई कि बौद्ध सुधारकों ने अपने धार्मिक नियमों और सिद्धांतों की कठोरता को कम करने का प्रयास किया ताकि जनसाधारण सरलतापूर्वक बौद्धधर्म का आलिंगन कर सके। लेकिन जो लोग कट्टर बौद्ध थे वे किसी भी तरह के परिवर्तन के विरोधी थे। अत: मतभेद की खाई चौड़ी होने पर कट्टर अपरिवर्तनशील बौद्धों का परिवर्तन चाहने वाले नरम प्रकृति के बुद्ध मत प्रचारकों से पृथक्करण हो गया, जिससे बौद्ध धर्म प्राचीन कठोर मार्ग पर अनुसरण करने वाले कट्टर अपरिवर्तनशील बौद्धों के हीनयान तथा परिवर्तन के इच्छुक बौद्धों के महायान नामक दो प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इस प्रकार महायान सम्प्रदाय मूलत: बौद्धधर्म में संशोधनवाद का रूप था। यद्यपि यह दोनों सम्प्रदाय एक ही धर्म की दो शाखाएं हैं, परन्तु उनमें कई भेद दृष्टिगोचर होते हैं।

हीनयान और महायान में अन्तर–बौद्धधर्म के इन दोनों सम्प्रदायों में गहरा मतभेद है। हीनयान सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध को मानव मानकर धर्म के शुद्ध एवं प्रारम्भिक रूप को स्वीकार किया गया था। अतएव, इसमें मूर्ति पूजा, बुद्ध की प्रार्थना, कर्म कांड और अवतारवाद के लिए कोई स्थान नहीं था। इसमें भावनाओं को मान्यता नहीं दी गयी थी। फलत: यह सम्प्रदाय अधिक अनुदार, कठोर तथा संकुचित दृष्टिकोण का व

नोट

अनात्मवादी था। इस सम्प्रदाय में इच्छाओं के दमन को ही मोक्ष प्राप्ति का सहज मार्ग माना जाता था। इसके धर्म ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे गये थे। स्याम, लंका, बर्मा देशों में इसी मत का प्रचार हुआ।

इसके विपरीत महायान सम्प्रदाय में महात्मा बुद्ध को दिव्य आत्मा, ईश्वर, ईश्वर का अवतार तथा भगवान मानकर उसके प्रति भक्ति प्रदर्शित की जाती और उनकी पूजा की जाती थी। बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी प्रतिष्ठा की जाती थी। धीरे-धीरे इस सम्प्रदाय ने मन्दिर बनाकर उसमें बौद्ध की मूर्तियाँ स्थापित कीं और उनके सम्मुख भेंट, उपहार आदि के रूप में मूल्यवान पदार्थ चढ़ाने की प्रथा प्रचलित होने लगी। इस प्रकार सम्प्रदाय में मूर्ति पूजा, कर्मकाण्ड, देवमण्डल और अवतारवाद का महत्त्व प्रदान किया जाने लगा, जिससे यह सम्प्रदाय भावना प्रधान, आत्मवादी और उदार दृष्टिकोण से युक्त हो गया तथा धर्म के निकट सम्पर्क में आने लगा। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे जाने लगे। पार्श्व, अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र आदि उच्च कोटि के विद्वान तथा कनिष्क जैसे महाप्रतापी एवं शक्तिशाली सम्राट उस सम्प्रदाय का पोषण और समर्थन करने लगे। चतुर्थ बौद्धधर्म की संगति में भी इसी मत को मान्यता प्रदान की गयी थी। इस मत का प्रचार तिब्बत, चीन, जापान और मध्य एशिया में अधिक हुआ था। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या करोड़ तक जा पहुँची और इसकी गणना संसार के प्रमुख धर्मों में की जाने लगी। महायान के धर्म प्रचारक भिक्षु और भिक्षुणियां जनता को समझाया करते थे कि बुद्ध ने केवल स्वयं ही मोक्ष प्राप्त नहीं किया वरन् उन्होंने संसार के सभी प्राणियों को निर्वाण प्राप्ति का सरल मार्ग बताया है। उन्होंने संसार के दुखी और आवागमन के फेर में पड़े हुए व्यक्तियों के दुख दूर करके उन्हें सुखी और मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बनाना ही अपने जीवन का परम लक्ष्य बनाया।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि हीनयान सम्प्रदाय केवल अपनी उन्नति और उद्धार पर बल देता है जबकि महायान अपने उद्धार के साथ-साथ दूसरों के उद्धार के लिए भी प्रयत्नशील था। हीनयान प्राचीन नियमों को ज्यों का त्यों मानता है जबकि महायान उनमें संशोधन करके उन्हें सरल बनाकर साधारण व्यक्तियों के पालन करने योग्य बनाता है।

बौद्धधर्म का प्रचार और उसकी सफलता

प्राचीनकाल में बौद्धधर्म का बहुत अधिक और शीघ्र प्रचार हुआ। गौतम बुद्ध को अपने जीवनकाल में ही अपने सिद्धांतों को फैलाने में अपूर्व सफलता मिली। बाद में इस धर्म का खूब प्रचार-प्रसार हुआ और यह शीघ्र ही न केवल भारत का वरन् एशिया के अधिकांश पूर्वी एवं उत्तर दक्षिणी क्षेत्र का एक अत्यन्त ही लोकप्रिय धर्म हो गया। इस समय भी देश-विदेश में इस धर्म के अनुयायी बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। बौद्धधर्म की सफलता और लोकप्रियता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

धार्मिक सरलता–यह कहना अनुचित नहीं कि भारत में बौद्धधर्म का उदय एक धार्मिक क्रांति के फलस्वरूप था। वह धार्मिक क्रांति वैदिक धर्म के कर्मकाण्डों और पुरोहितों के प्रभाव के विरुद्ध हुई थी। जिस समय बौद्धधर्म का अभ्युदय हुआ उस समय की सामाजिक तथा धार्मिक स्थितियाँ उसके अनुकूल थीं। वैदिक धर्म काफी पुराना हो चुका था। उसमें पहले जैसी सरलता, स्वाभाविकता और पवित्रता नहीं रह गयी थी। प्रारम्भ में यज्ञादि अनुष्ठानों में इतना आडम्बर नहीं था लेकिन बाद में धार्मिक कर्मकांड को ही साध्य समझा जाने लगा। लोग सदाचार को भूलकर कर्मकांड की बीमारियों में दिमाग खपाने लगे। यज्ञों तथा बलिदानों में ऐसी जटिलता आ गयी थी और उन पर इतना अधिक धन व्यय करना पड़ता था कि ये साधारण व्यक्ति की पहुँच के बाहर की चीज हो गये थे। अतएव, जब बुद्ध ने वैदिक कर्मकांड का विरोध करते हुए ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती देना शुरु किया तो अनेक लोग उनके उपदेशों से प्रभावित हो गये और उनका शिष्य बनना स्वीकार किया। बुद्ध के उपदेश सरल तथा सादा थे। उनका आधार सदाचार था न कि पूजा पाठ। ऐसी दशा में जनता का उनकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि महात्मा बुद्ध ने जीवन की जो व्यवस्था की उसमें किसी प्रकार की दार्शनिक जटिलता अथवा दुर्बोधता का अभाव था। बुद्ध ने सरल और स्पष्ट शब्दों में समझाया कि मानव जीवन दुखमय है।

नोट

अतएव, बार-बार जन्म ग्रहण करना दुख का कारण है। मनुष्य की अन्तर्निहित वासनाओं के ही कारण उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है। अतएव उसका कर्त्तव्य है कि वह उन वासनाओं का समूलोन्मूलन करे। इस कार्य के लिए उसे मध्यम पथ का सेवन करना चाहिये। कर्मवाद के सिद्धांत का बुद्ध ने प्रतिपादन किया और बड़े सरल शब्दों में समझाया। उन्होंने मनुष्य को स्वावलम्बी होने का उपदेश दिया। उनके इन उपदेशों में ऐसी कोई बात नहीं है जिसको समझने में कठिनाई का अनुभव करना पड़े। बुद्ध स्वयं बड़े ही सूक्ष्म विचारक थे और उन्होंने अपने सिद्धांतों को जिस रूप में जनता के सम्मुख रखा उससे उनकी प्रतिभा की मौलिकता का परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने अपने सिद्धांतों में आचार और कर्म को अधिक महत्त्व दिया। दार्शनिक सिद्धांतों की सूक्ष्मता और पेचीदगी में वे तनिक भी नहीं पड़े। बुद्ध ने आचारवादिता पर इतना अधिक बल प्रदान किया कि कुछ लोगों की सम्मति में बौद्धधर्म एक धर्म न होकर आचार के कतिपय नियमों का समूह है। वस्तुतः वैदिक धर्म में विकृति तथा विकार उत्पन्न हो जाने के कारण ही बौद्धधर्म का अभ्युदय हुआ था और वैदिक धर्म के दोषों के कारण ही बौद्धधर्म की उन्नति अत्यन्त द्रुतगति से हुई।

बुद्ध का व्यक्तित्व–बौद्धधर्म के प्रचार में महात्मा बुद्ध के चुम्बकीय व्यक्तित्व का बहुत योग था। उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली, तेजस्वी और महान् था। उनका चरित्र इतना सरल और पवित्र था कि जो भी उनके सम्पर्क में आया उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। वास्तव में उन्होंने अपने सिद्धांतों को अपने जीवन में पूर्णरूपेण चरितार्थ करके दूसरों पर अपने विचार की श्रेष्ठता की धाक जमायी। कुछ स्वार्थी लोगों ने उन्हें बदनाम करने का यत्न किया किन्तु उनके चरित्र की उच्चता के सामने उनके सारे यत्न विफल रहे। मनुष्य को चाहिए कि वह क्रोध पर प्रेम से, बुराई पर भलाई से, लोभ पर उदारता से और झूठ पर सच्चाई से विजय प्राप्त करें। अपने इस उपदेश को बुद्ध ने स्वयं अपने जीवन में पूर्णरूपेण निबाहा। तात्पर्य यह है कि बुद्ध के धर्म की लोकप्रियता के और कुछ भी कारण रहें हो किन्तु उनके चरित्र ने अपने आप जनता का दिल जीत लिया। बुद्ध के अद्‌भुत, अलौकिक और महान् व्यक्तित्व ने बौद्धधर्म की उन्नति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया, जिससे उसका उत्थान अति शीघ्र हुआ।

बुद्ध स्वयं एक राजकुमार थे किन्तु उन्होंने राजसुखों को छोड़कर लोककल्याण के लिए सन्यासव्रत ग्रहण कर लिया था। इस कारण सभी बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभावित थे। वो गालियाँ सुनने पर भी मानसिक सन्तुलन बनाये रखते थे। उनकी दृष्टि में मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं था। बौद्धधर्म के प्रचार में इस बात से बड़ी सहायता मिली।

साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग–बुद्ध ने अपने उपदेश साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में दिये। इस समय के सभी धार्मिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखित थे। धार्मिक वाद-विवाद और व्याख्यान आदि सभी संस्कृत भाषा में होते थे। साधारण जनता इस भाषा के प्रति उदासीन हो गयी थी, क्योंकि जनसाधारण की बोलचाल की भाषा पाली थी। बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार पाली में शुरू किया। इससे उन्हें धर्म प्रचार के कार्य में बड़ी सहूलियत मिली। बुद्ध का अभिप्राय अपनी विद्वता दिखाना नहीं था, बल्कि सरल से सरल भाषा में अपने विचारों को रखना था, जिससे प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी विशेष कठिनाई के उन्हें ग्रहण कर सके। किसी बौद्ध ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख मिलता है कि एक बार बुद्ध से किसी ब्राह्मण शिष्य ने प्रश्न किया कि आप संस्कृत में अपने उपदेश क्यों नहीं देते? इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया "मैं गरीबों की भाषा द्वारा गरीबों तक पहुँचना चाहता हूँ।" बुद्ध भली भांति जानते थे कि संस्कृत का प्रयोग केवल सुशिक्षितों में ही प्रचलित है। अतएव, संस्कृत में उपदेश देने से उनके शिक्षाओं का प्रचार केवल थोड़े से पढ़े लिखे व्यक्तियों के बीच ही हो सकेगा। यही कारण है कि उनके विचार बड़े लोकप्रिय सिद्ध हुए। अशिक्षित स्त्री-पुरुष को उन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

तर्कसम्मत धर्म–बौद्धधर्म के उत्थान का प्रमुख कारण उसका तर्कसम्मत होना था। बुद्ध ने अन्धविश्वास का परित्याग करके तर्क को अपनाया। उनकी तर्कपूर्ण धार्मिक विवेचना की सरलता हिन्दू धर्म के बड़े-बड़े दिग्गज महारथियों तक को परास्त कर निरूत्तर कर दिया करती थी। बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वान और महाकश्यप सारिपुत्र जैसे हिन्दू धर्म के महान आचार्य तक पराजित होकर उनके शिष्य बन गये थे।

सहिष्णुता की भावना–बौद्धधर्म के सिद्धांतों में सहिष्णुता की मात्रा बहुत अधिक थी जिसने लोगों को बहुत प्रभावित किया। बुद्ध मतवादी नहीं थे। उनके विचारों में किसी प्रकार की कट्टरता अथवा असहिष्णुता नहीं थी। यही कारण था कि राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय सभी ने उनके उपदेशों को ग्रहण किया। उनके समकालीन

नोट

कट्टर ब्राह्मणों ने भी संगठित रूप से उनका कोई विरोध नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध ने कोई ऐसा प्रचार नहीं किया जो किसी अन्य धर्मानुयायी को बुरा लगता।

जातिपाति से परे धर्म—महात्मा बुद्ध ने जातपात को अपने धर्म में कोई स्थान नहीं दिया। बौद्धधर्म का द्वार सम्पूर्ण मानवता के लिए खुला रखा। बुद्ध के अनुसार समस्त वर्णों के व्यक्ति निर्वाणपद प्राप्त करने के अधिकारी थे। इससे उनकी ओर केवल वे लोग स्वत: आकृष्ट हुए जिसके लिए ब्राह्मण धर्म के द्वार बन्द थे। जो जनता ब्राह्मणों के ऊँच-नीच के व्यवहार से तंग आ गयी थी उसको बौद्धधर्म में सामाजिक मुक्ति का द्वार दिखायी पड़ा। महात्मा बुद्ध ने आचार और विचार की पवित्रता पर विशेष बल दिया था। यह पददलित लोगों को आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त था। समाज के दलित वर्ग ने उनके उपदेशों को उत्साह के साथ ग्रहण किया। उस समय हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की घृणित प्रथा जड़ जमाये हुए थी। उससे ऊबकर हजारों की संख्या में अस्पृश्य कहे जाने वाले व्यक्तियों ने बौद्धधर्म को अंगीकार किया और हिन्दू धर्म के साथ अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

प्रचारकों की लगन—बौद्धधर्म के प्रचारकों ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए घोर प्रयत्न किये। इस धर्म को ऐसे शिष्यों तथा अनुयायियों का दल प्राप्त हुआ, जिन्होंने उनके उपदेशों का प्रचार पूर्ण उत्साह से किया। विश्व के इतिहास में किसी भी महापुरुष के अनुयायियों ने अपने गुरू के आदेश के पालन में इतना उत्साह, इतनी तत्परता तथा इतना त्याग नहीं प्रदर्शित किया, जितना बुद्ध के अनुयायियों ने किया। स्वयं महात्मा बुद्ध बहुत बड़े प्रचारक थे। ज्ञान प्राप्त करने के बाद उन्होंने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए काफी प्रयत्न किया।

बौद्धधर्म एक सुधार आन्दोलन के रूप में अपने प्रचारकों की प्रेरणा का स्वयं साधन था और प्रचारकों ने अपनी जान हथेली पर रखकर सुदूरस्थ स्थानों की दुर्गम्य मार्गों से यात्रा की। बौद्धधर्म के प्रचार में इन्होंने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। जिन नि:स्वार्थ सेवी, मनीषियों, विद्वानों, आचार्यों और भिक्षुओं ने महासागर की उत्ताल तरंगों से उद्वेलित लंका, जावा, सुमात्रा और चीन आदि देशों की केवल आर्यधर्म के अहिंसात्मक बौद्ध सिद्धान्तों के पवित्र सन्देश देने के लिए ही लम्बी-लम्बी यात्राएँ की उनकी इस दशा में असाधारण लगन अत्यन्त सराहनीय है।

इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न समयों पर बौद्धधर्म की सभाएँ हुईं जिनसे इस धर्म के प्रचार में बड़ा सहयोग मिला। इस प्रकार की चार बौद्ध सभाएँ विभिन्न समयों पर हुई थीं, जिनमें इस धर्म के सिद्धांतों का संकलन किया गया तथा उनको व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया।

प्रचार शैली की रोचकता—बुद्ध ने जिस प्रचार शैली को अपनाया वह नितांत सरल, सुबोध और लोकरुचि के अनुकूल थी। उन्होंने लोककथाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों को अपनी शिक्षाओं में प्रचुरता से प्रयोग किया। अपने सिद्धांतों को समझाने के लिए वे जिन उदाहरणों और उपमाओं का प्रयोग करते थे, उनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से होता था। वे अपने उपदेशों में हास्य और व्यंग्य का भी उचित मात्रा में पुट दिया करते थे जिससे उनमें रोचकता आ जाती थी। वे गूढ़ तत्वज्ञानी होने के साथ व्यावहारिक जीवन में भी निपुण थे। उनके द्वारा दिये गये दृष्टांत उनकी व्यावहारिक निपुणता का परिचय देते हैं। बुद्ध ने अपने शिष्यों को भी इसी नीति का अनुसरण करने की शिक्षा दी, जिससे बौद्धधर्म का प्रचार कार्य सरल हो गया।

संघ का संगठन—बुद्ध केवल एक महान दार्शनिक और धर्मप्रवर्त्तक ही नहीं थे वरन् उनमें संगठन की अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने यह भली भांति समझ लिया था कि सुव्यवस्थित संगठन के अभाव में कोई धर्म अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। अतएव उन्होंने अपने अनुयायियों को एक सुदृढ़ संगठन में बंध जाने की सलाह दी। बौद्धधर्म की सफलता का मुख्य कारण संघ का संगठन भी था। बुद्ध का जन्म एक संघ राज्य में हुआ। अतएव संघ की स्थापना में उनकी विशेष रुचि थी। भिक्षुओं को संगठित करते समय उनका भी उन्होंने एक संघ बनाया। बौद्ध संघ का संगठन शुद्ध जनतांत्रिक ढंग पर था। इस स्वरूप ने संघ को लोकप्रिय बनाया। जिन धार्मिक संघों में ऊँच-नीच और छोटाई-बड़ाई की भावना होती है और जिनमें पदाधिकारीगण अपना प्रभुत्व कायम रखना चाहते हैं तथा अपने को श्रेष्ठ समझकर शिष्य वर्ग से हर प्रकार की सेवा लेना अपना अधिकार समझते हैं वे साधारण जनता को आकर्षित करने में अधिक सफल नहीं हो पाते। कम से कम प्रारम्भिक शताब्दियों में बौद्ध भिक्षुओं का जीवन इतना पवित्र और सरल था, उनमें सेवा की भावना कूट-कूट कर भरी थी, अहंकार का इस प्रकार अभाव था कि जनता पर उनका

नोट

गहरा प्रभाव पड़ा। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को इस प्रकार प्रेरणा दी–"भिक्षुओं! बहुत से लोगों के हित के लिए, बहुत से लोगों के सुख के लिए, भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाओ। एक साथ दो मत जाओ।" यही आदर्श उनके शिष्यों ने बहुत समय अपनाया। जब वे इन आदर्शों से हट गये, तो बौद्धधर्म अपनी जन्म भूमि से ही लुप्त हो गया।

राजा महाराजाओं का संरक्षण–महात्मा बुद्ध के धर्म के उत्थान का एक मुख्य कारण यह भी था कि बड़े-बड़े राजा, महाराजा और प्रभावशाली व्यक्ति भी इस धर्म के अनुयायी बनकर उसके प्रचार में भरपूर योगदान दे रहे थे। गौतम बुद्ध स्वयं एक राज्य के उत्तराधिकारी थे और सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का त्याग करके जगत के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। उनके इस त्याग का राजा से रंक तक सभी लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा था। महाराज बिम्बसार, कौशल नरेश प्रसेनजित, अवन्ति के चण्ड प्रद्योत, कौशाम्बी के महाराज उदयन और फिर बाद में सम्राट अशोक, कनिष्क, हर्षवर्द्धन आदि ने बौद्धधर्म स्वीकार करके इस धर्म को राजकीय धर्म का उच्च आसन प्रदान किया। सम्राट अशोक जो बौद्धधर्म के इतिहास में द्वितीय बुद्ध के नाम से स्मरण किया जाता है, बौद्धधर्म का प्रबल पोषक था। कलिंग विजय के उपरान्त उसने बौद्धधर्म को अपना राज्य धर्म घोषित कर दिया तथा बौद्धधर्म के प्रचार के लिए जीवनपर्यन्त उद्योग करता रहा। उसने बौद्धधर्म को एक साधारण स्थानीय धर्म से विश्वधर्म के रूप में परिणत कर दिया तथा बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए भारत के बाहर उसने भिक्षुकों को भेजा। अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा तक को भी उसने लंका में धर्मप्रचारार्थ भेज दिया। अशोक ने धन के द्वारा संघ की सहायता करके धर्म का प्रचार किया तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष में शिलाओं व स्तम्भों पर अनेक लेख लिखवाये जिससे उसकी जनता बौद्धधर्म का अनुसरण करने लगी। भारत में अन्य किसी भी धर्म को अशोक के समान श्रद्धालु धर्म प्रचारक ने राज्याश्रय नहीं दिया। अशोक के पश्चात् कनिष्क ने बौद्धधर्म का प्रचार चीन तक किया। हर्ष भी बौद्धधर्म का प्रबल पोषक था। इन सम्राटों के सत्प्रयत्नों के कारण बौद्धधर्म का अत्यधिक प्रसार हुआ।

बौद्धधर्म का पतन

बौद्धधर्म का उत्थान जितनी शीघ्रता से हुआ था उतनी ही शीघ्रता से उसका पतन भी हो गया। इस धर्म का इतना अधिक पतन हुआ कि शीघ्र ही भारत से लोप हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी के उपरांत बौद्धधर्म का नाम भारत के इतिहास में उपलब्ध ही नहीं होता। इसके पतन के भी अनेक कारण थे–

राजकीय संरक्षण का अन्त–बौद्धधर्म की उन्नति और द्रुत गति से प्रचार में भारतीय राजाओं से बड़ी सहायता मिली थी। लेकिन यह स्थिति हमेशा के लिए कायम नहीं रही। आगे चलकर बौद्धधर्म राज्याश्रय से वंचित हो गया और राजकीय आश्रम ब्राह्मणधर्म को प्राप्त होने लगा। अतएव ब्राह्मण धर्म बढ़ने लगा और बौद्धधर्म का पतन प्रारम्भ हुआ। कुषाणों के उपरांत हर्ष और पाल सम्राटों के अतिरिक्त शेष सभी सम्राटों ने हिन्दू धर्म को ही प्रोत्साहन दिया।

हिन्दू धर्म का उत्थान–हिन्दू धर्म में जो शिथिलता उत्पन्न हो गयी थी वह उत्साही प्रचारकों की लगन से जाती रही। शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, रामानन्द और प्रभाकर आदि उच्च कोटि के धुरन्धर विद्वानों ने सम्पूर्ण भारत का एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करके बौद्ध धर्माचार्यों, विद्वान भिक्षुओं आदि से शास्त्रार्थ कर स्थान-स्थान पर उन्हें पराजित कर जनसाधारण को अपनी ओर आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। बड़े-बड़े सम्राट और धनी मानी व्यक्ति हिन्दू धर्म का भारी आदर-मान करने और इसे हर प्रकार के प्रोत्साहन प्रदान करने लगे। फलतः हिन्दू धर्म के पुनरूत्थान ने बौद्ध धर्म को पतनोन्मुख करके उसे निस्तेज बना डाला।

आंतरिक मतभेद–बौद्धधर्म के पतन का सबसे बड़ा कारण उसमें आंतरिक मतभेद था। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्ध धर्म की एकता समाप्त हो गयी और वह कई शाखाओं में विभक्त हो गया, जिनमें सैद्धान्तिक मतभेद थे। इस मतभेद के कारण पारस्परिक ईर्ष्या बढ़ने लगी और लोगों का विश्वास बौद्ध धर्म से उठने लगा।

चिन्तकों तथा दार्शनिकों का अभाव–बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त बौद्ध धर्म में कोई बड़ा चिन्तक तथा सुधारक नहीं उत्पन्न हुआ। इसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म में धीरे-धीरे जो दोष आने लगे, वे बढ़ते गये उनके सुधार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। फलतः बौद्ध धर्म निरन्तर पतनोन्मुख होता गया।

बौद्ध संघ में भ्रष्टाचार–समय के साथ-साथ बौद्ध मठ चरित्रहीनता के अड्डे बन गये थे। ये संघ धर्म संघ होने के बजाय भिक्षुकों के पारस्परिक विवाद और कलह के घर बन गये। भिक्षु और भिक्षुणियों ने सुख और वैभव का

नोट

जीवन बिताना आरम्भ कर दिया था। इस चरित्रहीनता की अवस्था में वे ब्राह्मणों के सामने उपयोगी बन कर नहीं रह सकते थे। अत: परिणाम यह हुआ कि लोगों का इन पर से विश्वास उठने लगा। उनकी प्रेरणा शक्ति समाप्त हो चली थी, अत: लोगों में वे घृणा की दृष्टि से देखे गये। हीनयान और महायान शाखाओं के भिक्षु परस्पर खुलेआम लड़ने लगे। इस आन्तरिक मतभेदों ने बौद्धधर्म को भारी हानि पहुँचाई। यह सत्य है कि समय-समय पर बौद्ध परिषदों ने इस पारस्परिक फूट को समाप्त करने का यत्न किया, किन्तु इस यत्न का परिणाम कुछ भी नहीं निकला।

संघ में स्त्रियों का प्रवेश—आरम्भ में बौद्ध ने स्त्रियों के संघ में प्रवेश को स्वीकार नहीं किया था। वे इसे उचित नहीं मानते थे, परन्तु परिस्थितियों से विवश होकर उन्हें स्त्रियों को संघ में प्रविष्ट करने की अनुमति देनी पड़ी। फिर भी, उन्होंने स्त्रियों के संघ प्रवेश के साथ अपने आचरण सम्बन्धी कठोर नियमों को सम्बद्ध कर दिया था, जिसके कारण भिक्षु और भिक्षुणियों को अलग-अलग रहना पड़ता था और उनका नैतिक पतन एक तरह से असम्भव था। परन्तु, उनकी मृत्यु के पश्चात् स्त्रियों का संघ प्रवेश सरल हो गया। फलत: आचरण सम्बन्धी कठोरता जाती रही। यह भिक्षुओं के आचरण तथा संयम के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। विहारों का शुद्ध तथा सात्विक जीवन समाप्त हो गया उनमें विलासिता और व्यभिचार का समावेश हो गया।

अन्य धर्मों के साथ प्रतिद्वन्द्विता—बौद्धधर्म की अवनति का एक अन्य कारण अन्य धर्मों के साथ इसकी प्रतिद्वन्द्विता बतलायी जाती है। जैन, शैव, वैष्णव आदि प्रतिस्पर्धी धार्मिक सम्प्रदायों से संघर्ष में बौद्धधर्म सफल नहीं हुआ। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म आपस में बहुत मिलते-जुलते थे। कुछ अंशों में जैनधर्म के आदर्श बौद्धधर्म के आदर्शों से अधिक उच्च थे। अतएव बहुत से लोगों को जैनधर्म ने भी अपनी ओर आकृष्ट किया। इस प्रकार जैन, शैव तथा वैष्णव धर्मों का बौद्धधर्म पर घातक प्रभाव पड़ा।

मिथ्याडम्बरों का प्रवेश—बौद्धधर्म की सफलता का कारण महात्मा बुद्ध के बोधगम्य एवं सरल उपदेश थे। लेकिन बाद में लोग बुद्ध के उपदेशों को भूल गये। धर्म की पुरानी सरलता खत्म हो गयी और उसमें ढकोसला तथा मिथ्याचार का समावेश हो गया। बुद्ध ने धार्मिक जीवन के इन्हीं दोषों का विरोध किया था, परन्तु कालान्तर में उन्हीं के धर्म में इनका समावेश हो गया। इसके परिणामस्वरूप बौद्धधर्म कुछ ही वर्षों में शिथिल तथा जर्जर हो गया।

राजपूतों का उत्कर्ष—आठवीं शती से बारहवीं शती तक उत्तरी भारत का बहुत कुछ भाग राजपूत राजाओं के अधिकार में आ चुका था जिन्हें युद्ध और रक्तपात में आनन्द मिलता था। बुद्ध का अहिंसा मार्ग उनके लिए उपयोगी नहीं था। अतएव, उन्होंने संघर्षमय हिन्दू धर्म को ही प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप उत्तरी भारत में बौद्ध धर्म सर्वथा लुप्त हो गया। इधर दक्षिण भारत ने भी ब्राह्मण धर्म को अपनाया। अत: बौद्धधर्म के पैर वहाँ भी नहीं जम सके।

मुसलमानों का प्रहार—बौद्ध मठ धन तथा स्वर्ण से परिपूर्ण थे। इस धन के आकर्षण ने मुसलमान आक्रमणकारियों को इनकी और खींचा और उसने अनेक विहारों को गिराकर धन निकाल लिया। इसी धन के कारण ही मुसलमानों ने बौद्ध मठों को निशाना बनाया और विशाल धनराशि को लूट कर ले गये। इस प्रकार मुस्लिम विजेताओं ने भी बौद्धधर्म को कड़ी चोट पहुँचायी। मुसलमान मूर्तिपूजकों से घृणा करते थे। बौद्धों की कोई सैनिक शक्ति नहीं थी। अत: मुस्लिम आक्रमणकारियों के सम्मुख वे टिक नहीं सके। इस प्रकार के झगड़ों में बहुत से बौद्ध मौत के घाट उतार दिये गये। इनमें से कुछ बौद्ध तो मुसलमान बन गये और कुछ उत्तर के पहाड़ों की ओर भाग गये। इस प्रकार मुसलमानों के आक्रमण ने बौद्धधर्म पर घातक प्रहार किया।

देवत्व की स्थापना—महात्मा बौद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया था। देवत्व को उन्होंने प्रोत्साहन नहीं दिया। परन्तु हिन्दू धर्म से प्रभावित हो जाने के कारण बौद्ध धर्म में भी देवत्व की स्थापना हो गयी और देवताओं की पूजा आरम्भ हो गयी। बाद में बौद्धों ने स्वयं बुद्ध को अवतार और ईश्वर का रूप मानना आरम्भ कर दिया। बुद्ध की मूर्ति बनने लगी तथा उसकी पूजा होने लगी। बौद्ध धर्म पर इसका प्रभाव यह पड़ा कि साधारण जनता इसे भी हिन्दू धर्म का ही अंग समझने लगी और उसका इसके प्रति कोई अलग से आकर्षण नहीं रहा।

इस प्रकार यद्यपि बौद्धधर्म के पतन के अनेक कारण उपलब्ध होते हैं किन्तु वास्तविक कारण संघ की शिथिलता, अव्यवस्था तथा बौद्ध भिक्षुकों का पतित चरित्र ही माना जा सकता है। जिससे धर्म प्रचार के कार्य में विघ्न उत्पन्न हुए तथा जनता को इस धर्म की ओर से अरुचि होने लगी। भारत से इस धर्म का सर्वथा लोप हो गया, यद्यपि जिन

नोट

देशों में इसका प्रचार हुआ था वहाँ आज भी इसके अवशेष प्राप्त होते हैं तथा विश्व के अनेक भागों में बौद्धधर्म अभी तक प्रचलित है।

कुछ समय पूर्व ही भारत में बौद्धधर्म को पुनः जीवित करने का प्रयास किया गया है तथा भारत में एक महाबोधि संस्था का निर्माण भी किया गया है जिसके द्वारा बौद्धधर्म का जीर्णोद्धार करने का प्रयत्न किया जा रहा है। प्राचीन बौद्ध तीर्थ स्थानों में धर्मशाला, विहार, औषधालय तथा पुस्तक भवन भी निर्मित किये गये हैं तथा सारनाथ में विशेष रूप से यह धर्म के प्रसार का कार्य प्रारम्भ किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रावस्ती, कुशीनगर तथा बोधगया में भी नवनिर्वाण का निर्माण करके इस धर्म के पुनरूद्धार के लिए अथक प्रयास किया जा रहा है।

11.3 बौद्ध और जैन धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study of Buddhism and Jainism)

समानताएं—बौद्धधर्म और जैनधर्म दोनों ही उस सामान्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक चेतना के प्रतिफल थे जिसका उद्‌भव भारत में सातवीं तथा छठीं शताब्दी ईसवी पूर्व के लगभग हुआ था। अतएव उनमें कुछ पारस्परिक समानताओं का होना स्वाभाविक है। दोनों ही धर्मों के प्रवर्त्तक ब्राह्मण न होकर राजवंशीय क्षत्रिय थे। इन्होंने सिद्धांतों का प्रचार संस्कृत भाषा में न करके प्राकृत भाषा में किया। दोनों ने ही अपने-अपने मतों के लिए जाति और लिंग के बन्धन को तोड़ दिया। बलि प्रथा का विरोध दोनों ने किया। दोनों ने ही अपने उपदेश में कर्म के सिद्धांत को स्वीकार किया। दोनों ने ही इस बात पर बल दिया कि प्राणी को अपने कर्मों के कारण ही बार-बार जन्म लेना पड़ता है। दोनों धर्मों ने वेदों को ईश्वरीय वाक्य स्वीकार नहीं किया। वे इनको अपने धर्मों का आधार नहीं मानते थे यद्यपि वैदिक साहित्य का उन दोनों पर प्रभाव था। दोनों ने ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आन्दोलन किया और जाति प्रथा अन्य प्रकार के विभेदों को निर्मूल करने का घोर यत्न किया। जीवन की पवित्रता में दोनों का अटूट विश्वास था। उच्च और नैतिक आचरण तथा विचारों के द्वारा ही प्राणी निर्वाण को पा सकता है, किन्तु जब तक मन वचन और कर्म की पवित्रता नहीं आयेगी तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं किया जा सकता है। दोनों ने ही चोरी और जीवन हरण का विरोध किया। दोनों ने ही इन्द्रिय इच्छाओं के दमन पर बल दिया है।

निर्वाण प्राप्ति के लिए कठिन जीवनयापन करने की शिक्षा दोनों ने दी है। यह दूसरी बात है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक ने इस कठोर जीवनयापन पर कुछ कम जोर दिया है। बौद्धमत और जैनमत दोनों ने ही निर्वाण प्राप्ति के लिए सत्य चरित्र और सत्य ज्ञान पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में दोनों ही वैदिक विधि-विधानों के विरुद्ध रहे हैं। निर्वाण प्राप्ति को दोनों ने जीवन का लक्ष्य बताया। दोनों के संघ के अनुयायी दो भागों में विभक्त थे एक उपासक तथा दूसरे साध्वी। दोनों ने संघ व्यवस्था की स्थापना कर अपने धर्म का प्रचार किया। संघ के नियम अत्यन्त कठोर रखे गये थे। संघ के प्रत्येक सदस्य को उन नियमों का पालन अनिवार्य रूप से करना पड़ता था। ऐसा नहीं करने वालों के विरुद्ध अनुशासन भंग करने की कार्रवाई की जाती थी। दोनों धर्मों का उदय भारत के एक ही प्रान्त में हुआ और पर्याप्त समय तक दोनों का कार्यक्षेत्र उसी प्रान्त की सीमाओं तक सीमित रहा।

दोनों धर्मों की विषमता—जीवन की पवित्रता की ओर तो दोनों ने ध्यान दिया था, किन्तु इस दृष्टि से जैन धर्म बौद्धधर्म की अपेक्षा बहुत आगे था। जैन मतावलम्बी जीव रक्षा में बहुत आगे थे। वे नहीं चाहते थे कि साधारण से साधारण जीव भी उनके कारण मारा जाये। सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करना तथा मुख के आगे हर समय कपड़े का एक टुकड़ा धारण किये रहना उनकी उपरोक्त धारणा के परिणाम थे। निर्वाण प्राप्ति के लिए जैन मतावलम्बी बौद्धों से अधिक कठोर जीवन बिताते थे। बुद्ध ने अत्यधिक शरीर यातना को वर्जित ठहराया था। किन्तु महावीर के अनुयायी इस दृष्टि से बहुत आगे बढ़ गये थे। महावीर ने भी अपने शरीर को यातनाएँ दी थीं। जब कोई नया व्यक्ति जैनमत में प्रविष्ट होने के लिए जैन मन्दिर में जाता तो उसे अपने सिर के एक-एक बाल को अपनी सहनशीलता प्रकट करने के लिए अपने ही हाथों से नोचना पड़ता था। इस प्रकार शरीर को यातना देने में जैनधर्म बौद्धधर्म से बहुत आगे था।

नोट

यह ठीक है कि जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म हिन्दू से पृथक् थे। पर जहाँ बौद्धधर्म ने अपने आपको हिन्दूधर्म से पूरी तरह अलग कर लिया था। वहाँ जैन मतावलम्बियों ने हिन्दू धर्म से पूर्णतया नाता नहीं तोड़ा। जैन धर्म को मानने वाले ब्राह्मणों से सम्पर्क बनाये रखे।

जैन लोग गृहस्थ को महत्त्व देते थे। परन्तु बौद्ध लोग संघ को अधिक महत्त्व देते थे। बौद्ध लोग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि आठ बातों पर बल देते थे जिन्हें वे अष्टांगिक मार्ग कहते थे, परन्तु जैन लोग केवल सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र पर बल देते थे जिन्हें ये त्रिरत्न कहते थे। बौद्ध मत के अनुयायी राजाओं और सम्राटों ने पूर्ण उत्साह और शक्ति से अन्य धर्मावलम्बियों को अपने धर्म में लाने की कोशिश की। जबकि जैन धर्म को भारत के महान सम्राटों का संरक्षण प्राप्त नहीं हो सका।

बौद्धधर्म में भिक्षुओं को जितना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है उतना उपासकों (गृहस्थ) को नहीं। किन्तु इसके विपरीत जैनधर्म में संन्यासियों की अपेक्षा गृहस्थों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। जैनधर्म ने हिन्दूधर्म से कभी भी पृथकता का संबंध नहीं स्थापित किया, जबकि बौद्धधर्म ने पृथकता की नीति का ही अवलम्बन किया। बात यह थी कि बौद्धों का दृष्टिकोण आरम्भ से ही क्रान्तिकारी था, जिससे वे प्रचलित धार्मिक विश्वासों के साथ सामन्जस्य स्थापित नहीं कर सके। परन्तु जैन धर्म का दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण था। यद्यपि जैनमत की शिक्षाओं में भी जाति भेद का विरोध किया गया, यह विरोध बौद्ध धर्म के विरोध की तुलना में कहीं अधिक नरम और हल्का है। स्वयं बुद्ध ने कई स्थानों पर जाति भेद की तीव्र शब्दों में निन्दा की और यज्ञादि का खण्डन भी किया। परन्तु जैनियों ने तत्कालीन जीवन की प्रचलित व्यवस्थाओं पर कोई प्रबल कुठाराघात नहीं किया। कालान्तर में जैनियों और वैष्णवों में आचरण की इतनी अधिक समानता हो गयी कि उनमें भेद करना कठिन हो गया। आज भी जैनियों और वैष्णवों का आचरण बिल्कुल एक-सा ही है।

हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म

हिन्दूधर्म शुरू से ही एक विशाल धर्म रहा है। इसमें अन्य धर्मों को अपने में समन्वित कर लेने की अद्‌भुत क्षमता रही है। इसी कारण कालान्तर में बौद्ध धर्म को भी अपनी शाखा मात्र बताने में हिन्दूधर्म सफल हो गया। बुद्ध ने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया उनमें से अधिकांश वेदों और उपनिषदों में प्राप्त हो जाते हैं। बुद्ध ने हिन्दू धर्म के उन्मूलन के उद्देश्य से अपने धर्म को नहीं चलाया था। वे इसमें उत्पन्न हुए आडंबरों का अन्त करना चाहते थे। फिर भी हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में कई समानताएं और विषमताएँ परिलक्षित होती हैं। यदि दोनों धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो उनमें निम्नलिखित समानताएँ और विषमताएँ दृष्टिगोचर होंगी–

दोनों धर्मों का अन्तिम लक्ष्य समान ही था अर्थात् संसार से मुक्ति तथा आवागमन के चक्कर से निवृत्ति। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद तथा मोक्ष आदि सिद्धांतों पर दोनों ही धर्म विश्वास करते थे। बलपूर्वक धर्म प्रचार करने के दोनों ही विरोधी थे। यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रचार विदेशों में भी हुआ किंतु वह अत्यन्त शन्तिपूर्ण ढंग से हुआ, तलवार के बल पर नहीं। दोनों धर्मों में सत्कर्म पर विशेष महत्त्व दिया जाता था तथा क्रियात्मक जीवन में महात्मा बुद्ध ने अधिकतर हिन्दू धर्म के आदर्शों को ही रखा।

इतनी समानताओं के होते हुए भी बौद्धधर्म उस समय के हिन्दूधर्म से अत्यन्त भिन्न था। ब्राह्मण हिन्दूधर्म में वेद प्रामाणिक ग्रंथ हैं तथा उनके अतिरिक्त ज्ञान कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता, किन्तु बौद्धधर्म तर्क पर आश्रित है और उसने वेदों की प्रमाणिकता का विरोध किया। हिन्दूधर्म में ब्राह्मणों का समाज में विशिष्ट स्थान था तथा कोई भी धार्मिक कृत्य उनके बिना पूर्ण नहीं हो सकता था, किन्तु बौद्ध धर्म में इस प्रकार कोई उच्च वर्ग नहीं था तथा सत्कर्मों द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति निर्वाण का अधिकारी माना गया था। हिन्दू समाज की आधारशिला वर्णव्यवस्था में बौद्धधर्म बिल्कुल भी विश्वास नहीं करता था तथा बौद्ध धर्म ने समानता के आधार पर समाज का निर्माण किया जहाँ ब्राह्मण और शूद्र में कोई भेदभाव नहीं था। बौद्ध धर्म में हिन्दुओं के यज्ञ, बलिदान तथा रीति-रिवाजों को कोई भी स्थान प्राप्त नहीं है। मंत्रों-तंत्रों में महात्मा बुद्ध का बिल्कुल भी विश्वास नहीं था। हिन्दू धर्म के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों तथा जटिलताओं का बौद्ध धर्म ने घोर विरोध किया। महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार के लिए संघों का निर्माण किया तथा भिक्षुकों को महत्त्व दिया, किन्तु हिन्दूधर्म में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी। हिन्दू धर्म परमात्मा

नोट

पर विश्वास रखता था किन्तु बौद्ध धर्म नास्तिक धर्म था। हिन्दूधर्म के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है किन्तु बौद्धधर्म के अनुसार सत्यकर्मों के द्वारा निर्वाण हो सकता है। हिन्दूधर्म के अनुसार शूद्रों एवं स्त्रियों को मोक्ष प्राप्ति का अधिकार नहीं है किन्तु बौद्धधर्म में प्रत्येक व्यक्ति निर्वाण प्राप्ति कर सकता है यदि वह सत्कार्य करे। हिन्दू धर्म कर्मकांड, विस्तृत समारोह, दैनिक प्रार्थनाओं तथा स्तुति में विश्वास करता है किन्तु बौद्धधर्म का इसमें कोई विश्वास नहीं है। हिन्दू धर्म में अनुकूलीकरण की क्षमता नहीं थीं किन्तु बौद्धधर्म में परिस्थितियों के अनुकूल स्वयं को परिवर्तित कर सकने की क्षमता थी। इसलिए भारत के बाहर भी बौद्धधर्म का प्रचार सम्भव हो सका।

11.4 भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की देन (Buddhism Gift to Indian Culture)

यह सत्य है कि बौद्धधर्म एक सशक्त सम्प्रदाय के रूप में अपनी जन्मभूमि भारत से ही विलुप्त हो गया। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि इसने भारत के इतिहास को किसी तरह प्रभावित नहीं किया। बौद्धधर्म अपने में एक महान क्रांति था। इसलिए इसने भारतीयों के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन पर व्यापक प्रभाव डाला। इस धर्म का उदय भारतीय संस्कृति के लिए बड़ा ही हितकर प्रमाणित हुआ। भारतीय संस्कृति की सम्पन्नता में इस धर्म के कारण काफी अभिवृद्धि हुई और इस देश के लोगों को जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण का विकास करने में काफी सहायता प्राप्त हुई।

भारतीय राजनीतिक इतिहास पर प्रभाव–बौद्धधर्म ने अहिंसा के सिद्धांत पर सर्वाधिक जोर दिया और 'अहिंसा परमो धर्म:' का नारा बुलन्द किया। भारत की राजनीति पर इस उपदेश का गहरा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप भारत के राजाओं-नरेशों के दिल में हिंसा तथा रक्तपात के खिलाफ एक प्रतिक्रिया हुई। बौद्धधर्म से प्रभावित होकर अशोक ने युद्ध को तिलांजलि दे दी और धर्म प्रचार को राज्य का लक्ष्य निर्धारित किया। अशोक की इस नीति के कारण भारत में सैनिक दुर्बलता आयी और मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ। बाद के इन राजाओं की नीति भी बौद्धधर्म के इस सिद्धांत से प्रभावित होती रही। भारतीय इतिहास के लिए इसका प्रभाव अच्छा नहीं हुआ। लेकिन जहाँ बौद्धधर्म भारतीय संस्कृति के पतन का कारण सिद्ध हुआ, वहाँ उसने भारतीय राजाओं में लोक सेवा की भावना जागृत करके राजाओं को सार्वजनिक कार्य की और उन्मुख किया।

हिन्दू धर्म पर प्रभाव–बौद्धधर्म ने हमें एक सर्वप्रिय धर्म प्रदान किया जिसे निरर्थक नियमों, विधि विधानों तथा पुरोहितों की आवश्यकता नहीं थी। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। बौद्ध धर्म से पहले हिन्दूधर्म में कर्म कांड व यज्ञाडंबर आदि की विशेष प्रधानता थी। यह धर्म साधारण जनता की कल्पना के परे हो गया था। शूद्रों के साथ घोर अन्याय किया जाता था। महात्मा बुद्ध ने सरल भाषा का प्रयोग कर हिन्दूधर्म के मानने वालों को अपनी ओर आकर्षित किया। उनका व्यक्तित्व बहुत उन्नत था, जिसका प्रभाव उन समस्त व्यक्तियों पर शीघ्रता से पड़ जाना स्वाभाविक था, जो उनके सत्संग में आते थे। उनके अनुयायियों ने बाद में उनकी मूर्ति बनाकर पूजा करना आरम्भ की। उन्होंने पवित्रता, सत्य, अहिंसा आदि पर विशेष बल दिया जिसके कारण यज्ञ आदि की प्रधानता कम होने लगी। उन्होंने धर्म को बहुत सरल बना दिया, जिसका प्रभाव हिन्दू धर्म पर विशेष रूप से पड़ा।

मूर्तिपूजा का प्रारम्भ–बहुत सम्भव है कि मूर्तिपूजा को बौद्ध धर्म ने ही आरम्भ किया हो। यह ठीक है कि आरम्भ में युद्ध के कुछ चिह्नों को लेकर संतोष कर लिया गया था, किन्तु तत्पश्चात् बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों की एक बाढ़-सी आ गयी। गंधार देश तो इन मूर्तियों से भरा पड़ा है और अब भी वहाँ ये मूर्तियाँ पायी जाती हैं। इन मूर्तियों के लिए बहुत से भवनों का निर्माण हुआ और परिणाम स्वरूप एक महती संख्या में विहार अस्तित्व में आए। इस प्रकार मूर्तिपूजा की यह पद्धति बौद्धों के द्वारा ही हिन्दुओं को प्राप्त हुई। पुरानी आर्य पूजा पद्धति का स्थान बौद्धों की मूर्तिपूजा ने ले लिया।

मठ प्रणाली का प्रारम्भ–मठ प्रणाली के जन्मदाता भी बौद्ध थे। बौद्ध से पूर्व भी अनेक हिन्दू वनों को जाया करते थे, किन्तु यह मठ प्रणाली उस समय न थी। बुद्ध ने एक तटस्थ भ्रातृ धर्म को भी जन्म दिया। सभी भिक्षु परस्पर बन्धुओं की तरह रहते थे और एक ही साथ सर्वप्रिय गुरु के नीचे रह कर अनुशासन का जीवन व्यतीत करते थे।

नोट

बौद्ध प्रचारकों को किसी प्रकार का कोई वेतन नहीं दिया जाता था। बुद्धमत के प्रचार में धन का व्यय अधिक नहीं होता था।

संघ व्यवस्था—संघ का संगठन बौद्ध धर्म का हिन्दू समाज को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन माना जा सकता है। भिक्षुक संघों की स्थापना की परम्परा बौद्ध काल से शुरू हुई। संघ धर्म का प्रचार बौद्धों ने किया। हिन्दू धर्म में पहले इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी। इस तरह धर्म के प्रचार के कार्य में एक नये तरीके का सूत्रपात हुआ। बौद्ध लोग विहार में रहते थे तथा एक निश्चित अनुशासन का पालन करते थे। ये बौद्ध विहार शिक्षा प्राप्ति के प्रधान केन्द्र बन गये।

राजनीतिक और सामाजिक एकता—बौद्ध धर्म के द्वारा ही भारत में कुछ अंश तक जातिपात का बन्धन टूटा और पृथकता की भावना पर आघात हुआ। इस कारण सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से भारत जातीय बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके और अन्धविश्वासों को दूर करके इसने आर्यों के समस्त राजनीतिक संगठन को एक सूत्र में बांधने के एक आन्दोलन का सूत्रपात कराया। इतिहासकार **हेवेल** ने लिखा है "बौद्धधर्म ने आर्यावर्त्त के जातीय बंधनों को तोड़कर उसके आध्यात्मिक वातावरण में घुसे हुए अन्धविश्वासों को दूर कर सम्पूर्ण आर्य जाति को एकरूपता प्रदान करने में योग दिया और मौर्य वंश के विशाल सम्राज्य की नींव रखी।"

वैदेशिक सम्बन्ध—भारत का अन्य देशों के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित कराने में बौद्धधर्म ने एक मजबूत कड़ी का काम किया। बौद्ध धर्म भारत की ओर से विदेशों के लिए अमूल्य भेंट था। यह एक ऐसा धर्म था जिसको अनेक देशों ने जातिपांत के बंधनों को त्यागकर स्वीकार किया। इस धर्म को विश्वव्यापी आंदोलन कहा जा सकता है। भारत के भिक्षुओं और विद्वानों ने ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी से विदशों में बौद्धधर्म का प्रचार करना शुरू कर दिया। फलत: बौद्धधर्म के दीक्षित विदेशी लोग भारत को एक तीर्थस्थान मानने लगे। इस प्रकार सांस्कृतिक स्तर पर विदेशों के साथ भारत का सम्बन्ध स्थापित हुआ।

आर्थिक परिणाम—बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए बौद्ध भिक्षुओं ने भारत के कोने-कोने का भ्रमण किया तथा यातायात के साधनों को सुलभ किया, जिससे एक स्थान के निवासी सुगमतापूर्वक दूसरे स्थान तक जा सकें। इसके अतिरिक्त भारत की सीमाओं के बाहर जाकर इन भिक्षुओं ने भारत की पृथकता को भंग कर दिया तथा विश्व के अनेक भागों से भारत का धार्मिक सम्बन्ध कायम हुआ। इन्हीं धार्मिक सम्बन्धों के पश्चात् भारत के आर्थिक सम्बन्ध भी अन्य देशों से स्थापित हुए अथवा भारत का व्यापार अन्य देशों के साथ होने लगा।

नैतिक और बौद्धिक आदर्श—महात्मा बुद्ध ने आचरण की पवित्रता पर बड़ा बल दिया था। दया, त्याग, सत्य, अहिंसा आदि पर उन्होंने बड़ा जोर दिया था। साथ ही नैतिक उत्थान के लिए भी उन्होंने कई सिद्धांत प्रतिपादित किये थे। इसका प्रभाव भी भारतीय समाज पर पड़ा था। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के कारण बौद्धिक स्वतंत्रता के वातावरण का भी सृजन हुआ। हिन्दू धर्म के लोग वेदों का प्रमाण स्वीकार करते थे। लेकिन गौतम बुद्ध ने इसका विरोध किया और लोगों को स्वतंत्र चिन्तन का उपदेश दिया। उनका कहना था कि कसौटी पर कसकर ही किसी सिद्धांत को अपनाना चाहिए। हिन्दू समाज पर इसका भी प्रभाव पड़ा।

दर्शन की उन्नति—बौद्ध धर्म के उदय के फलस्वरूप भारत में एक नवीन दार्शनिक साहित्य का सृजन हुआ। शून्यवाद तथा माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का भारत में ही नहीं, अखिल विश्व के दार्शनिकों में गौरवपूर्ण स्थान है। बौद्धों का दार्शनिक साहित्य केवल प्रचुर और समृद्ध ही नहीं अपितु विचारोत्तेजक भी था। स्वयं बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए। प्रतीत्य समुत्पाद, शून्यवाद, योगाचार, सर्वास्तिवाद, सोत्रान्तिक, विज्ञानवाद और अनित्यवाद आदि कितनी ही दार्शनिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो गया। असंग, वसुमित्र, दिग्नाग और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिकों की कृतियों का अध्ययन बिना किये हुए कोई भी व्यक्ति भारतीय दर्शन का आचार्य नहीं कहा जा सकता। बौद्धों के दार्शनिक विचारों का खंडन करने के लिए अन्य अनेक दार्शनिक उत्पन्न हुए जिसमें शंकराचार्य का नाम अग्रगण्य है। यदि हम भारत के परवर्ती दार्शनिक साहित्य की विवेचना करें तो यह सिद्ध हो जाता है कि उसके सृजन में बौद्ध दर्शन का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष योगदान रहा है।

नोट

भारतीय कला पर प्रभाव–कला के क्षेत्र में बौद्धधर्म की देन अभूतपूर्व है। कला के सभी क्षेत्र भवन निर्माण कला, शिल्प कला, चित्रकला आदि बौद्ध धर्म के ऋणी हैं। अति प्राचीन काल की कलाकृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उस कला के निर्माण में लकड़ी या मिट्टी का प्रयोग किया जाता था जो कुछ समय बाद ही नष्ट हो जाती थीं। इस काम के लिए पाषाण का प्रयोग सर्वप्रथम अशोक ने किया। अशोक के लेखों से स्पष्ट होता है कि पाषाण का उपयोग इसलिए किया गया कि जिससे बौद्ध धर्म के सिद्धांत अमर हो जायें। इस प्रकार सर्वप्रथम पाषाण के उपयोग में बौद्ध धर्म का ही हाथ था। अशोक ने चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया था जिसमें से सांची स्तूप आज भी कला के दृष्टिकोण से उच्च कोटि का माना जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक स्तम्भों को उसने बौद्ध तीर्थ स्थानों में बनवाया था तथा भिक्षुओं के निवास के लिए सुन्दर पालिश की हुई गुफाओं का निर्माण भी उसके काल में हुआ। इन निर्मित वस्तुओं में उच्च कोटि की कला झलकती है जो बौद्धधर्म की ही देन मानी जा सकती है। अशोक के पश्चात् अन्य सम्राटों तथा धनिकों ने अनेक स्तूप तथा विहारों का निर्माण कराकर भवन निर्माण कला को जीवित बनाये रखा। बौद्ध स्थापत्य कला की कुछ कृतियाँ तो विश्व में कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। सांची, भारहुत और अमरावती में बौद्धधर्म की उच्च कोटि की कला-कृतियों का निर्माण हुआ। अशोक द्वारा निर्मित सांची के स्तूप का प्रवेश द्वार तथा उसकी रेलिंग कला की अमूल्य कृतियाँ हैं।

शिल्पकला का जन्म भी बौद्धधर्म के कारण ही सम्भव हो सका। महायान धर्म के अभ्युदय के पश्चात् महात्मा बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण किया जाने लगा तथा इन मूर्तियों की स्थापना गाँव-गाँव में की जाने लगी। महात्मा बुद्ध की इतनी मूर्तियाँ बनीं कि आज हजारों वर्षों के उपरान्त भी उनमें से अनेक मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं और विश्व का कोई भी संग्रहालय ऐसा नहीं है जहाँ बुद्ध की प्रतिमा न मिलती हो। इन मूर्तियों ने शिल्प कला को जन्म दिया। कनिष्क के काल में गांधार कला के जन्म का श्रेय बौद्धधर्म को ही है। गुप्त काल में भी शिल्प कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण महात्मा बुद्ध की तीन मूर्तियों से ही प्राप्त होते हैं। पाषाण प्रतिमाओं के अतिरिक्त धातु की प्रतिमाएँ भी बनी जिसमें सुल्तानगंज की ताम्र मूर्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त नालन्दा में बुद्ध की सत्तर फीट ऊँची मूर्ति प्राप्त हुई है। इन मूर्तियों ने भारत की शिल्पकला को अत्यन्त विकसित किया।

चित्रकला के क्षेत्र में बौद्धधर्म की महत्त्वपूर्ण देन है। गुफाओं और मन्दिरों की दीवारों पर सुन्दर चित्रकला के नमूने प्राप्त होते हैं तथा अजन्ता एवं ऐलोरा की विश्व प्रसिद्ध गुफाओं में चित्रकला का मुख्य विषय महात्मा बुद्ध के जीवन के विभिन्न दृश्य अथवा बोधिसत्वों का चित्रण ही है। इसके अतिरिक्त बादामी, बाघ, सित्तन बासल तथा बराबर की गुफा में बौद्ध चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण आज भी उपलब्ध होते हैं।

साहित्य संवर्द्धन–बौद्ध धर्म ने जन साधारण की भाषा में जन साधारण के लिए ही एक विशाल साहित्य की सृष्टि की। इन ग्रन्थों के पढ़ने के लिए पुरोहितों की आवश्यकता नहीं थी। इस कारण प्राकृत और पाली भाषा की बड़ी उन्नति हुई। इस तरह के कुछ उदाहरण आज भी उपलब्ध होते हैं।

(1) अभिधम्मपिटक–इस ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन और इससे सम्बन्धित धार्मिक तत्वों का विवेचन है। इसे सात उपभागों में बाँट कर प्रत्येक उपभाग को एक ग्रन्थ के रूप में संग्रहित किया गया है। इस भाग में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कथावस्तु का संकलन सम्राट अशोक के धर्मगुरू मोग्गलिपुत्त ने लिया था।

(2) विनयपिटक–इस ग्रन्थ में उन नैतिक नियमों का विश्लेषण किया गया है जिनको मानना बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य था। यह तीन भागों–सूत विभंग, परिवार तथा खन्दक–नाम के भागों में विभक्त है। सूत विभंग को भिक्षु विभंग और भिक्षुणी विभंग नामक दो और उपविभागों में बाँटा गया है। परिवार में सम्पूर्ण विनयपिटक का सारांश है। खन्दक को दो उपभागों–महावग्य और चुल्यवग्य–में बाँटा गया है। इन दोनों में भिक्षु संघ सम्बन्धी प्राय: सभी बातों को कथा के रूप में समझाया गया है। संघ प्रवेश, भिक्षुओं के वस्त्र, शय्या, व्रत एवं उपस्थित महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और समस्याओं के सुलझाने की विधि आदि सभी बातों का विशद् विवरण इन दोनों भागों में दिया गया है। इन बातों को बुद्ध का उदाहरण देकर समझाया गया है कि उस समय जब बुद्ध अमुक स्थान पर थे तो उनके सम्मुख वह प्रश्न अथवा समस्या आयी और उन्होंने उनका इस प्रकार समाधान करके यह नियम बनाया। अत: खन्दक से बुद्ध के जीवन और तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

नोट

(3) सुत्तपिटक–इस ग्रन्थ के पाँच भाग हैं–अंगुत्तर निकाय, दीर्घ निकाय, खुद्दक निकाय, मज्झिम निकाय तथा सयुंक्त निकाय।

इन पाँचों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(क) **अंगुत्तर निकाय**–इसमें तेइस सौ सूक्त हैं। इन सूक्तों को ग्यारह खण्डों में विभक्त किया गया है।

(ख) **दीर्घ निकाय**–इसमें बहुत बड़े-बड़े चौतीस सूक्त हैं, जिन्हें खण्डों में विभक्त किया गया है। इन सूक्तों में महात्मा बुद्ध के वार्तालाप के रूप में प्राय: सभी प्रकार के विषयों की व्याख्या की गयी है। जो इस प्रकार हैं–मनुष्य की उच्चता वंश, जन्म और कर्म से किस प्रकार निर्भर है; पुनर्जन्म और निर्वाण प्राप्ति तथा ईश्वर और उसकी सत्ता आदि। इन दीर्घ सूक्तों में सबसे प्रमुख एवं प्रसिद्ध "महापरिनिर्वाण सूक्त" है।

(ग) **खुद्दक निकाय**–इसमें पन्द्रह पुस्तकें हैं जिनमें विविध प्रकार के विषयों के ऊपर छोटे-छोटे सूक्त हैं। इसमें धम्मपद और जातक सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। धम्मपद बौद्धों की गीता कहलाती है। जातक में भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों की लगभग पाँच सौ कथाएँ दी हुई हैं।

(च) **मज्झिम निकाय**–इसमें एक सौ पच्चीस सूक्त हैं। इन सूक्तों में दीर्घ निकाय के बड़े-बड़े सूक्तों का संक्षिप्त रूप में उनसे कुछ छोटे-छोटे सूक्तों में विवरण दिया गया है।

(ड़) **संयुक्त निकाय**–इसमें छप्पन सूक्त हैं। इन सूक्तों को पाँच भागों में बाँटा गया है, जिनमें से एक भाग में एक विषय से सम्बन्धित, दूसरे भाग में दूसरे विषय से सम्बन्धित और इसी प्रकार अन्य भागों में अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित सूक्तों का संकलन किया गया है।

बौद्ध भिक्षुओं ने साहित्य ग्रन्थों के प्रणयन पर भी ध्यान दिया। बुद्धचरित्र नामक महाकाव्य तथा सारिपुत्र प्रकरण नामक नाटक बौद्धों की देन है। मंजुश्रीमूलकल्प तथा दिव्यावदान नामक ग्रन्थ बौद्ध ग्रन्थ हैं। बौद्धों में धार्मिक ग्रन्थों की उपयोगिता केवल इसलिए नहीं है कि उनके द्वारा हमें इस धर्म के सिद्धातों का परिचय प्राप्त होता है वरन् उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण जैसे दुरुह कार्य में विद्वानों की बड़ी सहायता की है। मिलिन्दपन्हों तथा महावस्तु नामक ग्रन्थों में काफी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है।

11.5 वैदिक एवं बौद्ध धर्म से जैन धर्म की भिन्नता (Defferentiation of Jainism from Vedic and Buddhism)

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मध्य गंगा घाटी में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। इस युग में करीब 62 धार्मिक सम्प्रदायों की जानकारी हमें मिलती है। इनमें जैन और बौद्ध सम्प्रदाय सबसे प्रमुख थे। शक्तिशाली धार्मिक सुधार आन्दोलनों के रूप में इनका उत्थान हुआ।

जैनधर्म कई दृष्टिकोणों से वैदिक एवं बौद्धधर्म से भिन्न है।

वैदिक धर्म की तुलना में जैनधर्म बाद का धर्म है लेकिन जैन धर्म बौद्ध धर्म की तुलना में अधिक प्राचीन है। ऋग्वैदिक आर्य प्रकृतिपूजक एवं बहुदेववादी थे। वे प्रकृति की उन विभिन्न शक्तियों की पूजा करते थे जिनसे वे प्रभावित या भयभीत होते थे। ऋग्वेद में 33 देवताओं का उल्लेख है ये सभी देवता प्रकृति के विभिन्न तत्वों के प्रतीक थे; जैसे पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, मरुत, पर्जन्य, रूद्र, सूर्य, विष्णु, अश्विन आदि। इन देवताओं में इन्द्र सबसे प्रमुख था। वह वर्षा, प्रकाश एवं न्याय का देवता था। इसकी तुलना ईरानी देवता अहुरमज्दा से की जा सकती है। देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में देवियों का भी उल्लेख मिलता है। आर्यों ने अरुणोदय के पूर्व की रमणीय वेला को उषा देवी के रूप में सम्मानित किया है। दूसरी तरफ जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व पर बल देता है। यह वनस्पति, पत्थर, वायु और जल में आत्मा या जीव का विकास ढूंढता है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म आत्मा या जीव के झमेले में नहीं पड़ता। इस विषय में वह मौन है।

वैदिक धर्म में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए स्तुतिपाठ तथा यज्ञाहुति की जाती थी। इन पाठों का ऋग्वैदिक काल में बहुत महत्त्व था। पाठ अकेले और सामूहिक दोनों ही रूपों में किये जाते थे। इन प्रार्थनाओं में आर्य मोक्ष की कामना

नोट

नहीं करता था, बल्कि वह "शतवर्षीय आयु, पुत्र, धनधान्य और विजय की कामना करता था। मंदिरों अथवा मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। स्तुति और भक्ति द्वारा ही देवताओं को प्रसन्न रखने की कोशिश की जाती थी। यज्ञों की प्रथा प्रचलित थी। प्रारंभिक अवस्था में बाह्य विधानों की अपेक्षा मंत्रों की सहायता से ही यज्ञ करना अच्छा समझा जाता था। कालान्तर में हवनों की सहायता से यज्ञ करने की प्रथा बढ़ने लगी। यज्ञों में घी, दूध, धान्य, माँस आदि की आहुति दी जाने लगी। सामान्यतया यज्ञ प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत तौर पर स्वयं करता था, किन्तु सामूहिक पैमाने पर भी यज्ञ होते थे जिनमें पुरोहितों की सहायता ली जाती थी। पुरोहितों को दान-दक्षिणा के रूप में स्वर्ण, गाय एवं दास-दासियाँ दी जाती थीं। विभिन्न देवताओं की पूजा करने के बावजूद आर्य एकेश्वरवाद की तरफ झुके हुए थे। समस्त देवताओं के ऊपर एक परम तत्व की प्रतिष्ठा अरोपित की गई थी। जिसे **हिरण्यगर्भ, प्रजापति** और **विश्वकर्मा** नाम से पुकारा गया। वे देवपूजा के साथ ही पितरों की भी पूजा करते थे। ऋग्वेद में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक की भी कल्पना देखने को मिलती है। आर्य जीवन के अमरत्व में भी विश्वास करते थे। परन्तु मोक्ष प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। उनका आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी विश्वास था। दूसरी तरफ यद्यपि जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में अहिंसा पर बल दिया गया है परन्तु जैनियों की अहिंसा की धारणा बौद्धों से कहीं अधिक उत्तम कोटि की है। जैसे छोटे-छाटे जीव-जन्तुओं की भी हत्या करना पान समझते थे। इनके विचार में दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार भी पाप है। इसके अनुसार कृषि कर्म भी पाप है क्योंकि इससे कीड़े-मकोड़ों की हत्या होती है। इसके विपरीत बौद्ध अहिंसा पर इतना अधिक बल नहीं देता है। विशेष परिस्थितियों में, खासकर विदेशों में बौद्ध माँस खाते थे। ऐसा कहा जाता है कि स्वयं बुद्ध को सुअर का माँस खाने से अतिसार की बीमारी हुई थी। और उनकी मृत्यु हुई। इस प्रकार अहिंसा के प्रश्न पर बौद्ध अधिक व्यावहारिक थे।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में वर्णित 'पुरुष सूक्त' में चार वर्णों की उत्पत्ति की व्याख्या की गयी है। इसके अनुसार आदि पुरुष (ब्रह्मा) के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय (राजन्य), जाँघ से वैश्य (विश) और पैरों से शूद्र का जन्म हुआ। परन्तु दसवां मण्डल बाद में जोड़ा गया। अत: चौथे वर्ण का अभ्युदय उत्तर वैदिककाल में हुआ। इस तरह ऋग्वैदिक काल में सामाजिक वर्गीकरण की बात पायी जाती है। इस वर्गीकरण का प्रभाव उस काल के धर्म पर था। दूसरी ओर जैनधर्म जातिभेद में बिल्कुल विश्वास नहीं करता था। जातिभेद का विरोध जैनधर्म की तुलना में बौद्धधर्म ने अधिक किया। वस्तुत: बौद्धधर्म की तरह जैनधर्म ने वर्ण व्यवस्था की निन्दा नहीं की। महावीर जैन के मतानुसार पूर्व जन्म अर्जित पाप अथवा सद्गुणों के कारण ही किसी व्यक्ति का जन्म उच्च या निम्न वर्ण में होता है। वैदिकधर्म में कठोर तप एवं त्याग पर अधिक बल नहीं दिया गया है लेकिन जैनधर्म में कठोर तप एवं त्याग पर अधिक बल दिया गया है। यहाँ तक कि महावीर जैन ने वस्त्र त्यागने को भी कहा। बौद्धधर्म में हम पाते हैं कि सम्पूर्ण वस्त्र त्याग देने की बात नहीं है। यह धर्म किसी भी अति के खिलाफ था। निर्वाण की प्राप्ति के लिये इस धर्म ने **मध्यम मार्ग** अपनाने का समर्थन किया।

वैदिकधर्म में निर्वाण की चर्चा नहीं है। इसमें आयु, पुत्र, धनधान्य और विजय की कामना की जाती थी। जैनधर्म में गृहस्थों (स्त्री एवं पुरुष) को निर्वाण प्राप्ति के योग्य नहीं समझा गया। बिना तपस्वी का जीवन बिताये या संघ में प्रविष्ट हुए उन्हें **निर्वाण** की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। बौद्धधर्म में हम ऐसा नहीं पाते हैं। इस धर्म का पालन करते हुए गृहस्थ भी **निर्वाण** या **मोक्ष** प्राप्त कर सकते थे। वैदिकधर्म मोक्ष को स्थान नहीं देता है। जैनियों के विचार में मोक्ष आत्मा की वह दशा है जब दुखों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। बौद्धधर्म के अनुसार मोक्ष का तात्पर्य अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से समाप्त कर देना है। जैनधर्म के विचार में मोक्ष की प्राप्ति इस जीवन के समाप्त हो जाने पर होती है परन्तु बौद्धों के विचार में **मोक्ष** की प्राप्ति इस जीवन में ही हो सकती है।

वैदिकधर्म में संघ का महत्त्व था ही नहीं। धार्मिक अनुष्ठान के लिये एक जगह बहुत लोग बैठकर स्तुतिपाठ एवं यज्ञाहुति करते थे। बौद्धधर्म में संघ पर बहुत बल दिया गया। यह तीन रत्नों में से एक प्रमुख रत्न माना जाता है। परन्तु जैन संघ का न तो उतना अधिक महत्त्व ही था और न बौद्ध संघ जैसा संगठित ही था।

वैदिकधर्म में यज्ञ की प्रथा प्रचलित थी। यज्ञों में घी, दूध, धान्य, माँस आदि की आहुति दी जाने लगी। ऋषियों ने यज्ञों एवं स्तुतियों के साथ-साथ नैतिक आदर्शों पर भी बल दिया। ये पाप से बचने के लिए भी देवताओं से प्रार्थना

नोट

करते थे। जैनधर्म में यज्ञ का कोई स्थान नहीं था। बौद्ध धर्म तो वैदिकधर्म से बिलकुल विपरीत था। इसी से जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म का अधिक प्रसार हो सका।

वैदिकधर्म को राजा की ओर से आश्रय की चर्चा हम नहीं पाते हैं। इसके अतिरिक्त बौद्धधर्म को जितना अधिक राज्याश्रय प्राप्त हो सका उतना जैनधर्म को नहीं। इस कारण भी बौद्धधर्म का इतना प्रचार हो सका।

भागवतवाद—ब्राह्मणवाद और उसके कर्मकाण्डी विधियों के प्रतिरोध में एक प्रतिक्रिया उत्तर वैदिक काल के अंत में उत्पन्न होती है। लगभग छठी शताब्दी ईसापूर्व से अनेक धार्मिक एवं समाज सुधारक आन्दोलन आरम्भ होते हैं, जो ब्राह्मण के कट्टरपन, पशुबलि और कर्मकाण्ड का विरोध कर रहे थे। ऐसे धर्मों में से एक भागवत धर्म था। लेकिन अन्य नास्तिक धर्मों की ही तरह यह धर्म अपने अस्तित्व को बनाये नहीं रख सका और शीघ्र ही ब्राह्मणवाद का एक अंग बन गया। लेकिन ब्राह्मणवाद में मिल जाने के बावजूद भागवत धर्म ने ब्राह्मणवाद को बहुत हद तक प्रभावित किया। विशेषकर ब्राह्मणवाद को अनेक बेकार रीति-रिवाजों से मुक्त किया विशेषकर पशुबलि से। इस क्रम से ब्राह्मणवाद की प्रकृति ही बदल गयी और ब्राह्मणवाद धीरे-धीरे भक्ति एवं पूजा पर आधारित हिन्दू धर्म में बदलने लगा।

वास्तव में भागवत धर्म एक और बड़े हिन्दू धर्म वैष्णवधर्म के विकास का प्रारम्भिक भाग है, वैष्णवधर्म विष्णु पूजा पर आधारित है लेकिन वैष्णव धर्म का मूल आधार स्वयं ऋग्वेद में ही पाया जाता है। परन्तु इस प्राचीन युग में विष्णु एक महत्त्वहीन देवता था—केवल सूर्य के रूप में और वैदिक काल एक ऐसा काल था जब एक शारीरिक रूप धारण किये देवता की पूजा या उसके प्रति भक्ति नहीं दिखायी जाती थी। भक्ति प्रथा प्रचलित होने का सबसे प्रारम्भिक प्रयास हमें पाणिनि के अष्टम अध्याय में मिलता है जो पांचवीं शताब्दी ईसापूर्व की एक व्याकरण पुस्तक है। इस पुस्तक के **वासुदेवकः** शब्द का अर्थ एक वैसे व्यक्ति से लिया जाता है जो वासुदेव का भक्त हो। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व का भी एक प्रमाण है जिससे पता चलता है कि वासुदेव की पूजा होनी आरम्भ हो गयी थी। यह बात मेगास्थनीज द्वारा सिद्ध होती है जो यह बताता है कि मथुरा क्षेत्र के लोग हेराकुलिस का विशेष आदर करते थे। हेराकुलिस वासुदेव कृष्ण की यूनानी संज्ञा बताया गया है। इस बात में कोई संकोच नहीं कि वासुदेव कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। वासुदेव के पिता वसुदेव थे। वासुदेव के पिता यादव वंश के **वृष्णि या सत्वत्** शाखा के स्वामी थे। वासुदेव कृष्ण इस वंश के एक महान नायक हुए। इन्होंने एक समकालीन धर्म आन्दोलन का नेतृत्व किया और अपने जीवन काल में ही एक देवता का अस्तित्व प्राप्त किया। इन्हें भागवत की संज्ञा दी गई जिसका अर्थ होता है एक ऐसा व्यक्ति जिसके प्रति भक्ति दिखायी जाये। ऐसा ज्ञात होता है कि दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक एक देवता के रूप में इन्हें पूजा जाने लगा था। यह बात हेलिओडोरस के वैसे नगर स्तम्भ लेख से सिद्ध हो जाती है जिसमें हेलिओडोरस को वासुदेव के उपासक के रूप में प्रकट किया गया।

कृष्ण के जीवन पर **छांदोग्य उपनिषद्** भी प्रकाश डालती है। कृष्ण को इस उपनिषद् में देवकी का पुत्र और ऋषि घोर का शिष्य बताया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि कृष्ण पर इस ऋषि का प्रभाव पड़ा था; विशेषकर भक्ति धर्म का कृष्ण और उनके शिक्षक सूर्य के प्रति भक्ति दिखाने में विश्वास रखते थे और इस समय सूर्य विष्णु के रूप में पूजे जाने लगे थे। कृष्ण का धार्मिक दर्शन जो स्पष्ट रूप में **गीता** में प्रगट होता है ऋषि घोर पशुबलि इत्यादि का खण्डन करते थे और एक चमकते हुए रूप पर ध्यान लगाने में विश्वास रखते थे, यद्यपि घोर के विचारों से प्रभावित लगता है, क्योंकि ऋषि घोर के इस उपदेश का प्रभाव गीता का मूल आधार बन गया। इस धार्मिक पुस्तक में अन्य दार्शनिक बातें पायी जाती हैं जो घोर और कृष्ण के बाद उनके उपासकों द्वारा इसमें जोड़ी गयीं। अतः भागवत धर्म जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण ने प्रसारित किया, बाद में वैष्णव धर्म का आधार बन गया। सम्भवतः यह धर्म सूर्य पूजा का ही विकास था।

धीरे-धीरे कृष्ण के व्यक्तित्व से सम्बन्धित अनेक रोचक कहानियाँ बन गयीं जिसमें उनकी बाल्यावस्था और रासलीला सर्वप्रसिद्ध है। साथ ही साथ उन्हें एक चरवाहा के रूप में दिखाया गया। चरवाहे के रूप में उन्हें सम्भवतः पुराणों में इसलिये दिखया गया है कि ऋग्वेद में और अन्य वैदिक कथाओं में विष्णु (जिसके अवतार कृष्ण थे) को गोप कहा गया है या मवेशी के रक्षक। एक दूसरे कारण से भी सम्भवतः इन्हे चरवाहे के रूप में दर्शया गया है। मथुरा

नोट

क्षेत्र जिससे कृष्ण का घनिष्ठ सम्बन्ध है अपने मवेशियों के लिये वैदिक युग से ही प्रसिद्ध रहा। तैत्तिरीय संहिता में तो **गोबाल** नामक एक धार्मिक शिक्षक का नाम भी मिलता है और जिसे मथुरा के वृष्णि परिवार का बताया जाता है। लेकिन कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित बहुत सारी छोटी-छोटी कथाएं उस समय के कुछ कबीलों के देवताओं की कथाओं से लिया गया है। वासुदेव कृष्ण किस काल में थे यह निर्धारित करना कुछ कठिन है लेकिन छान्दोग्य उपनिषद् के आधार पर इन्हें सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व और छठी शताब्दी ईसा पूर्व के बीच का बताया जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि भागवत धर्म का आरम्भ तब होता है जब सन्त वासुदेव कृष्ण को वैदिक देवता विष्णु का ही एक रूप या अवतार माना जाने लगा। यह क्रम भागवत गीता की रचना होने के समय तक समाप्त हो चुका था और भागवत धर्म वैष्णव धर्म के नाम से भी जाना जाता था। यह सुझाव दिया गया है कि शायद वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार जान-बूझकर ब्राह्मणों ने माना ताकि इस नये लोकप्रिय धर्म का प्रभाव कम हो जाये और वैदिक धर्म का एक अंग बन जाये।

शतपथ ब्राह्मण एवं बौधायन धर्मसूत्र से यह पता चलता है कि इस समय एक और महान ऋषि थे, जिनका नाम था नारायण और जो बाद में कृष्ण का ही एक रूप समझे गये क्योंकि यह भी सूर्यपूजा को प्रोत्साहन देते थे। सम्भवत: (नारायण) इनका दूसरा नाम हरि था और महाभारत में एक अति शक्तिशाली भगवान माने गये। आरम्भ में देव के समान ऋषि नारायण के मानने वाले **पंचरात्रिक** कहे जाते थे। किंतु ऐसा लगता है कि बाद में चलकर पंचरात्रिक भागवत धर्म के उपासकों से मिल-जुल गये और वासुदेव कृष्ण की ही पूजा करने लगे; क्योंकि वासुदेव कृष्ण और नारायण दोनों ही सूर्यपूजा करते थे और विष्णु के अवतार माने जाते थे। इसलिए वासुदेव कृष्ण, विष्णु नारायण सब एक ही समझे जाने लगे। भागवत धर्म, जिसकी उत्पत्ति मथुरा के यादव लोगों के बीच हुई धीरे-धीरे पश्चिम भारत की ओर फैल गया जब अनेक यादव कबीले उस दिशा में स्थानान्तर करने लगे। संत वासुदेव कृष्ण को सम्पूर्ण रूप से भगवान का अस्तित्व प्राप्त करने में कुछ शताब्दियाँ बीत गयीं और इन्हें पूरी तरह विष्णु का अवतार और इनकी मूर्तिपूजा पहली शताब्दी ई. से ही सम्भवत: आरम्भ हुई। यहाँ तक कि गीता में भी वासुदेव कृष्ण को एक ऐसे भगवान के रूप में नहीं दिखाया गया है, जो सम्पूर्ण ढंग से प्रभावकारी हो और जिससे गलती हो ही नहीं सकती।

भागवत् दर्शन–भागवत् दर्शन का सर्वोत्तम उदाहरण भागवत गीता में मिलता है, जिसे प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व का बताया जाता है। भागवत धर्म का मूल तत्व कर्मयोग का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का सबसे अच्छा उदाहरण अर्जुन के संकोच में मिलता है जब अर्जुन अपने कर्त्तव्य से भाग रहे थे। कर्मयोग एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें कर्म करना या कर्त्तव्य का पालन करना आवश्यक है; यद्यपि कर्म के फल से लगाव रखना या उसकी इच्छा करना निषेध है। योग मस्तिष्क का ऐसा संतुलन है जिसमें स्वार्थ की कोई गुंजाइश नहीं और कर्म के फल का कोई लोभ नहीं। योग से लाभ यह है कि एक कर्मयोगी सदैव सही कर्म को पहचानेगा और उसे करेगा तथा अपने कर्म को कार्यान्वित करने में एवं कर्त्तव्य का पालन करने में हद से आगे नहीं बढ़ेगा। दूसरे शब्दों में उसका कर्म सही मात्रा में होगा क्योंकि कर्म के फल के लोभ में ही एक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य की सीमा से आगे बढ़ जाता है, जिससे मोक्ष प्राप्ति में उसे बाधा उत्पन्न होती है इसलिए यह कहा जा सकता है कि गीता निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच का एक रास्ता अपनाती है जो मोक्ष प्राप्ति का स्वर्ण साधन है।

गीता के अनुसार कर्म या कर्त्तव्य करते हुए भी फल को त्यागना सम्भव है। गीता के अनुसार कर्म अपने आप में एक बन्धन या बाधा नहीं है, जो मोक्ष प्राप्ति से रोकता है क्योंकि एक कट्टर संन्यासी भी अपने जीवन के सभी कर्म को नहीं रोक सकता। जब तक वह जीवित है तब तक उसकी श्वांस तो चलती रहेगी और गीता के अनुसार श्वांस लेना भी एक कर्म है। इसलिए कर्म अपने आप में खराब नहीं है वरन् कर्म के फल का लोभ करना ही सबसे बड़ा दोष और सभी बुराई की जड़ है। इसलिए कर्म करते हुए संन्यास अपनाना गीता का बताया हुआ स्वयं मार्ग है। लेकिन ऐसा हो सकता है कि प्रेरणा के अभाव से आदमी अपने कर्त्तव्य को पूरी तरह नहीं निभाये और बिल्कुल ही निकम्मा हो जाये। गीता ऐसी परिस्थिति की सम्भावना से पूरी तरह अवगत है। इसलिये कर्म को दो प्रकार की प्रेरणा बताती है जो एक कर्मयोगी को सही राह पर रख सकती है। पहली प्रेरणा ज्ञानमार्गियों के लिये है जिसका लक्ष्य आत्मशुद्धि और आत्मा को पहचानना है, जिसके द्वारा आत्मा ब्रह्म से मिलकर एक हो जा सकती है। अतएव भिन्न-भिन्न कर्मों के लिये भिन्न-भिन्न प्रेरणा या लक्ष्य नहीं बताये गये हैं। वरन् सभी कर्मों का एक ही लक्ष्य बताया

नोट

गया है और वह ब्रह्म से मिलकर एक हो जाना। दूसरा लक्ष्य जो भक्तों के लिये है वह यह कि कर्मयोगियों को सभी कर्म ईश्वर की सेवा में करना चाहिए और ऐसे सभी कर्मों के फल ईश्वर के लिये होने चाहिए। ऐसी प्रेरणा का लक्ष्य ईश्वर से सम्पूर्ण सम्पर्क स्थापित करना है। कर्मयोगी के ये दोनों ही मार्ग का अन्त, परिणाम या अंतिम लक्ष्य ईश्वर के सम्पर्क में आकर एक शांतिमय एवं पूर्ण दशा को प्राप्त करना है।

गीता का अध्यात्म—गीता एक अमर और अपरिवर्तनशील गुण एवं परिवर्तनशील और नश्वर गुण में स्पष्ट अन्तर मानती है जो अंतिम सत्य है। वह परिवर्तनशील प्रकृति नहीं है। वह है एक अनन्त जीव जो हर एक चीज के भीतर निवास करता है और इसलिए यह भौतिक चीजों से अलग नहीं है वरन् उनका मूल आधार है और उनमें जान डालता है। शुद्ध ब्रह्म या परमात्मा सदा से है और सदा रहेगा लेकिन उसका भौतिक रूप या जो प्रकृति है वह सदैव क्षण-क्षण में बदलती रहती है। वह ज्ञान हमें बाहरी दुनिया को देखने से प्राप्त होता है। अपनी व्यक्तिगत विवेचना से जब हम स्वयं अपने आप को पहचानते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ चीजें हमारे शरीर के विनाश हो जाने के बाद भी रह जाती है। यही है आत्मा जो न जन्म लेती है और न मरती है। न तो यह शरीर है और न अनुभविक मस्तिष्क। प्रत्येक व्यक्तिगत आत्मा परमात्मा का अंश है। आत्माभिमान का भ्रम इसलिये है क्योंकि हम यह नहीं समझ पाते कि हमारी आत्मा परमात्मा का एक अंश है; वास्तव में उसी पर आत्मा का एक रूप है और हम इस दुनिया में जो भी कर्म करते हैं वह हम एक आत्मा के रूप में नहीं करते हैं वरन् प्रकृति के रूप में करते हैं जो एक माया है और क्षण-क्षण में बदलती रहती है। गीता के उपदेश के अनुसार एक रूपधारी ईश्वर अपने आप में ब्रह्म की अपरिवर्तनशीलता और प्रकृति की परिवर्तनशीलता दोनों ही का सामन्जस्य है। दोनों की प्रकृति या माया और ईश्वर का कोई प्रारम्भ नहीं और दोनों ही एक-दूसरे पर आश्रित हैं। गीता पुनर्जन्म का सिद्धांत भी बताती है जिसके अनुसार हरेक दूसरा जन्म पहले जन्म के कर्म का ही परिणाम होता है और सही रास्ते पर चलने से पुनर्जन्म के चक्र का अन्त हो जाता है तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अन्त: में यह कहा जा सकता है कि गीता का भागवत दर्शन उस समय की भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के बीच एक संतुलन स्थापित करता है। इसके अनुसार मोक्ष के तीन मार्ग हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति।

कर्म मार्ग वैदिक यज्ञ एवं पशुबलि का एक नया अर्थ है। भेंट या बलि चढ़ाने की बात वैदिक युग की तरह इसमें भी होती है परन्तु इसमें ईश्वर को भेंट पशुओं का नहीं अपने स्वार्थ का दिया जाता है। गीता के अनुसार वास्तविक भेंट प्रपत्ति या ईश्वर के सामने आत्मसमर्पण करना है। एक कर्मयोगी ईश्वर के आगे अपने सभी कर्म एवं उसके फल की बलि चढ़ाता है।

ज्ञान मार्ग द्वारा प्रकृति से ओझल अंतिम सत्य को पहचाना जा सकता है, जो ब्रह्म है। लेकिन गीता का विशेष झुकाव भक्ति मार्ग की ओर है जो ईश्वर से प्रेम और भावात्मक लगाव से समझा जा सकता है। गीता के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का यह सबसे उत्तम और आसान मार्ग है जिसे सब अपना सकते हैं। एक निराकार ब्रह्म पर ध्यान लगाना जैसा कि ज्ञान मार्गी कहते हैं सबके लिए सम्भव नहीं है वरन् ब्रह्म को अगर एक रूपधारी ईश्वर के रूप में पूजा जाये तो ये सबके लिए सम्भव है और इससे सभी भक्तों को भावमय संतोष हो सकता है। भागवत धर्म की लोकप्रियता का यही रहस्य रहा।

फिर हम यह भी पाते हैं कि भक्ति मार्ग को कर्मयोग से पृथक् भी नहीं बताया गया है। दोनों को साथ-साथ अपनाया जा सकता है। एक सच्चा भक्त एक कर्मयोगी भी हो सकता है अगर वह अपने सभी कर्मों में व्यस्त रहकर अपना ध्यान ईश्वर पर से एक क्षण के लिए भी नहीं हटाये। इस प्रकार भागवत गीता में कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग का एक अच्छा सामंजस्य पाया जाता है।

वासुदेव कृष्ण के अतिरिक्त उनके चार और सम्बन्धियों का भी नाम मिलता है। जिन्हें देवता का रूप प्रदान किया गया। वे हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरूद्ध।

भागवत धर्म ने न केवल वैष्णव धर्म को जन्म दिया वरन् पश्चात् के हिन्दू धर्म पर भी इसका काफी प्रभाव रहा। जैसे—मूर्तिपूजा सर्वप्रथम इसी धर्म के बीच आयी और भक्ति प्रथा भी इसी धर्म से आरम्भ हुई।

नोट

11.6 सारांश (Summary)

प्राचीन जैन धर्मग्रन्थों और जैन कविता पर जैनियों द्वारा लिखित भाष्य जैन महाराष्ट्री में मिलता है। ईस्वी संवत् के पश्चात् संस्कृत भाषा धीरे-धीरे उत्तर भारत में फैलने लगी। इस भाषा को पहले बौद्धों ने और फिर जैन लेखकों ने अपना लिया। जैन साहित्य का आधे से अधिक साहित्य मध्यकालीन दार्शनिक विचारों से भरा हुआ है। इसके रचयिताओं ने इन ग्रन्थों को लिखते समय नैतिक कथाओं के वर्णन, व्याकरण और कोषरचना में अपने आपको सिद्धहस्त और महान् सिद्ध करने की चेष्टा की है। पञ्चतन्त्रों पर लिखे गये दो आलोचना ग्रन्थ जैनियों के प्रभाव के द्योतक हैं।

11.7 शब्दकोश (Keywords)

- पूजा (Worship)–आराधना।
- शाखा (Branch)–स्थानीय कार्यालय अथवा मुख्य कार्यालय से संचालित नियंत्रित कार्यालय आदि।

11.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत में धार्मिक आन्दोलन के कौन-कौन से कारण थे?
2. वर्धमान महावीर के चरित्र और उपदेश पर प्रकाश डालिए?
3. जैन धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए?
4. जैन धर्म के उत्थान और पतन के कारणों को बताइये?
5. गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए उनके सिद्धान्तों का विश्लेषण कीजिए?
6. गौतम बुद्ध और महावीर के प्रमुख शिक्षाओं का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कीजिए?
7. भागवतवाद क्या है? इस सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. 18	2. जैन धर्म	3. कुंडल	
4. (*a*)	5. (*a*)	6. (*c*)	7. (*b*)
8. सही	9. गलत	10. सही	11. गलत।

11.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*

नोट

इकाई–12: भागवतवाद, शैववाद एवं ब्राह्मणवाद (Bhagvatism, Shaivism and Brahmanism)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
12.1 वैदिक धर्म (Vedic Religion)
12.2 महाकाव्यकालीन धर्म (Religion of Epic Age)
12.3 शाक्त धर्म (Shakta Religion)
12.4 पौराणिक धर्म (Mythological Religion)
12.5 वैष्णव (भागवत) धर्म (Vaishnav Religion)
12.6 शैव धर्म (Shaiv Religion)
12.7 सारांश (Summary)
12.8 शब्दकोश (Keywords)
12.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
12.10 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शाक्त धर्म की विशेषताओं को समझने हेतु।
- वैष्णव (भागवत) धर्म की उत्पत्ति तथा विकास का वर्णन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय संस्कृति में धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वास्तव में यदि देखा जाय तो यह भारतीय संस्कृति का प्राण है। अति प्राचीन काल से धर्म को एक पवित्र प्रेरक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया। भारत-भूमि अनेक धर्मों तथा सम्प्रदायों की क्रीड़ास्थली रही। धार्मिक सहिष्णुता का जो आदर्श हमें यहाँ देखने को मिलता है वह विश्व की किसी अन्य संस्कृति में दुर्लभ है। प्रत्येक धर्म ने भारतीय संस्कृति के निर्माण में अपना-अपना योगदान दिया है। ब्राह्मण (वैदिक), बौद्ध तथा जैन प्राचीन काल के प्रमुख धर्म हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में इनका विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

12.1 वैदिक धर्म (Vedic Religion)

प्राचीन भारतीयों के धर्म के विषय में सुनिश्चित ज्ञान हमें सर्वप्रथम वैदिक साहित्य से प्राप्त होता है जिसमें वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् की गणना की जाती है। इस साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है जिसमें

नोट

हमें सर्वप्रथम बहुदेववाद (Polytheism) के दर्शन होते हैं। आर्य विभिन्न देवताओं के अस्तित्व में विश्वास करते थे। उनके अधिकांश देवता प्रकृति की विविध शक्तियों के प्रतीक हैं जिनका मानवीकरण किया गया है तथा यह माना गया है कि देवताओं की कृपा से ही संसार के कार्य-कलाप संचालित होते हैं। प्रत्येक देवता को संसार के स्रष्टा तथा नियन्ता के रूप में दर्शाया गया है।

मुख्यत: वैदिक देवताओं के तीन वर्ग हैं–

(1) ***द्युस्थान (आकाश) के देवता–****इनमें वरुण, पूषन्, मित्र, सूर्य, विष्णु, अश्विन, उषा आदि हैं।*

(2) ***अंतरिक्ष के देवता–****इनमें इन्द्र, अपाम्, पर्जन्य, आप:, रूद्र, मरुत आदि की गणना की गयी है।*

(3) ***पृथिवी के देवता–****इनमें अग्नि, बृहस्पति, सोम, इत्यादि सम्मिलित हैं।*

ऋग्वेद में उल्लिखित अधिकांश देवता पुरुष हैं तथा देवियों का स्थान गौण है। अदिति ही इस काल की महत्त्वपूर्ण देवी हैं। कुछ देवता अमूर्त भावनाओं के द्योतक हैं जैसे–श्रद्धा, मन्यु, धातृ, प्राण, काल आदि। देवताओं की उपासना यज्ञों द्वारा जाती थी। इस अवसर पर मन्त्रों द्वारा देवताओं का आवाहन किया जाता था। ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं के प्रति कहे जाने वाले मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। यज्ञों में अग्नि, घृत, अन्न, माँस आदि की आहुतियाँ दी जाती थीं। ऐसी मान्यता थी कि अग्नि द्वारा आहुति देवता तक पहुँचती है। देवता स्वयं उपस्थित होकर आहुतियाँ ग्रहण करते हैं तथा मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का विस्तृत विवेचन मिलता है। प्रमुख यज्ञ थे–सोमयज्ञ, अग्नि होत्र, पुरुषमेध, पञ्चमहायज्ञ, वाजपेय, राजसूय अश्वमेघ आदि। ऋग्वेद में सोमयज्ञ का विस्तृत विवरण मिलता है। यह एक व्यापक यज्ञ था जिसमें तीन-तीन वेदियों, तीन-तीन अग्नियों तथा बहुसंख्यक पुजारियों के साथ-साथ चार प्रधान पुरोहित भाग लेते थे। स्पष्टत: इसमें बहुत अधिक धन व्यय होता होगा। पितृयज्ञ में पितरों की तुष्टि के लिये बलि दी जाती थी। सोमयज्ञ के अन्तर्गत ही पुरुषमेध आता था। इसमें ग्यारह या पच्चीस यूप बनते थे जिसमें मध्य पुरुष को आबद्ध किया जाता था। यह पांच दिनों तक चलता था। पञ्चमहायज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिये आवश्यक माना गया है। इसमें भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ तथा ब्रह्म यज्ञ सम्मिलित थे। 'राजसूय यज्ञ' अभिषिक्त शासक द्वारा सम्पन्न किया जाता था। ज्ञात होता है कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर राजा रानियों के घर जाता था जो उसे राजपद की मान्यता प्रदान करते थे। यह यज्ञ केवल राजन्य (क्षत्रिय) वर्ग के लोगों द्वारा किया जाता था। अश्वमेघ, सोमयज्ञ का ही एक प्रकार था। सार्वभौम सत्ता के अभिलाषी सम्राट यह यज्ञ किया करते थे। इसमें अश्व की बलि का विधान था।

वैदिक देवता सदाचार तथा नैतिक नियमों के संरक्षक हैं। उनका सम्बन्ध 'ऋत' से बताया गया है। 'ऋत' का अर्थ है सत्य तथा अविनाशी सत्ता। ऋग्वेद में ऋत की बड़ी सुन्दर कल्पना मिलती है। बताया गया है कि सृष्टि के आदि में सबसे पहले ऋत उत्पन्न हुआ था–"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।" इसी के द्वारा विश्व में सुव्यवस्था एवं प्रतिष्ठा स्थापित होती है। ऋत विश्व की व्यवस्था का नियामक है। देवता ऋत के स्वरूप हैं अथवा ऋत से उत्पन्न हुए हैं तथा वे अपनी दैवी शक्तियों के द्वारा ऋत की रक्षा करते हैं। 'सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न तथा वर्धित होते हैं, सूर्य ऋत का विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत का वहन करती हैं।' इस प्रकार ऋत से तात्पर्य विश्वव्यापी भौतिक एवं नैतिक व्यवस्था से है। डॉ॰ राधाकृष्णन् ने तो ऋत को सदाचार के मार्ग तथा बुराइयों से रहित यथार्थ पथ के रूप में निरूपित किया है।

वैदिक ऋषियों ने देवताओं की कल्पना मनुष्यों के रूप में की तथा उनमें सभी मानवीय गुणों को आरोपित कर दिया। देवता तथा मनुष्य में अन्तर यह था कि देवता अमर तथा सर्वव्यापी थे। उनमें मानवोचित दुर्बलतायें भी नहीं थीं। वे अपार शक्ति तथा नैतिकता से युक्त होते थे। इसके विपरीत मनुष्य मर्त्य एवं सीमित साधनों वाला था। वह देवता की कृपा का अभिलाषी रहता था तथा मनुष्य का उत्थान उसकी कृपा द्वारा ही सम्भव था। देवताओं के कोप से उसका सर्वनाश हो सकता है। अत: मनुष्य उन्हें प्रसन्न करने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहता था।

वैदिक धर्म की एक विशिष्टता यह है कि इसमें जिस देवता की स्तुति की गयी है उसी को सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि मान लिया गया है। कभी वरुण तथा कभी इन्द्र को सर्वोपरि मानकर अन्य देवताओं की उत्पत्ति उनसे मानी गयी है। मैक्समूलर ने इस प्रवृत्ति को 'हेनोथीज़्म' (Henotheism) अथवा कैथेनोथीज़्म' (Kathenotheism) की संज्ञा प्रदान की है।

नोट

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से पता लगता है कि ऋषियों ने देवताओं की बहुलता से घबड़ाकर यह खोज करना प्रारम्भ किया कि सर्वशक्तिमान् एवं सर्वश्रेष्ठ देवता कौन है? यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि 'किस देवता के लिये हवि का विधान किया जाय? (कस्मै देवाय हविषा विधेम)। देवताओं की संख्या कम करने के लिये कुछ को मिलाकर एक ही श्रेणी में कर दिया गया। पृथ्वी तथा आकाश को मिलाकर 'द्यावापृथिवी' नाम दिया गया। मित्र-वरुण, उषा-रात्रि को संयुक्त किया गया। मरुतों, अश्विनों तथा आदित्यों की भी एक ही श्रेणी मानी गयी। इस प्रकार देवताओं की संख्या में कमी आई। किन्तु ऋषियों को इतने से ही संतोष नहीं हुआ क्योंकि वे तो सर्वोच्च देवता की खोज करना चाहते थे। अपने चिन्तन के अन्तिम चरण में उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण तथ्य खोज निकाला कि परम तत्व (सत्) एक ही है जिसे ज्ञानी लोग अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से जानते हैं–'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।' इसी परम तत्व को हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा आदि के नाम से वर्णित किया गया है। यह 'एकेश्वरवाद' की अनुभूति है। इस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म साधारण बहुदेववाद से प्रारम्भ होकर एकेश्वरवाद के रूप में बदल गया। एकेश्वरवाद की विस्तृत व्याख्या बाद के दर्शन में मिलती है।

ऋग्वेद में परमतत्व सम्बन्धी विचार दो रूपों में प्राप्त होते हैं–

(1) **सर्वेश्वरवाद** (Pantheism)–*इसका विवेचन* ***ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में मिलता*** *है जिसमें कहा गया है कि सृष्टि के आदि में एक ही परमतत्व था। उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। वही पूर्णरूपेण सृष्टि में व्याप्त है।*

(2) ***एकत्ववाद*** (Monism)–*इसका विवेचन* ***पुरुष सूक्त में हुआ*** *है जहाँ बताया गया कि सृष्टि का मूल तत्व विराट् पुरुष है। वह विश्व में व्याप्त होते हुए भी उससे कुछ अंशों में परे हैं।*

ऋग्वैदिक धर्म का उद्देश्य मुख्यतः लौकिक सुखों को प्राप्त करना था। देवताओं की उपासना युद्ध में विजय, अच्छी खेती, सन्तान की प्राप्ति आदि के लिये जाती थी। यज्ञों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति में भी आर्यों का विश्वास था। उनके विचार पूर्णतया आशावादी थे। वे जीवन के सुखों का पूरा-पूरा उपभोग करना चाहते थे। तपस्या, कायाक्लेश आदि में उनका विश्वास नहीं था। प्रारम्भ में यज्ञों का विधान अत्यन्त सरल था किन्तु बाद में चलकर यह जटिल एवं विस्तृत हो गया। कुछ यज्ञ अत्यन्त विस्तृत एवं व्ययसाध्य होते थे। उपनषिद् काल में यज्ञों का महत्त्व घट गया तथा कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा की गयी। तप, त्याग, संन्यास आदि पर बल दिया जाने लगा। मोक्ष के लिए कायाक्लेश तथा संन्यास को आवश्यक समझा गया। उपनिषदों की प्रमुख शिक्षा व्यक्ति के सारभूत तत्व आत्मा का जगत् के सारभूत तत्व ब्रह्म के साथ तादात्म्य करना है।

12.2 महाकाव्यकालीन धर्म (Religion of Epic Age)

पूर्व वैदिककालीन कर्मकाण्ड प्रधान तथा उत्तरवैदिक कालीन ज्ञानमार्गी धर्मों का समन्वय कर महाकाव्यों के समय में एक लोकधर्म का विकास किया गया जो सर्वसाधारण के लिए सुलभ था। कुछ वैदिक देवताओं का महत्त्व घट गया जबकि कुछ देवताओं के प्रभाव में वृद्धि कर दी गयी। देवसमूह में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी गयी। इनमें भी विष्णु तथा शिव की लोकप्रियता अधिक थी। अन्य देवताओं की औपचारिक मान्यता थी। इन देवताओं की कल्पना मनुष्य रूप में की गयी तथा प्रत्येक में कुछ विशिष्ट गुणों को आरोपित कर दिया गया। दैवी शक्ति से विशिष्ट होने पर भी वे मनुष्यों की भाँति पृथ्वी पर निवास करते तथा लीलायें किया करते थे। शीघ्र ही ब्रह्मा का महत्त्व समाप्त हो गया तथा शिव और विष्णु ही महाकाव्य कालीन धर्म के प्रमुख देवता रह गये। राम तथा कृष्ण को विष्णु का ही अवतार माना गया तथा उनमें समस्त गुणों को प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस प्रकार अवतारवाद का विकास हुआ। रामायण में चरित्र पर विशेष बल दिया गया है। चरित्र ही मनुष्य को देवता बनाता है। यही धर्म है। नैतिकता, सत्यनिष्ठा, सदाचरण आदि रामायण के अनुसार धर्म के गुण हैं। राम के चरित्र में सभी गुण विद्यमान है; अतः वे महामानव हैं। बाद में उन्हें देवता माना गया है। महाभारत में भी लोकधर्म की प्रतिष्ठा है तथा कृष्ण को विष्णु का अवतार बताया गया है। इन महाकाव्यों की लोकप्रियता का प्रधान कारण यह था कि इन्होंने सामान्य जनता के मोक्ष-प्राप्ति के लिए एक सरल उपाय बताया। यह उपाय है भक्ति अथवा उपासना का जो सभी के लिए समान

नोट

रूप से सुलभ था। ईश्वर भक्ति से प्रसन्न होकर उपासक को उसके पापों से त्राण दिलाते हैं। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. अग्नि, बृहस्पति, सोम ..... के देवता हैं।
2. ..... सोमयज्ञ का ही एक प्रकार था। इसमें अश्व की बलि का विधान था।
3. देवी माहात्म्य का विस्तृत विवरण ..... में मिलता है।

'*सभी धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा, शोक मत करो।*'

गीता कृष्ण का चित्रण सर्वशक्तिमान ब्रह्म के रूप में करती है जो जगत् के निर्माता एवं अधीश्वर हैं। उनमें उपनिषदों के 'ब्रह्म' तथा लोकधर्म के वासुदेव दोनों के रूपों का समन्वय है। कृष्ण भक्ति-आन्दोलन के केन्द्र-बिन्दु बन गये तथा जन-मानस पर उनके व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव पड़ा। उपनिषद् दर्शन अपनी गूढ़ता के कारण सभी के लिये बोधगम्य न था तथा सामान्य जनता के लिये उपयोगी धर्म की महती आवश्यकता थी। जनता को एक ऐसे देवता की आवश्यकता थी जिस पर वह भरोसा कर सकती तथा जो संकट के समय उसकी सहायता कर सकता। महाकाव्यों ने ऐसा लोकधर्म प्रस्तुत कर दिया। भागवद्गीता हमारे समक्ष ऐसे ईश्वर का जीवित व्यक्तित्व प्रस्तुत करती है जो अपने भक्तों की सहायता के लिए पृथ्वी पर अवतार लेता है, धर्म की स्थापना करता है, सज्जनों की रक्षा करता है तथा दुष्टों का विनाश करता है। गीता में औपनिषदिक् ज्ञान के महत्व को स्वीकार करते हुए भी भक्ति को प्रमुखता प्रदान की गयी है। यही मोक्ष प्राप्त करने का सर्वसुलभ साधन है।

महाकाव्य कालीन धर्म में वैदिक तथा अवैदिक विश्वासों का समावेश दिखाई देता है। यज्ञों, शिव, कृष्ण, दुर्गा, इन्द्र आदि देवी-देवताओं की पूजा की गयी है। पर्वत, नाग, राक्षस, यक्ष पूजा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विस्तारपूर्वक उल्लेख मिलता है। राजाओं द्वरा अश्वमेघ तथा राजसूय जैसे विशाल यज्ञ किये जाते थे। महाकाव्यों का मुख्य लक्ष्य समाज में सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा करना था। इनमें विभिन्न कथाओं तथा चरित्रों के माध्यम से असत्य पर सत्य की तथा अन्याय पर न्याय की विजय प्रदर्शित की गयी है।

12.3 शाक्तधर्म (Shakta Religion)

उद्भव तथा विकास

शक्ति को इष्टदेवी मानकर पूजा करने वालों का सम्प्रदाय 'शाक्त' कहा जाता है। प्राचीन भारतीय देवसमूह में देवताओं के साथ-साथ देवियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है तथा शक्ति (देवी) की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से होती रही है। वैष्णव तथा शैव धर्मों के ही समान शाक्त धर्म भी अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। क्रमशः शक्ति के साथ कई नाम संयुक्त हो गये–दुर्गा, काली, भवानी, चामुण्डा, रुद्राणी, लक्ष्मी, सरस्वती, आदि। दुर्गा को आदिशक्ति स्वीकार कर उन्हें सृष्टि, पालन तथा संहारकर्ता के रूप में मान्यता प्रदान की गयी।

शाक्त धर्म का शैव धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। शिव की पत्नी पार्वती (उमा) को जगज्जननी कहा जाता है। शैवमत के ही समान शाक्त मत की प्राचीनता भी प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। सैन्धव सभ्यता में मातृदेवी की उपासना व्यापक रूप से प्रचलित थी। खुदाई में माता देवी की बहुसंख्यक मूर्तियाँ प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य से अदिति, उषा, सरस्वती, श्री लक्ष्मी आदि देवियों के विषय में विस्तृत सूचना मिलती है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में देवीसूक्त मिलता है जिसमें वाक्शक्ति की उपासना की गयी है। वह एक स्थान पर कहती है–मैं समस्त जगत् की अधीश्वरी हूँ, अपने भक्तों को धन प्राप्त कराने वाली, ब्रह्म को अपने से अभिन्न मानने वाली तथा देवताओं में प्रधान हूँ। मैं सभी भूतों में स्थित हूँ। विभिन्न स्थानों में रहने वाले देवगण जो कुछ भी करते हैं वह सब मेरे लिये ही करते हैं। इसी प्रकार अदिति का माता के रूप में कई ऋचाओं में वर्णन मिलता है। वह माता, पिता तथा पुत्र सब कुछ

नोट

है। सभी देवगण, पञ्चजन, भूत तथा भविष्य सभी कुछ अदिति ही हैं। सरस्वती की ऋग्वेद में सौभाग्यदायिनी कहकर स्तुति की गयी है (सरस्वती न सुभगामयस्करत)। अथर्ववेद में पृथ्वी को माता कहकर उसकी पुत्र, धन, मधुर वचन प्रदान करने के लिये स्तुति की गयी है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि शक्ति की महत्ता को वैदिक ऋषियों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। शक्ति की उपासना के उद्भव के पीछे वैदिक तथा अवैदिक दोनों ही प्रवृत्तियों का योगदान रहा है।

महाभारत तथा पुराणों में देवी माहात्म्य का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। महाभारत के समय तक शाक्त सम्प्रदाय समाज में ठोस आधार प्राप्त कर चुका था। भीष्मपर्व में वर्णित है कि कृष्ण की सलाह पर अर्जुन ने युद्ध में विजय प्राप्त करने के निमित्त देवी दुर्गा की स्तुति की थी। वहीं बताया गया है कि प्रातःकाल शक्ति की उपासना करने वाला व्यक्ति युद्ध में विजय प्राप्त करता है तथा उसे लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। विराट पर्व में युधिष्ठिर ने देवी को विन्ध्यवासिनी, महिषासुरमर्दिनी, यशोदा के गर्भ से उत्पन्न, नारायण की परमप्रिया तथा कृष्ण की बहन कहकर उनकी स्तुति की है। बताया गया कि देवी ने नन्दगोप के कुल में यशोदा के गर्भ से जन्म लिया। कंस द्वारा कन्या रूप में शिला पर पटके जाने पर वह आकाश मार्ग से चली गयी तथा विन्ध्यपर्वत पर जाकर बस गयी। पुराणों में भी विन्ध्यपर्वत को देवी का निवास स्थान बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में देवी की महिमा का विस्तृत गुणगान करते हुए उसकी स्तुति की गयी है। देवी को सभी प्राणियों में विष्णु-माया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, लज्जा, जाति, शान्ति श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ तथा भ्रान्ति रूपों में स्थित बताकर उनकी उपासना की गयी है। उसे स्वर्ग तथा अपवर्ग एवं सभी प्रकार के मंगलों को देने वाली कहा गया है। उसकी सृष्टि, पालन तथा संहार की शक्तिभूता, सनातनी देवी, गुणों का आधार तथा गुणमयी कहकर स्तुति की गयी है। वर्णित है कि महिषासुर का वध करने के लिये विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देवताओं के मुख से निःसृत तेजपुंज से शक्ति की उत्पत्ति हुई। उसे सभी देवताओं ने अपने-अपने अस्त्र प्रदान किये। शंकर ने शूल, विष्णु ने चक्र, वरुण ने शंख, वायु ने धनुषबाणयुक्त तरकस, अग्नि ने तेज, इन्द्र ने वज्र, यमराज ने दण्ड, ब्रह्मा ने कमण्डलु, काल ने ढाल और तलवार तथा विश्वकर्मा ने परशु देवी को भेंट किया। उस शक्ति ने महिषासुर का वध किया जिससे वह 'महिषासुरमर्दिनी' नाम से विख्यात हुई। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की कथा एवं स्तुति से सम्बन्धित 'दुर्गासप्तशती' नामक अंश है जिसका पाठ नवरात्र के दिनों में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक किया जाता है। एक अन्य कथा में बताया गया है कि देवता जब शुम्भ तथा निशुम्भ जैसे असुरों से पीड़ित हुए तब उन्होंने हिमालय पर्वत पर जाकर आराधना की। इससे प्रसन्न होकर देवी ने अपने को प्रकट किया तथा असुरों का विनाश कर डाला। वह अम्बिका, काली, चामुण्डा कौशिकी आदि नामों से विख्यात हुई।

देवी की उपासना तीन रूपों में की जाती थी–

(1) *शान्त या सौम्य रूप।*

(2) *उग्र या प्रचण्ड रूप।*

(3) *कामप्रधान रूप।*

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. कृष्ण की सलाह पर अर्जुन ने युद्ध में विजय प्राप्त करने के निमित्त देवी दुर्गा की स्तुति की थी ..... में वर्णित है।
   (*a*) भीष्म पर्व (*b*) शांति पर्व
   (*c*) वन पर्व (*d*) इनमें से कोई नहीं।
5. विराट पर्व में ..... ने देवी को विन्ध्यवासिनी, महिषासुर मर्दिनी, नारायण की परमप्रिया तथा कृष्ण की बहन कहकर उनकी स्तुति की है।
   (*a*) अर्जुन (*b*) भीम
   (*c*) युधिष्ठिर (*d*) इनमें से कोई नहीं।

नोट

6. गीतगोविन्द रचना है।

(*a*) सोमदेव (*b*) जयदेव

(*c*) बाणभट्ट (*d*) इनमें से कोई नहीं।

7. चन्द्रगुप्त द्वितीय कालीन ..... में उदिताचार्य नामक एक पाशुपत मतानुयायी का उल्लेख मिलता है जिसमें दो लिंगों की स्थापना करवायी थी।

(*a*) अयोध्या लेख (*b*) मथुरा लेख

(*c*) बांस खेड़ा अभिलेख (*d*) इनमें से कोई नहीं।

उपर्युक्त तीनों के अन्तर्गत अनेक देवियों की कल्पना की गयी है। सामान्यत: देवी के सौम्य रूप की उपासना की जाती थी। उमा, पार्वती, लक्ष्मी आदि नाम उसके सौम्य रूप के ही प्रतीक हैं। दुर्गा, चण्डी, कापाली, भैरवी आदि नाम उग्र रूप प्रकट करते हैं। कापालिक तथा कालमुख सम्प्रदाय के लोग इसी रूप की आराधना करते हैं। इसमें देवी को प्रसन्न करने के लिये पशुओं की बलि दी जाती है तथा सुरा, मांस आदि का प्रयोग मुख्य रूप से होता है। कामप्रधान रूप में देवी की उपासना शाक्त लोगों द्वारा की जाती है जो उसे आनन्द भैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी, ललिता आदि नाम प्रदान करते हैं। देवी के तीनों रूपों के मन्दिर भारत के विभिन्न भागों में आज भी वर्तमान है। सौम्य रूप का मन्दिर जम्मू के निकट वैष्णोदेवी का है जहाँ शारदा की मूर्ति है। इसी प्रकार का एक मन्दिर सतना (म.प्र.) के समीप मैहर में ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। कलकत्ता स्थित काली का मन्दिर देवी के उग्र रूप का है। तथा असम का 'कामाख्या मन्दिर' देवी के कामप्रधान रूप का प्रतिनिधित्व करता है।

शक्ति की पूजा प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक अबाध गति से होती आयी है तथा हिन्दू जनता में काफी लोकप्रिय है। शक्ति-पूजा का प्रथम ऐतिहासिक पुरातात्विक प्रमाण कुषाण शासक हुविष्क के सिक्कों पर अंकित देवी के चित्रों में मिलता है। इससे पता चलता है कि ईसा की प्रथम शती तक देवी की मूर्तियाँ बनने लगी थीं। गुप्तकाल में पौराणिक हिन्दू धर्म की उन्नति हुई। इस समय विभिन्न देवताओं के साथ-साथ देवियों की उपासना भी व्यापक रूप से की जाती थी। नचना-कुठार में इस समय पार्वती के मन्दिर का निर्माण हुआ। दुर्गा, गंगा, यमुना, आदि की बहुसंख्यक मूर्तियाँ इस काल में विभिन्न स्थलों से मिलती है। गंगा तथा यमुना का अंकन गुप्तकालीन मन्दिरों के चौखटों पर मिलता है। हर्षकाल में भी शक्ति पूजा का खूब प्रचलन था। हर्षचरित में कई स्थानों पर दुर्गादेवी की पूजा का उल्लेख मिलता है। हुएनसांग के विवरण से पता चलता है कि उस समय दुर्गा देवी को मनुष्यों की भी बलि दी जाती थी। वह लिखता है कि एक बार समुद्र से यात्रा करते हुए उसे डाकुओं ने पकड़ लिया तथा दुर्गा देवी की बलि चढ़ाने के निमित्त उसे ले गये थे, किन्तु तूफान ने उसकी जान बचाई। पूर्व मध्यकाल में देवी की उपासना अत्यधिक लोकप्रिय हो गयी। देवी के अधिकांश मन्दिर इसी युग के बने हैं। मध्य प्रदेश के जबलपुर में भेड़ाघाट के पास चौसठ योगिनी का मन्दिर है जहाँ नवीं-दसवीं शताब्दियों में कई देवी मूतियों का निर्माण किया गया था। इनमें दुर्गा और सप्तमात्रिकाओं की चौवालीस मूर्तियाँ हैं। खजुराहों में भी इसी प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं। उड़ीसा, राजस्थान आदि के विभिन्न भागों से देवी की मूर्तियाँ तथा उसकी पूजा से सम्बन्धित लेख प्राप्त होते हैं। प्रतिहार महेन्द्रपाल के लेखों में दुर्गा की महिषासुरमर्दिनी, कांचनदेवी, अम्बा आदि नामों की स्तुति मिलती है। राष्ट्रकूट अमोघवर्ष महालक्ष्मी का अनन्य भक्त था। संजन लेख से पता लगता है कि उसने एक बार अपने बायें हाथ की अंगुली काटकर देवी को चढ़ा दिया था। पूर्व मध्यकाल के साहित्यकारों तथा विदेशी लेखकों ने देवी के मन्दिरों तथा उसकी उपासना का उल्लेख किया है। कल्हण के विवरण से पता चलता है कि शारदा देवी का दर्शन करने के निमित्त गौड़ नरेश के अनुयायी कश्मीर आये थे। अबुल फजल भी शारदा देवी के मन्दिर का विवरण देता है।

शाक्त-तांत्रिक विचारधारा

पूर्व मध्यकाल तक आते-आते शाक्त-धर्म तंत्रवाद से पूर्णतया प्रभावित हो गया और शाक्त-तांत्रिक विचारधारा समाज में अत्यधिक लोकप्रिय हो गयी। यहाँ तक कि प्राचीन धर्म भी इसके प्रभाव में आ गये। बौद्ध, कश्मीर शैवमत, वैष्णव, जैन आदि सभी धर्मों पर शाक्त-तांत्रिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा तथा लोगों की आस्था तंत्र-मंत्रों में दृढ़ हो गयी।

नोट

जैन मत की देवी सचिवा देवी की उपासना शाक्त ढंग से की जाने लगी तथा कुछ जैन आचार्यों ने चौसठ योगिनियों के ऊपर सिद्धि प्राप्ति कर लेने का दावा किया। श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ नैषधचरित में सरस्वती मंत्र की महत्ता का प्रतिपादन किया जबकि गुजरात के चौलुक्य शासक कुमारपाल जैन नमस्कार मंत्र में अटूट विश्वास रखता था। उसका विश्वास था कि इसी मंत्र के कारण उसे सर्वत्र सफलता प्राप्त हुई थी। तंत्रवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप समाज में अनेक अन्धविश्वास दृढ़ हो गये। किन्तु तंत्रवाद से हिन्दू सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारधारा को कुछ लाभ भी हुए। जैसा कि रसार्णव (बारहवीं शती) से स्पष्ट होता है तंत्रवाद ने भारतीय रसायन शास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। स्त्रियों की दशा सुधारने तथा जाति-पाँति के बन्धनों को शिथिल बनाने की दिशा में भी तांत्रिक विचारधारा का कुछ योगदान रहा। शाक्त-तांत्रिक मत में एक ही देवता की पूजा पर विशेष बल दिया जाता था। इस विचारधारा ने पूर्वमध्यकाल में भक्ति आन्दोलन को वेग प्रदान किया। तांत्रिक सहजयान से ही नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ जिसने मध्यकाल में कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों के लिये मार्ग प्रशस्त किया।

तांत्रिक विचारधारा का आधार 'शक्तिवाद' है। यही कारण है कि कश्मीर शैवमत शक्ति को शिव की अन्तर्निहित प्रकृति तथा सर्वोच्च शक्ति मानता है। यही सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। तांत्रिक धर्म का लक्ष्य 'ज्ञान कर्म समुच्चयवाद' पर केन्द्रित है। इसमें जप, तप, मंत्र पर विशेष बल दिया जाता है। इन्हीं के द्वारा साधक स्वास्थ्य, धन तथा शक्ति की प्राप्ति करता है।

सम्प्रति शाक्त उपासना के तीन प्रमुख केन्द्र है—कश्मीर, काञ्ची तथा असम स्थित कामाख्या। प्रथम दो श्रीविद्या के प्रमुख स्थल है जबकि अन्तिम कौल मत का प्रसिद्ध केन्द्र है।

शाक्तधर्म के सिद्धान्त तथा आचार

शाक्त मत के अनुयायी महामातृ देवी को आदि शक्ति मानकर उसी की आराधना करते हैं। वही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार करती है। शक्ति साधक देवी के किसी एक रूप को इष्ट मानकर उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने में विश्वास रखता है। वस्तुतः शक्ति, शिव का ही क्रियाशील रूप है। इस मत में भक्ति, ज्ञान तथा कर्म तीनों को महत्व दिया गया है। तन्त्र-मन्त्र, ध्यान, योग आदि का भी स्थान है। सांसारिक भोगों को मोक्ष के मार्ग में साधक माना गया है। शाक्त धर्म में 'कुण्डलिनी' नामक रहस्यमय शक्ति का अत्यधिक महत्त्व है। साधना तथा मन्त्रों के द्वारा जब यह शक्ति जागृत की जाती है तभी मुक्ति मिलती है। कौलमार्गी शाक्त पंचमकारों अर्थात् मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन की उपासना के द्वारा मुक्ति पाने में विश्वास रखते हैं। उनके आचरण अत्यन्त घृणित हैं।

शाक्त सम्प्रदाय में देवी की स्तुति प्रायः तीन प्रकार से की जाती है—

(1) पहले में महापद्मवन में शिव की गोद में बैठी हुई देवी का ध्यान किया जाता है। उनका ध्यान हृदय तथा मन को आह्लादित करता है। देवी स्वयं आनन्द स्वरूपा हैं।

(2) इसमें भूर्जपत्र, रेशमी वस्त्र अथवा स्वर्णपत्र की सहायता से नौ योनियों का वृत्त बनाकर उसके मध्य में एक योनि का चित्र खींचकर चक्र बनाया जाता है। इसे 'श्रीचक्र' कहते हैं। उसकी पूजा दो प्रकार से की जाती है—एक जीवित स्त्री की योनि की तथा दूसरे काल्पनिक योनि की। इस आधार पर उनकी दो शाखाऐं भी है।

(3) इसमें दार्शनिक ढंग से ज्ञान के द्वारा देवी की उपासना की जाती है। इस पद्धति में अध्ययन तथा ज्ञान को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी है। कुत्सित आचरणों की इसमें निन्दा करते हुए उन्हें त्याज्य बताया गया है।

अन्तिम विधि द्वारा देवी की उपासना करने वाले व्यक्ति ही शुद्ध एवं सात्विक भक्त होते हैं।

शाक्त धर्म आज भी हिन्दुओं का एक प्रमुख धर्म है। देवी की पूजा देश के विभिन्न भागों में अति श्रद्धा एवं उल्लासपूर्वक की जाती है। बंगाल तथा असम में इस मत का विशेष प्रचार है। दुर्गा पूजा के अवसर पर देश भर में विविध प्रकार के आयोजन किये जाते हैं।

नोट

12.4 पौराणिक धर्म (Mythological Religion)

हिन्दू-धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार पुराणों के माध्यम से सम्भव हुआ। पौराणिक धर्म में वैदिक, अवैदिक तथा जन-साधारण के धार्मिक विश्वासों का समन्वय मिलता है। पुराण अपनी सरल एवं सुन्दर शैली में हिन्दू-धर्म का सर्वांगीण चित्रण प्रस्तुत करते हैं। पौराणिक धर्म का उद्देश्य वैदिक धर्म को सरल ढ़ग से आम जनता के समक्ष प्रस्तुत करना है। शिव, विष्णु आदि वैदिक देवताओं को ग्रहण कर पुराणों ने उन्हें नवीन रूप दिया। ब्रह्म की कल्पना ब्रह्मा के रूप में की गयी तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश को त्रिदेव माना गया। ये विश्व के क्रमशः कर्ता, धर्ता और संहर्ता थे। विष्णु के विभिन्न अवतारों की कल्पना हुई। परमतत्व ईश्वर को साकार मानते हुए उन्हें अद्‌भुत शक्तियों से युक्त माना गया तथा उनके विभिन्न नाम और रूपों का विधान हुआ। भक्ति का पूर्ण विकास पौराणिक धर्म में ही देखने को मिलता है। मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ। देवता को पुरुष या नारी के रूप में मानकर पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि के द्वारा उसे पूजा करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। वैदिक यज्ञों को सरल रूप प्रदान कर पुराणों ने उन्हें सबके लिये सुलभ बना दिया। ईश्वर की कृपा से ही मुक्ति सम्भव है तथा यह कृपा व्यक्ति को भक्ति से ही मिल सकती है, ऐसी पुराणों की दृढ़ मान्यता है। भक्ति के लिए गुरु के निर्देशन की भी आवश्यकता होती है। गुरु की कृपा से ही ज्ञान प्राप्त होता है।

अवैदिक विचारधारा के प्रभाव से पुराणों में अनेक प्रकार की देवियों यथा–दुर्गा, काली, चामुण्डा आदि की पूजा का विधान प्रस्तुत किया गया। साथ ही साथ इस धर्म में हमें अनेक प्रकार के बाह्याचारों के दर्शन होते हैं। व्रत, दान, तीर्थ-यात्रा, ब्राह्मणों को भोजन कराना आदि धार्मिक जीवन के अंग थे। शरीर पर भस्म पोतने तथा तिलक लगाने की प्रथा का प्रचलन भी इसी धर्म से हुआ। ऐसी मान्यता थी व्रतों के अनुष्ठान द्वारा शरीर तथा आत्मा शुद्ध होती है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न व्रतों का विधान प्रस्तुत किया गया है। पुराण वर्णाश्रम धर्म के पालन पर विशेष बल देते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान साथ-साथ वर्णाश्रम धर्म का पालन करना भी अनिवार्य बताया गया है। वायुपुराण में वर्णित है कि जो व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं करता उसे यमलोक के कष्ट भोगने पड़ते हैं।

पुराणों में जिन विभिन्न देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है उनसे सम्बन्धित अनेक स्वतन्त्र सम्प्रदायों का हिन्दू-ध र्म में विकास हुआ। विष्णु से वैष्णव, शिव से शैव, शक्ति उपासना से शाक्त आदि सम्प्रदायों का उद्‌भव हुआ जिनकी उपासना पद्धतियाँ अलग-अलग थीं। ये हिन्दू-धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय हैं। कालान्तर में इनके भी कई उप-सम्प्रदाय बन गये।

अग्रलिखित पंक्तियों में हिन्दू-धर्म के प्रमुख सम्प्रदायों के उद्‌भव तथा विकास का विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

नोट्स वायुपुराण में वर्णित है कि जो व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं करता उसे यमलोक के कष्ट भोगने पड़ते हैं।

12.5 वैष्णव (भागवत) धर्म (Vaishnav Religion)

उत्पत्ति तथा विकास

वैष्णव धर्म का विकास भागवत धर्म से हुआ। परम्परा के अनुसार इसके प्रवर्त्तक वृष्णि (सात्वत) वंशी कृष्ण थे जिन्हें वासुदेव का पुत्र होने के कारण वासु-देव कृष्ण कहा जाता है। वे मूलतः मथुरा के निवासी थे। छान्दोग्य उपनिषद् में उन्हें देवकी-पुत्र कहा गया है तथा घोर अंगिरस का शिष्य बताया गया है। कृष्ण के अनुयायी उन्हें 'भगवत्' (पूज्य) कहते थे। इस कारण उनके द्वारा प्रवर्त्तित धर्म की संज्ञा भागवत हो गयी। महाभारत काल में वासुदेव कृष्ण का समीकरण विष्णु से किया गया तथा भागवत धर्म वैष्णव धर्म बन गया। विष्णु एक ऋग्वैदिक देवता है तथा अन्य देवताओं के समान प्रकृति के देवता हैं। वे सूर्य के क्रियाशील रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। विष्णु का सर्वाधिक

नोट

महत्त्व इस कारण है कि उन्होंने तीन पगों से सम्पूर्ण पृथ्वी को नाप डाला है। उन्हें 'उरुगाय' (महान् गतिवाला) तथा 'उरुक्रम' (विस्तृप पाद प्रक्षेपों वाला) बताया गया है। उनकी स्तुति में कहा गया है कि जहाँ पर देवताओं की कामना करने वाले लोग हर्षित होते हैं, वही स्थान विष्णु का प्रिय है। वहीं अमृत का उत्स (श्रोत) है। बाद की संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में हम विष्णु के प्रभाव में वृद्धि पाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें यज्ञ का प्रतिरूप माना गया है तथा बताया गया है कि देवताओं के युद्ध में वे सर्वशक्तिशाली सिद्ध हुए तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध घोषित किये गये। ऐतरेय ब्राह्मण में भी विष्णु को 'सर्वोच्च देवता' बताया गया है। महाभारत में हम विष्णु को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं। वस्तुत: समस्त महाभारत ही विष्णु से व्याप्त है। इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक अवतार कृष्ण वासुदेव हैं। इस समय से भागवत धर्म वैष्णव धर्म बन जाता है तथा विष्णु उसके अधिष्ठाता देवता हो जाते हैं। पतंजलि ने भी वासुदेव को विष्णु का रूप बताया है। विष्णु पुराण में वासुदेव को विष्णु का एक नाम बताते हुए कहा गया है कि 'विष्णु सर्वत्र हैं, उनमें सभी का वास है, अत: वे वासुदेव हैं।' इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भागवत धर्म ही कालान्तर में वैष्णव धर्म में परिवर्तित हो गया इसी प्रकार जब कृष्ण-विष्णु का तादात्म्य नारायण से स्थापित हुआ तब वैष्णव धर्म की एक संज्ञा 'पाञ्चरात्र धर्म' हो गयी क्योंकि नारायण के उपासक पाञ्चरात्र कहे जाते थे। जहाँ तक 'नारायण' का प्रश्न है, हम सर्वप्रथम उनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में ही पाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें 'परमपुरुष' बताया गया है जिसमें सभी लोक, वेद, देवता तथा प्राण प्रतिष्ठित हैं। आगे बताया गया है कि सभी का अतिक्रमण करने के लिए उन्होंने पाञ्चरात्र यज्ञ किया तथा सर्वोच्च एवं सर्वव्यापी बन गये। महाभारत के शान्तिपर्व में नारायण का तादात्म्य वासुदेव विष्णु के साथ स्थापित करते हुए उन्हें सर्वव्यापी एवं सभी को उत्पन्न करने वाला बताया गया है।

वासुदेव अथवा भागवत धर्म की प्राचीनता ईसा-पूर्व पाँचवी शती तक जाती है। महर्षि पाणिनि ने भागवत धर्म तथा वासुदेव की पूजा का उल्लेख किया है। उन्होंने वासुदेव के उपासकों को 'वासुदेवक' कहा है। प्रारम्भ में मथुरा तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में यह धर्म प्रचलित था। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज शूरसेन (मथुरा) के लोगों को 'हेराक्लीज' का उपासक बताता है जिससे तात्पर्य वासुदेव कृष्ण से ही है। सिकन्दर के समकालीन यूनानी लेखक हमें बताते हैं कि पोरस की सेना अपने समक्ष हेराक्लीज की मूर्ति रखकर युद्ध करती थी। भागवत धर्म में कृष्ण को सर्वोच्च देवता मानकर उनकी भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति का विधान प्रस्तुत किया गया था। महावीर तथा बुद्ध की ही भाँति वासुदेव कृष्ण को भी अब ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा चुका है। वे वृष्णि कबीले के प्रमुख थे। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व ही उनकी देवता के रूप में पूजा प्रारम्भ हो चुकी थी। गीता में स्वयं कृष्ण ने अपने को वृष्णियों में वासुदेव कहा है (वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि)।

क्या आप जानते हैं मेहरौली लेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विष्णुपद पर्वत पर विष्णु ध्वज की स्थापना करवायी थी।

मथुरा से भागवत धर्म धीरे-धीरे भारत के अन्य भागों में फैलने लगा। लगता है पहले इसका प्रचार उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण की ओर हुआ और पूर्वी भारत में यह धर्म बहुत बाद में आया। अशोक के लेखों में धर्म का उल्लेख नहीं मिलता। मौर्यकाल के पश्चात् यह धर्म मध्य भारत में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। शुंगों के काल में इस धर्म का विकास हुआ तथा विदेशी भी इसे ग्रहण करने लगे। इसे लोकप्रिय बनाने में यवनों का विशेष योगदान रहा। पुरातात्विक प्रमाणों से भी इस धर्म के लोकप्रियता की सूचना मिलती है। भागवत धर्म से सम्बन्धित प्रथम प्रस्तर स्मारक विदिशा (बेसनगर) का गरुड़ स्तम्भ है। इसमें पता चलता है कि तक्षशिला के यवन राजदूत हेलियोडोरस ने भागवत धर्म ग्रहण किया तथा इस स्तम्भ की स्थापना करवाकर उसकी पूजा की थी। इस पर उत्कीर्ण लेख में हेलियोडोरस को 'भागवत' तथा वासुदेव को 'देवदेवस' अर्थात् देवताओं का देवता कहा गया है। अपोलोडोटस के सिक्कों पर सबसे पहले भागवत धर्म के चिन्ह् मिलते हैं। उत्तर-पश्चिम से मध्य देश तक जहाँ-जहाँ यवन गये, यह सम्प्रदाय भी फैला। ईसा पूर्व दूसरी शती तक समाज में वासुदेव को सर्वोच्च देवता मानकर उनकी उपासना की जाने

नोट

लगी थी। गीता में कृष्ण कहते है कि 'बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में ज्ञान प्राप्त व्यक्ति 'सब कुछ वासुदेव ही हैं' इस प्रकार मेरे को भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।' बेसनगर से ही प्राप्त एक अन्य लेख में भागवत की उपासना में मन्दिर तथा गरुड़ध्वज बनवाये जाने का वर्णन मिलता है। राजस्थान के घोसुंडी से प्राप्त लेख में एक अनुयायी द्वारा भागवत की पूजा के निमित्त 'शिला प्रकार' बनवाये जाने का उल्लेख मिलता है। यह लेख ईसा पूर्व प्रथम शती का है। इससे सूचित होता है कि इस समय तक राजस्थान में भागवत धर्म लोकप्रिय हो चुका था। इसी समय एक लेख महाराष्ट्र के नानाघाट से मिलता है जिसमें संकर्षण (बलराम) तथा वासुदेव की पूजा का उल्लेख है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि महाराष्ट्र में भी भागवत धर्म का प्रचार हो चुका था। कुषाण काल में भी यह धर्म भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित हुआ। हुविष्क तथा वासुदेव जैसे शासक वैष्णव मतानुयायी थे। इसी समय में भारत में मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ और यह भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) का अभिन्न अंग बन गयी, यद्यपि इसके पूर्व इसके मूर्ति पूजा के साहित्यिक उल्लेख छिट-पुट रूप में मिलते हैं।

भागवत अथवा वैष्णव धर्म का चरमोत्कर्ष गुप्त राजाओं के शासन-काल (319-550 ई०) में हुआ। गुप्त नरेश वैष्णव मतानुयायी थे तथा उन्होंने इसे राजधर्म बनाया था। अधिकांश शासक 'परम भागवत' की उपाधि ग्रहण करते थे। विष्णु का वाहन गरुड़ गुप्तों का राजचिन्ह् था। प्रयाग लेख से सूचित होता है कि गुप्त शासनपत्रों के ऊपर गरुड़ की मुद्रा लगी होती थी (गरुत्मंदक शासन)। विष्णु की उपासना में अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण करवाया गया। [मेहरौली लेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विष्णुपद पर्वत पर विष्णुध्वज की स्थापना करवायी थी] (प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वज: स्थापित:)। स्कन्दगुप्त कालीन भितरी (गाजीपुर) लेख में विष्णु की मूर्ति स्थापित किये जाने का वर्णन है। जूनागढ़ लेख से भी ज्ञात होता है कि चक्रपालित ने सुदर्शन झील के तट पर विष्णु की मूर्ति स्थापित करवायी थी; तिगवां (जबलपुर, म० प्र०), देवगढ़ (झांसी), मथुरा आदि से इस काल के बने हुये मन्दिर तथा मूर्तियों के अवशेष मिलते हैं। देवगढ़ की मूर्ति में विष्णु को शेषशय्या पर विश्राम करते हुए दिखाया गया है। गुप्तकाल में लिखे गये पुराणों में विष्णु के अवतारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस युग के कोशकार अमरसिंह ने अपने ग्रन्थ में विष्णु के 39 नाम गिनाते हुए उन्हें वासुदेव का पुत्र बताया है।

गुप्तकाल के बाद भी वैष्णव धर्म का उत्थान होता रहा। हर्षकाल में भी यह एक प्रमुख धर्म था। हर्षचरित में पाञ्चरात्र तथा भागवत सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। राजपूत काल में तो वैष्णव धर्म का अत्यधिक उत्कर्ष हुआ। विभिन्न लेखों में 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' कहकर विष्णु के प्रति श्रद्धा प्रकट की गयी है। विभिन्न शासकों ने विष्णु के सम्मान में मन्दिर तथा मूर्तियों का निर्माण करवाया था। चन्देल राजाओं ने खजुराहों में विष्णु के कई मन्दिर बनवाये थे। चेदि, परमार, पाल तथा सेन राजाओं के शासन में भी विष्णु के कई मन्दिर तथा मूर्तियों का निर्माण करवाया गया था। इस काल की विष्णु मूर्तियाँ चतुर्भुजी हैं तथा उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म है। साथ ही साथ लक्ष्मी और गरुड़ की मूर्तियाँ भी निर्मित करवायी गयी थीं। विष्णु के दस अवतारों की कथा का व्यापक प्रचलन हुआ तथा प्रत्येक की मूर्तियों का निर्माण हुआ। समाज में वैष्णव धर्म से सम्बन्धित अनेक व्रतों एवं अनुष्ठानों का भी प्रचलन हो गया।

उत्तरी भारत के ही समान दक्षिणी भारत में भी वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। संगम साहित्य से पता लगता है कि ईसा की प्रथम शती में यह तमिल प्रदेश का एक महत्त्वपूर्ण धर्म था। दक्षिण भारत में विष्णु के कई मन्दिर तथा मूर्तियाँ मिलती हैं। वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक वैष्णव मतानुयायी थे तथा उनका राजचिह्न गुप्तों के समान ही 'गरुड़' था। उनके लेखों में वाराह की उपासना मिलती है। राष्ट्रकूट काल में भी दक्षिणापथ में वैष्णव धर्म का विकास हुआ, यद्यपि राष्ट्रकूट नरेश जैनमत के पोषक थे। दन्तिदुर्ग ने एलौरा में दशावतार का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था जिसमें विष्णु के दस अवतारों की कथा मूर्तियों में अंकित है।

तमिल प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार आलवार सन्तों द्वारा किया गया। 'आलवार' शब्द का अर्थ 'ज्ञानी व्यक्ति' होता है। आलवार सन्तों की संख्या बारह बताई गयी है जिनमें तिरुमंगई, पेरिय अलवर, आण्डाल, नाम्मालवार आदि नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका आविर्भाव सातवीं से नवीं शताब्दी के मध्य हुआ। प्रारम्भिक आलवर सन्तों में पोयगई, पूडम तथा पेय के नाम मिलते हैं जो क्रमश: कांची, मल्लई तथा मयलापुरम् के निवासी थे। इन्होंने सीधे

नोट

तथा सरल ढंग से भक्ति का उपदेश दिया। इनके विचार संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिक तनाव से रहित थे। इनके पश्चात् तिरुमलिशई का नाम मिलता है जो संभवत: पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् प्रथम के समय में हुआ। तिरुमंगई अत्यन्त प्रसिद्ध आलवर सन्त हुआ। अपनी भक्तिगीतों के माध्यम से जैन तथा बौद्ध धर्मों पर आक्रमण करते हुए उसने वैष्णव धर्म का जोरदार प्रचार किया। कहा जाता है कि श्रीरंगम् के मठ की मरम्मत के लिये उसने नेगपट्टम् के बौद्ध विहार से एक स्वर्ण मूर्ति चुरायी थी। शैवों के प्रति उसका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार था। आलवरों में एकमात्र महिला साध्वी आण्डाल का नाम मिलता है जिसके भक्तिगीतों में कृष्ण-कथायें अधिक मिलती हैं। मध्ययुगीन कवयित्री मीराबाई की कृष्ण भक्ति के समान आण्डाल भी कृष्ण की प्रेम दीवानी थी। आलवर सन्तों की अन्तिम कड़ी के रूप में नाम्मालवार तथा उसके प्रिय शिष्य मधुर कवि के नाम उल्लेखनीय हैं। नाम्मालवार का जन्म तिनेवेली जिले के एक वेल्लाल कुल में हुआ था। उसने बड़ी संख्या में भक्तिगीत लिखे। उसके गीतों में गम्भीर दार्शनिक चिन्तन देखने को मिलता है। विष्णु को अनन्त एवं सर्वव्यापी मानते हुए उसने बताया कि उसकी प्राप्ति एक मात्र भक्ति से ही संभव है। विष्णु की स्तुति में लिखा गया उसका एक पद उल्लेखनीय है–

तू अभी इतना दयालु नहीं हुआ कि तू अपनी
करुणा अपनी प्रेयसी (गायिका) को दे सके।
तेरी उपेक्षा से निराश वह अपना शरीर त्याग दे
उससे पूर्व ही तू इतनी दया तो कर
कि अपने संदेशवाहक तथा वाहन गरुड़ के द्वारा
उस प्रेमिका को संदेश भेज दे, हे दया के सागर,
कि वह बलांत न हो और कुछ हिम्मत से काम ले, जब तक
तू मेरे स्वामी, लौटकर आए प्रत्याशित,
निश्चय ही शीघ्र आएगा तू।

नाम्मालवार के शिष्य मधुर कवि ने अपने गीतों के माध्यम से गुरु महिमा का बखान किया। आलवर सन्तों ने ईश्वर के प्रति अपनी उत्कट भक्ति-भावना के कारण अपने को पूर्णरूपेण उसमें समर्पित कर दिया। उनकी मान्यता थी कि समस्त संसार ईश्वर का शरीर है तथा वास्तविक आनन्द उसकी सेवा करने में ही है। आलवर की तुलना उस विरहिणी युवती के साथ की गयी है जो अपने प्रियतम के विरह वेदना में अपने प्राण खो देती है। इस प्रकार आलवर सच्चे विष्णुभक्त थे। इन्होंने भजन-कीर्तन, नामोच्चारण, मूर्ति-दर्शन आदि के माध्यम से वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इनके उपदेशों में दार्शनिक जटिलता नहीं थी। उन्होंने एकमात्र विष्णु को ही आराध्य देव बताया जो प्राणियों के कल्याण के निमित्त समय-समय पर अवतार लेते हैं। उनका कहना था कि मोक्ष के लिये ज्ञान नहीं अपितु विष्णु की भक्ति आवश्यक है। वेदों को न जानने वाला व्यक्ति भी यदि विष्णु के नाम का कीर्तन करे तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। आलवर सन्तों तथा आचार्यों के प्रभाव में आकर कई पल्लव राजाओं ने वैष्णव धर्म को ग्रहण कर उसे राजधर्म बनाया तथा विष्णु के सम्मान में मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण करवाया। सिंहविष्णु ने मामल्लपुरम् में आदिवाराह मन्दिर का निर्माण करवाया था। नरसिंहवर्मा द्वितीय के समय में काञ्ची में बैकुंठ पेरूमाल मन्दिर का निर्माण करवाया गया था। दन्तिवर्मा भी विष्णु का महान् उपासक था। लेखों में उसे विष्णु का अवतार बताया गया है। बादामी के चालुक्य नरेश भी वैष्णव मत के पोषक थे तथा कुछ ने 'परमभागवत' की उपाधि ग्रहण की थी। ऐहोल में विष्णु के कई मन्दिर का निर्माण किया गया था।

चोल राजाओं के समय में शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव धर्म की भी प्रगति हुई। इस काल में वैष्णव धर्म के प्रचार का कार्य आलवारों के स्थान पर आचार्यों ने किया। उन्होंने आलवारों की वैयक्तिक भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया तथा भक्ति का समन्वय कर्म और ज्ञान के साथ स्थापित करने का प्रयास किया। आचार्य तमिल तथा संस्कृत दोनों ही भाषाओं के विद्वान थे। अत: उन्होंने दोनों ही भाषाओं में वैष्णव सिद्धान्तों का प्रचार किया। आचार्य परम्परा में सबसे पहला नाम नाथमुनि का लिया जाता है। उन्हें अन्तिम आलवर मधुरकवि का शिष्य बताया जाता है। उन्होंने

नोट

आलवरों के भक्तिगीतों को व्यवस्थित किया। 'न्यायतत्व' की रचना का श्रेय उन्हें दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रेममार्ग के दार्शनिक औचित्य का प्रतिपादन किया। परम्परा के अनुसार नाथमुनि श्रीरंगम् मन्दिर की मूर्ति में प्रवेश कर ईश्वर में समाहित हो गये थे। दूसरे महान् आचार्य आलवंदार हुए जिनका एक अन्य नाम यामुनाचार्य भी मिलता है। आगमों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने उन्हें वेदों के समकक्ष बताया। अपने गीतों के माध्यम से प्रपत्ति के सिद्धान्त को उन्होंने अत्यन्त सुन्दर ढंग से अपने शिष्यों के समक्ष प्रस्तुत किया।

आचार्य परम्परा में रामानुज का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उनका समय 1016-1137 ई॰ सामान्यत: माना जाता हैं। उसका जन्म काञ्ची के पास श्रीपेरुम्बुदूर नामक स्थान में हुआ था। काञ्ची में यादवप्रकाश से उन्होंने वेदान्त की शिक्षा ली थी। कुछ समय बाद उनका यादव प्रकाश से कुछ औपनिषदिक सूत्रों की व्याख्या के प्रश्न पर मतभेद हो गया तथा उन्होंने वैष्णव आचार्य यामुनाचार्य की शिष्यता ग्रहण कर ली। यामुनाचार्य की मृत्यु के बाद रामानुज उनके सम्प्रदाय के आचार्य बने। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा जिसे 'श्रीभाष्य' कहा जाता है। उनका मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है।

रामानुज सगुण ईश्वर में विश्वास करते थे। श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली) के मठ में रहते हुए उन्होंने वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये महान् कार्य किये। उनके प्रयासों के फलस्वरूप यह धर्म समाज में व्यापक रूप से प्रचलित हो गया। संभव है इसका प्रभाव चोलों के कुल धर्म शैव पर पड़ा हो तथा इसी से क्षुब्ध होकर किसी कट्टर शैव चोल शासक ने उन्हें उत्पीड़ित किया हो। किन्तु इस चोल राजा की पहचान निश्चित नहीं है। सामान्यत: चोल काल शैवों तथा वैष्णवों के परस्पर सद्भाव एवं सम्मिलन का काल रहा तथा रामानुज की कथा अपवादस्वरूप थी। इस समय शिव के समान विष्णु के सम्मान में भी मन्दिर बनवाये गये तथा मठों की स्थापना की गयी। मन्दिर तथा मठ चोलयुगीन धार्मिक जीवन के केन्द्र बिन्दु थे। कई सन्त कवियों ने विष्णु की उपासना में तमिलभाषा में मन्त्रों की रचना की थी।

चतुर्व्यूह

भागवत अथवा पाञ्चरात्र धर्म में वासुदेव विष्णु (कृष्ण) की उपासना के साथ ही साथ अन्य व्यक्तियों की भी उपासना की जाती थी। इनके नाम इस प्रकार हैं–

(1) **संकर्षण (बलराम)**–ये वसुदेव के रोहिणी से उत्पन्न पुत्र थे।

(2) **प्रद्युम्न**–ये कृष्ण के रुक्मिणी से उत्पन्न पुत्र थे।

(3) **अनिरुद्ध**–ये प्रद्युम्न के पुत्र थे।

उपर्युक्त चारों को 'चतुर्व्यूह' संज्ञा दी जाती है। वासुदेव के समान इनकी भी मूर्तियाँ बनाकर भागवत मतानुयायी पूजा किया करते थे। महाभारत के नारायणीय खण्ड में इनका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वायुपुराण में इन चारों के साथ साम्ब (कृष्ण के जाम्बवन्ती से उत्पन्न पुत्र) को मिलाकर इन्हें 'पञ्चवीर' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्व्यूह की कल्पना ईसा पूर्व दूसरी शती के पहले की है। इसका प्राचीनतम उल्लेख ब्रह्मसूत्रों में मिलता है। मथुरा के समीप मोरा से प्राप्त प्रथम शती के एक लेख से पता चलता है कि तोषा नामक महिला ने वासुदेव के साथ-साथ उक्त चार व्यक्तियों की मूर्तियों को एक मन्दिर में स्थापित करवाया था। सभी के पूर्व 'भागवत्' विशेषण का ही प्रयोग मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में पञ्चवीरों की प्रतिमायें बनाने के नियम दिये गये हैं। अर्थशास्त्र में भी संकर्षण के उपासकों का उल्लेख मिलता है। लगता है कि कृष्ण के समान अन्य चारों ने भी नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तथा धर्माचार्य के रूप के प्रतिष्ठित हुए। बाद में उनमें देवत्व का आरोपण कर दिया गया। वासुदेव कृष्ण को परमतत्व मानकर अन्य चारों को उन्हीं का अंश स्वीकार किया गया। संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न को क्रमश: जीव, अहंकार तथा मन (बुद्धि) का प्रतिरूप माना गया है।

वैष्णव धर्म के सिद्धान्त

वैष्णव धर्म में ईश्वरभक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर बल दिया गया है। भक्ति के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह भक्त को अपनी शरण में ले लेता है। वैष्णव सिद्धान्तों का गीता में सर्वोत्तम विवेचन मिलता है। इसमें ज्ञान, कर्म

नोट

तथा भक्ति का समन्वय स्थापित करते हुए भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का प्रतिपादन मिलता है। स्वयं भगवान कृष्ण कहते है कि "सभी धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करुँगा।"

वैष्णव धर्म में अवतारवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तद्नुसार ईश्वर समय-समय पर अपने भक्तों के उद्धार के लिये पृथ्वी पर अवतरित होता है। गीता में कृष्ण कहते हैं–'जब-जब धर्म की हानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं अवतरित होता हूँ। साधुओं की रक्षा तथा दुर्जनों के विनाश एवं धर्म की स्थापना के लिये युग-युग में मैं उत्पन्न होता हूँ।' अन्यत्र वर्णित है कि मेरे में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे में लगे हुए जो भक्त जन अतिशय श्रद्धापूर्वक मुझे भजते हैं वे योगियों में अत्युत्तम योगी है। जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में अर्पण करके मुझे ही अनन्य भाव से भजते हैं उनको मैं शीघ्र ही मृत्युरुपी संसार सागर से उद्धार देता हूँ।

पुराणों में विष्णु के दस अवतारों का विवरण प्राप्त होता है जो इस प्रकार है–

1. **मत्स्य**–कथा के अनुसार जब पृथ्वी महान् जल-प्लावन से भयभीत हो गयी तब विष्णु ने मत्स्य के रूप में अवतार लेकर मनु, उनके परिवार तथा सात ऋषियों को एक जलपोत में बैठाकर, जिसकी रस्सी मत्स्य की सींग से बंधी हुई थी, रक्षा की। उन्होंने प्रलय से वेदों की भी रक्षा की थी।
2. **कूर्म अथवा कच्छप**–जल प्लावन के समय अमृत तथा रत्न आदि समस्त बहुमूल्य पदार्थ समुद्र में विलीन हो गये। विष्णु ने अपने को एक बड़े कूर्म (कच्छप) के रूप में अवतरित किया तथा समुद्रतल में प्रवेश कर गये। देवताओं ने उनकी पीठ पर मन्दराचल पर्वत रखा तथा नागवासुकि को डोरी बनाकर समुद्र मन्थन किया। परिणामस्वरूप अमृत तथा लक्ष्मी समेत चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई।
3. **वराह**–हिरण्याक्ष नामक राक्षस ने एक बार पृथ्वी को विश्व सिन्धु के तल में ले जाकर छिपा दिया। पृथ्वी की रक्षा के लिये विष्णु ने एक विशाल वराह (सूकर) का रूप धारण किया। उन्होंने राक्षस का वध किया तथा पृथ्वी को अपने दांतों से उठाकर यथास्थान स्थापित कर दिया।
4. **नृसिंह**–प्राचीन समय में हिरण्यकश्यप नामक महान् असुर हुआ। ब्रह्मा से उसने यह वरदान प्राप्त किया कि वह न तो दिन में मरे न रात में, न उसे देवता मार सकें न मनुष्य। अब उसने देवताओं तथा मनुष्यों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। यहाँ तक कि उसने अपने पुत्र प्रहलाद को भी अनेक प्रकार से प्रताड़ित किया। प्रहलाद की पुकार पर विष्णु ने नृसिंह (आधा मनुष्य तथा आधा सिंह) अवतार लिया। हिरण्यकश्यप को गोधूलि के समय मार डाला तथा प्रहलाद को राजा बनाया।
5. **वामन**–बलि नामक राक्षस हुआ जिसने संसार पर अधिकार करने के बाद तपस्या करना प्रारम्भ किया। उसकी शक्ति इतनी बढ़ी कि देवता घबड़ा गये तथा विष्णु से प्रार्थना की। फलस्वरूप वे एक बौने का रूप धारण कर राक्षस के सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने दान में तीन पग भूमि मांगी। बलि ने यह स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् उनका आकार अत्यन्त विशाल हो गया तथा दो ही पग में पृथ्वी, आकाश तथा अन्तरिक्ष को नाप दिया। तीसरा पग नहीं उठाया तथा बलि के लिये पाताल छोड़ दिया। अत: वह पृथ्वी छोड़कर पाताल लोक चला गया।
6. **परशुराम**–यमदग्नि नामक ब्राह्मण के पुत्र के रूप में विष्णु ने परशुरामावतार लिया। एक बार यमदग्नि को कीर्त्तवीर्य नामक राजा ने लूटा। परशुराम ने उसे मार डाला। कीर्त्तवीर्य के पुत्रों ने यमदग्नि को मार डाला। परशुराम अत्यन्त क्रुद्ध हुये और उन्होंने समस्त क्षत्रिय राजाओं का विनाश कर डाला। ऐसा इक्कीस बार किया गया। अन्तत: रामावतार में उनका गर्व चूर्ण हुआ और वे वन में तपस्या हेतु चले गये।
7. **रामावतार**–अयोध्या में राजा दशरथ के पुत्र के रूप में विष्णु ने अवतार लिया तथा 'राम' नाम से विख्यात हुए। उन्होंने रावण सहित कई राक्षसों का संहार किया। विष्णु का यह अवतार उत्तर भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय है।

टास्क वैष्णव धर्म में अवतारवाद का सिद्धांत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था इस पर चर्चा करें।

नोट

8. **कृष्ण**–मथुरा के राजा कंस के अत्याचारों से प्रजा की रक्षा करने के लिये वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में विष्णु का कृष्णावतार हुआ। कृष्ण भी राम के ही समान लोकप्रिय हैं। उन्होंने अनेक अलौकिक चमत्कार दिखाये, लीलायें कीं तथा कंस, जरासंध, शिशुपाल आदि का वध किया। महाभारत के युद्ध में पाण्डवों का साथ देकर दुर्योधन का वध करवाया तथा पृथ्वी पर सत्य, न्याय एवं धर्म को प्रतिष्ठित किया।

   राम तथा कृष्ण आज भी करोड़ों हिन्दुओं के आराध्य देव हैं। विदेशों में भी उनकी पूजा की जाती है।

9. **बुद्ध**–इन्हें विष्णु का अन्तिम अवतार माना गया है। जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' से सूचित होता है कि पशुओं के प्रति दया दिखाने तथा रक्तरंजित पशुबलि जैसी प्रथाओं को रोकने के उद्देश्य से विष्णु ने बुद्ध के रूप में अवतार ग्रहण किया। कालान्तर में हिन्दुओं ने अपनी उपासना पद्धति में बुद्ध को देवता के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। विष्णु का यह अवतार अभी वर्तमान है।

10. **कल्कि (कलि)**–यह भविष्य में होने वाला है। कल्पना की गयी है कि कलियुग के अन्त में विष्णु हाथ में तलवार लेकर श्वेत अश्व पर सवार हो पृथ्वी पर अवतरित होंगे। वे दृष्टों का संहार करेंगे तथा पृथ्वी पर पुनः स्वर्ग युग स्थापित होगा।

वैष्णव धर्म में मूर्ति पूजा तथा मन्दिरों आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मूर्ति को ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप माना जाता है। भक्त मन्दिर में जाकर उसकी पूजा करते हैं। दशहरा, जन्माष्टमी जैसे पर्व वासुदेव-विष्णु के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के प्रतीक हैं। वैष्णव उपासक भगवान का कीर्तन करते हैं तथा पवित्र तीर्थों पर एकत्रित होकर स्थान-ध्यान करते हैं। वैष्णव धर्म के प्रमुख आचार्यों में रामानुज, मध्व, बल्लभ, चैतन्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस धर्म का अधिकाधिक प्रचार किया। बाद में चलकर विष्णु का रामावतार सबसे अधिक व्यापक तथा लोकप्रिय हो गया। मध्यकाल में रामकथा का खूब विकास हुआ। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना कर समाज में रामभक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठित कर दिया। आज भी करोड़ों हिन्दू राम की सगुणोपासना करते हैं।

12.6 शैव धर्म (Shaiv Religion)

उत्पत्ति तथा विकास

'शिव' से सम्बद्ध धर्म को 'शैव' कहा जाता है जिसमें 'शिव' को इष्टदेव मानकर उनकी उपासना किये जाने का विधान है। शिव के उपासक 'शैव' कहे जाते हैं। शिव तथा उनसे सम्बन्धित धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। सैन्धव सभ्यता की खुदाई में मोहनजोदड़ो से एक मुद्रा पर पद्मासन में विराजमान एक योगी का चित्र मिलता है। उसके सिर पर त्रिशूल जैसा आभूषण तथा तीन मुख हैं। सर जॉन मार्शल ने इस देवता की पहचान ऐतिहासिक काल के शिव से स्थापित की है। अनेक स्थलों से कई शिवलिंग भी प्राप्त होते हैं। इससे सूचित होता है कि यह भारत का प्राचीनतम धर्म था।

ऋग्वेद में शिव को 'रुद्र' कहा गया है जो अपनी उग्रता के लिए प्रख्यात हैं। क्रुद्ध होने पर वे मानव तथा पशु जाति का संहार करते थे अथवा महामारी फैला देते थे। अतः ऋग्वैदिक काल में रुद्र की उपासना उनके क्रोध से बचने के निमित्त किया करते थे। वस्तुतः रुद्र में विनाशकारी तथा मंगलकारी दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ निहित थीं। बताया गया है कि न मानने वाले मनुष्यों को वे अपने बाणों से छिन्न-भिन्न कर डालते हैं किन्तु अपने भक्तों के प्रति वे अत्यन्त उपकारी हैं जिससे उनकी संज्ञा 'शिव' है। भक्ति द्वारा वे आसानी से प्रसन्न किये जा सकते हैं। वे प्राणियों के रक्षक तथा संसार के स्वामी हैं। उनके पास सहस्त्रों औषधियाँ थीं जिनसे रोगों से छुटकारा मिलता था। ऋग्वेद की देवमण्डली में रुद्र का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं था किन्तु बाद की संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में हम उनकी महत्ता में उत्तरोत्तर वृद्धि पाते हैं वाजसनेयी संहिता के शतरुदीय मन्त्र में रुद्र को समस्त लोकों का स्वामी बताया गया है। वे अन्नों, खेतों तथा वनों के अधिपति होने के साथ ही साथ चोर, डाकुओं, ठगों आदि जघन्य जीवों के भी स्वामी बताये गये हैं। अथर्ववेद में उन्हें भव, शर्व, पशुपति, भूपति आदि कहा गया है। उन्हें व्रात्यों का भी स्वामी कहा गया है। रुद्र का समीकरण अग्नि तथा सवितृ के साथ किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र की गणना सर्वप्रमुख देवता के

नोट

रूप में मिलती है जिनकी शक्ति से देवता तक डरते थे। उन्हें 'सहस्राक्ष' कहा गया है। उनके आठ नाम बताये गये हैं—रुद्र, सर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव तथा ईशान। इनमें प्रथम चार उनके उग्ररूप तथा अन्तिम चार मंगलरूप के द्योतक हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया कि प्रजापति ने अपनी कन्या से समागम किया जिससे क्रुद्ध होकर देवताओं ने उसे दण्डित करने का निश्चय किया। उन्होंने अपने रौद्र रूपों से 'भूतपति' का सृजन किया जिसने प्रजापति का वध कर डाला और इस कार्य से वह 'पशुपति' संज्ञा से विभूषित हुआ। इससे ऐसा संकेत होता है कि ब्राह्मण काल में शैवधर्म ठोस आधार प्राप्त कर रहा था।

उपनिषद्-काल में हम रुद्र की प्रतिष्ठा में और अधिक वृद्धि पाते हैं। श्वेताश्वतर तथा अथर्वशिरस् में रुद्र की महिमा का प्रतिपादन मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् रुद्र की समता परमब्रह्म से स्थापित करते हुए कहता है 'जो अपनी शक्ति से संसार पर शासन करता है, जो प्रलय के समय प्रत्येक वस्तु के सामने विद्यमान रहता है तथा उत्पत्ति के समय जो सभी वस्तुओं का सृजन करता है वह रुद्र है। वह स्वयं अनादि एवं अजन्मा है। अर्थवशिरस् से भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं।

महाकाव्यों के समय में आते-आते शैवधर्म को व्यापक लोकाधार प्राप्त हो गया। रामायण से पता चलता है कि शिव न केवल उत्तरी अपितु दक्षिणी भारत के भी देवता बन गये थे। लंका तक में उनकी पूजा की जाती थी। उन्हें महादेव, शम्भु, त्र्यम्बक, भूतनाथ आदि विरुद् प्रदान किये गये हैं। किन्तु रामायण मूलत: एक वैष्णव ग्रन्थ है। अत: यहाँ विष्णु को शिव की अपेक्षा अधिक महान् देवता बताया गया है। महाभारत में शिव की प्रतिष्ठा का व्यापक विवेचन मिलता है। इसके प्रारम्भिक अंशों में तो शिव कोई महत्त्वपूर्ण देवता नहीं लगते किन्तु बाद के अंशों में हम उनका चित्रण सर्वोच्च देवता के रूप में पाते हैं। उन्हें वासुदेव विष्णु के समक्ष अथवा कहीं-कहीं उनसे भी महत्तर दिखाया गया है। द्रोणपर्व से पता चलता है कि कृष्ण तथा अर्जुन शिव से पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिये हिमालय पर्वत पर जाकर उनकी आराधना करते हैं। वे उन्हें 'विश्व की आत्मा' बताते हैं। भक्ति से प्रसन्न होकर शिव अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान करते हैं। महाभारत में विभिन्न स्थलों पर शिव को सर्वदेव, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आदि संज्ञा प्रदान की गयी है तथा बताया गया है कि देवता ब्रह्मा से लेकर पिशाच तक उनकी आराधना करते हैं। अनुशासन पर्व में कहा गया है कि स्वयं कृष्ण ने पुत्र प्राप्त करने के निमित्त हिमालय पर्वत पर जाकर शिव की आराधना की थी तथा शिव से प्रसन्न होकर उन्हें मनोवांछित फल प्राप्त करने के लिये वरदान दिया था। इस विवरण से संकेत मिलता है कि शिव सर्वोच्च देवता के रूप में मान्य थे। एक स्थान पर कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं कि शिव सभी चल-अचल वस्तुओं के स्रष्टा हैं तथा उनसे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है।

शिव की उपासना अनेक साहित्यिक तथा पुरातात्विक प्रमाणों से सिद्ध होती है। भारत की प्राचीनतम आहत मुद्राओं, जिनमें से कुछ की तिथि ईसा पूर्व छठी-पाँचवीं शती तक जाती है, के ऊपर भी शिवोपासना के प्रतीक वृषभ, नन्दिपद आदि चिह्न मिलते हैं। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज 'डायनोसस' (Diynosus) के नाम से शिवपूजा का उल्लेख करता है जो पर्वतीय क्षेत्रों में अधिक प्रचलित थी। अर्थशास्त्र से भी पता चलता है कि मौर्य युग में शिव पूजा प्रचलित थी। कौटिल्य नगर के मध्य में शिवसदन स्थापित करने का सुझाव देता है। पतंजलि के महाभाष्य से पता चलता है कि ईसा पूर्व दूसरी शती में शिव की मूर्ति बनाकर पूजा की जाती थी। महाभाष्य में शिव के विभिन्न नामों—रुद्र, गिरीश, महादेव, त्र्यम्बक, भव, सर्व आदि का उल्लेख मिलता है। शिव के उपासकों को 'शैव' कहा गया है। शक, पह्लव, कुषाण आदि शासकों के सिक्कों पर शिव, वृषभ, त्रिशूल की आकृतियाँ मिलती है जिनसे स्पष्ट है कि विदेशियों में भी शिव पूजा का प्रचार था।

गुप्त राजाओं के समय में वैष्णव धर्म के साथ ही साथ शैव धर्म की भी महती उन्नति हुई। शिव की उपासना में मन्दिर तथा मूर्तियाँ स्थापित की गयीं। **उदयगिरि गुहालेख से पता** चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रधानमन्त्री वीरसेन शैव था तथा उसने उदयगिरि पहाड़ी पर एक शैव गुफा का निर्माण करवाया था (भक्त्या भगवतश्शम्भो: गुहामेकामकारयत्)। कुमारगुप्त प्रथम के काल में करमदंडा तथा खोह में शिवलिङ्गो की स्थापना करवायी थी। **गुप्त काल में भूमरा में** शिव तथा नचनाकुठार में पार्वती के मन्दिरों का निर्माण करवाया गया था। गुप्तकालीन रचनाओं में अनेक स्थानों पर शिव पूजा उल्लेख मिलता है। कालिदास शिव के अनन्य उपासक थे। उन्होंने कुमारसम्भव में

नोट

शिव की महिमा का गुणगान किया है। इस काल के पुराण भी शिव के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हैं। उन्हें देवों में श्रेष्ठ महादेव (देवेषु महान् देवों महादेव:) कहा गया है। पुराणों में लिंगपूजा का भी उल्लेख मिलता है। इन सभी विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पाँचवीं शती का समाज में शैव धर्म ने व्यापक लोकाधार प्राप्त कर लिया था तथा शिव विभिन्न नामों और रूपों में पूजे जाते थे। सम्भवत: लिंग रूप में शिव पूजा का प्रसार गुप्तकाल में ही हुआ था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. लिंगायत मत के प्रचारकों ने अपना पूरा साहित्य कन्नड गद्य में लिखा।
9. 'मालती माधव' नाटक विल्हण की रचना है।
10. हर्ष के समकालीन शासक शशांक एवं भास्कर वर्मा शैव मतानुयायी थे।
11. यूनानी राजदूत मेगस्थनीज (डायनोसस) के नाम से शिव पूजा का उल्लेख करता है जो पर्वतीय क्षेत्रों में अधिक प्रचलित थी।

गुप्त काल के पश्चात् भी शैवधर्म की उन्नति होती रही। वर्धनकाल में इसका समाज में काफी प्रचार था। बाणभट्ट तथा हुएनसांग दोनों ही इसका उल्लेख करते हैं। हर्षचरित में कहा गया है कि थानेश्वर नगर के प्रत्येक घर में भगवान शिव की पूजा होती थी (गृहे-गृहे अपूज्यत भगवान खण्डपरशु:)। हुएनसांग लिखता है कि वाराणसी शैव धर्म का प्रमुख केन्द्र था जहाँ उनके एक सौ मन्दिर थे। यहाँ शिव के 10 हजार भक्त निवास करते थे। उज्जैन का महाकाल मन्दिर भी पूरे देश में प्रसिद्ध था। हर्ष के समकालीन शासक शशांक एवं भास्करवर्मा भी शैवमतानुयायी थे। शशांक तो कट्टर शैव था।

राजपूतकाल (700-1200 ई०) में भी शैव धर्म समाज में अत्यधिक लोकप्रिय था। साहित्य तथा अभिलेख, दोनों इसकी पुष्टि करते हैं। कई राजपूत शासक शिव के अनन्य उपासक थे तथा उन्होंने विशाल तथा भव्य मन्दिरों का निर्माण करवाया था। चन्देल युग में खजुराहों का सुप्रसिद्ध कंदारिया महादेव मन्दिर निर्मित हुआ। राजस्थान, गुजरात, मध्यभारत, बंगाल, असम, आदि सर्वत्र शिव मन्दिर एवं मूर्तियाँ निर्मित की गयी। गुजरात के काठियावाड़ में स्थित सोमनाथ का मन्दिर पूर्व मध्यकाल में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं समृद्ध था जो महमूद द्वारा तोड़ डाला गया। अल्बेरूनी इसका विवरण देता है। मन्दिरों के अतिरिक्त शिव तथा पार्वती की अनेक मूर्तियों का भी निर्माण किया गया। शिव लिंगों की भी स्थापना हुई।

उत्तरी भारत के साथ ही साथ दक्षिणी भारत में भी शिव-पूजा का व्यापक प्रचार-प्रसार था। दक्षिण में शासन करने वाले चालुक्य, राष्ट्रकूट, पल्लव, चोल आदि राजवंशों के समय में शैव धर्म की उन्नति हुई तथा शिव के अनेक मन्दिर तथा मूर्तियाँ बनवायी गयीं। राष्ट्रकूटों के समय में एलोरा का प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर निर्मित किया गया था। पल्लव काल में शैव धर्म का प्रचार-प्रसार नायनारों द्वारा किया गया। नायनार सन्तों की संख्या 63 बताई गयी है जिनमें अप्पार, तिरुज्ञान, सम्बन्दर, सुन्दर मूर्ति, मणिक्कवाचगर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके भक्तिगीतों को एक साथ 'देवारम' में संकलित किया गया है। इनमें अप्पार, जिसका दूसरा नाम तिरूनाबुक्करशु भी मिलता है, पल्लवनरेश महेन्द्रवर्मन् प्रथम का समकालीन था। उसका जन्म निरुगमूर के बेल्लाल परिवार में हुआ था। बताया जाता है कि पहले वह एक जैन मठ में रहते हुए भिक्षु जीवन व्यतीत करता था। बाद में शिव की कृपा से उसका एक असाध्य रोग ठीक हो गया जिसके फलस्वरूप जैन मत का परित्यागकर वह निष्ठावान शैव बन गया। अप्पर ने दास भाव से शिव की भक्ति की तथा उसका प्रचार जनसाधारण में किया। **तिरुज्ञान सम्बन्दर**, शियाली (तन्जोर जिला) के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुआ था। उसके विषय में एक कथा में बताया गया है कि तीन वर्ष की आयु में ही पार्वती की कृपा से उसे दैवीज्ञान प्राप्त हो गया था। उसके पिता ने उसे सभी तीर्थों का भ्रमण कराया। कहा जाता है कि पाण्ड्य देश की यात्राकर उसने वहाँ के राजा तथा प्रजा को जैन धर्म से शैवधर्म में दीक्षित किया था। सम्बन्दर का बौद्ध आचार्यों के साथ भी वाद-विवाद हुआ तथा सभी को उसने शास्त्रार्थ में पराजित किया। उसने कई भक्ति गीत गाये

नोट

तथा इस प्रकार उसकी मान्यता सबसे पवित्र सन्त के रूप में हो गयी। आज भी तमिल देश के अधिकांश शैव मन्दिरों में उसकी पूजा की जाती है। सुन्दरमूर्ति का जन्म नावलूर के एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उसका पालन-पोषण नरसिंह मुवैयदरेयन नामक सेनापति ने किया। यद्यपि उसका जीवन-काल मात्र अठारह वर्षों का रहा फिर भी वह अपने समय का अनन्य शैवभक्त बन गया। उसने लगभग एक सहस्त्र भक्तिगीत लिखे। सुन्दरमूर्ति को 'ईश्वरमिश्र' की उपाधि से सम्बोधित किया गया। इसी प्रकार मणिक्कवाचगर, मदुरा के समीप एक गाँव के ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुआ था। चिदम्बरम् में उसने लंका के बौद्धों को वाद-विवाद में परास्त कर ख्याति प्राप्त किया। उसने भी अनेक भक्तिगीत लिखे जिन्हें 'तिरुवाशगम्' में संग्रहीत किया गया है। उसके गीतों में प्रेम तत्व की प्रधानता है। उसके द्वारा विरचित एक भक्तिगीत का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है–

इंद्र या विष्णु अथवा ब्रह्मा
उनके दिव्य सुख की कामना मुझे नहीं हैं
मैं तेरे संतों का प्रेम चाहता हूँ
भले ही मेरा घर इससे नष्ट हो जाए।
मैं रौरव नरक में जाने को तैयार हूँ
बस तेरी कृपा मेरे साथ रहे
जो सर्वश्रेष्ठ है मेरा मन
तेरे अतिरिक्त और देव की कल्पना कर ही कैसे सकता है?.....
मेरे पास कोई गुण, तपस्या, ज्ञान, आत्संयम नहीं था
कठपुतली मात्र था मैं
दूसरों की इच्छा पर नाचता था, प्रसन्न होता था और गिरता था। किन्तु मेरे
अंग-प्रत्यंग में उसने
भर दी है प्रेम की मदमत्त अभिलाषा जिससे मैं पहुँच सकूँ
वहाँ तक जहाँ से लौटा नहीं जा सकता।
उसने अपना सौंदर्य दिखाकर मुझे अपना बना लिया। हाय मैं,
कब उसके पास जाऊँगा मैं?

इन सभी शैव सन्तों ने भजनकीर्तन, शास्त्रार्थ एवं उपदेशों के माध्यम से तमिल समाज में शिव भक्ति का जोरदार प्रचार किया। इन्होंने भक्ति को ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया। नायनार जाति-पाँति के विरोधी थे तथा उन्होंने समाज के सभी वर्णों के लोगों में जाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। चोलों के समय में सुदूर दक्षिण में शैव धर्म का खूब उत्थान हुआ। चोल शासक राजराज प्रथम शिव का अनन्य उपासक था। जिसने तंजोर में राजराजेश्वर का सुप्रसिद्ध शैव मन्दिर निर्मित करवाया था। शिव की कई मूर्तियाँ भी स्थापित की गयीं। राजराज का पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल भी शिव का भक्त था जिसने अपनी राजधानी में 'बृहदीश्वर' मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसके समय में शैव धर्म दक्षिणी भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म बन गया। चोल शासक कुलोत्तुंग प्रथम (1070-1120 ई०) का काल शैव धर्म की उन्नति के लिये उल्लेखनीय है। वह एक कट्टर शैव था जिसके विषय में कहा गया है कि शिव के प्रति अतिशय श्रद्धा के कारण उसने चिदम्बरम् मन्दिर में स्थापित विष्णु की प्रतिमा को उखाड़ कर समुद्र में फेंकवा दिया था। इस घटना से क्षुब्ध होकर वैष्णव आचार्य रामानुज को कुछ काल के लिये चोल राज्य छोड़ना पड़ा था। यह भी बताया गया है कि उसने रामानुज या उनके शिष्यों को उत्पीड़ित किया गया था। इन कथानकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चोल कालीन तमिल समाज में शैव धर्म का ही बोल-बाला था। इस वंश के अधिकांश राजाओं ने विशाल तथा भव्य शैव मन्दिरों, शिवलिंगों तथा मूर्तियों के निर्माण में गहरी रुचि प्रदर्शित की थी।

नोट

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव की उपासना भारत में प्रागैतिहासिक युग से प्रारम्भ होकर प्राचीन काल के अन्त तक विकसित होती रही तथा शिव को हिन्दू धर्म में एक अत्यन्त प्रमुख स्थान मिला। उनकी गणना त्रिदेवों–ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश में की गयी। आज भी शैव धर्म भारतीय हिन्दू जनता का एक प्रमुख धर्म बना हुआ है। नैष्ठिक हिन्दू देश के विभिन्न भागों में स्थित द्वादश ज्योतिर्लिंगों–सोमनाथ, केदारनाथ, विश्वनाथ (काशी), वैद्यनाथ, मल्लिकार्जुन (आन्ध्र), नागेश्वर (द्वारका के समीप), महाकालेश्वर (उज्जैन), रामेश्वरम्, ओंकारेश्वर (अमलेश्वर–म. प्र.), भीमेश्वर (नासिक), त्र्यम्बकेश्वर (नासिक) तथा घुश्मेवर (औरंगाबाद-महाराष्ट्र)–के दर्शन कर अपने को धन्य समझते हैं।

शिव के व्यक्तित्व में हमें आर्य तथा आर्येतर तत्वों का समन्वय देखने को मिलता है।

विष्णु तथा शिव के साथ-साथ हिन्दुओं के तीसरे प्रमुख देवता 'ब्रह्मा' है किन्तु उनके नाम से कोई सम्प्रदाय नहीं चला। ब्रह्मा का एकमात्र मन्दिर राजस्थान में अजमेर के पास पुष्कर तीर्थ में स्थित है। इसके प्रवेश द्वार पर उनके वाहन हंस की मूर्ति उत्कीर्ण है।

शैव धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय

शिव के उपासकों के कई सम्प्रदाय बन गये, जिनके आधार एवं नियम अलग-अलग थे। कुछ सम्प्रदायों का परिचय इस प्रकार है–

पाशुपत सम्प्रदाय

यह शैवों का सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है जिसकी उत्पत्ति ईसा-पूर्व दूसरी शती में हुई थी। पुराणों के अनुसार इस सम्प्रदाय की स्थापना लकुलीश अथवा लकुली नामक ब्रह्मचारी ने की थी। इस सम्प्रदाय के अनुयायी लकुलीश को शिव का अवतार मानते हैं। इस सम्प्रदाय के लोग अपने हाथ में एक लगुड या दण्ड धारण करते थे जिसे शिव का प्रतीक माना जाता था। इसका प्राचीनतम अंकन कुषाण शासक हुविष्क (द्वितीय शती) की एक मुद्रा पर मिलता है। गुप्तकाल में भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे। **चन्द्रगुप्त द्वितीय कालीन मथुरा लेख में उदिताचार्य नामक एक पाशुपत मतानुयायी का उल्लेख मिलता है जिसने दो लिंगों की स्थापना करवायी थी।** बाणभट्ट ने कादम्बरी में इस सम्प्रदाय का उल्लेख किया है तथा लिखा है कि इसके अनुयायी अपने मस्तक पर भस्म पोतते थे तथा हाथ में रुद्राक्ष की माला धारण करते थे। हुएनसांग सिन्ध तथा अहिच्छत्र के लोगों को पाशुपत मतानुयायी कहता है। राजपूत काल में इस सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार था तथा कई शासक इसके पोषक थे। चाहमान विग्रहपाल के एक लेख में पाशुपात सम्प्रदाय की चर्चा है। कलचुरि-चेदि वंश के शासक भी इस मत के मानने वाले थे। कहीं-कहीं पाशुपत तथा शैव को एक-दूसरे का पर्याय बताया गया है। शैव सन्तों के लिये 'पाशुपत आचार्य' संज्ञा का प्रयोग मिलता है। महेश्वर कृत 'पाशुपतसूत्र' तथा वायु पुराण से पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। पाशुपत सम्प्रदाय के अन्तर्गत पाँच पदार्थों की सत्ता को स्वीकार किया गया है–

(1) **कार्य**–जिसमें स्वतन्त्र शक्ति नहीं है उसे कार्य कहा जाता है। इसमें जड़ तथा चेतन की सभी सत्तायें आ जाती हैं।

(2) **कारण**–जो सभी वस्तुओं की सृष्टि तथा संहार करता है यही कारण है। यह स्वतन्त्र तत्व है जिसमें असीम ज्ञान तथा शक्ति होती है। यही परमेश्वर (शिव) है।

(3) **योग**–इसके द्वारा चित्त के माध्यम से जीव तथा परमेश्वर में सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके दो प्रकार हैं–क्रियात्मक (जय, तपादि) तथा अक्रियात्मक (क्रियाओं से निवृत्त होकर तत्व-ज्ञान की प्राप्ति करना)।

(4) **विधि**–जीव को महेश्वर की प्राप्ति कराने वाले साधन को विधि कहा गया है। मुख्य (चर्या), तथा गौण इसके दो विभेद हैं। शरीर पर भस्म लगाना, मन्त्र, जप, प्रदक्षिणा आदि इसके प्रमुख अंग माने गये हैं।

(5) **दु:खान्त**–इसका अर्थ है दु:खों से मुक्ति पाना। इसके दो भेद बताये गये हैं–अनात्मक अर्थात् मात्र दु:खों से छुटकारा तथा सात्मक अर्थात् ज्ञान और कर्म की शक्ति द्वारा अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करना।

नोट

भारत तथा विश्व के कुछ अन्य भागों में आज भी पाशुपत सम्प्रदाय का प्रचार है। नेपाल के काठमाण्डू का पशुपतिनाथ मन्दिर आज भी इस मत के श्रद्धालुओं का विशिष्ट केन्द्र है।

कापालिक सम्प्रदाय

शैव धर्म का दूसरा सम्प्रदाय कापालिक है जिसके उपासक भैरव को शिव का अवतार मानकर उनकी उपासाना करते हैं। इस मत के अनुयायी सुरा-सुन्दरी का पान करते हैं, जटा-जूट रखते हैं, माँस ग्रहण करते हैं, शरीर पर श्मशान की भस्म लगाते हैं तथा हाथ में नरमुण्ड धारण करते हैं। इसके आचार वीभत्स हैं। इस मत के उपासक अत्यन्त क्रूर स्वभाव के होते हैं। भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक से पता चलता है कि 'श्रीशैल' नामक स्थान कापालिकों का प्रमुख केन्द्र था। वे नरमुण्डों की माला पहने रहते थे। भैरव को प्रसन्न करने के लिये वे मनुष्यों तक की बलि देते थे।

लिंगायत सम्प्रदाय

लिंगायत अथवा वीर शैव धर्म का ही एक सम्प्रदाय था जिसका प्रचार बारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत (विशेषकर कर्नाटक तथा तेलुगु प्रदेश) में व्यापक रूप से हुआ। इस सम्प्रदाय ने दक्षिण के सामाजिक-धार्मिक जीवन में वास्तविक क्रान्ति लाने के लिये एक जन-आन्दोलन का सूत्रपात किया।

लिंगायत सम्प्रदाय का संस्थापक बसव कल्याणी के कलचुरि नरेश विज्जल (विजयादित्य, 1145-1167 ई०) का मंत्री था। शैवागम परम्परा के अनुसार इस मत के संस्थापक पाँच ऋषि थे–रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा शिवाराध्य। इनका जन्म शिव के पाँच विशिष्ट लिंगों से हुआ था। कुछ लेखक इसके सिद्धान्तों को ऋग्वेद तथा उपनिषदों से नि:सृत बताते हैं। किन्तु इस प्रकार की मान्यता के लिये कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। वास्तविकता यह है कि हम बसव तथा उसके शिष्य चन्नबासव के आधार पर ही लिंगायत मत के विषय में प्रमाणिक जानकारी प्राप्त करते हैं। बसव का जन्म बीजापुर जिले के वगेवाडी नामक ग्राम में हुआ था। वे मादिराज तथा मादलाम्बिका के पुत्र थे जो धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। परम्परा के अनुसार उनका जन्म शैव सम्प्रदाय के उद्धार के लिये हुआ जो उस समय पतनोन्मुख था। आठ वर्ष की आयु में उन्होंने शैव मत का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन्होंने अपने को शिव का विशेष भक्त बताया तथा घोषणा की कि वे संसार में जाति प्रथा को समाप्त करने के लिये आये हैं। कल्याणी नरेश विज्जल ने उन्हें अपना प्रधानमंत्री, प्रधान सेनापति तथा कोषाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। इन पदों पर रहते हुए उन्होंने अपने मत का जोरदार प्रचार किया। इस कार्य में उन्हें अपने योग्य भांजे चन्नबसव की सहायता मिली। इस प्रक्रिया में उन्होंने जैन आदि कुछ धार्मिक सम्प्रदायों पर अत्याचार भी किया। धीरे-धीरे उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गयी तथा उनके सम्प्रदाय ने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। उसके एक कट्टर अनुयायी का नाम एकान्तद रामय्य मिलता है जिसने इस मत के प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। फ्लीट का तो कहना है कि लिंगायत आन्दोलन का वास्तविक जनक यही था तथा बसव ने काफी बाद में इसको राजनैतिक सहायता प्रदान किया था। बसव पुराण से इस बात की पुष्टि होती है।

लिंगायत मत के प्रचारकों ने अपना पूरा साहित्य कन्नड़ गद्य में लिखा। इसे 'वचन' कहा जाता है। वचन एक दूसरे से पृथक अनुच्छेद (Paragraph) है। प्रत्येक के अन्त में शिव का कोई न कोई नाम आता है जिससे उनकी वन्दना की जाती है। प्राय: 200 वीर शैव लेखक हुए जिनमें कुछ महिलायें भी थीं। धन का घमण्ड, कर्मकाण्ड तथा पुस्तकीय ज्ञान की निस्सारता, जीवन की अनिश्चितता, शिव भक्तों का आध्यात्मिक विशेषाधिकार आदि इनके विषय हैं। लोगों को सांसारिक धन-दौलत एवं सुख के साधनों के परित्याग, संसार में अलिप्तता का जीवन व्यतीत करने तथा शिव की शरण में जाने का उपदेश दिया गया है। वचन के उपदेश अत्यन्त उपदेशात्मक, भक्तिपूर्ण एवं सारगर्भित हैं। बसव ने अपना जनेऊ तोड़ दिया, वर्णाश्रम धर्म, सन्यास, तप आदि को नकारते हुए मोक्ष का अधिकार सभी जातियों को प्रदान किया।

लिंगायत सम्प्रदाय के अनुयायी अपने साथ सदा एक छोटा सा शिवलिंग रखते थे। यह सामान्यत: एक चाँदी की डिबिया में रहता था जिसे वे अपनी गरदन में धागे से बाँधकर लटकाये रहते थे। ये लिंग तथा नन्दि की पूजा करते थे। बसव को नन्दि का अवतार बताया गया है। ये ब्राह्मण-विरोधी हैं तथा मूर्ति-पूजा एवं पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। वेदों की प्रामाणिकता इन्हें मान्य नहीं है तथा यज्ञों के अवसर पर दी जाने वाली बलि का भी ये विरोध करते

नोट

हैं। इनमें बाल-विवाह को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा विधवा-विवाह को मान्यता दी गयी थी। धार्मिक एवं सामाजिक पाखण्डों पर बसव द्वारा दिया गया यह व्यंग्य उल्लेखनीय है–

"बूचड़खाने से लाई जाने वाली भेंड़ उस माला के पत्ते को खाती है जिससे उसे सजाया जाता है। साँप के मुँह में पड़ा हुआ मेढ़क अपने मुँह के पास पड़ी हुई मक्खी को निगलना चाहता है। ऐसा ही हमारा जीवन है। मृत्यु के मुँह में ढकेला जाने वाला व्यक्ति दूध और घी पीता है.....जब वे पत्थर में खुदा हुआ साँप देखते हैं तो उस पर दूध चढ़ाते हैं और यदि जीवित साँप दिखाई देता है तो वे 'मारो-मारो' चिल्लाते हैं। परमात्मा के सेवक को–जो भोजन परोसने पर खा सकता है–वे कहते हैं भाग जा, भाग जा; परन्तु परमात्मा की प्रतिमा को–जो खा नहीं सकती–वे भोग लगाते हैं।"

लिंगायतों के संगठन में मठों का प्रमुख स्थान था। इस सम्प्रदाय के सभी सदस्यों के बीच पूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक समानता देखने को मिलती है। ऐसा इस्लाम एवं जैन मत के प्रभाव से संभव हुआ। बसव ने तीर्थ-यात्रा, यज्ञ-बलि आदि का विरोध किया। शव-दाह का भी वह विरोधी था तथा मृतकों को समाधिस्थ करने की बात कही। उसके कुछ अनुयायी आज भी भू-समाधिस्थ किये जाते हैं। लिंगायतों के अधिक उदार सामाजिक विचारों के कारण निम्न जाति के लोगों का उन्हें समर्थन प्राप्त हुआ तथा उनके धर्म ने एक लोक धर्म का रूप ग्रहण कर लिया।

ये 63 नायनार सन्तों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं तथा उन्हें अपना प्राचीन गुरु मानते हैं। इसके पश्चात् वे 770 ऋषियों का भी सम्मान करते है।

लिंगायत निष्काम कर्म में विश्वास करते हैं। शिव को परम तत्व माना गया है जो पूर्णतया अहंता तथा स्वतंत्र है। सृष्टि की उत्पत्ति शिव से ही होती है तथा भक्ति के कारण उसका शिव से तादात्म्य होता है। इस सम्प्रदाय में लिंग पूजा का विशिष्ट स्थान है। लिंग के तीन भेद किये गये हैं–

1. **भाव लिंग**–यह सर्वश्रेष्ठ परम तत्व है जो दिक् काल की सीमा से परे है। यह कलाविहीन एवं सत्य स्वरूप है। इसका साक्षात्कार केवल श्रद्धा से किया जा सकता है।
2. **प्राण लिंग**–यह कलाविहीन तथा कलायुक्त दोनों है। इसका ज्ञान सूक्ष्म दृष्टि से हो सकता है। यह सूक्ष्म तत्व है।
3. **इष्ट लिंग**–यह स्थूल रूप है जिसे नेत्रों से देखा जा सकता है।

इन तीनों का क्रमशः सत्, चित् तथा आनन्द कहा गया है। लिंग की शक्ति को कला तथा अंग की शक्ति को भक्ति कहा गया है। शिव के दो भेद हैं–अंग स्थल तथा लिंग स्थल। पहला उपास्य तथा दूसरा उपासक (जीव) है। लिंगायतों के अनुसार जो विधिवत उनके मत में दीक्षित होता है, उसे मुक्ति प्राप्त होती है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यहाँ लिंग शिश्न का प्रतीक न होकर परमात्मा की प्राप्ति का प्रतीक है।

इस प्रकार लिंगायत सम्प्रदाय बारहवीं शती में एक सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन के रूप में प्रवर्तित हुआ जिसने अपने समकालीन समाज एवं धर्म की कुरीतियों पर जोरदार प्रहार किया। लेकिन इसके बावजूद दक्षिण में वर्णाश्रम धर्म का प्रचलन बना रहा तथा ब्राह्मणों की जातिगत श्रेष्ठता विद्यमान रही। हैदराबाद तथा मैसूर के कुछ भागों में आज भी लिंगायत अपनी सत्ता बनाये हुए हैं।

कश्मीरी शैव सम्प्रदाय

कश्मीर में शैव धर्म का एक नया सम्प्रदाय विकसित हुआ जो सिद्धान्त तथा आचार में अन्य सम्प्रदायों से भिन्न था। यह शुद्ध रूप से दार्शनिक अथवा ज्ञानमार्गी सम्प्रदाय है जिसमें कापालिकों के घृणित आचारों जैसे सुरा-सुन्दरी पान, शरीर पर श्मशान की राख लगाना, नरकपाल में भोजन, मानव तथा पशु की बलि चढ़ाना आदि की कटु शब्दों में निन्दा की गयी है। ज्ञान को ही परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र साधन माना गया है।

कश्मीरी शैव मत में शिव को अद्वैत शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। वह सर्वव्यापी है तथा जगत् उसी का रूप है। शक्ति के साथ मिलकर वह सृष्टि की रचना करता है। चित्, आनन्द, ज्ञान क्रिया, इच्छा–ये उसकी शक्तियाँ मानी गयी हैं। जीव अपने वास्तविक रूप में शिव ही है किन्तु अज्ञान के कारण उसे वास्तविकता का बोध नहीं हो

नोट

पाता। अज्ञान का आवरण हटते ही वह शिव की प्राप्ति कर लेता है। यह मोक्ष है। भक्ति की महत्ता को भी इस मत में स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त प्रमुख सम्प्रदायों के साथ-साथ शैव धर्म में कुछ अन्य सम्प्रदायों का भी प्रचलन हुआ। दसवीं शती के अन्त में मत्स्येन्द्रनाथ ने 'नाथपन्थ' नामक सम्प्रदाय चलाया। इसमें शिव को आदिनाथ मानते हुए नौ नाथों को दिव्य पुरुष के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। इनकी क्रियायें तथा आचार बज्र यानी बौद्धों से मिलते-जुलते हैं। नाथों की साधना-पद्धति में नारी का प्रमुख स्थान है। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में बाबा गोरखनाथ ने इस मत को अधिकाधिक प्रचार-प्रसार किया था।

12.7 सारांश (Summary)

वैष्णव धर्म में ईश्वरभक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर बल दिया गया है। भक्ति के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह भक्त को अपनी शरण में ले लेता है। वैष्णव सिद्धान्तों का गीता में सर्वोत्तम विवेचन मिलता है। इसमें ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का समन्वय स्थापित करते हुए भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का प्रतिपादन मिलता है। स्वयं भगवान कृष्ण कहते है कि "सभी धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करुँगा।"

12.8 शब्दकोश (Keywords)

- बहुदेववाद (Polytheism)–विभिन्न देवी देवताओं के अस्तित्व में विश्वास।
- रहस्यमय (Mysteries)–मर्म धार्मिक सत्य जो सामान्यतया नहीं समझा जा सकता है।

12.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है कथन की विवेचना करें?
2. शाक्त धर्म की उत्पत्ति के कारणों का विस्तार से वर्णन करें?
3. गुप्तकाल के पश्चात् भी शैवधर्म की उन्नति होती रही कथन की समीक्षा करें?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. पृथिवी	2. अश्वमेघ	3. महाभारत तथा पुराणों	4. (*a*)
5. (*c*)	6. (*b*)	7. (*b*)	8. सही
9. गलत	10. सही	11. सही।	

12.10 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*

नोट

इकाई–13: राज्यों का संगठन एवं नगरीकरण (State Formation and Urbanization)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)
प्रस्तावना (Introduction)
13.1 नगरीकरण की पृष्ठभूमि (Context of Urbanization)
13.2 नगरीकरण का आर्थिक विकास में योगदान (Urbanization's Contribution in Economic Growth)
13.3 गणतन्त्र एवं मगध साम्राज्य का उत्थान (Rising of Magadh Kingdom and Republic)
13.4 सारांश (Summary)
13.5 शब्दकोश (Keywords)
13.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
13.7 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- नगरीकरण की पृष्ठभूमि को समझने हेतु।
- नगरों का अर्थव्यवस्था के विकास में योगदान का वर्णन करने हेतु।
- मगध साम्राज्य का उत्थान एवं गणराज्यों की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इस काल में शक्तिशाली राज्यों की स्थापना के साथ नगरों के विकास की प्रक्रिया का प्रारंभ देखा जाता है। छठी शताब्दी ई.पू. से शुरू होने वाले काल में भारतवर्ष में दूसरी बार नगरों का उदय हुआ। यह नगरीयकरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था कि लंबे समय तक यह नगरीय व्यवस्था रही और इसी काल में साहित्य की लेखन परंपराओं का प्रारंभ हुआ। पुराविदों की मान्यता है कि इतिहास के इस चरण का संबंध काले पॉलिश युक्त मृद्भाण्ड (NBPW) जैसे उत्कृष्ट बर्तनों का प्रयोग करने वाली बस्तियों से है। इन बस्तियों में व्यापार तथा जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही। कौशाम्बी, उज्जयिनी, वाराणसी, राजगृह के चारों ओर किलेबंदी के प्रमाण मिले हैं।

नगरीयकरण की प्रक्रिया ऐतिहासिककाल में छठी शताब्दी ईसा पूर्व में शुरू हुई जिसका प्रारंभ गंगा एवं सहायक नदियों के किनारे हुआ। इस क्षेत्र की नदियाँ संचार का माध्यम भी थीं। आरंभ में अधिकांश नगर छोटे-छोटे राज्यों की राजधानियाँ और अन्य राजनैतिक तथा व्यापारिक गतिविधियों के केन्द्र थे। शहरों की परिभाषा पाणिनि के आधार

नोट

पर पतंजलि ने की है और ग्राम तथा शहरों के वर्गीकरण का आधार व्यवसाय को बनाया है। पतंजलि ने चार प्रकार की बस्तियों का जिक्र किया है–ग्राम, घोष, नगर एवं संवाह। कृषक और पाँच तरह के कामगार (शिल्पज्ञ) तथा ब्राह्मण जिस बस्ती में निवास करते थे उसे ग्राम की संज्ञा दी गई। जिन लोगों की बस्ती में गाय, भैंस आदि पालने वाले लोग रहते थे उसे 'घोष' कहा गया। जिन बस्ती में विविध कामगार, शिल्पकार पृथक्–पृथक् मोहल्लों में रहते थे उसे नगर संबोधित किया जाता था एवं इससे बड़ी बस्ती को संवाह कहा जाता था। आर.एस. शर्मा की भी यही धारणा रही है कि शहर के वर्गीकरण में आबादी को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। प्रो. शर्मा लिखते हैं कि शहर में ऐसे लोगों का बाहुल्य होता है जो खेतिहर नहीं होते हैं। अत: एक शहर के अगल–बगल के क्षेत्र में जब तक काफी मात्रा में खाद्यान्न पैदा नहीं हो तब तक शहर में रहने वालों के भोजन का प्रबंध नहीं हो सकता और इस प्रकार शहर में बड़ी आबादी नहीं रह सकती है।

गंगा की उपत्यका में विकसित हुए इस युग के नगरों के बारे में हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि इनकी बसावट हड़प्पाकालीन नगरों के समान योजनाबद्ध नहीं थी। दूसरे शब्दों में प्रारंभिक शहरी बस्तियाँ स्वाभाविक बसावट का प्रतिफल थीं। हड़प्पा नगरों को जहाँ पहले से योजना बनाकर बसाया गया वह तकनीक इस दौर में विकसित नहीं हुई थी। यद्यपि योजनाबद्ध नगर बसाने का कार्य ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तक आते दिखाई देने लगता है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी एवं इसके बाद की शताब्दियों में उदित नगरों के बारे में तत्कालीन साहित्य में जो विवरण मिलते हैं वह अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। तत्कालीन साहित्य में अयोध्या एवं वैशाली जैसे नगरों का क्षेत्रफल 30 से 50 वर्ग किलोमीटर दर्शाया गया लेकिन उत्खनन से प्राप्त प्रमाणों से इसकी पुष्टि नहीं होती। इसी प्रकार महलों आदि का वर्णन भी अतिरंजित है। प्रो. आर. एस. शर्मा ने तत्कालीन नगरों के उत्खनन से प्राप्त स्रोतों के आधार पर जिक्र किया है, "इन शहरों का भौतिक जीव बहुत ऊंचा नहीं था। मध्य गंगा के किनारे बसे कौशाम्बी, वाराणसी, खैराडीह, वैशाली, राजगृह, चम्पा जैसे शहरों का उदय हुआ किन्तु इनके मकान मिट्टी के बने होते थे और ऐसा लगता है कि फूस से इन मकानों का छाजन होता था। मकान लकड़ियों से भी बनते थे। मौर्य काल से पहले पकी ईंट का प्रयोग मकान बनाने में नहीं होता था।" मौर्य काल के दौरान जब राजधानी राजगृह से हटाकर पाटलिपुत्र बनाई गई तब स्मारकीय वास्तु अवशेष मिलने प्रारंभ होते हैं। उत्तर मगधकाल में शहरीकरण की प्रक्रिया तेज हो गई थी और शहर व्यापारिक व राजनैतिक गतिविधियों के केन्द्र बनने लगे थे तब लोगों ने लकड़ी के स्थान पर ईंटों का प्रयोग करना शुरू किया। कहा जा सकता है कि उत्तर मगधकालीन शहरों में हड़प्पा नगरों के निर्माण में प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री का प्रयोग शुरू हुआ। इसीलिए हड़प्पन नगरों को नगरीयकरण का पहला चरण माना जाता है और ईसा पूर्व की छठी शताब्दी में पनपे नगरों को नगरीयकरण के दूसरे सोपान की संज्ञा दी जाती है।

13.1 नगरीकरण की पृष्ठभूमि (Context of Urbanization)

नगर योजना की चर्चा करने से पूर्व नगरीकरण के विकास की पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि पूर्व दिशा में मगध, कलिंग, बंग आदि के राजाओं का साम्राज्य के लिए अभिषेक होता है और वे सम्राट कहलाते हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में अलग–अलग श्रेणी के राज्यों का उल्लेख आया है और साम्राज्य को श्रेष्ठ बताया गया है। साम्राज्य के शासक को सम्राट कहकर संबोधित किया जाता था और उनकी राज्य विस्तार की नीति से साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। इस प्रक्रिया में एक राजा द्वारा दूसरे राज्य पर अधिकार, सेनाओं के विस्तार, एक स्थान से दूसरे स्थान हेतु सेनाओं का प्रस्थान, पड़ाव आदि के कारण नये व्यवसाय एवं व्यापारिक गतिविधियों में तेजी आई। अनेक नगरों का दुर्गीकरण हुआ। प्राचीन ग्रंथ दुर्गीकरण के आख्यानों से भरे पड़े हैं। दृढ़ किले सुरक्षा के महत्त्वपूर्ण आधार माने जाने लगे। दुर्गीकरण की इस दौड़ में शहरों में शिल्पियों को काम के अधिक अच्छे अवसर उपलब्ध थे। राज्य द्वारा किलेबंदी का प्रभाव शहरी लोगों पर भी हुआ और इस तरह नगरवासियों ने भी अपने भवनों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग करना शुरू किया। स्मरणीय है कि प्रारंभिक दौर के कुछ ही नगरों का विकास राजधानियों के कारण संभव हुआ लेकिन जो बस्तियाँ व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र थीं अथवा जो नदियों के किनारे बसीं और जहाँ संचार के साधन उपलब्ध थे अथवा व्यापारिक मार्गों पर स्थित थीं उनका शहरीकरण अधिक संख्या में हुआ।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. निक्ख (निष्क) और सुवण्ण (सुवर्ण) नामक सोने के सिक्कों का उल्लेख ..... साहित्य में मिलता है।
2. प्राचीन काल में शहर के लिए सर्वाधिक प्रयोग ..... शब्द का हुआ है।
3. ..... में सोना, ताँबा, लोहा, सीसा, टिन आदि की वस्तुओं के निर्माण करने वाले अलग-अलग वर्गों का उल्लेख मिलता है।

नदियों की उपजाऊ घाटियों का नगरों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। कृषि भूमि का विकास एवं विस्तार पहाड़ी क्षेत्रों की अपेक्षा मैदानों में सरलता से होता है। भारत के प्रमुख गंगाघाटी के मैदानों के जंगलों को कृषि भूमि के विस्तार हेतु साफ किया गया और इस तरह भारत के प्रमुख नगर गंगा घाटी में विकसित हुए। गांगेय प्रदेश में स्थित इन नगरों को गंगा एवं उसकी सहायक नदियों के किनारे स्थित बन्दरगाहों (तटों) की सुविधा मिल जाती थी। इस क्षेत्र का बहुत बड़ा व्यापार नदी मार्ग द्वारा सम्पन्न होता था। नदियों के किनारे स्थित नगरों में अनेक बन्दरगाहों के स्थित होने के उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। सरयू के किनारे अयोध्या, राप्ती के श्रावस्ती (सावत्थी), गंगा के काशी (वाराणसी), यमुना के कौशाम्बी एवं मथुरा, गोदावरी के पातेन (अटराका प्रदेश की राजधानी) आदि उल्लेखनीय हैं। बौद्ध साहित्य में छः प्रधान नगरों में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत (अयोध्या), कौशाम्बी तथा वाराणसी की गणना की गई। अन्य प्रमुख नगरों में लिच्छिवियों की राजधानी वैशाली, शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु, वैदेहों की राजधानी मिथिला, मद्र देश की सागल एवं अवन्ति में उज्जयिनी का जिक्र बौद्ध ग्रंथों में आया है। कहा जा सकता है कि गांगेय प्रदेश के नगरों के विकास में गंगा एवं उसकी सहायक नदियों की विशेष भूमिका रही थी। गंगा नदी द्वारा समुद्र तक पहुंचा जा सकता था, दूसरे यह बिहार के लौह उत्पादक क्षेत्रों से गुजरती थी। राज्यों की विस्तार नीति तथा परस्पर युद्धों ने लौह को प्रारंभ से ही एक महत्त्वपूर्ण धातु बना दिया था।

लोहे के कृषि उपकरणों के रूप में प्रयोग से कृषि उत्पादन में तेजी आई। उत्तर प्रदेश में अतरंजीखेड़ा तथा अन्य स्थानों पर किये गये उत्खननों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि भारत में लोहे का उपयोग ईसा पूर्व 1000 के लगभग हुआ। गंगा के मैदानों में कई स्थानों से तांबे से निर्मित वस्तुओं के ढेर मिले हैं। इनसे अस्त्र-शस्त्र का निर्माण निश्चित रूप से समृद्ध जनपदों द्वारा करवाया जाता होगा। कृषि क्षेत्र में लोहे के उपयोग ने कृषि उत्पादन को अधिशेष (सरप्लस) की स्थिति में पहुँचा दिया था। सामरिक रूप से शक्तिशाली जनपदों की सेना विस्तार की नीति के लिए इस प्रचार के अधिशेष की आवश्यकता थी। डॉ. डी. डी. कौशाम्बी ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है कि लोहे के प्रयोग व धान की रोपाई की तकनीक की जानकारी से नगरों के विकास को बल मिला। लोहे के फालवाले हल के प्रयोग से खेतों की जुताई अधिक अच्छी तरह संभव हो गई और इससे कृषि व्यवसाय में तेजी आई। अब गंगा घाटी में लोग पशुचारण के स्थान पर खेती पर अधिक निर्भर थे। पशुपालन के स्थान पर कृषि को मौलिक व्यवसाय के रूप में अपनाये जाने से भी अधिशेष का सृजन होने लगा था और अधिशेष ने नगरों के विकास को गतिशील बनाया। यह भी उल्लेखनीय है कि अधिशेष के सृजन से माल का क्रय-विक्रय पनपने लगा।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मुद्राओं का प्रचलन एवं व्यापार में प्रगति भारतीय अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पहलू थे। धातु मुद्रा के प्रयोग से वाणिज्य एवं व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। मुद्रा प्रणाली के आविर्भाव से व्यापार में विनिमय प्रथा धीरे-धीरे कम होने लगी। अब क्रय-विक्रय का माध्यम सामान्यतः एक प्रकार के सिक्के थे जिन्हें कार्षापण कहते थे। कार्षापण 146 ग्रेन के तांबे से निर्मित सिक्के थे। इनके अतिरिक्त निक्ख (निष्क) और सुवण्ण (सुवर्ण) नामक सोने के सिक्कों का उल्लेख भी पालि साहित्य में मिलता है। 'मासक' व 'काकनिका' कम मूल्य की छोटी ताम्र मुद्रायें भी प्रचलन में थीं। सहस्त्रों की संख्या में चाँदी की आहत मुद्राओं की उत्खननों से प्राप्ति व्यापार की व्यापकता की द्योतक है। इतिहासकारों ने इस युग की तीन आर्थिक विशेषताओं को स्वीकार किया है–व्यापारिक बन्दरगाह, नगरों का विकास तथा समुद्रपारीय व्यापार। यह वह समय था जब देश का रोम के साथ व्यापार बढ़ने

नोट

लगा और कुषाणों के काल तक पहुँचते-पहुँचते यह व्यापार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। कुषाणों ने मध्य एशिया एवं भारतीय उपमहाद्वीप को एक सूत्र में बांधे रखा जिससे रोम के साथ व्यापार को बढ़ावा मिला। चीन से शुरू होकर पश्चिम और यूरोप को जाने वाला सिल्क रूट कुषाण साम्राज्य से गुजरता था। यह मार्ग रेशम के व्यापार के लिए विख्यात था। सिल्क मार्ग से कुछ माल भारत आता था और भृगुकच्छ बन्दरगाह से दूसरे देशों को निर्यात किया जाता था। ईसा की प्रथम दो शताब्दियों तक रोम के साथ व्यापार चलता रहा। आर. एस. शर्मा के अनुसार, "मध्य एशिया के साथ व्यापार होने के कारण उत्तरी भारत के नगरों का विकास हुआ और रोम तथा दक्षिण पूर्व एशिया के साथ व्यापार के कारण दक्षिण भारत के शहार विकसित हुए।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुद्रा प्रणाली का आविर्भाव और रोमन मुद्राओं के भारत में आगमन से व्यापार विनिमय को प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप व्यापारिक केन्द्रों का नगरीयकरण हुआ। व्यापारिक मार्गों पर स्थित नगरों की विशेष महत्ता थी। उत्तर पश्चिम में स्थित काम्बोज और गंगा घाटी के कौशाम्बी, कोशल, वाराणसी आदि का व्यापारिक मार्गों पर स्थित होने का विशेष महत्त्व था। इन नगरों में घोड़े के सौदागरों के उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। व्यापारियों द्वारा उत्तरापथ से आकर बनारस में घोड़े बेचे जाने के उल्लेख आये हैं।

स्मरणीय है कि कुछ नगर शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों के रूप में विकसित हुए। बौद्ध, जैन एवं ब्राह्मण साहित्य से इस बात का बोध होता है कि तक्षशिला, बनारस एवं उज्जैन शिक्षा के प्रमुख केद्र थे। पाटलिपुत्र के निवासी जीवक ने तक्षशिला जाकर अध्ययन किया था जो आगे जाकर आयुर्वेद का महान् विद्वान बना। कोशल नरेश प्रसेनजित, सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, कौटिल्य, पाणिनी (व्याकरणाचार्य) एवं पतंजलि आदि ने यहीं से शिक्षा प्राप्त की थी। इस युग में शिक्षा के प्रसार ने नये विकसित हो रहे वर्गों की ओर लोगों को आकर्षित किया। सेना में भर्ती एवं राज्य की नौकरी पाने की इच्छा से भी लोग राजधानी में बसने लगे थे।

समुद्रतट के निकट विकसित होने वाले नगरों के लिए कच्छ शब्द का प्रयोग किया जाता था जैसे भृगुकच्छ, आधुनिक काठियावाड़ को दारूकच्छ कहा जाता था। इसी प्रकार महीरेवा का पिप्पलीकच्छ नाम था। इस प्रकार नगरों के विकास में कई कारक अपना योगदान कर रहे थे। किसी एकमात्र कारण को नगरों के विकास में उत्तरदायी नहीं माना जा सकता, प्रत्युत्त ये विविध परिस्थितियों एवं तथ्यों के सम्मुचय के परिणाम थे। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि किसी एक शहर में किसी एक तत्व का अधिक प्रभाव रहता जबकि दूसरे में किसी अन्य तत्व का।

नोट्स कौशाम्बी से अशोक का स्तंभ लेख (जिस पर समुद्रगुप्त की विजय उत्कीर्ण है) एवं तीन कुषाण लेख प्राप्त हुए हैं।

नगर योजना

इस काल के शहरी आवासों का निर्माण अक्सर मिट्टी व लकड़ी से किया जाता था तथा छत खपरैल की होती थी। इस प्रकार के घर आज भी गंगा के मैदानी इलाकों में देखे जा सकते हैं। धीरे-धीरे घरों के निर्माण में पक्की ईंटों एवं पत्थरों का उपयोग शुरू हुआ। समकालीन ग्रन्थों के आधार पर नगरीय जीवन का चित्रण सरलता से किया जा सकता है।

नगरों में राज्य के प्रमुख अधिकारियों के आवास मध्य में बनाये जाते थे। राजा एवं विशिष्ट जन अपने-अपने प्रासादों से नगरीय शोभा में अभिवृद्धि करते थे। राजप्रासाद की भव्यता के अनेक उदाहरण तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। चाणक्य (कौटिल्य) ने अर्थशास्त्र (तृतीय अध्याय) में नगर विधान एवं दुर्ग विधान का निरूपण किया है। उन्होंने एक आदर्श नगर की तस्वीर प्रस्तुत की है जिसके अनुसार, "आठ सौ गाँवों में एक स्थानीय संज्ञक विशिष्ट नगर की रचना जनपद के मध्य में करे, जो कि राजा की धन वसूली केन्द्र भी हो (वहाँ राजस्व अधिकारी नियुक्त हो)।" वास्तु विद्या विशेषज्ञों के अनुसार ऐसा नगर किसी प्रशस्त स्थान पर, नदी के संगम स्थल के समीप अथवा जल पूर्ण बड़े जलाशय के तट पर बनवाये। उस नगर को वास्तु स्थिति के अनुसार, गोल, चौकोर या लंबा रखे। नगर के चारों

नोट

ओर जलयुक्त नदी का प्रवाह अथवा जल से पूरित खाई अवश्य हो। नगर के चारों ओर की उत्पादित वस्तुएँ लाकर संग्रह करने और क्रय-विक्रय करने की पूर्ण सुविधाएँ रहें तथा उसका सम्पर्क जल-थल मार्गों में भी रखा जाये। नगर के चारों ओर एक-एक दण्ड (चार-चार हाथ) के अन्तर पर तीन खाइयाँ हों जो क्रमशः चौदह दण्ड, बारह दण्ड और दस दण्ड चौड़ी तथा इससे पौन या आधी गहराई रहे अथवा चौड़ाई की तिहाई भाग ही गहराई रखें। उन खाइयों का तल पाषाण बिछवाकर पक्का किया जाना चाहिए, उनकी दीवार भी पत्थरों से पक्की करवाई जाये। खाइयों में भूमिगत जल अथवा किसी नदी का जल सदैव प्रवाहित रहे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. राजगृह के श्रेष्ठी ..... ने राजकुमार जेत का उद्यान 18 कोटि स्वर्णमुद्राओं में क्रय करके बुद्ध के निवास हेतु भेंटस्वरूप प्रदान किया।
   (*a*) अनाथपिंडक (*b*) आनन्द
   (*c*) चणक (*d*) इनमें से कोई नहीं।
5. ..... में उत्पादित वस्तुओं को आटविक कहा जाता है।
   (*a*) बागानों (*b*) खेतों
   (*c*) जंगलों (*d*) इनमें से कोई नहीं।
6. भूमिकर के लिए ..... में 'बलि' एवं 'भाग' शब्द मिलते हैं।
   (*a*) बौद्ध साहित्य (*b*) जैन साहित्य
   (*c*) वैदिक साहित्य (*d*) इनमें से कोई नहीं।
7. जैन एवं बौद्ध साहित्य में ..... महाजनपदों का विवेचन मिलता है।
   (*a*) 18 (*b*) 16
   (*c*) 24 (*d*) इनमें से कोई नहीं।

ईंट उपलब्ध न होने पर पत्थर से प्राकार (परकोटे) की रचना करें। परकोटा काष्ठ का न हो। काष्ठ के परकोटे से अग्नि का भय बना रहता है। परकोटे के भीतर भवनों (अट्टालिकाओं) का निर्माण किया जाये। प्रत्येक भवन की पारस्परिक दूरी तीस दण्ड रहे और प्रत्येक दो भवन के मध्य रथ के चलने योग्य वीथि (सड़क) बनी हो। यद्यपि चाणक्य की नगर योजना एक आदर्श नगर का चित्र प्रस्तुत करती है परन्तु इसके कुछ तत्वों का मिश्रण तत्कालीन नगरों के निर्माण में अवश्य रहा होगा। क्योंकि चाणक्य की नगरीय योजना की पुष्टि मेगस्थनीज के पाटलिपुत्र के वर्णन से भी होती है। मेगस्थनीज (मेकक्रिन्डल की एश्येण्ट इंडिया, पृ. 187) ने पालिवोथ्रा (पाटलिपुत्र) के शासन की 5-5 सदस्यों की 6 समितियों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र 80 स्टैडिया लंबा एवं 15 स्टैडिया चौड़ा था, इसका आकार समानान्तर चतुर्भुज की भांति था और इसके चारों ओर लकड़ी की दीवार थी जिसमें तीर छोड़ने के लिए छिद्र बने हुए थे। राजधानी के सामने खाई भी थी। एरियन (मेकक्रिण्डल, पृ. 209-210) इस विवरण को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं कि पाटलिपुत्र में 570 स्तंभ एवं 64 द्वार थे। पतंजलि ने भी महाभाष्य में पाटिलपुत्र का कई बार जिक्र किया है। उन्होंने पाटलिपुत्र को शोण (नदी) के किनारे स्थित बताया है और इसके विशाल प्रासादों (भवनों) एवं प्राकार (परकोटे) का भी उल्लेख किया है।

तत्कालीन साहित्य में राजमार्गों का वर्णन मिलता है जो नगर के मध्य में होकर जनपदों की ओर जाते थे। राजपथ के दोनों ओर अनेक विशाल भवन निर्मित किये जाते थे जो वातायनों एवं तोरणों से अलंकृत होते थे। विशिष्ट एवं समृद्ध नागरिकों के विशाल भवन लोगों के आकर्षण के केंद्र होते थे। अशोक के पाटलिपुत्र स्थित राज प्रासाद का वर्णन चीनी यात्री फाह्यान ने सात सौ वर्ष बाद किया था, उसने लिखा था कि नगर में अभी तक अशोक का राजप्रासाद और सभा भवन हैं। ये सब असुरों के बनवाए हुए हैं। पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाए गए हैं। राजपथ

नोट

आजकल की तरह कोलतार या सीमेंट आदि से निर्मित नहीं होते थे इसलिए तत्कालीन राजमार्गों पर जब व्यापारियों का काफिला गुजरता था तो उनके पीछे धूल के गुबार निकलते थे।

साहित्यिक साक्ष्यों की पुष्टि के लिए पुरातात्विक साधनों का विश्लेषण करना समीचीन होगा। अब तक किये गये उत्खनन से प्राप्त विवरणों से प्राचीन भारत के नगरों के बारे में विस्तृत जानकारी दी जा सकती है। डॉ. रामशरण शर्मा की मान्यता है कि "भारतीय उपमहाद्वीप में व्यापक संख्या में उपलब्ध आरंभिक ऐतिहासिक स्थलों में केवल तक्षशिला, कौशाम्बी, अहिच्छत्रा और नागार्जुनकोंडा का बड़े पैमाने पर उत्खनन हुआ। अतरंजीखेड़ा, राजघाट, खैराडीह और चिरांद का उत्खनन भी यथेष्ट हुआ है लेकिन मथुरा जैसे अति महत्त्वपूर्ण स्थल की अभी तक समुचित खुदाई नहीं हुई है।" वस्तुत: किसी भी स्थल के व्यापक पैमाने पर उत्खनन किए जाने से ही किसी नगर के आकार और उसकी आबादी के बारे में ही सही अनुमान लगाया जा सकता है। एक स्थल पर एकाधिक टीलों की उपस्थिति घनी आबादी की द्योतक मानी जाती है और मकानों की सघनता भी उस बस्ती की अधिक आबादी को इंगित करती है। इसी प्रकार शहर किसी नदी के तट पर स्थित नहीं है तो तालाबों और छल्लेदार कुओं की अधिकता से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी बड़ी आबादी को इनसे जल आपूर्ति की जाती थी। विविध कामगारों की बस्ती में उपस्थिति, उसकी नगरीय बस्ती होने का प्रमाण मानी जाती है। दूसरे शब्दों में गैर कृषकों की उपस्थिति शहरी आबादी का विशिष्ट लक्षण है। जैसा उल्लेख किया गया कि भारत के अधिकांश प्रारंभिक नगर नदी मार्गों एवं व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे। कुरू राज्य में इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) और हस्तिनापुर, यमुना तट पर कौशाम्बी और गंगातट पर बनारस (वाराणसी या काशी) आदि इस तथ्य के प्रमाण हैं। डी. डी. कोशाम्बी ने कहा भी है कि "ईसा पूर्व प्रथम सहस्त्राब्दी की शुरूआत में इन नगरों की स्थापना को केवल इसी आधार पर समझा जा सकता है कि अभेद्य जंगलों और दलदल वाले प्रदेशों से तेजी से बहने वाली इन विशाल नदियों में पहले से ही नौकाओं का आवागमन होता था।" ऋग्वेद में सौ डाँडोंवाली नौकाओं के और निकटतम भूमि से तीन दिन की जल-यात्रा के संक्षिप्त उल्लेख मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि आर्य लोग नाव चलाना जानते थे। इन सारी बातों का यही एक निष्कर्ष निकलता है कि ईसा पूर्व प्रथम सहस्त्राब्दी के आरंभकाल के ये अज्ञातनामा साहसी अग्रगामी समुद्र तक पहुँच गए थे और इन्होंने कच्ची धातुओं के भण्डारों को खोज निकला था, अन्यथा गंगा तट पर वाराणसी के किले की खुदाई में तटबंध के नीचे पुरावशेष प्राप्त होने का कोई कारण या अर्थ नहीं हो सकता।

ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी के लगभग अयोध्या, कौशाम्बी और श्रावस्ती अस्तित्व में थे। इन बस्तियों में रहने वाले लोग विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तनों को उपयोग में लाते थे। छठी शताब्दी तक आते-आते इस सम्पूर्ण क्षेत्र के निवासी उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भाण्डों (एन.बी.पी.डब्ल्यू.) का उपयोग करने लगे। विशेष प्रकार के चमकदार परत वाले मृद्भाण्ड इस बात के प्रमाण हैं कि इस समय गंगा घाटी के नगरों में व्यापक सांस्कृतिक एकरूपता था। संभवत: कुछ ही नगरों के कामगार इस प्रकार के मृद्भाण्डों का निर्माण करते थे और दूसरे स्थलों पर इस तरह के मिट्टी के बर्तन व्यापारियों द्वारा निर्यात किये जाते थे।

श्रावस्ती का उत्खनन एक छोटे से भाग में किया गया है। फाहियान के विवरण से ज्ञात होता है कि यह नगर पाँचवीं शताब्दी में अपने पतन पर था। इलाहाबाद से लगभग साठ किलोमीटर दक्षिण पश्चिम में स्थित कौशाम्बी में खुदाई अधिक विस्तृत क्षेत्र में की गई है। यहाँ से अशोक के स्तंभ लेख (जिस पर समुद्रगुप्त की विजय उत्कीर्ण है) एवं तीन कुषाण लेख प्राप्त हुए हैं। एक अभिलेख में कौशाम्बी के घोषिताराम विहार का जिक्र है। जिससे इस स्थल की पहचान सुनिश्चित हो जाती है। यहाँ से मघों के बहुसंख्यक सिक्के ईसा की दूसरी एवं तीसरी शताब्दी के उपलब्ध हुए हैं। अयोध्या में 1969-70 में थोड़ी सी खुदाई की गई। इसके कुबेर टीले से अनेक चरणों में ईंटों से निर्मित विशाल इमारतों के अवशेष मिले हैं। पूर्ववर्ती चरण नगर योजना को इंगित करता है। विद्वानों ने इस स्थल को उत्तरी काली पॉलिशदार मृद्भाण्ड के समय आबाद माना है। तक्षशिला की स्थापना ई.पू. पाँचवीं सदी में भीर टीले पर की गई जिसका क्षेत्र उत्तर से दक्षिण 12,000 गज एवं पूरब से पश्चिम 730 गज था। मौर्य शासन काल में यह अपनी विकसित अवस्था में था। नगर योजना का अच्छा उदाहरण दूसरे तक्षशिला में देखा गया। इस नगर को सिरकप कहा जाता है। बैक्ट्रिया के यूनानियों ने ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में इसकी स्थापना की। इसकी योजना यूनानी शहरों की शतरंज पद्धति पर आधारित थी। यदि इसके उपनगरीय भाग को छोड़ दिया जाए तो यह 3.5 मील लम्बा था।

नोट

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड वाले स्थल के रूप में मेरठ जिले में हस्तिनापुर का उल्लेख किया जा सकता है, जिसका विकास ई.पू. 200 के लगभग हुआ और 300 ई. तक लाल मृद्भाण्डों का प्रचलन रहा। विद्वानों ने इसको सात उपकालों में विभक्त किया है जिनमें पक्की ईंटों के मकान मिले हैं। यहाँ चारों दिशाओं के अनुकूल गृह योजना भी देखी गई है। पांचालों की राजधानी अहिच्छत्रा (बरेली जिला) की बस्ती में ई.पू. 300 में कच्ची ईंटों के उपयोग में लाया जाता था और पक्की ईंटें ई.पू. पहली सदी में प्रयुक्त हुईं, उस समय नगर 3.5 मील लंबी पक्की ईंटों की दीवार से दुर्गीकृत था। यहाँ से अनेक सिक्के मित्र उपाधि वाले राजाओं के प्राप्त हुए हैं।

उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य में वर्णित प्राचीन नगरों की उत्खनन से प्राप्त अवशेषों की पुष्टि होती है। प्रारंभ में भवन निर्माण हेतु लकड़ियों का उपयोग किया जाता रहा जब लकड़ी विपुल मात्रा में उपलब्ध थी। लेकिन धीरे-धीरे लोगों ने कच्ची ईंटों एवं बाद में पक्की ईंटों तथा पत्थर का उपयोग करना शुरू किया। यद्यपि द्वितीय नगरीय क्रांति में नगरों में हड़प्पा सभ्यता की तरह योजनाबद्ध नगरों का विकास नहीं हुआ और न वहाँ की तरह समुचित प्रणाल (पानी के निकास हेतु नालियाँ) व्यवस्था विकसित हो पाई। इन नगरों का विकास स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम था। सड़कें बिछाने का इस काल में पूरा ध्यान रखा जाता था। धीरे-धीरे ईंटों एवं पत्थरों से विशाल भवनों का निर्माण करना शुरू किया गया जैसा तत्कालीन साहित्य में विवरण मिलता है। यद्यपि तत्कालीन साहित्य में नगरों की शान-शौकत को कुछ अधिक बढ़ा-चढ़ा कर दर्शाया गया है फिर भी इसके परवर्ती दौर में नगर अपने विकासमान संस्कृति के प्रतीक थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में नगरों के प्रतीक रूप में पुर, दुर्ग, नगर, निगम आदि शब्दों का पुष्कल प्रयोग देखा जाता है।

पुर–प्रारंभिक वैदिक साहित्य में पुर शब्द आया है। यहां इनका उल्लेख किलेबंद बस्तियों आदि के लिए हुआ है। बाद में राजा एवं राजन्य वर्ग के निवास, गणसंघों के शासक एवं उसके परिजनों के निवास के रूप में इसका प्रयोग हुआ और आगे जाकर शहर या नगर के लिए पुर शब्द प्रयुक्त होने लगा।

दुर्ग–सुरक्षा दीवार से आवृत राजधानी के लिए दुर्ग का प्रयोग वैदिककाल से ही होने लगा था। घेराबंदी न केवल नगर को सुरक्षा प्रदान करती थी बल्कि शहरवासियों के कार्यकलापों पर भी सरलता से नियंत्रण किया जाना संभव था।

निगम–पाली साहित्य में विशेष रूप से निगम के उल्लेख आये हैं। संभवत: इसका संबंध ऐसे स्थलों से रहा है, जहां व्यापारी वर्ग द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता था। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि निगमों का विकास उन गांवों में हुआ जहां बर्तन, काष्ठ सामग्री, लौह सामग्री एवं नमक आदि का निर्माण किया जाता था। कहा जा सकता है कि ये बाजार वाले कस्बे थे जिसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि परवर्ती काल की मुद्रायें निगमों द्वारा जारी की जाती थीं। कभी-कभी साहित्य में निगम शब्द का प्रयोग उस स्थल के लिए हुआ है जहाँ दस्तकार एवं कारीगर निवास करते थे और अपना उत्पादन करते थे।

नगर–प्राचीन काल में शहर के लिए सर्वाधिक प्रयोग 'नगर' शब्द का हुआ है। तैत्तरीय आरण्यक में इसका सर्वप्रथम उल्लेख आया है। इसी प्रकार महानगर शब्द का प्रयोग भी नगरों के लिए हुआ है। इन्हें पुर के राजनैतिक कार्यकलाप तथा निगम के व्यापार-व्यवसाय का समन्वित रूप कहा जा सकता है। तत्कालीन नगर प्रशासन तंत्र, व्यापार-व्यवसाय एवं धार्मिक क्रिया कलापों के केन्द्र थे जिनमें प्रशासक वर्ग, व्यापारियों व कारीगरों के निवास थे। बौद्ध साहित्य में छ: महानगरों का उल्लेख हुआ है जो मध्य गंगा घाटी में स्थित थे–राजगृह, चम्पा, काशी, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी।

नगरों के प्रमुख व्यवसाय

शहरी व्यवसायों पर कारीगरों एवं व्यापारियों का प्रभाव था जो विस्तृत क्षेत्र के लिए वस्तुओं का उत्पाद और विनिमय करते थे। शहरी अर्थव्यवस्था के विकास में कुछ तत्वों का विशेष योगदान रहता था जैसे–अतिरिक्त अन्न उत्पादन (समीप के गाँवों से जिसकी पूर्ति होती थी), कारीगरों के उत्पाद, व्यापारिक समुदाय का विकास, धातुमुद्रा का प्रचलन, शासकीय निकाय एवं शिक्षित वर्ग। सामान्यत: शहरों के कारीगर विविध व्यवसायों में संलग्न रहकर उत्पादन करते थे और व्यापारी वर्ग शहर एवं अन्य नगरों के साथ व्यापार करते थे। नगरों का एक वर्ग जिसे कारीगर या

नोट

उत्पादक वर्ग कहा जाता है विभिन्न व्यवसायों द्वारा माल का उत्पादन करते थे। एक वर्ग ऐसा भी था जिनका किसी प्रकार के उत्पादन से कोई संबंध नहीं था। दूसरा वर्ग राज्य सेवा में लगे हुए अधिकारियों का था इसी श्रेणी में सेना को भी रखा जा सकता है, इनका शहरी अर्थव्यवस्था पर कोई नियंत्रण नहीं था। इस श्रेणी के लोगों को सेवाओं के अंतर्गत रखा जा सकता है। व्यापारी वर्ग भी इसी तरह का वर्ग था परन्तु वह वस्तुओं के वितरण एवं विनिमय द्वारा शहरी अर्थव्यवस्था के विकास में योगदान करता था। अनेक नगरों की खुदाई से प्राप्त अवशेषों के आधार पर तत्कालीन व्यवसायों का वर्गीकरण सरलता से किया जा सकता है जैसे–मिट्टी के बर्तन बनाने वाला समुदाय (कुम्हार या कुलाल) का महत्व बड़ी मात्रा में उत्तरी काली पॉलिश वाले मृद्भाण्डों की उपलब्धि से स्पष्ट है। बढ़ईगिरी एवं लकड़ी की वस्तुओं के निर्माण करने वालों का उल्लेख ऋग्वेद में भी आये हैं और इस वर्ग का महत्त्व आगे भी बरकरार रहा। उत्तर वैदिक साहित्य, बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में भी इनकी चर्चा मिलती है। विविध धातुओं का काम करने वाले वर्गों की जानकारी ऋग्वेद से मिलने लगती है। बौद्ध एवं जैन साहित्य द्वारा स्वर्णकारों व लौह सामग्री निर्माताओं को महत्त्वपूर्ण उत्पादक वर्गों में रखा गया। मिलिंदपन्हों में सोना, ताँबा, लोहा, सीसा, टिन आदि की वस्तुओं के निर्माण करने वाले अलग-अलग वर्गों का उल्लेख मिलता है। तत्कालीन शहरी केन्द्रों के उत्खनन से प्राप्त हाथीदांत की वस्तुएं, सिक्के, पत्थर व शीशे की वस्तुएं, मनके, तांबे व लोहे की वस्तुएं आदि अनेक प्रकार के कारीगर वर्ग के अस्तित्व के प्रमाण हैं।

वर्तमान बनारस जो भारत के प्राचीनतम नगरों में से एक है इसकी प्रसिद्धि एक तीर्थ केन्द्र होने के कारण थी। नगरों में स्थित तीर्थों में देश के कोने-कोने से लोग आते थे और देवी-देवताओं को कुछ न कुछ भेंट करते थे। इस तरह से मंदिरों के पुजारी वर्ग तीर्थ यात्रियों के संसाधनों को अपनी ओर खींचने में सक्षम थे। दूसरे शब्दों में नगरीय केन्द्र अपनी भौतिक सीमा के बाहर रहने वाले लोगों को भी धार्मिक सेवाओं के अतिरिक्त प्रशासनिक एवं आर्थिक सेवाएँ प्रदान करते थे। धार्मिक सेवायें ब्राह्मण या पुजारी वर्ग, प्रशासनिक सेवा राज्य सेवक तथा आर्थिक गतिविधियों को व्यापारी वर्ग नियन्त्रित करते थे। नगरों में रहने के कारण ही व्यापारी वर्ग धातुओं, खनिजों एवं विलासिता की सामग्री की आपूर्ति को नियंत्रित करके नगरीय प्रभाव क्षेत्र के ग्रामीणों के संसाधनों के एक भाग पर कब्जा करने से सफल हो जाते थे।

इस प्रकार शहरी लोग जो ग्रामीण क्षेत्रों के अतिरिक्त संसाधनों को अपनी ओर खींचने में सफल होते हैं ग्रामीण लोगों की तुलना में अधिक धनी होते हैं और अपने इस धन के बल पर ही आलीशान भवनों का निर्माण करवा पाते हैं। नगरीय जन अपने धन का प्रयोग सम्मान तथा ताकत प्राप्त करने में करते हैं। आज की तरह उन दिनों अपने धन से लोग विशाल महल व सुन्दर मंदिरों का निर्माण करवाते थे। कुछ लोगों की रुचि अपने धन को अधिक बढ़ाने में रहती थी। इसी तरह कुछ लोग धन के बल पर मूल्यवान धातुओं व पत्थरों का संग्रह करते थे। जहाँ तक शिल्पकारों एवं कामगारों का सवाल है उन्हें सम्पन्न लोगों की तरह विशेषाधिकार प्राप्त न थे परन्तु इन लोगों में अपने व्यावसायिक कोशल में वृद्धि तथा अधिक लाभ की कामना से अपने को संगठित करने की प्रवृत्ति का विकास दिखाई देता है। पालि ग्रंथों से जानकारी मिलती है कि गौतम बुद्ध के काल में विभिन्न प्रकार के शिल्पी नगरों में बसते थे और उनकी अपनी-अपनी वीथी (गली) होती थी। श्रेणी और निगमों के रूप में ये अपने को संगठित करते थे। रोमिला थापर ने इनके विषय में लिखा है कि नगरों के विकास के साथ शिल्पियों की संख्या में वृद्धि हुई, जो श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक श्रेणी नगर के एक निश्चित भाग में बसी हुई थी जिससे एक श्रेणी के सदस्य एक साथ रह कर कार्य कर सकते थे और आमतौर पर उनमें ऐसा संबंध पाया जाता था कि उन्हें एक जाति के रूप में देखा जाने लगा।

नगरों में रहने वाले लोगों में सबसे खराब स्थिति स्वच्छकारों (भंगियों), चाण्डालों, धोबियों एवं भिखारियों की थी। अंतिम संस्कार के लिए भंगियों का महत्त्व था। इनकी स्थिति अत्यंत खराब थी। जाति व्यवस्था में इनका स्थान सबसे नीचे और शहरों से बाहर इनके निवास थे। जहाँ कामगारों की स्थिति उनके व्यावसायिक कोशल के कारण ठीक थी वहीं इस तिरस्कृत वर्ग की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी और इस तरह समाज में धनी और गरीबों का अस्तित्व नगरीय जीवन की एक विशेषता बनी।

नोट

13.2 नगरीकरण का आर्थिक विकास में योगदान (Urbanization's Contribution in Economic Growth)

अनेक विद्वान तत्कालीन नगरीकरण को परजीवियों की संस्कृति स्वीकार करते हुए उनका समाज के लिए कोई विशेष योगदान नहीं मानते क्योंकि शहर में उपभोग की सब-कुछ सामग्री गाँवों से प्राप्त होती थी और शहरी लोग गाँवों के अधिशेष का उपभोग करते तथा जनपद के लोगों पर भारस्वरूप थे। इस श्रेणी में शासक वर्ग, राज्य के अधिकारी, सैनिक, पुरोहित और कुछ हद तक व्यापारी सम्मिलित थे। इस संबंध में डॉ. रामशरण शर्मा ने उल्लेख किया है कि–उत्पादन के प्रबंध से कुछेक लोगों का संबंध अवश्य था परन्तु वे स्वयं कुछ भी पैदा करने में हाथ नहीं बँटाते थे। पर इसमें सन्देह नहीं कि शहरों में बहुत से शिल्पी और तरह-तरह के कामगार हस्तशिल्प में लगे थे। उनके और व्यापारियों के कार्यकलाप के कारण शहर विनिमय उद्योग धंधे और तकनीक के केन्द्र बन गए थे। इसलिए हस्तशिल्प और एक प्रकार से खाद्यान्न के उत्पादन में भी शहरों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। सारे शहर को परजीवी समझना गलत होगा। इसलिए प्राचीन शहरों के उत्पादक पक्ष की अनदेखी नहीं की जा सकती है। शहरों के कारण राजतंत्र भी मजबूत होता था। शहरों में शिल्पकारों की श्रेणियाँ तथा वाणिज्यिक समुदाय के संगठन धीरे-धीरे प्रभावशाली होने लगे थे। अलग-अलग नगरों में कुछ विशिष्ट वस्तुओं का बड़ी मात्रा में निर्माण होता था और फिर सारे देश में उनका वितरण होता था। मुद्रा के प्रचलन से व्यापार में उल्लेखनीय प्रगति हुई। इस युग की नगरीय संस्कृति में पनपे हस्तशिल्प का ही परिणाम था कि रोम से भारत का व्यापारिक संबंध कायम हुआ। यहाँ सिल्क वस्त्र एवं अन्य हस्तशिल्प की सामग्री का निर्यात बड़ी तादाद में हो रहा था और रोम में स्वर्ण सिक्कों के रूप में भारत आ रहा था।

नगरीकरण का ही एक परिणाम यह भी था कि वाणिज्य व्यापार एवं वाणिज्यिक मार्गों का विकास, जिसका चरमोत्कर्ष कुषाण काल में देखा जाता है। व्यापारिक मार्गों की चर्चा आगे की जायेगी यहाँ यह जान लेना पर्याप्त है कि रोमन साम्राज्य से होने वाले व्यापार का काफी बड़ा भाग इन मार्गों से होकर गुजरता था। पालि ग्रंथों से ज्ञात होता है कि व्यापारी पाँच-पाँच सौ बैलगाड़ियों से माल ढोकर ले जाते थे। कश्मीर व उज्जयिनी से लाई गई अनेक वस्तुएँ भड़ौंच के बन्दरगाह से पश्चिमी देशों को भेजी जाती थीं। इस प्रकार नगरीय लोगों के आर्थिक विकास में योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

नगरीकरण का विघटन

तीन सौ ईसवी के बाद अधिकांश नगरों का पतन होने लगा। वाई.डी. शर्मा के अनुसार बड़े नगर गुप्त और गुप्तोत्तर काल में पतनावस्था में पहुंच गये थे। नगरों के पतन पर डॉ. रामशरण शर्मा ने उल्लेख किया है और कुछ महत्त्वपूर्ण साक्ष्य जुटाये हैं। उनकी मान्यता है कि पाँचवीं और छठी शताब्दियों तक नगर प्रशासन में वाणिज्यिक व्यापारिक और शिल्पीय तत्वों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी और भूमि की खरीद-फरोख्त में उनकी सहमति आवश्यक समझी जाती थी। बिना उनकी राय के नगरीय प्रशासन जिले में कोई भूमि नहीं बेच सकता था। लेकिन गुप्तोत्तर काल में ऐसा नहीं था। नागरिक प्रशासन में सौदागरों, व्यापारियों एवं शिल्पियों का कोई योगदान नहीं था। इस आधार पर निष्कर्षत: कहा गया है कि सातवीं से दसवीं शताब्दियों तक के काल में व्यापार और नगरीकरण मंद पड़ गए और जो लोग शिल्प तथा वाणिज्य में लगे हुए थे उनका महत्त्व कम हो गया।

डॉ. शर्मा के अनुसार दूसरा प्रमुख कारण भारत और रोम के बीच तेजी से घटता हुआ व्यापार था। भारत और अन्य पूर्वी देशों के साथ व्यापार के कारण रोम का खजाना खाली होने लगा। रोमन शासकों ने भारतीय उत्पादों के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। तीसरी शताब्दी के अंत तक भारत के साथ रोम का व्यापार बहुत घट गया था। इसके अतिरिक्त भारतीय राजनीति का भी व्यापार व्यवसाय पर बुरा प्रभाव पड़ा। जब तक सातवाहन एवं कुषाणों की सत्ता रही तब तक कानून एवं व्यवस्था बनी रही जो व्यापार की प्रगति के लिए एक आवश्यक शर्त होती है। व्यापारियों को स्थान-स्थान पर चुंगी नहीं देनी पड़ती थी। इनके पतन के बाद धीरे-धीरे शहर अपने पतन की ओर अग्रसर हुए। गुप्तकालीन भूमिदान की प्रथा भी नगरीयकरण के लिए घातक सिद्ध हुई। गुप्त शासक और सामन्त भूमि के साथ

नोट

नगर भी दान करने लगे। नगरों व गांवों के पतन से वाणिज्य व्यापार पर बहुत से प्रतिबन्ध लग गए। अब नये स्वामियों (बौद्ध भिक्षुओं या पुरोहित वर्ग जो भूमि एवं नगरों का दान ग्रहण करते थे) के अधीन व्यापारियों एवं शिल्पकारों को पूर्व की भांति स्वतंत्रता न थी। अब नगर भी एक तरह से सामन्ती व्यवस्था के अंग बन गये थे। इस प्रकार गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में अनेक तत्व नगरीयकरण के पतन के लिए एक साथ जुट गये थे।

आर्थिक कार्यकलाप–वर्तमान की भांति उस काल में भी अधिकांश जनता गांवों में निवास करती थी। गांव में घरों के समूह के चारों ओर कृषि भूमि का विस्तार था। गाँव से संबद्ध चरागाह होते थे जिन्हें वन या 'दाव' कहा जाता था। सामान्य कृषक अपनी भूमि पर स्वयं कृषि करते थे किन्तु बड़े भूस्वामी श्रमजीवियों से इस कार्य को सम्पादित करवाते थे, जिससे समाज में श्रमजीवी वर्ग का आविर्भाव हुआ। यह वर्ग दूसरों की भूमि पर कार्य द्वारा अपनी जीविकोपार्जन करता था। तत्कालीन साहित्य में ऐसे अनेक विवरण मिलते हैं जो स्वामी एवं सेवक के संबंध को सूचित करते हैं। उस समय धनी ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के पास कृषि भूमि की जुताई करने हेतु सैकड़ों बैल और हल होते थे एवं कृषि कार्य संपन्न करने के लिए अनेक श्रमजीवियों (भृतकों) को नियुक्त करते थे। श्रमिकों को पारिश्रमिक अन्न या धन के रूप में दिया जा सकता था। स्त्रियाँ भी सुबह से सायं तक आजीविका चलाने हेतु श्रम करती थी। रजिडेविड्स ने लिखा है कि भारत में सदा से ही जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग अपनी जीविका के लिए कृषि कर्म पर निर्भर रहा है, बुद्ध के समय में भी भारत का ग्रामीण अर्थतंत्र मुख्य रूप से भूस्वामियों द्वारा निर्वासित ग्राम समुदायों के ढांचे पर आधारित था।

तत्कालीन साहित्य से देश में प्रचुर मात्रा में अन्न उत्पाद की जानकारी मिलती है। भूमि का उपजाऊ होना इसका प्रमुख कारण था। कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय था। सामाजिक दृष्टि से भी कृषि को उच्च स्थान प्राप्त था। बौद्ध ग्रंथों में कृषि को तीन उत्कृष्ट व्यवसायों में प्रथम स्थान पर रखा गया है। भूस्वामियों के विषय में प्राचीन ग्रंथकारों के मत को लेकर आधुनिक इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि भूमि पर राजा का स्वत्व है जबकि कुछ इतिहासकारों की धारणा है कि उस पर व्यक्तिगत स्वत्व माना जाता था। स्मिथ का विचार है कि प्राचीन भारत में भूमि को राजा की सम्पत्ति माना जाता था। प्राचीनकाल में अनेक राजाओं द्वारा ब्राह्मणों, शैक्षणिक संस्थाओं आदि को भूखण्ड दान में दिये जाते थे जो उनके व्यक्तिगत स्वामित्व को व्यक्त करते हैं। घोषाल की मान्यता है कि वैदिक युग से ही कृषि भूमि पर वैयक्तिक भूस्वामित्व सिद्ध होता है। जायसवाल की भी धारणा है कि प्राचीनकाल में व्यक्तिगत भूस्वामित्व प्रमाणित होता है। आर.एस. त्रिपाठी ने लिखा है कि ग्राम अर्थ-नीति भूमि के स्वतंत्र स्वत्व के आधार पर खड़ी थी। कृषक अपने खेत का स्वामी था परन्तु गांव की पंचायत अथवा परिषद् की अनुमति के बिना वह अपना खेत बेच या रेहन नहीं कर सकता था। वैयक्तिक भू स्वामित्व के अनेक प्रमाण तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं। एक ब्राह्मण के अपनी भूसम्पत्ति में से सहस्त्र करीस (संभवत: एकड़) भूमि दान दिये जाने का विवरण मिलता है।

राजगृह के श्रेष्ठी अनाथपिंडक (सुदत) ने राजकुमार जेत का उद्यान 18 कोटि स्वर्णमुद्राओं में क्रय करके बुद्ध के निवास हेतु भेंटस्वरूप प्रदान किया। ये स्वर्ण मुद्रायें राजकुमार जेत की मांग के अनुसार उद्यान में बिछा दी गई थीं, जिन्हें गाड़ियों पर लादकर वहाँ लाया गया था। इस आख्यान से भूमि पर व्यक्ति का कानूनी अधिकार सिद्ध होता है और विक्रय द्वारा वह इस अधिकार का हस्तान्तरण करने को स्वतंत्र था। स्त्रियाँ भी भूमि दान कर सकती थीं। आम्रपाली द्वारा बुद्ध को अपनी वाटिका (आम्रवन) दान में देने का उल्लेख स्त्रियों के भूमि पर अधिकार को प्रमाणित करता है। गंगा के मैदानों में जंगलों को साफ करने में लोहे के औजारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस क्षेत्र के बड़े भू-भाग में विविध अनाजों का उत्पादन किया जाने लगा। कृषि विस्तार ने पशुओं के महत्त्व को बढ़ा दिया। बौद्ध लोग पशुओं की रक्षा पर बल देते थे। सुत्तनिपात में कहा गया है कि पशुओं को नहीं मारना चाहिए क्योंकि वे अनाज प्रदान करते हैं।

कृषकों द्वारा कृषि भूमि को तैयार करने हेतु पर्याप्त परिश्रम करना होता था। कभी-कभी खेत को तीन से सात बार अथवा उससे भी अधिक बार जोता जाता था। जुताई हल से की जाती थी जिसके लिए बौद्ध ग्रंथों में 'नंगल' शब्द आया है। वर्तमान की भांति उस समय भी हल खींचने के लिए बैलों का उपयोग किया जाता था। हल को दो या

नोट

दो से अधिक बैल खींचते थे। अनुपजाऊ भूमि को तैयार करने हेतु संभवत: अधिक बार जुताई की जाती थी, फिर बीज बोया जाता था, बुवाई कार्य में स्त्रियाँ भी सहयोग करती थीं। उत्तर वैदिक काल की तुलना में बौद्ध काल में अधिक खाद्यान्नों के उत्पादन का एक कारण धान की पैदावर में रोपाई पद्धति को अपनाया जाना था। कृषि कार्य से संबंधित अनेक विवरण जैन साहित्य में मिलते हैं। उस युग में तीन प्रकार की फसलें पैदा की जाती थीं। खेतों में उत्पन्न की जाने वाली फसल 'क्षेत्रिक' कही जाती थी एवं उद्यानों में पैदा की जाने वाली 'आरामिक' कहलाती थी और जंगलों में उत्पादित वस्तुओं को 'आटविक' कहा जाता था। बुद्धघोष ने (विनयपिटक टीका) 'उदकवप्प' तथा 'थूलवप्प' दो प्रकार की बुवाइयों का उल्लेख किया है। प्रथम जलयुक्त खेत में, दूसरे सूखी भूमि वाले खेत में बीज डाला जाता था। जबकि बृहत्कल्प भाष्य में खेतों में (क्षेत्रिक) की जाने वाली फसल को दो भागों में विभक्त किया है–एक 'सेतु' जिसकी सिंचाई कृत्रिम साधनों द्वारा की जाती थी दूसरी 'केतु' जो वर्षा पर निर्भर करती थी। सिंचाई के विविध साधनों के उपयोग की जानकारी मिलती है, सिन्धु देश में नदियों, द्रविड़ क्षेत्र में तड़ागों, उत्तरापथ में कुओं से खेतों की सिंचाई की जाती थी। कुओं से पानी निकालने के लिए 'तुल' (ढेकुली) एवं चक्क वट्टक (रहट) का विवरण मिलता है। पकी हुई फसल को हंसिये (असिसहि) से काटा जाता था जिसके लिए पाणिनी ने 'पात्र' एवं 'लवित्र' शब्द का प्रयोग किया है। अनाज को 'सुप्पकत्तर' से साफ किया जाता था। तत्कालीन साहित्य में विविध प्रकार के अनाजों का उल्लेख मिलता है–यव (जौ), ब्रीहि या शालि (धान), गोधूम (गेहूँ), कगु (बाजरा), मुग्ग (मूंग), चणक (चना), सासप (सरसों), गन्ना (इच्छु), कपास, लवंग, पिप्पल, क्षोम, तम्बोल (ताम्बुल), साणा (सन) आदि। फलों में अनार, अंगूर, आम, सेव, अंजीर, खजूर इत्यादि प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त हल्दी (हलिदिद), अदरक (सिंगवेर), लेहसुन (लसुण), कालीमिर्च (पिप्पलि), मिर्च (मरिच), प्याज, कृषि उत्पाद्य आदि थे।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि छठी शताब्दी ई.पू. के बाद के काल में लोग विविध उत्पादनों की ओर अग्रसर हो रहे थे और भरण-पोषण पर आधारित अर्थव्यवस्था का बाजार अर्थव्यवस्था में संक्रमण हो रहा था। खेतों को एकाधिक बार जोता जाना तथा हल को खींचने में दो से अधिक बैलों का प्रयोग इस तथ्य का द्योतक है कि खाद्यान्नों का अधिशेष उत्पादन होने लगा था। यदि ऐसा न होता तो समाज के अन्य वर्गों की खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती और सोलह महाजनपद, उनके महत्त्वपूर्ण नगर और स्थायी सेनाओं का अस्तित्व संभव नहीं होता। साथ ही इस काल में ऐसे प्रमुख नगरों की स्थापना हो चुकी थी जो व्यापार मार्गों पर स्थित थे तथा जिनमें विविध प्रकार के उच्च स्तरीय व्यवसाय विकसित हो चुके थे। नदी घाटियों के विशाल मैदानी क्षेत्रों में ऐसे नगरों का होना भी कृषि द्वारा अधिक खाद्य उत्पादन का प्रमाण है।

भूमिकर के लिए बौद्ध साहित्य में 'बलि' एवं 'भाग' शब्द मिलते हैं। राज्य को देय भाग के विषय में मनुस्मृति में 1/6, 1/8 तथा 1/12 की अलग-अलग दरों का उल्लेख मिलता है। गौतम ने उत्पादन का 1/10, 1/8 या 1/6 हिस्सा राजभाग के रूप में माना है। वसिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्रों ने 1/6 भू राजस्व का उल्लेख किया है। एक जातक (काम जातक) में 'बलि निर्धारण' का आधार भूमि मापन को माना गया है। इस काल में 'रज्जुगाहक अमच्च' नामक राजकीय पदाधिकारी अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित 'राजुक' के समक्ष दिखाई पड़ता है। संभवत: भूमि के परिमापन द्वारा भू-राजस्व का निर्धारण इसी अधिकारी द्वारा किया जाता था। इस काल में बलि (भू-राजस्व) वस्तु के रूप में प्राप्त किया जाता था।

जैन एवं बौद्ध ग्रंथों में कभी-कभी वर्षा के अभाव में अकाल की अवस्था का उल्लेख मिलता है। ऐसे समय में भिक्षुओं को भिक्षा मिलने में बड़ी कठिनाई होती थी। एक अकाल का उल्लेख महावग्ग में आया है, जिसमें पशुओं–कुत्ता, घोड़ा, आदि को खाकर लोगों को जीवित रहने को बाध्य होना पड़ा था।

पशुपालन इस युग में कृषि तथा वाणिज्य के साथ उत्कृष्ट व्यवसाय के रूप में जाना जाता था। लोग विविध प्रकार के पशु-पक्षियों को पालते थे तथा अनेक का शिकार भी करते थे। इस काल के अनेक पुरातात्विक स्थलों ने भेड़, बकरी, घोड़े, सुअर आदि की हड्डियां बड़ी मात्रा में प्राप्त हुई हैं जो यह इंगित करती हैं कि पशुओं का उपयोग केवल हल चलाने और सामान ढोने के लिए ही नहीं होता था अपितु समाज का एक वर्ग संभवत: मांसाहारी भी

नोट

था। जाल का प्रयोग भी शिकार के लिए किया जाता था। पालतू पशुओं में गाय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इसके दूध के अतिरिक्त बछड़े बैलों के रूप में कृषि कार्य में उपयोग में लिये जाते थे। अन्य पशुओं में बकरी, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि महत्त्वपूर्ण थे। घोड़े एवं हाथी सेना के महत्त्वपूर्ण अंग थे।

श्रेणी एवं व्यापार—इस काल में उद्योग-धन्धों का बहुत अधिक विकास हुआ। अपने पृथक्-पृथक् व्यवसाय एवं उद्योगों से संबद्ध अनेक व्यावसायिक जातियों का प्रादुर्भाव भी देखा जाता है। विविध व्यवसायों से संबंधित लोगों की परस्पर संगठित जीवन में अभिरुचि का विकास इस काल में हुआ। 'श्रेणी' (सेणी), 'गण' एवं 'पूग' आदि इसी प्रकार के संगठनों के द्योतक शब्द हैं। विद्वानों की मान्यता है कि श्रेणी एक ही अथवा अलग-अलग जातियों के किन्तु एक ही व्यापार अथवा उद्योग में प्रवृत लोगों का संगठन था। जातकों में अठारह श्रेणियों का विवरण मिलता है परन्तु किसी भी जातक में सभी श्रेणियों का एक साथ उल्लेख नहीं मिलता। रीजडेविड्स ने तत्कालीन साहित्य के आधार पर अठारह श्रेणियों का उल्लेख किया है।

1. लकड़ी का कार्य करने वाले बढ़ई (वड्ठकि) द्वारा नावों एवं पोत निर्माण की जानकारी जातकों से मिलती है। 2. धातुकर्म करने वाले, धातु को गलाकर तौल एवं माप आदि का निर्माण करते थे। मिलिंदपन्हों में सोना, तांबा, लोहा, सीसा, टिन आदि की वस्तुएं बनाने वाले अलग-अलग वर्गों का उल्लेख मिलता है। कृषि कार्य हेतु हल, फावड़ा, कुदाल, हसियां आदि औजार बनाये जाते थे। 3. चमड़े का काम करने वाले (चर्मकार) चमड़े की रस्सियां, जूते आदि बनाते थे। 4. कुंभकार (कुम्हार) मिट्टी के बर्तन समाज को उपलब्ध करवाता था। 5. पत्थरों से कार्य करने वाले (शिल्पकार) भवनों का निर्माण करते थे। 6. इस समय वस्त्र उद्योग बहुत अधिक विकसित था। सूती, ऊनी एवं रेशमी आदि अनेक प्रकार के वस्त्र निर्मित किये जाते थे। नगर के बाहर राजगृह में बुनकरों की बस्ती होने का उल्लेख आया है। 7. हाथी दाँत से कलात्मक वस्तुएँ बनाने वाले वर्ग का अस्तित्व भी था। काशी में यह उद्योग बहुत विकसित होने की जानकारी मिलती है। 8. कपड़े रंगने वाले कपड़ों को स्वच्छ करके नीला, पीला, लाल, गुलाबी रंग से वस्त्रों को सुन्दर बनाते थे। 9. आभूषण बनाने वाले (स्वर्णकार) विभिन्न प्रकार के आभूषणों का निर्माण करते थे। समाज में अधिकांश लोग स्वर्णाभूषणों में रुचि रखते थे एवं शरीर सज्जा हेतु उपयोग करते थे। 10. चित्रकार भवनों, प्रासादों, विहारों को विभिन्न रंगों द्वारा सौन्दर्य प्रदान करते थे। अन्य वर्गों में उल्लेखनीय हैं—11. मछुआरे, 12. कसाई, 13. शिकारी, 14. नाई, 15. मालाकार (माली), 16. नाविक, 17. भोजन एवं मिठाई बनाने वाले तथा 18. डलिया बनाने वाले थे।

यह युग जैसा विदित है नगरों के विकास का युग था। अत: पत्थर का कार्य करने वाले शिल्पियों को भवनों, अट्टालिकाओं के निर्माण में अपने कोशल को प्रदर्शित करने का अवसर मिला। भवन निर्माण हेतु प्रस्तर का उपयोग इस काल में प्रारंभ हो गया था। संभवत: मूर्ति निर्माण कला का प्रारंभ भी छठी शताब्दी ई.पू. के काल की देन है। इसी तरह वस्त्र निर्माण भी इस काल का अत्यन्त विकसित उद्योग था। कई स्थान अपने विशिष्ट वस्त्र उद्योग के लिए प्रसिद्ध थे। उज्जयिनी के शासक प्रद्योत ने जीवक की सेवाओं से प्रसन्न होकर शिवि प्रदेश में निर्मित (सीवेय्य) चादरों का जोड़ा भेंट किया था। काशी में निर्मित परिधान धारण कर लोग गर्व का अनुभव करते थे अर्थात् वहां के वस्त्रों का विशेष महत्त्व था।

श्रेणियों के समान ही 'गण' एवं पूग का उल्लेख धर्मसूत्रों में मिलता है। धन एवं लाभ की प्राप्ति के लिए विविध जातियों और व्यवसायों में प्रवृत्त लोगों द्वारा अपने को एक संगठन में संगठित करने से पूग का गठन होता था। प्रत्येक श्रेणी के अध्यक्ष को जेट्ठक (ज्येष्ठक) या प्रमुख कहते थे। इन श्रेणियों द्वारा निर्धारित नियमों का पालन प्रत्येक सदस्य को करना होता था। श्रेणियों के मध्य विवाद का निपटारा महासेट्ठि द्वारा किया जाता था। श्रेणियों को पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त थी अर्थात् इन संगठनों को सहकारिता के आधार पर संचालित किया जाता था।

राज्यों की विस्तारवादी नीति के परिणामस्वरूप बड़े राज्यों का अभ्युदय हुआ, जिससे आवागमन अधिक सुरक्षित ही नहीं हुआ बल्कि जनजीवन में भी स्थायित्व आया। दूसरी ओर नगरीय संस्कृति के आविर्भाव और कला शिल्पों के विकास आदि तथ्यों ने व्यापारिक विकास में सहयोग प्रदान किया। सिक्कों के प्रचलन ने इस प्रक्रिया में बहुत योगदान किया। इसने अधिक गतिशीलता तथा व्यवसायों एवं व्यापार को विकास प्रदान किया तथा एक बड़े क्षेत्र में आर्थिक

नोट

गतिविधियों को बढ़ाया। परिणामस्वरूप शहरी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। राज्य भी व्यापारिक गतिविधियों में अपेक्षित सहयोग प्रदान करते थे क्योंकि व्यापारिक वस्तुओं पर लगाये गये कर राजकोष को बढ़ाने के महत्त्वपूर्ण साधन थे। व्यापारियों से उनकी वस्तुओं का निरीक्षण कर राज्य कर्मचारी चुंगी या कर वसूल करते थे। व्यापार में अभिवृद्धि से श्रेष्ठियों एवं गृहपतियों के पास प्रभूत धन एकत्र हो गया था। गृहपति मेदक के बारे में बौद्ध साहित्य में विवरण आया है कि वह सेना को वेतन देता था और महात्मा बुद्ध एवं बौद्ध संघ की सेवा के लिए उसने 1,250 गायों का झुण्ड भेंट किया।

वणिक पथ–इस समय के प्रचलित व्यापारिक मार्गों की अधिक जानकारी नहीं मिलती तथापि अनेक विद्वानों द्वारा सुझाये गये संभावित यात्रा मार्गों का उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा। आन्तरिक व्यापारिक मार्गों में एक मार्ग राजगृह (आधुनिक बिहार) से प्रारंभ होकर पाटलिपुत्र, वैशाली, कुशीनगर, श्रावस्ती (आधुनिक उत्तर प्रदेश) होते हुए उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के गंधार प्रदेश स्थित तक्षशिला (उत्तरपूर्वी पाकिस्तान) तक पहुंचता था। यह मार्ग व्यापारिक व्यवस्था के उद्‌भव को स्पष्ट करता है जो प्राचीन उत्तरपथ के उस हिस्से में फैला हुआ था जो हिमालय की तलहटी और बाद में तक्षशिला को राजगृह से जोड़ता था। इस मार्ग में राजगृह से कुसिनारा के मध्य बारह पड़ाव (ग्रामनगर) थे। इस मार्ग का उल्लेख श्रावस्ती के अनाथपिण्डक के काफिले के संबंध में मिलता है। इस मार्ग में एक बार पटना में गंगा नदी को पार करना होता था।

दूसरा मार्ग श्रावस्ती, अयोध्या, कौशाम्बी, विदिशा, उज्जयिनी एवं प्रतिष्ठान (पैठण) आदि नगरों को संयुक्त करता था। इसमें छः पड़ाव थे। एक अन्य मार्ग श्रावस्ती से प्रारंभ होकर कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, वैशाली, पाटलिपुत्र होते हुए राजगृह जाता था। यह मार्ग बौद्ध अनुयायियों एवं भिक्षुओं की यात्रा के लिए भी उपयोगी था। सुत्तनिपात में यह भी विवरण मिलता है कि दक्षिण एवं पश्चिम के मार्ग आकर कौशाम्बी में मिलते थे तथा यात्रियों के कोशल और मगध जाने के लिए मार्ग भी यहीं से प्रारंभ होते थे।

पश्चिमी भारत के राजपूताना से मरूस्थल होता हुआ एक मार्ग सौवीर प्रदेश तक जाता था। अन्य मार्गों में वाराणसी से सुवर्ण भूमि जाने वाले मार्ग का उल्लेख किया जा सकता है। सुवर्ण भूमि के अन्तर्गत बर्मा, मलाया, स्याम, कम्बोडिया आदि को सम्मिलित किया जाता है। विवरण मिलता है कि पूर्व में ताम्लुक और पश्चिम में भड़ौंच से समुद्री यात्राओं से विदेशों में श्रीलंका (ताम्रपर्णि) और बर्मा तक जाते थे। 'बलाहस्स जातक' से ज्ञात होता है कि ताम्रपर्णि की समुद्री यात्रा में लोगों को अपने प्राण खोने पड़े क्योंकि मार्ग में दो क्षिणियों का निवास था जो भ्रमित व्यक्तियों को समाप्त कर देती थीं। सुस्सोदिजातक में विवरण मिलता है कि पूर्वी प्रदेश के दक्षिण चम्पा बन्दरगाह होते हुए सुवर्णभूमि की ओर जाते थे। सुधारक जातक एव बावेरूजातक बैबिलोन (बावेरू) तथा मिस्त्र आदि पश्चिमी देशों की व्यापारिक यात्राओं का वर्णन करते हैं। पश्चिमी भारत में भरुकच्छ नामक बन्दरगाह का उल्लेख जातकों में मिलता है जिसका तादात्म्य काठियावाड़ के भड़ौंच नामक नगर से किया जा सकता है। अपरान्त प्रदेश में स्थित 'सुधारक' नाम के बन्दरगाह का विवेचन धम्मपद टीका, दीपवंश तथा महावंश में आया है। इसका समीकरण डॉ. बी.सी. ला ने बोम्बे के थाना जिले के सुपारा (सोपारा) से किया है, जहाँ से अशोक का शिलालेख भी मिला है। सुष्मारक जातक में यह नाम किसी बन्दरगाह वाले नगर के नाविकों के स्वामी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

व्यापारिक मार्ग सदैव सुरक्षित नहीं होते थे, सतिगम्ब जातक में एक चोरों के ग्राम का उल्लेख है जिसमें 500 चोर रहते थे। ये मार्ग में व्यापारियों को लूट लेते थे। अतः वणिक अपनी रक्षार्थ सशस्त्र रक्षकदल एवं अनुचरों के साथ चलते थे। व्यापारिक सामग्री बैलगाड़ियों द्वारा ढोयी जाती थी। व्यापार हेतु अनेक व्यापारी अपनी-अपनी गाड़ियों के साथ चलते थे, जिसे 'सार्थ' कहा जाता था एवं दल के नेता को 'सार्थवाह' का नाम दिया गया है। इस तरह के व्यापारिक दल (सार्थ) को निश्चित स्थानों पर चुंगी देना होता था। उस समय सड़कों एवं पुलों का अभाव था। अतः बैलगाड़ियां धीरे-धीरे अग्रसर होती थीं, उन्हें नदियां भी पार करनी पड़ती थीं। व्यापारी नदी मार्गों का भी उपयोग करते थे। निर्यात योग्य वस्तुओं में रेशम, मलमल, बहुमूल्यवस्त्र, अस्त्र-शस्त्र, चाकू, कालीनें, सुगन्धित द्रव्य, औषधि, हाथीदाँत, हाथी दांत का सामान एवं सोने-चांदी के आभूषण प्रमुख थे। इन वस्तुओं के व्यापार से अनेक व्यापारियों के समृद्ध होने के उल्लेख तत्कालीन साहित्य में आये हैं।

नोट

माप एवं तौल—बौद्ध साहित्य में तौल एवं माप संबंधी अनेक शब्द मिलते हैं। पाणिनी ने तराजू (तुला), माप (एक सिक्के के समान), निष्पाद (स्वर्ण तौलने का छोटा बाट), शारण (बीसरत्ती), बिस्त, शतमान, आढक आदि का उल्लेख किया है। पाणिनी के काल तक कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माषा आदि मुद्राओं का प्रचलन था। आमिघम्मप्पदीपिका में अनेक मानों का उल्लेख आया है—कुंडव-1 प्रस्थ, 4 प्रस्थ-1 आढक, 4 आढक-1 द्रोण, 4 द्रोण-1 माणी तथा 4 माणी-1 खारी। योजन दूरी या लम्बाई का द्योतक शब्द था। रीजडेविड्स के अनुसार पाँचवीं शताब्दी के पाली ग्रंथों में आये विवरणों के अनुसार यह सात-आठ मील को इंगित करता था। बैंक के समान किसी संस्था का अस्तित्व इस काल में नहीं पाया जाता। लोग अपना धन भूमि में गाड़ कर सुरक्षित रखते थे।

इस प्रकार बौद्ध काल में भारत में न केवल लोग आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे बल्कि इस काल में व्यापार, उद्योग एवं शिल्प में भी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। इस काल में विकसित उद्योग एवं व्यापार के फलस्वरूप भारत आगे जाकर पाश्चात्य देशों को विविध सामग्री का निर्यातक बन गया।

13.3 गणतंत्र एवं मगध साम्राज्य का उत्थान (Rising of Magadh Kingdom and Republic)

वैदिक काल में समस्त भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था किन्तु इस काल तक राजतंत्र अधिक प्रभावी हो गये थे। अब राज्यों में अपनी सीमाओं के विस्तार तथा अपनी शक्ति में अभिवृद्धि के लिए परस्पर संघर्ष होना स्वाभाविक था। इस प्रक्रिया में सार्वभौम सम्राट का आदर्श मगध शासकों ने स्थापित किया, जैसा कि रायचौधरी ने लिखा है—इस प्रकार कूटनीति और ताकत के बल पर बिम्बिसार ने अंग राज्य तथा काशी के एक भाग को मगध में मिला लिया था। फिर तो मगध निरन्तर विस्तार की ओर बढ़ता गया और तब तक बढ़ता गया जब तक कि महान अशोक ने कलिंग के बाद अपनी तलवार रख नहीं दी। मगध साम्राज्य के विषय में चर्चा करने से पूर्व भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति की समीक्षा करना आवश्यक है, जिससे यहां के राजनीतिक वातावरण का एक मोटा चित्र बन सके। जैन एवं बौद्ध साहित्य में 16 महाजनपदों का विवेचन मिलता है जिनमें मगध महाजनपद भी एक था। इसके अतिरिक्त वज्जि एवं मल्ल गणराज्यों को भी महाजनपदों में सम्मिलित किया गया है। इन गणराज्यों में गणतंत्रात्मक शासन पद्धति का प्रचलन था।

महाजनपद—इस काल से पूर्व भी प्रमुख राज्यों का विवरण वैदिक साहित्य में मिलता है—गंधार, केकय, मद्र, वश-उशीनर, मत्स्य, कुरू, पञ्चाल, काशी एवं कोशल। इनके पूर्व में मगध एवं अंग तथा दक्षिण में आन्ध्र, पुलिन्द, मतिल आदि का उल्लेख आया है जिनकी चर्चा हमने पूर्व में की है। किन्तु इस युग में गन्धार से लेकर बंगाल की सीमा तक संपूर्ण उत्तरी भारत के सोलह महाजनपदों में विभक्त होने की जानकारी भगवती सूत्र एवं अंगुत्तर निकाय आदि से मिलती है। अंगुत्तर निकाय में सोलह महाजनपदों का उल्लेख इस प्रकार आया है—अंग, काशी, कोशल, वत्स, अवन्ति, चेदि, कुरू, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, गंधार, काम्बोज, अश्मक, वज्जि एवं मल्ल (गणराज्य) और मगध।

अंग—यह जनपद मगध से पूर्व में एवं राजमहल पहाड़ियों के पश्चिम में स्थित था। इसमें दक्षिण बिहार के भागलपुर एवं मुंगेर जिले सम्मिलित थे। संभवत: इसका विस्तार उत्तर की ओर कोसी नदी तक था और पूर्णिया जिले के कुछ भाग भी इसमें जुड़ गये थे। भागलपुर के समीप चम्पा (चांदन) इसकी राजधानी थी। मगध एवं अंग के मध्य चंपा नदी बहती थी उसी के किनारे चंपा नगर स्थित था। बौद्धकालीन छ: बड़े नगरों में चंपा नगर की गणना की जाती है। यह अपने व्यापार एवं वाणिज्य के लिए विख्यात था एवं व्यापारियों के यहां से सुदूर पूर्व गंगा पार करके जाने की जानकारी मिलती है। प्रारंभ में अंग एक शक्तिशाली जनपद था। विधुर पण्डित जातक के अनुसार राजगृह शुरू में अंग राज्य का ही एक नगर था। कालान्तर में इसका पड़ोसी राज्य मगध के साथ संघर्ष हुआ जिससे इसकी स्थिति कमजोर हो गई। बुद्ध के समय अंग एवं मगध में संघर्ष की स्थिति बनी रहती थी, यहाँ के राजा ब्रह्मदत्त ने एक बार युद्ध में मगध को परास्त कर दिया था। किन्तु बाद में उसे मगध से पराजित होना पड़ा एवं ब्रह्मदत्त मारा गया और बुद्ध के समय में ही अंग को मगध में विलीन कर लिया गया। भागलपुर के निकट चम्पा के उत्खनन से उत्तरी काले पॉलिश युक्त (एन.वी.पी.डब्ल्यू.) मृद्भाण्ड बड़ी तादाद में मिले हैं। उत्खनन करने वाले विद्वानों ने इसके

नोट

कालक्रम के चरण स्पष्ट रूप से नहीं बताएं हैं। यहां एक मिट्टी का परकोटा है। पहले एवं दूसरे चरण में चार-चार कमरे हैं और इस चरण में मिट्टी के बने चम्मच, लटकन तथा फलक भी पाये गये हैं।

काशी–वर्तमान उत्तर प्रदेश के दक्षिण पूर्व में स्थित काशी की राजधानी वाराणसी (बनारस) थी जो वरुणा एवं असी (गंगा एवं गोमती) नदियों का संगम स्थल है। इस काल में यह नगर व्यापार, शिल्प एवं शिक्षा के लिए विख्यात था। काशी को सूती कपड़ों एवं घोड़ों के व्यापार का भी प्रमुख केन्द्र कहा गया। यहां की भूमि के अत्यधिक उपजाऊ होने के उल्लेख मिलते हैं। संभव जातक में विवरण मिलता है कि इस नगर का क्षेत्रफल 12 योजन (36 मील) था। इसे भारत के प्रमुख नगरों में से एक कहा गया है। महावग्ग में काशी राज्य की शक्ति और समृद्धि का विवेचन मिलता है। जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन काशी के राजा कहे गये हैं। 'दशरथ जातक' में दशरथ, राम आदि को अयोध्या के स्थान पर काशी का राजा बताया गया है। बुद्ध ने भी अपना प्रथम उपदेश बनारस के निकट सारनाथ में दिया था। काशी के प्रतापी राजा ब्रह्मदत्त के काल में यह एक प्रमुख राज्य बन गया था। महावग्ग से ज्ञात होता है कि ब्रह्मदत्त आदि राजाओं ने कोशल को अपने अधीन कर लिया था। कोशल के साथ संघर्ष में काशी द्वारा बड़ी सेना के साथ आक्रमण किये जाने का उल्लेख ब्रहाचत जातक में मिलता है। परन्तु अन्त में काशी की पराजय हुई।

गोदावरी के तट पर बसी अस्सक की राजधानी पोतालि को अस्सक जातक में काशी राज्य की नगरी कहा गया है। संभवत: अस्सक शासक ने अल्पकाल के लिए काशी की अधीनता स्वीकार की होगी। सोननंद जातक से ज्ञात होता है कि काशी शासक मनोज ने कोशल, मगध एवं राज्य के राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। यहाँ के राजाओं को महावग्ग में सब राजाओं में अग्रज एवं समृद्धशाली कहा गया है।

पुराविदों की मान्यता है कि बनारस के रूप में पहचाने गये राजघाट से छठी शताब्दी ईसा पूर्व में शहरीकरण के कोई विशिष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं। एक प्रमुख नगर के रूप में इसका उदय 450 ईसा पूर्व के लगभग हुआ होगा। कहा गया है कि बौद्ध भिक्षुओं के गेरूए वस्त्र (काशय) बनाए जाने के कारण इसे काशी कहा जाने लगा।

कोशल–युद्ध के समय कोशल उत्तरी भारत में महत्त्वपूर्ण राज्य था। इसकी उत्तरी सीमा पर नेपाल, दक्षिण में गंगा नदी, पूर्व में इलाहाबाद और शाक्य राज्य को इसके पूर्व में बताया गया। राय चौधरी ने कोशल का सीमांकन इस प्रकार किया है–कोशल राज्य के पश्चिम में गोमती, दक्षिण में सर्पिका (सई नदी), पूर्व में विदेह से कोशल को अलग करने वाली सदानीरा तथा उत्तर में नेपाल की पहाड़ियाँ थीं। 1969-70 में अयोध्या में किये गये उत्खनन से जानकारी मिली है कि यह क्षेत्र उत्तरी काली पॉलिशदार मृद्भाण्ड के समय आबाद हुआ।

मज्झिम निकाय में कोशल नरेश का कथन मिलता है कि 'वह भी कोशल का है तथा भगवान बुद्ध भी कोशल के हैं।' रामायण तथा पुराणों से विदित होता है कि कोशल के पूर्ववर्ती राजा इक्ष्वाकु (इच्छ्वाकु) वंशीय थे। इक्ष्वाकु के ही वंशज कुशीनारा, मिथिला तथा वैशाली में राज्य करते थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कोशल का उदय कई छोटी-छोटी इकाइयों के सामंजस्य से हुआ। संभवत: छठी शताब्दी ईसा पूर्व के शुरू में यह क्षेत्र कई छोटे-छोटे शासकों में बंटा हुआ था जो अलग-अलग कस्बों में शासन करते थे। रामायण काल में कोशल की राजधानी अयोध्या थी। विनय में दिगहु का एक कथानक मिलता है–काशी नरेश ब्रह्मदत्त ने कोशल पर आक्रमण किया उस समय 'दिग्ति' श्रावस्ती का राजा था। ब्रह्मदत्त ने संपूर्ण राज्य जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था परन्तु दिग्ति के पुत्र ने पुन: अपने राज्य को जीत लिया था। कोशल राजा बंक, दब्बसेन तथा कंस द्वारा काशी पर आक्रमण किये जाने की जानकारी मिलती है। राजोवदान जातक में एक रोचक आख्यान आया है जिसमें पहले दो राजाओं के संघर्ष को बताया गया तथा अनेक कथानकों के साथ वाराणसी के राजा की विशेषताओं का उल्लेख किया गया। इस काल में काशी के अतिरिक्त किसी अन्य राजा अथवा जाति के साथ कोशल के संघर्ष का उल्लेख नहीं मिलता। संभवत: इसके उत्तर में स्थित जातियों (छोटे-छोटे राज्यों) का विलीनीकरण क्रमिक रूप से हुआ। परन्तु इसके संबंध काशी से अच्छे नहीं थे अत: दोनों जनपदों में संघर्ष प्रारंभ हो गया। इसका परिणाम कोशल के पक्ष में गया और अन्त में कंस ने काशी पर अधिकार कर लिया। प्रसेनजित ने पिता महाकोशल के समय काशी को कोशल जनपद का अधीनस्थ राज्य कहा है। छठी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में महाकोशल एवं प्रसेनजित का काशी

नोट

पर कब्जा हुआ होगा। काशी एवं कोशल की लड़ाई बुद्ध जन्म के बाद की घटना थी। रीजडेविड्स की मान्यता थी कि इस संघर्ष में चार राजा क्रमशः युद्धरत रहे एवं यह संघर्ष सौ वर्ष तक चला। काशी के कोशल में मिला लिये जाने से तीन बड़े शहरों—अयोध्या, साकेत एवं श्रावस्ती को अपने नियंत्रण में लेकर कोशल एक संपन्न राज्य हो गया।

बौद्ध धर्म धम्मपद की अट्ठकथा के अनुसार प्रसेनदि (प्रसेनजित) कोशल का राजा था जिसकी शिक्षा तक्षशिला में हुई थी। इसे 'महालि' का सहपाठी कहा गया जो दान के लिए बहुत प्रसिद्ध था। प्रसेनजित बुद्ध का समकालीन था तथा इक्ष्वाकु वंश की अन्य शाखा से संबद्ध था। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं प्रसेनजित के इस अभिकथन से होती है कि 'भगवान बुद्ध भी अस्सी के हैं तथा मैं भी अस्सी वर्ष का हूँ।' मेदलुम्प नामक स्थान पर बुद्ध एवं राजा के मध्य विचार-विमर्श का उल्लेख मिलता है। कोशल नरेश की बहिन 'सुमन' ने बौद्ध होने की इच्छा व्यक्त की थी किन्तु वह ऐसा नहीं कर सकी, संयुक्त निकाय से ऐसी जानकारी मिलती है। मध्य प्रदेश में स्थित भरहुत स्तूप में एक बुद्ध मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख से भी प्रसेनजित एवं बुद्ध की समकालीनता प्रमाणित होती है। सेतव्या (साकेत) तथा उत्कठ (श्रावस्ती या सालवती) कोशल राजा ने ब्राह्मणों को दान में प्रदान की थी। महाकोशल ने मगध के सम्राट बिम्बिसार को विवाह में अपनी पुत्री कोशलदेवी को देते समय काशी का गाँव उसके शृंगार प्रसाधन के व्यय हेतु दिया था।

संयुक्त निकाय में दो युद्धों का विवेचन मिलता है—प्रथम के अनुसार मगध शासक अजातशत्रु ने काशी राज्य में प्रसेनदि पर आक्रमण किया एवं वह श्रावस्ती (श्रावत्थि) में शरण लेने को बाध्य हुआ। दूसरे युद्ध में प्रसेनदि ने अजातशत्रु को परास्त कर बन्दी बना लिया था तथा कुछ समय बाद मुक्त भी कर दिया और अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह उसके साथ (अजातशत्रु) किया।

प्रसेनजित बहुपत्नीक था, एक बार उसने एक मालाकार के मुखिया की पुत्री मल्लिका को देखा एवं उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। यद्यपि वह वृद्ध हो चुका था तथापि उसने 16 वर्ष की कन्या के साथ विवाह कर लिया। उसके विवाह के संबंध में एक दूसरी घटना का भी उल्लेख मिलता है। वह कपिलवस्तु के शाक्यों के साथ विवाह संबंध स्थापित करना चाहता था परन्तु शाक्य इससे सहमत नहीं थे किन्तु भय के कारण अस्वीकार न कर सके। अतः धोखे से एक दासी वासवरवत्तिया के साथ प्रसेनजित का विवाह करवा दिया। इसी से प्रसेनजित को विड्डभ (विरूद्धक) नामक पुत्र प्राप्त हुआ। तिब्बती जनश्रुति के अनुसार विरूद्धक की माता का नाम मल्लिका था जो शाक्यों की दासी थी।

प्रसेनजित को सलाह देने के लिए राज्य में एक मन्त्रिपरिषद् थी। इसमें 500 सदस्य थे। मज्झिम निकाय में एक मंत्री का नाम श्रीवड्ठ (श्री वृद्ध) आया है। उवसगदसाओ ने एक अन्य मंत्री मृगधर का जिक्र किया है, अन्यत्र दीर्घकारायण का नाम भी मिलता है।

विरूद्धक ने एक बार मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को प्रलोभन एवं छल से अपनी ओर मिलाकर प्रसेनजित को पदच्युत कर दिया था एवं स्वयं राजा बन बैठा। निराश्रित प्रसेनजित अपने दामाद अजातशत्रु के राज्य में शरण लेने के लिए रवाना हुआ। परन्तु गृह सीमा पर ही उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद विरूद्धक ने शाक्यों से बदला लेने का निश्चय किया, उसके प्रधानमंत्री अम्बरीश ने कूटनीति से काम लेते हुए शाक्यों को अपनी द्वेषहीनता का विश्वास दिलाया और दुर्ग-द्वारों को खुलवा दिया। सुरक्षा द्वार के खुलने पर विरूद्धक की सेनाओं ने आक्रमण कर दिया, उसकी विजय हुई। युद्ध में लगभग 7700 शाक्य मारे गये। इस प्रकार शाक्यों की स्वायत सत्ता समाप्त हो गई। किन्तु वह स्वयं जब वापस लौट रहा था, अचरावति नदी को पार करते हुए बाढ़ में सेना सहित बह गया।

वत्स—वत्स (वच्छ) की राजधानी इलाहाबाद के समीप यमुना के तट पर कौशाम्बी (आधुनिक कोसम) थी। कौशाम्बी को उज्जैन से 400 मील दूर तथा बनारस से 230 मील दूर बताया गया है। सुत्तनिपात में उज्जैन से विदिशा होते हुए कौशाम्बी तक एक मार्ग जाने का उल्लेख मिलता है। वत्स को गंगा के दक्षिण में स्थित कहा गया है। इलाहाबाद के निकट यमुना के तट पर आधुनिक कोसम को कौशाम्बी के रूप में जाना जाता है। यहां से कुषाण युग के अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहां से प्राप्त अशोक के प्रसिद्ध अभिलेख पर समुद्रगुप्त के विजय अभियान का वर्णन अंकित है।

नोट

बुद्ध के समय यहाँ उदयन राज्य करता था जिसे पौरव वंशी माना गया है। उसके पिता का नाम परन्तप (शतानीक) था, उसके एक पुत्र का नाम बोधी कुमार मिलता है। संभवत: गद्दी पर आसीन होने से पूर्व ही इसकी मृत्यु हो गई थी। उदयन अवन्ति शासक प्रद्योत, मगध नरेश बिम्बिसार तथा अजातशत्रु के समकालीन था। नाटककार भास ने अपने नाटकों द्वारा वत्स नरेश उदयन को अमर बना दिया। भास रचित स्वप्नवासवदत्ता से विदित होता है कि उदयन और प्रद्योत के बीच वैमनस्यता थी, परन्तु वासवदत्ता के साथ विवाह हो जाने के पश्चात् मित्रता हो गई। इस नाटक का संपूर्ण कथानक उदयन तथा अवन्ति राजकुमारी वासवदत्ता के बीच प्रेम संबंध पर आधारित है। इस विवाह संबंध के पश्चात् उदयन के कुशल मंत्री यौगन्धरायण ने अपने स्वामी का विवाह मगधराज दर्शन की पुत्री पद्मावती के साथ भी करवा दिया। अट्टकथा में उदयन के तीन रानियों का उल्लेख मिलता है। उसके काल में पाली में उदेनवत्थु एवं संस्कृत में मकन्दिका अवदान लिखे गये हैं। अवन्ति के राजा प्रद्योत के साथ उसकी शत्रुता के विषय में अनेक मनोरंजक कथानक मिलते हैं। किन्तु वासवदत्ता एवं उदयन के प्रणय प्रसंग की चर्चा विशेष उल्लेखनीय है।

ओल्डेनवर्ग ने ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित 'वंशस' को वंश या वत्स बताया है। परन्तु यह समीकरण सन्दिग्ध प्रतीत होता है। पुराणों में वत्स राजा का वर्णन मिलता है। महाभारत के किसी चेदी राजा द्वारा कौशाम्बी नगर की स्थापना का उल्लेख आया है। गंगा की भयानक बाढ़ से जब हस्तिनापुर नष्ट हो गया था तो जनमेजय के प्रपौत्र विचक्षु ने कोशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया। कौशाम्बी नगर व्यापारिक मार्गों के संगम पर बसा हुआ था।

प्रियदर्शिका और कथा सरित्सागर में उदयन की दिग्विजय का विवरण मिलता है। पूर्व में उसने वंग और कलिंग को, दक्षिण में चोल-राज्य और कोल राज्य तक के प्रदेश को जीता। पश्चिमी भारत में मलेच्छों, तुरूष्कों, पारसीकों और हूणों को पराजित किया, परन्तु इस वर्णन को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। सुंसमारगिरी भग्ग जनपद (मिर्जापुर) उदयन के अधीन होने की जानकारी मिलती है।

एक बार उसने शराब के नशे में बौद्ध भिक्षु पिण्डोल भारद्वाज के शरीर से एक टोकरी भर कर पीली चीटियाँ बन्धवा दी थीं। किन्तु आगे जाकर पिण्डोल भारद्वाज से ही उसने बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण की।

अवन्ति–पश्चिमी भारत में स्थित अवन्ति छठी शताब्दी ईसा पूर्व के सबसे शक्तिशाली महाजनपदों में से एक था। वर्तमान मालवा प्रदेश को अविन्त राज्य की संज्ञा दी जाती थी। प्रधानत: इसके दो भाग थे उत्तरी एवं दक्षिणी अवन्ति, जिसकी क्रमश: उज्जैनी एवं महिष्मति राजधानी थी। दोनों 50 योजन (400 मील) दूरी पर स्थित कही गई हैं। महिष्मति (मान्धता द्वीप) नर्मदा तट पर स्थित थी। इन नगरों को धर्म और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र कहा जाता है। प्राचीन काल में हैहय तथा इससे पूर्व इक्ष्वाकु वंश राज्य करता था। महाभारत में अवन्ति एवं महिष्मति को दो राज्य कहा है। महात्मा बुद्ध के समय यहाँ प्रद्योत (पज्जोत) नामक राजा राज्य करता था। महावग्ग में उसे चण्ड के नाम से संबोधित किया है जबकि भास ने महासेन के नाम से। अवन्ति एवं वत्स दोनों में वैमनस्य था। वत्सराज उदयन ने अवन्ति नरेश प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता का अपहरण कर विवाह किया था। किन्तु दोनों की शत्रुता धीरे-धीरे समाप्त हो गई।

मज्झिम निकाय से विदित होता है कि प्रद्योत के आक्रमण के भय से अजातशत्रु ने राजगृह को दुर्गीकृत करवाया। मथुरा के शूरसेन राज्य के राजा को बुद्ध के समय 'अवन्ति पुतो' कहा है। संभवत: यहाँ का शासक अवन्ति का राजकुमार रहा होगा। ललित विस्तार में बुद्ध के समकालीन शासक को सुबाहु कहा है। अवन्ति उस समय बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ के कुछ उत्साही धर्म प्रचारकों के नाम मिलते हैं–अभयकुमार, ईसीदासी, असीदत्त, धम्मपाल एवं सोना कुट्टिन आदि। सोना कुट्टिन को भाषण कला में प्रवीण माना गया है। धर्मप्रचारक श्रावस्ती, तक्षशिला, अवन्ति आदि में संचरण करते थे। अवन्ति के कई छोटे-बड़े कस्बों का जिक्र आया है। बौद्ध तथा जैन साहित्य में अवन्ति राज्य के कुररधर, मक्करकर, सुदर्शनपुर आदि अन्य नगरों का उल्लेख मिलता है।

पुराणों से विदित होता है कि अवन्ति तथा विदर्भ की स्थापना यदुवंशियों ने की। कृषि के लिए उपजाऊ भूमि होने तथा दक्षिण के व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के फलस्वरूप यदुओं ने यहां एक केन्द्रीकृत राज्य की स्थापना कर ली थी। ऐतरेय ब्राह्मण में भी सात्वतों तथा भोजों को दक्षिण में फैली हुई यदुवंश की शाखा कहा गया। हैहयवंश की पांच प्रमुख शाखायें थी–वीतिहोत्र, भोज, अवन्ति, कुण्डीकेर तथा तालजंघ। चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व में अवन्ति

नोट

मगध साम्राज्य का अंग हो गया था। अवन्ति शासक चण्ड प्रद्योत ने बुद्ध के शिष्य महाकच्छायन के प्रभाव से बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। प्रद्योत ने महात्मा बुद्ध को भी अवन्ति आमन्त्रित किया था परन्तु वे नहीं आ सके तथा महाकच्छायन सहित सात प्रमुख शिष्यों को भेजा।

क्या आप जानते हैं वर्तमान उत्तर प्रदेश के दक्षिण पूर्व में स्थित काशी की राजधानी वाराणसी (बनारस) थी जो वरुणा एवं असी (गंगा एवं गोमती) नदियों का संगम स्थल है।

प्रद्योत के बाद मगध सम्राट शिशुनाग ने अवन्ति को परास्त कर अपने राज्य में मिला लिया था। जिसकी चर्चा आगे की गई है। अवन्ति राज्य का पर्याप्त आर्थिक महत्त्व था क्योंकि अनेक व्यापारिक मार्ग इस प्रदेश से गुजरते थे। उज्जैन से उत्तरी काली पॉलिशदार मृद्भाण्ड अवशेष, मृण्यमूर्तियां, मातृदेवी की मूर्तियां, कीमती पत्थर एवं लोहे के उपकरण प्राप्त हुए हैं। शुंगकालीन मृण्मूर्तियां तथा तांबे के ढलवां सिक्के भी मिले हैं।

चेदि—यमुना नदी के किनारे आधुनिक बुन्देलखण्ड तथा उसके आस-पास के प्रदेश में फैला हुआ था। इसकी राजधानी शक्तिमति थी। जातकों में 'सोत्यवती नगरी' का उल्लेख मिलता है, जिसका समीकरण शक्तिमति के साथ किया जाता है जो संभवत: उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में स्थित थी। ऋग्वेद में चेदि राज्य का उल्लेख हुआ है। महाभारत में शिशुपाल को चेदि राजा कहा गया। इसके शासन काल में यह राज्य उत्कर्ष पर था किन्तु उसकी मृत्यु के बाद इसका पतन प्रारंभ हो गया। इस वंश की एक शाखा कलिंग में भी राज्य करती थी। महाभारत में विवरण आया है कि चेदि चम्बल के पार मत्स्य, बनारस के काशियों तथा सोन नदी की घाटी में करूषों के निकट सम्पर्क में थे। उड़ीसा (कलिंग) में चेदि वंश का शासक खारवेल था। संभवत: चेदि वंश के किसी राजकुमार ने यहाँ इस वंश को प्रस्थापित किया होगा।

कुरू—वर्तमान दिल्ली तथा मेरठ के समीपवर्ती प्रदेश कुरू राज्य में सम्मिलित थे। इसकी राजधानी यमुना के तट पर इन्द्रप्रस्थ थी। इन्द्रप्रस्थ के अतिरिक्त हस्तिनापुर एवं इशुकर को भी कुरूओं की राजधानी कहा गया। इनमें से प्रत्येक का अपना शासक था। हमें कुरूओं के विषय में सर्वाधिक जानकारी महाभारत में मिलती है, इसमें दी गई कौरवों एवं पाण्डवों के बीच उत्तराधिकार युद्ध की गाथा से सभी परिचित हैं। वत्स प्रदेश में जिस राजतंत्र की स्थापना हुई थी वह संभवत: कुरू की ही एक शाखा थी। पौराणिक ग्रंथों से जानकारी मिलती है कि हस्तिनापुर के बाढ़ से नष्ट हो जाने पर राजवंश के कुछ लोग वत्स राज्य में विस्थापित हुए। हस्तिनापुर के उत्खननों से बाढ़ की पुष्टि होती है। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड वाले स्थल के रूप में हस्तिनापुर प्रसिद्ध रहा है। यहां किये गये उत्खनन से सात उपकालों में पकी ईंटों के बने मकान मिले हैं। ई.पू. दूसरी शताब्दी के मथुरा के शासकों के सिक्के मिले हैं। महमूत सोमजातक के अनुसार इस राज्य में तीन सौ संघ थे। पाली ग्रंथों से ज्ञात होता है कि यहाँ के शासक युधिष्ठला गोत्र के थे। जैन ग्रंथ उत्तराध्ययन सूत्र में कुरू नरेश को इक्ष्वाकुवंशीय कहा है। जातक कथाओं में सुत, सोम, कौख, धनंजय आदि कुरूदेश के राजा माने गये। प्रारंभ में कुरू प्रदेश शक्तिशाली राजतंत्र था किन्तु बाद में यहाँ गणतंत्र की स्थापना हुई। अर्थशास्त्र में कुरू राज्य को गणराज्यों में सम्मिलित किया है।

पांचाल—उत्तर वैदिक काल से ही पांचाल राज्य दो भागों में विभक्त था—उत्तर पांचाल जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी तथा काम्पिल्य दक्षिण पांचाल की राजधानी कही गई है। समस्त रूहेलखण्ड एवं गंगा-यमुना के पूर्वी भाग अर्थात् आधुनिक पश्चिमी उत्तर प्रदेश इसी जनपद के अर्न्तगत थे। हिमालय की तलहटी से लेकर दक्षिण में चंबल नदी, पूर्व में कोशल एवं पश्चिम में कुरू जनपद इसकी सीमायें निर्धारित करते थे। महाभारत में इसका उल्लेख मिलता है। द्रौपदी पांचाल नरेश द्रुपद की पुत्री थी, उसे पांचाली भी कहा जाता था। प्रसिद्ध कन्नौज नगर इसी जनपद में स्थित था। अहिच्छत्रा 300 ई.पू. में एक बड़ी आबादी के रूप में विकसित था, जहां निर्माण के लिए कच्ची ईंटों का उपयोग किया गया। यहां से मित्र उपाधि वाले अनेक राजाओं के सिक्के मिले हैं। पांचाल एक राजतंत्र था किन्तु संभवत: कौटिल्य के समय तक यहाँ भी गणराज्य की स्थापना हो गई थी। ब्रह्मदत्त इस राज्य का प्रतापी शासक था। महाउमग्ग जातक, उत्तराध्ययन सूत्र, स्वप्नवासवदत्ता में इसका उल्लेख मिलता है। उसे (ब्रह्मदत्त को) उत्तराध्ययन सूत्र में पृथ्वी

नोट

का महान राजा कहा गया, इसी ग्रंथ में काम्पिल्य के राजा संजय द्वारा राज्य त्याग कर जैन धर्म स्वीकार किये जाने का विवेचन आया है।

मत्स्य–इस जनपद में आधुनिक जयपुर, भरतपुर तथा अलवर क्षेत्र सम्मिलित थे। कनिघम ने इसकी राजधानी विराट (आधुनिक बैराठ) होने का उल्लेख किया है। संभवत: विराट नामक संस्थापक राजा के नाम से इसकी राजधानी विराट नगर के नाम से प्रसिद्ध हुई। साहित्यिक ग्रंथों से अपर मत्स्य, वीर मत्स्य आदि के विवरण मिलते हैं, संभवत: ये मूल राज्य की प्रशाखायें रही होंगी। महाभारत में राजा 'सहज' का वर्णन आया है जिसे चेदि तथा मत्स्य का शासक कहा गया। यह क्षेत्र पशुपालन के लिए उपयुक्त था। महाभारत में जिक्र आया है कि कौरवों ने विराट पर आक्रमण किया एवं मवेशियों को हांक कर ले गए। स्पष्ट है स्थायी कृषि पर आधारित शक्तियों से मत्स्य मुकाबला न कर सके। बौद्ध साहित्य में इस राज्य का उल्लेख नहीं मिलता, ऐसा प्रतीत होता है कि मत्स्य इस काल में चेदि का अधीनस्थ राज्य हो गया था। बाद में इसे मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। अशोक के विख्यात प्रज्ञापन (आदेश पत्र) वैराट (जिला जयपुर) में पाए गए हैं।

शूरसेन–कुरू जनपद में दक्षिण एवं चेदि के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में स्थित था। इसकी राजधानी मथुरा थी, यहां पूर्व में यदुवंशी (यादव), अन्धक एवं वृष्णियों का गणराज्य था। महाभारत काल में मथुरा एक महत्त्वपूर्ण नगर था, श्री कृष्ण का जन्म यादव वंश में हुआ। शूरसेन नरेश 'अवन्ति' महात्मा बुद्ध का अनुयायी था, उसने अपने राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार करवाया। इसे बुद्ध का समकालीन बताया जाता है। अवन्ति पुत्र के नाम से प्रतीत होता है कि मथुरा एवं अवन्ति के मध्य वैवाहिक संबंध थे। पाणिनी ने अन्धक तथा वृष्णजन का निवास स्थान मथुरा कहा है। मथुरा दो विख्यात प्राचीन भारतीय व्यापार मार्ग उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ के मध्य स्थित था। इसका कारण यह था कि मथुरा स्थायी कृषि वाले गंगा के मैदानों एवं चरागाहों, जो मालवा के पठार तक पहुंचते थे, के अन्तर्वती क्षेत्रों के मध्य स्थित था। इसीलिए मथुरा का महत्त्व बढ़ गया था। मथुरा में 1954-55 में खुदाई करवाई गई, यहां से उत्तरी काली पॉलिशदार मृद्भाण्ड वाले चरण में ईंट की इमारतें भी देखी गईं। इसके बाद के चरण में कीमती पत्थरों के विभिन्न प्रकार के मनके और तांबे के सिक्के पाये गये हैं। यहां से कुषाण कालीन सिक्के भी मिले हैं।

गान्धार–भारत के पश्चिमोत्तर भाग (जिसे उत्तरापथ भी कहा जाता है) में गांधार जनपद स्थित था। यह आधुनिक अफगानिस्तान के पूर्व, पश्चिम पंजाब का अधिकांश क्षेत्र, आधुनिक पेशावर तथा रावलपिंडी तक विस्तृत था। एक जातक में कश्मीर भी इसमें सम्मिलित किया गया। बौद्ध साहित्य में इसकी राजधानी तक्षशिला कही गई। यह नगर उस काल में विद्या एवं व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था। दूर-दूर से विद्यार्थी यहां विद्याध्ययन करने आते थे। जातकों से विदित होता है कि देश के विभिन्न स्थानों से छात्र वहां जाकर आचार्यों के सान्निध्य में रहकर शिल्प का ज्ञान प्राप्त करते थे। पाटलिपुत्र निवासी जीवक ने तक्षशिला में जाकर अध्ययन किया जो कालान्तर में आयुर्वेद का महान विद्वान बना। वह महात्मा बुद्ध का समकालीन था। कोशल नरेश प्रसेनजित, मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त, महान राजनीतिज्ञ कौटिल्य, ख्यातिलब्ध वैद्य जीवक, वैयाकरण पाणिनी और पंतजलि यहाँ से शिक्षा ग्रहण करके अपने-अपने क्षेत्र में विख्यात हुए थे।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में गांधार में पुष्कर सारिन राज्य करता था। इसका अवन्ति शासक चण्ड प्रद्योत से संघर्ष हुआ एवं उसे युद्ध में परास्त किया। मगध के साथ उसके अच्छे संबंध थे, मगध में उसने अपना राजदूत भी भेजा था। आधुनिक तक्षशिला के उत्खनन से ज्ञात होता है कि 1000 ई.पू. में यह क्षेत्र आबाद हो चुका था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक आते-आते तक्षशिला एक विकसित नगर का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि पाँचवीं सदी ई.पू. से ईसवी सन की पाँचवी शताब्दी तक यह शहर अस्तित्व में रहा। दस्तकारी उद्योगों का इस नगर के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। प्रथम तक्षशिला की पहचान भीर टीले की जाती है। पाँचवीं सदी ई.पू. में अनियमित तरीके से बस्ती बसाई गई। मौर्य शासनकाल तक यहां लोग रहते थे। दूसरी तक्षशिला को बैक्ट्रिया के यूनानियों ने भीर टीले के उत्तर में बसाया। इसे शतरंज पद्धति पर विकसित किया गया। कुषाण काल में इसके तीसरे भाग में लोग बसने लगे थे।

नोट

काम्बोज—उत्तरापथ में ही स्थित, आधुनिक राजोरी एवं हजारा जिलों में प्राचीन काम्बोज राज्य सीमित था। कुछ विद्वानों के अनुसार यह जनपद गांधार के उत्तर पश्चिम क्षेत्र में विस्तृत था एवं गांधार के समीपवर्ती पामीर तथा बादख्शां इसमें सम्मिलित थे। इसकी राजधानी हाटक अथवा राजपुर कही गई है। बौद्ध ग्रंथों में गांधार-काम्बोज का नामोल्लेख साथ-साथ हुआ है। कौटिल्य से पूर्व राजतंत्र था परन्तु मौर्यकाल तक यहाँ संघ राज्य की स्थापना हो गई थी। अर्थशास्त्र में काम्बोज को 'वर्त्सशास्त्र पजीविन' अर्थात् कृषकों, चरागाहों, व्यापारियों तथा योद्धाओं का संगठन कहा गया है।

अश्मक—गोदावरी नदी के तट पर स्थित 'पोतन' या 'पोटली' अश्मक की राजधानी कही गई है। पुराणों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के शासक इक्ष्वाकु वंश के थे। अश्मक एवं मूलक प्रदेशों को पड़ोसी राज्य माना गया है। किसी समय यह काशी जनपद के अधीन थी। अश्मक नरेश प्रवर अरुण एवं उसके मंत्री नन्दिसेन का उल्लेख चुल्लकलिंग जातक में मिलता है जिसने कलिंग पर विजय प्राप्त कर अपने अधीन कर लिया था। दीर्घनिकाय के महागोविंदसुत्त में विवरण मिलता है कि रेणु नामक सम्राट के ब्राह्मण पुरोहित महागोविन्द ने अपने साम्राज्य को सात अलग-अलग भागों में विभक्त किया जिसमें अश्मक भी एक था। प्राग् बौद्ध काल में इसका अवन्ति के साथ संघर्ष हुआ और इसे अवन्ति राज्य में मिला लिया गया।

गणराज्य

भारतीय राजनीति में गणराज्यों का अस्तित्व बुद्धकाल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। उत्तर वैदिक काल में ही कुछ गणराज्यों का उदय हो गया था। राजाओं की प्रशासनिक कार्यों में रुचि का अभाव एवं निरंकुशता से मुक्ति के प्रयास के फलस्वरूप गणराज्यों का विकास हुआ। तत्कालीन साहित्य में दस गणराज्यों के अस्तित्व की जानकारी मिलती है। विद्वानों ने शासन केन्द्रों के नाम एवं गणराज्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है—कपिलवस्तु के कोलिय, पावा के मल्ल, कुसिनारा के मल्ल, पिप्पलीवन के मोरिय, मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छवि, वैशाली के नाय (ज्ञातृक)। रामशरण शर्मा ने उल्लेख किया है कि रामग्राम को छोड़कर गणराज्यों से जुड़े सभी प्रमुख नगरों की उत्खनन से प्राप्त साक्ष्यों से पुष्टि होती है, जैसे कपिलवस्तु, श्रावस्ती, कुशीनगर आदि। ये नगर बौद्ध धर्म से संबद्ध रहे हैं। मैगस्थनीज ने कुछ और गणराज्यों का उल्लेख किया है परन्तु उनका समीकरण नहीं किया जा सका है। इन गणराज्यों में शाक्यों और लिच्छवियों के गणराज्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे और इन्हीं के विषय में सर्वाधिक सूचनायें भी मिलती हैं। लिच्छविगण को वज्जिगण भी कहा गया और यह कई क्षत्रिय कुलों से मिलकर बना था। वज्जिप्रदेश गंगा के उत्तर में नेपाल की तराई क्षेत्र में विस्तृत था। इसमें बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर व चम्पारन जिले एवं सारन तथा दरभंगा जिले के कुछ भाग सम्मिलित थे। यह राज्य मगध के उत्तर तथा कोशल एवं मल्ल राज्यों के पूर्व में स्थित था। इस गणराज्य की राजधानी वैशाली थी जिसका तादात्म्य वर्तमान में बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में गंडक नदी के तट पर स्थित बसाढ़ से किया जाता है। वैशाली में 7,707 प्रासाद, 7,707 कूटागार, 7,707 आराम, 7,707 कमल पुष्करिणी होने की जानकारी महावग्ग से मिलती है। वैशाली तीन भागों में विभक्त था 7,000 घर स्वर्ण शिखर के, 14,000 घर चांदी के शिखर के एवं 21,000 घर ताम्र शिखर के थे। यह क्रमशः उच्च, माध्यम एवं निम्नवर्गों के द्योतक हैं।

वज्जिसंघ ने बुद्ध के समय अपने को आठ संघों के एक समूह में संगठित कर लिया था जो अट्ठकुलिक कहलाते थे। इनमें विदेह, ज्ञातृक, लिच्छवि एवं वज्जि आदि सम्मिलित थे। दूसरे चार उग्र, भोग, ऐक्ष्वाकु एवं कौरव माने जाते हैं। वज्जि संघ के वज्जियों एवं लिच्छवियों में भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि वज्जि संघ की एक पृथक जाति भी थी एवं लिच्छवि आदि जातियों को सम्मिलित किये जाने से इस गणराज्य का नाम वज्जि था। इस तरह वैशाली केवल लिच्छवि वंश की ही नहीं, बल्कि संपूर्ण वज्जि गणतंत्र की राजधानी थी। पुराणों में उल्लेख मिलता है कि इक्ष्वाकु के पुत्र विशाल ने वैशालिक वंश की स्थापना की और उसी ने वैशाली नगर बसाया था।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सही/गलत छाँटिए (Write True/False in the following statements):

8. प्रसिद्ध कन्नौज नगर पांचाल जनपद में स्थित था।
9. यमुना नदी के तट पर स्थित 'पोतन' या 'पोटली' अश्मक की राजधानी थी।
10. हर्यक वंश का संस्थापक बिम्बिसार था।
11. सुत्तपिटक से यह ज्ञात होता है कि जब प्रद्योत को पाण्डु रोग (पीलिया) हो गया था तो बिम्बिसार ने उसकी चिकित्सा हेतु वैद्य जीवक को भेजा था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि लिच्छवि लोग विदेशी थे। बील (सेमुएल) ने लिच्छवियों को यू-ची जाति का सदस्य माना है परन्तु भारत में यू-ची जाति का आगमन प्रथम शती ई. में हुआ था। अत: इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। डॉ. स्मिथ की मान्यता है कि वे तिब्बती थे। न्याय प्रणाली एवं शव संस्कार (शव जंगली जानवरों के भक्षण हेतु फेंका जाता था) के आधार पर ऐसा कहा गया है। रायचौधरी का कथन है कि तिब्बती न्याय व्यवस्था जिसमें तीन न्यायालय होते थे, सात न्यायालय वाली लिच्छवि न्याय व्यवस्था से अभिन्न नहीं की जा सकती। शव संस्कार के विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि जंगली जानवरों के भक्षण हेतु फेंके जाने का प्रचलन लिच्छवियों में था। जायसवाल एवं रायचौधरी आदि विद्वान लिच्छवियों को क्षत्रिय मानते हैं। इस संबंध में कहा गया है कि भगवान बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करने पर उनके अस्थि अवशेषों की मांग इस आधार पर लिच्छवियों ने भी की थी 'भगवान बुद्ध भी क्षत्रिय थे और वे भी क्षत्रिय थे।' जैन ग्रंथ कल्पसूत्र में वैशाली के चेटक की बहिन त्रिशला को क्षत्रियाणी कहा है। मनु ने लिच्छवियों एवं मल्लों को व्रात्य क्षत्रिय कहा है। रायचौधरी ने लिखा है कि निष्कर्ष यही निकलता है कि लिच्छवि लोग भी क्षत्रिय थे किन्तु ब्राह्मण विधियों की अवहेलना करने के फलस्वरूप उन्हें व्रात्य कहकर निम्न कोटि का मान लिया गया।

शाक्य–हिमालय की तराई में स्थित शाक्य गणराज्य के शासन केन्द्र कपिलवस्तु को रोहिणी नदी के पश्चिमी तट पर स्थित कहा है कि संभवत: यह कोशल के अधीन रहा होगा। अत: सोलह महाजनपदों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। सुत्तनिपात में बिम्बिसार द्वारा अपना परिचय पूछे जाने पर बुद्ध ने स्वयं को शाक्य जाति में उत्पन्न तथा कोशल का निवासी बताया (कोसलेसु निकेतनो) है। शाक्य संघ में 80,000 कुल या पांच लाख जनसंख्या थी। इनमें विरुद्धक (विड्डभ) से 77,000 शाक्यों का क्रूरतापूर्वक वध कर दिया था। इस संघ में राजधानियों के अतिरिक्त अन्य नगरों के विषय में भी जानकारी मिलती है–छातुमा, सामगारा, कोमदास्स, सिलावती, मेदलुम्पा, नागरका, उलम्पा, देवदाहा, सकारा आदि। इसका प्रमुख राजा कहलाता था। बुद्ध के पिता शुद्धोधन को राजा कहा गया है। विरुद्धक के आक्रमण के समय शाक्य संस्थागार में एकत्र हुए थे। नगर के द्वार खोले जाएं अथवा न खोले इस प्रश्न पर बहुमत जानने का प्रयास किया था।

कोलिय–कोलियों को नागवंशी माना गया है। उनका पूर्वपुरुष रामकाशी का नागवंशी नरेश था। कोलियो का राज्य गोरखपुर के दक्षिणी भाग में स्थित था। इनकी राजधानी रामागाम थी इसके अतिरिक्त पांच अन्य नगरों का उल्लेख आया है–हल्दावसाना, सजनेला, सापगा, उतरा एवं काकरापत्ता। कोलियों को शाक्यों से निकट रूप से संबद्ध (वैवाहिक संबंधों के होने से) कहा है।

मल्ल–मल्ल संघ पावा एवं कुशिनारा दो केन्द्रों में विभक्त था। पावा में महावीर ने देह त्याग किया था। दूसरी ओर कुशीनारा में बुद्ध का निर्वाण हुआ था। सुमंगलविलासिनी ने पावा को कुशीनगर से तीन गावुत (लगभग 6 मील) दूर कहा है। उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के कासिया नामक स्थान से उत्खनन में महानिर्वाण स्तूप एवं चैत्य के अवशेष, ताम्रपत्र एवं मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जो बुद्ध के निर्वाण स्थल को इंगित करते हैं।

पिप्पलीवन के मोरिय तथा अलकम्प के बुलि लोगों ने भी भगवान बुद्ध के शारीरिक अवशेषों के एक अंश की मांग की थी। केसपुत्र के आलार कालाम का नाम बौद्ध साहित्य में आता है। केसपुत्र संभवत: कोशल राज्य के अधीन था। चुल्लवग्ग में वत्सराज उदयन के पुत्र कुमार बोधि का विवरण आया है जिसने सुंसुमारगिरी में अपने नये बनवाये गये कोकनद प्रासाद में बुद्ध का स्वागत किया था।

नोट

वज्जिसंघ की प्रशासनिक व्यवस्था के संचालन हेतु संघ की सभा में 7,707 राजा थे, जो वैशाली के नागरिक द्विगुणित 84,000 अर्थात् 168 लाख जनसंख्या में से चुने जाते थे। इनसे इतने ही उपराजा, सेनापति एवं भण्डारिक थे। लिच्छवि गण के बहुसंख्यक राजाओं के बारे में कहा गया है कि कोई लिच्छवि राजा अपने को किसी दूसरे से छोटा नहीं मानते थे और सब 'मैं राजा हूं', 'मैं राजा हूं' कहते थे। वे विभिन्न प्रकार के सुन्दर वस्त्र पहनकर सभा भवन में उपस्थित होते थे। संघ के अधिवेशन स्थल को संथागार कहा जाता था। कभी-कभी अधिवेशन उद्यान (आराम) में भी होते थे। अट्ठकथा से जानकारी मिलती है कि अधिवेशन से पूर्व घड़ियाल बजाया जाता था। राजाओं के अधिवेशन में न केवल विदेशी मामलों पर विचार किया जाता था बल्कि व्यापार, कृषि, सामाजिक एवं वैवाहिक मामले भी तय किये जाते थे।

गणराज्यों की कार्य प्रणाली का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता किन्तु बौद्ध संघों की कार्य विधि का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में आया है। विद्वानों की मान्यता है कि बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली का जो स्थूल चित्र बनता है उससे अधिक भिन्न गणराज्यों की कार्य प्रणाली नहीं रही होगी।

अधिवेशन हेतु एक विशेष अनुभवी अधिकारी 'आसनपञ्ञापक' वरिष्ठताक्रम (जेष्ठानुपूर्वीक्रम) से आसन की व्यवस्था करता था। अधिवेशन के लिए गणपूर्ति (कोरम) का विधान था, गण पूर्ति के लिए कम से कम दस (सीमान्त क्षेत्रों में पांच) सदस्यों का विधान था। वस्तुत: भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए संघ की निर्धारित उपस्थिति (नियतोपस्थिति) अलग-अलग (5, 10, 20 और 20 से अधिक) कही गई है। गणपूर्ति में दूसरे जनपदों के व्यक्ति या जिनके विरुद्ध मामला विचाराधीन हो सम्मिलित नहीं किये जाते थे। गणपूरक नामक अधिकारी कोरम पूरा कराने का प्रयास (व्हिप) करता था। संघ का अध्यक्ष विनयधर कहलाता था उसकी गणना गणपूर्ति में नहीं की जाती थी। संघपूर्ति के अभाव में संघवग्ग (व्यग्र) कहलाता था, व्यग्र संघ के निर्णय अनियमित माने जाते थे और अनुपस्थित भिक्षुओं की अनुमति से भी उनको नियमित नहीं कहा जा सकता था।

प्रस्ताव (ज्ञप्ति) औपचारिक रूप से प्रस्तोता (ज्ञापक) द्वारा स्थापित (स्थापना) या प्रस्तुत करना आवश्यक था। तदनन्तर उसका नियमित अनुस्सवान या आवृति होती थी, जिससे सब सुन सकें। इस तरह वाद-विवाद विषय वस्तु तक ही सीमित रहता था, असम्बद्ध बातों पर वाद-विवाद नहीं किया जा सकता था। प्रस्तुत ज्ञप्ति पर किसी सदस्य का मौन रहना उसकी सहमति का सूचक था। विवादास्पद विषय पर सबकी सहमति प्राप्त करने के लिए अन्य संघ का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता था। विवादास्पद विषय पर किसी निर्णय पर नहीं पहुंचने की स्थिति में एक उपसमिति बना दी जाती, जिसे उब्बाहिक (उद्वाहिका) सभा कहा जाता था। इस समिति में चुने हुए व्यक्ति ही सदस्य बनाये जाते थे। वह समिति किसी अन्य स्थान पर विचार-विमर्श कर सकती थी। उसका निर्णय सबको मान्य होता था। रीजडेविड्स ने 'नेति' एवं 'उब्बाहिक' शब्द पंचनिर्णय के द्योतक माने हैं उनके अनुसार विवादास्पद विषय पंचनिर्णय हेतु भेजे जाते थे।

अत्यन्त जटिल एवं विवादास्पद विषय पर एक मत न होने पर बहुमत द्वारा उसका निर्णय किया जाता था, जैसा विदित है कि विरूद्धक द्वारा आक्रमण किये जाने पर "कोशल नरेश (विरूद्धक) की आधीनता स्वीकार कर ले या नहीं", इसका निर्णय भी बहुमत से करना पड़ा था। मतदान लेने वाला अधिकारी 'शलाका ग्राहापक' कहलाता था। शलाकाएँ लकड़ी की बनी होती थीं, जिन्हें सदस्यों में वितरित कर दिया जाता था। प्रत्येक सदस्य को उस रंग की शलाका का चयन करना होता था जो उसके मत के अनुरूप हों एवं शलाका का चयन गुप्त रखा जाता था। 'स्वकर्णजल्पक' विधि द्वारा शलाका ग्राहापक कान के पास मुंह ले जाकर गुप्त रूप से अवगत करवाता था कि किस रंग की शलाका क्या आशय रखती है और कौन-सी शलाका का उसे चयन करना चाहिए।

सदस्यों में असमान व्यवहार से या वर्ग में विभक्त कर करवाया गया मतदान अवैध माना जाता था। गण के अधिवेशनों में कार्यवाही लेखन की क्या व्यवस्था थी इस विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती। किन्तु महागोविन्दसुत्त से ज्ञात होता है कि सभागार में व्यर्थ प्रलाप भी होता था। इससे स्पष्ट होता है कि अधिवेशन के अभिलेखन की व्यवस्था थी। संभवत: यह कार्य अधिकारियों अथवा लिपिकों द्वारा संपन्न किया जाता होगा।

विनयपिटक में एक स्थान पर अपनी दुश्चरित्र पत्नी की हत्या के इच्छुक एक व्यक्ति को लिच्छविगण के समक्ष प्रस्तुत किये जाने का उल्लेख आया है, इससे प्रतिध्वनित होता है कि गण सभा न्यायिक सभा का कार्य भी करती

नोट

थी। किन्तु न्याय प्रक्रिया अत्यन्त विशद् थी। सुमंगलविलासिनी में विवरण मिलता है कि किसी अपराध के दोषी व्यक्ति को क्रमशः विनिच्छयमहामत्त (जाँच अधिकारी) के पास लाया जाता था। वह जाँच प्रक्रिया में अभियुक्त को दोषी न पाने पर छोड़ सकता था परन्तु दोषी पाये जाने पर उसे दण्डित करने का अधिकार नहीं था बल्कि मामला बोहारिक (न्यायिक विशेषज्ञ) के पास प्रेषित किया जाता था दोषी व्यक्ति को बाद में सुत्तधर (पारस्परिक नियमों के विशेषज्ञ), अट्ठकुलिकों (आठ व्यक्तियों की न्याय परिषद्), सेनापति तथा उपराजा के पास प्रस्तुत किया जाता था। अन्तिम सुनवाई स्वयं 'राजा' करता था, जो 'पणिक-पोत्थक' (पूर्व दृष्टान्तों को संकलित करने वाला ग्रंथ) के आधार पर निर्णय देता था।

मल्ल एवं वज्जिसंघ का उन्मूलन–इन गणराज्यों को तत्कालीन राजतंत्रों की साम्राज्यवादिता का शिकार होना पड़ा क्योंकि उनमें राजतंत्रों का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं थी। केवल लिच्छविगण ने ही कुछ समय तक मगध का सामना किया था। वज्जि एक संघ गणराज्य था। वज्जियों, मल्लों एवं काशी-कोशल ने मिलकर एक विशाल संघ बनाया, जिसका उद्देश्य अजातशत्रु के आक्रमणों का सामना करना था। जैन कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि उस संघ में 9 लिच्छवि, 9 मल्ल तथा काशी-कोशल के 18 गणराज्य सम्मिलित थे। यद्यपि संघ के गणराज्य सदस्य स्वतंत्र थे क्योंकि कुछ राजाओं ने संघ की सदस्यता से हाथ खींच लिया था। अतः लिच्छवि गणाध्यक्ष चेटक को अजातशत्रु से अकेले युद्ध करना पड़ा।

चेटक ने वैवाहिक संबंधों द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का प्रयास किया था। उसकी बहिन त्रिशला (महावीर का मां) का विवाह ज्ञातृक राजा सिद्धार्थ के साथ हुआ। चेटक की सात लड़कियां थीं जिनमें से एक चेल्लना का विवाह मगध नरेश बिम्बिसार के साथ और दूसरी मृगावती का वत्स राजा शतानीक के साथ हुआ था। अपनी पुत्री का विवाह बिम्बिसार के साथ किये जाने पर भी चेटक मगध के साथ होने वाले संघर्ष को नहीं टाल सका।

पालि ग्रंथों से जानकारी मिलती है कि लिच्छवि लोग आस-पास के प्रदेशों वाले में आक्रमण करके लोगों को परेशान करते रहते थे। लिच्छवियों के आतंक से पाटलिग्राम के निवासी भी दुःखी थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने स्थानीय लोगों को घरों से निकाल कर वहाँ डेढ़ माह तक अधिकार बनाये रखा था। अजातशत्रु द्वारा वज्जिसंघ के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के और भी अनेक कारण थे जिनकी चर्चा आगे की जायेगी। किन्तु अजातशत्रु द्वारा वज्जियों की शक्ति का रहस्य जानने का प्रयास किया गया था। महापरिनिर्वाणसुत्त में उल्लेख मिलता है कि अजातशत्रु ने वस्सकार को वज्जियों के उन्मूलन का उपाय जानने के लिए बुद्ध के पास भेजा था। बुद्ध ने बताया कि वज्जि लोग जब तक सात बातों का पालन करते रहेंगे, तब तक अजेय रहेंगे, जिसे 'अपरिहानिय धम्म' की संज्ञा दी गई। अपरिहानिय धम्म का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है–

1. संघ सभा में पूर्ण उपस्थिति एवं नियत समय पर अधिवेशन;
2. संघ में एकमत या संपूर्ण रूप से उपस्थित रहना, अधिवेशन करना एवं संघ के कर्त्तव्य-कर्म करना;
3. अस्वीकृत निर्णय को स्वीकार न करना एवं स्वीकृत तथ्य का बहिष्कार न करना अर्थात् वज्जिसंघ के स्वीकृत तथ्यों के अनुसार कार्य करना होता था;
4. वज्जि संघ के वृद्धों, नेताओं का सत्कार करना, उनके प्रति गौरव भाव रखना, सम्मान करना, पूजा करना एवं आदेशों का पालन करना;
5. वज्जि संघ के चैत्यों की पूजा करना एवं धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करना;
6. वज्जि संघ के धार्मिक अरहन्तों का सम्मान करना; और
7. वज्जि संघ के महल्लकों (वृद्धों) का सत्कार करना, उनका गौरव रखना, सम्मान करना, पूजा करना, कुल की स्त्रियों एवं कुमारियों का अपहरण न करना आदि।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि संघ के अधिवेशन नियत समय पर होते थे एवं बहुसंख्यक सदस्य उनमें उपस्थित रहते थे। इसके अतिरिक्त निर्धारित नीतियां-नियमों का पालन किया जाता था। बड़ों के प्रति सम्मान भाव परस्पर एकता में वृद्धि करता था अर्थात् उनके संगठन की शक्ति का आधार एकता थी, जिसे वस्सकार जैसे कूटनीतिज्ञों ने भेद नीति द्वारा तोड़ने का सफल प्रयास किया था।

नोट

मगध साम्राज्य का उत्थान

छठी शताब्दी ई.पू. के प्रारंभ में मगध दक्षिणी बिहार में पटना तथा गया के निकटवर्ती क्षेत्रों में स्थित था। इसके उत्तर तथा पश्चिम में क्रमशः सोन तथा गंगा नदियां थीं। पूर्व में यह छोटा नागपुर के पठार तक फैला हुआ था। इसके पूर्व की ओर चम्पा नदी बहती थी जो इसे अंग से अलग करती थी। इसकी राजधानी राजगृह पांच पहाड़ियों से घिरा अभेद्य शहर था। पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के आस-पास राजधानी पाटलिपुत्र से स्थानांतरित कर दी गई।

साम्राज्यवाद की भावना का विकास वैदिककाल में होता हुआ देखते हैं, परन्तु विस्तारवादी नीति का विकास बौद्धकाल में अधिक तीव्र गति से हुआ। मगध महाजनपद ने इस दृष्टि से न केवल साम्राज्य का ही विस्तार किया बल्कि भारत को एकता के सूत्र में बांधने का सर्वप्रथम सफल प्रयास किया। इस सन्दर्भ में प्रश्न उठाया जा सकता है कि मगध की विस्तारवादी नीति की सफलता के क्या कारण हैं, जिनके परिणामस्वरूप इतना विशाल साम्राज्य स्थापित किया जा सका।

टास्क नगरीकरण के विघटन के क्या कारण थे विस्तार से चर्चा करें।

ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध साहित्य से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आर्य पश्चिम से पूर्व की ओर अग्रसर हुए। पूर्वी भारत के अधिकांश जनपदों में आर्य प्रजाति के लोग शासन करते थे किन्तु इस क्षेत्र में आर्येत्तर लोगों की संख्या अधिक थी अर्थात् थोड़े से आर्य बहुसंख्यक प्रागार्यों पर शासन करते थे। अतएव आर्य जाति पर लागू होने वाले सामाजिक प्रतिबन्धों से वे मुक्त थे। यहां के निवासी वर्ण व्यवस्था तथा ब्राह्मणीय अनुष्ठान के अनुयायी नहीं थे। इसके विपरीत, इस क्षेत्र में बौद्ध मत का काफी प्रभाव था। बुद्ध को ज्ञान इसी क्षेत्र में प्राप्त हुआ था। राय चौधरी ने लिखा है कि मगध राष्ट्र की एक मुख्य विशेषता यह थी कि वहां के लोगों के व्यवहार में एक प्रकार का लचीलापन था। यह गुण सरस्वती व दृषद्वती के तटवर्ती प्रदेशों के लोगों में नहीं था।

ऋग्वेद में मगध के आर्यावर्त की सीमा से बाहर स्थित होने का उल्लेख मिलता है। पुराणों में अंग, मगध, बंग आदि की यात्रा से लौटने पर पुनः संस्कार करके शुद्ध होने का उल्लेख आया है। स्पष्ट है कि मगध आदि पूर्वी क्षेत्र में वैदिक धर्म एवं परंपराओं को यथावत् स्वीकार नहीं किया था। ऐतरेय ब्राह्मण से प्राप्त सूचना के आधार पर नीलकंठ शास्त्री ने लिखा है "प्राची दिशा में प्राच्यों के जो भी राजा हैं, साम्राज्य के लिए उनका अभिषेक होता है, अभिषेक के अनन्तर उन्हें सम्राट कहते हैं।" अनेक महत्त्वाकांक्षी सम्राट भी इसी क्षेत्र में हुए थे। राय चौधरी ने उल्लेख किया है कि जिस राष्ट्र में बड़े-बड़े लड़ाकुओं और योद्धाओं ने जन्म लिया, जिस राष्ट्र में जरासंध, अजातशत्रु, महापद्म तथा कलिंग विजय करने वाले चण्डाशोक और संभवतः समुद्रगुप्त जैसे महान योद्धा पैदा हुए उसी राष्ट्र के राजाओं ने प्रतिबोधिपुत्र—वर्द्धमान महावीर तथा गौतमबुद्ध के उपदेशों को स्वीकार किया तथा समूचे भारत में अपना साम्राज्य फैलाने के साथ-साथ विश्वधर्म का प्रचार भी किया। कहा गया है कि उस क्षेत्र के लोगों की विशेषता थी कि वह अपने सम्राटों के लिए सब कुछ करने को तत्पर रहते थे। एक राजा द्वारा शूद्रा को रानी बनाया जाना भी इसी क्षेत्र में संभव था। यवनों को राजपद दिये जाने का विचार भी इसी प्रदेश के शासकों द्वारा किया जा सकता था। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि सामरिक स्थिति, प्राकृतिक स्रोतों की उपलब्धि महत्त्वपूर्ण नहीं होती बल्कि प्रबल इच्छा शक्ति से ही साम्राज्य निर्माण हो सकता है, जो मगध के पास थी। साथ ही समन्वय की असीम क्षमता, अनेक जातियों का सम्मिश्रण, जैन एवं बौद्ध धर्मों के साथ ही संघ भेद परम्परावादी प्रवृत्ति के अभाव के द्योतक हैं। एक शूद्र का शासक बनना इस क्षेत्र के लोगों की उत्कट इच्छा शक्ति का प्रतीक है।

मगध के अमात्य एवं मंत्री भी विशेष योग्यता वाले रहे हैं। बिम्बिसार के वस्सकार (वर्षकार) एवं अजातशत्रु के सुनीथ, चन्द्रगुप्त के कौटिल्य आदि अमात्यों को कूटनीतिक महारथ हासिल थी। राय चौधरी का कथन है कि मगध के राजदरबार में, गिरव्रज के शासकों के पास तथा पाटलिपुत्र में भी ऐसे वफादार लोग थे, जो देश भर में अपनी इच्छा के अनुकूल जनमत तैयार कर सकते थे।

नोट

मगध के चारों ओर सुरक्षा के पर्याप्त साधन उपलब्ध थे अर्थात् सामरिक दृष्टि से मगध की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। मगध की राजधानी राजगृह चारों ओर पहाड़ियों से सुरक्षित थी। महाभारत में विवरण मिलता है कि यह पांच पहाड़ियों वैहार, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि तथा चैत्यक से घिरा होने के कारण अगम्य दुर्ग के समान था (पुरं दुराधर्ष समन्तत:)। मगध की भारत के मध्य की स्थिति भी महत्त्वपूर्ण थी। इसकी नई राजधानी पाटलिपुत्र गंगा एवं सोन नदियों के संगम पर स्थित होने के कारण जलमार्ग का महत्त्वपूर्ण केन्द्र भी बन गयी थी। प्राचीन काल में हाथी सेना के विशेष अंग मान जाते थे, अंग के मगध में सम्मिलित किये जाने से मगध को वहां के हाथी बड़ी संख्या में उपलब्ध होने लगे। गज सेना के बल पर शक्तिशाली दुर्ग भी ध्वस्त किये जा सकते थे।

मगध के आस-पास (दक्षिणी बिहार) में पाई जाने वाली लौह खदानों से भांति-भांति के अस्त्र-शस्त्र बनाया जाना संभव था। इस क्षेत्र के विस्तृत जंगलों को साफ किये जाने से अनेक नवीन उद्योग-धन्धों का विकास संभव हो सका। गंगा के मैदानों में बड़ी मात्रा में उत्पादित खाद्यन्नों में मगध शासकों के लिए विशाल सेना रखना ही संभव नहीं हुआ बल्कि मगध के लोगों की सम्पन्नता में भी वृद्धि हुई एवं राजकोष में अधिक भू-राजस्व जमा होने लगा जो भारत के अन्य प्रदेशों की तुलना में इसके लिए लाभप्रद स्थिति को इंगित करता है।

गंगा, गंडक तथा सोन नदी के व्यापारिक मार्गों पर इसके नियंत्रण के कारण भी इसे पर्याप्त राजस्व प्राप्त होता था।

हर्यक वंश–इस वंश का संस्थापक बिम्बिसार था। कुछ विद्वानों की शुरू में यह धारणा थी कि बिम्बिसार शिशुनागवंशीय शासक था। इस तथ्य का आधार पुराणों का यह कथन है कि प्रद्योत वंश ने मगध पर शासन किया एवं प्रद्योत वंश का नाश करके शिशुनाग शासक बना और बिम्बिसार को उसी वंश का शासक माना गया। लेकिन अब यह निश्चित हो गया है कि शिशुनाग-वंश के राजाओं ने बिम्बिसार के पतन के बाद शासन किया और शिशुनाग बिम्बिसार का पूर्वज नहीं था। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि चण्ड प्रद्योत महासेन ने अवन्ति पर शासन किया था मगध पर नहीं। पौराणिक साक्ष्यों के अनुसार प्रद्योत के बाद भी अवन्ति में पालक, आर्यक, अवन्तिवर्द्धन एवं विशाखयूप राजा हुए अर्थात् बिम्बिसार के पश्चात् भी अवन्ति में प्रद्योत वंश का शासन रहा। शिशुनाग को बिम्बिसार से पूर्ववर्ती स्वीकार किये जाने पर उसके द्वारा अवन्ति के प्रद्योत वंश का नाश किस तरह संभव था।

दूसरी ओर महापरिनिर्वाणसुत्त से ज्ञात होता है कि वज्जिसंघ को परास्त कर बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने वैशाली पर अधिकार किया था। महालंकारवत्थु से जानकारी मिलती है कि शिशुनाग ने राजगृह को छोड़कर वैशाली को राजधानी बनाया था। शिशुनाग निश्चित रूप से अजातशत्रु के बाद हुआ। महालंकारवत्थु में यह भी विवरण मिलता है कि शिशुनाग द्वारा राजगृह का परित्याग करने के बाद उसकी उत्तरोत्तर अवनति होती गई, जबकि बिम्बिसार एवं अजातशत्रु के समय राजगृह अपनी समृद्धि की पराकाष्ठा पर था। अत: शिशुनाग को बिम्बिसार का पूर्ववर्ती शासक नहीं कहा जा सकता। शिशुनाग के पुत्र कालाशोक (काकवर्ण) ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र को बनाया था। उसे बिम्बिसार का पूर्व शासक नहीं माना जा सकता क्योंकि उस समय पाटलिपुत्र का अस्तित्व नहीं था। पाटलिपुत्र को बिम्बिसार के पश्चात् उसके वंशज उदायिन ने बसाया था।

बिम्बिसार को अश्वघोष ने हर्यक कुल का बताया है। डी.आर. भण्डारकर की मान्यता है कि बिम्बिसार के मगध पर अधिकार किये जाने से पूर्व मगध पर वज्जियों का अधिकार था एवं बिम्बिसार वज्जियों का सेनापति था। उसने वज्जियों को परास्त कर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया तथा एक नवीन राजवंश की स्थापना की। किन्तु यह तथ्य अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि महावंश में कहा गया है कि बिम्बिसार के पिता ने स्वयं 15 वर्ष की आयु में मगध नरेश के रूप में अभिशिक्त किया। प्रारंभ में कुछ विद्वानों ने उसके पिता को हेमजित, क्षेमजित, क्षेत्रोजा, भट्टिय, भाटिये नाम दिये थे परन्तु राय चौधरी ने इन्हें काल्पनिक माना है।

मगध के पड़ोसी राज्य अवन्ति, कोशल, वत्स, वज्जि (गणराज्य) आदि थे, बिम्बिसार ने इनके साथ मैत्री संबंध बनाये रखने का प्रयास किया। उसने अनेक राज्यों से वैवाहिक संबंध स्थापित किये। उसकी पटरानी कोशलदेवी कोशल नरेश महाकोशल की पुत्री एवं प्रसेनजित की बहिन थी। इस वैवाहिक संबंध से कोशल मगध का मित्र ही नहीं बना बल्कि उसे एक लाख कार्षापण की वार्षिक आय का काशी जनपद का एक ग्राम भी प्राप्त हुआ। उसने लिच्छवि राजा (मुख्या) चेटक की सातवीं पुत्री चेलना से भी विवाह किया। इस तरह वज्जियों से मैत्री संबंध स्थापित हो गये।

नोट

उसकी तीसरी रानी खेमा पंजाब क्षेत्र में स्थित मद्र (शाकल) राजा की पुत्री थी। जैन ग्रन्थों में एक अन्य रानी वैदेही का उल्लेख मिलता है, क्योंकि बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु को 'विदेहीपुतो' कहा गया है। महावग्ग से ज्ञात होता है उसके 500 रानियां थीं। राय चौधरी ने लिखा है—उसने मद्र, कोशल तथा वैशाली से वैवाहिक संबंध कायम भी किये। बिम्बिसार की यह नीति बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी। उसके द्वारा उपर्युक्त सैन्य शक्ति प्रधान राज्य बिम्बिसार से सन्तुष्ट ही नहीं रहे, वरन् उन्होंने मगध को पश्चिम तथा उत्तर की ओर फैलने में भी मदद की।

बिम्बिसार ने शक्तिशाली राष्ट्रों से संघर्ष करना उचित नहीं समझा बल्कि उनसे कूटनीतिक संबंध स्थापित किये। स्मरणीय है कि चण्डप्रद्योत बिम्बिसार का समकालीन नरेश था। विनयपिटक से जानकारी मिलती है कि एक समय प्रद्योत को पाण्डुरोग (पीलिया) हो गया था, बिम्बिसार ने उसकी चिकित्सा हेतु अपने वैद्य जीवक को भेजा, इस प्रकार अवन्ति मगध का मित्र राज्य बन गया। तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि गांधार शासक पुष्करसारिन ने अवन्ति पर आक्रमण किया, इस संघर्ष में पुष्करसारिन ने बिम्बिसार का सहयोग मांगा था, परन्तु बिम्बिसार ने अवन्ति के विरुद्ध सहयोग करके एक शक्तिशाली मित्र राज्य को शत्रु बनाना उचित नहीं समझा। उसने तक्षशिला (गंधार) के मित्र नरेश का अनुरोध स्वीकार नहीं किया।

बिम्बिसार साम्राज्य विस्तार का समर्थक था। सबसे पहले उसने अंग राज्य पर आक्रमण किया। महावग्ग एवं शोणदण्डसुत्त हमें जानकारी देता है कि अंग को जीतने के लिए बिम्बिसार ने कूटनीति का सहारा लिया। युद्ध में अंग नरेश ब्रह्मदत्त मारा गया और अंग को मगध में मिला लिया गया। सुमंगल विलासिनी में अंग को मगध का अलग प्रान्त कहा गया है तथा वह मगध युवराज अजातशत्रु द्वारा शासित था 'चम्पायाम कुणिकोराजा'। बौद्ध ग्रन्थों से जानकारी मिलती है कि चम्पानगर के ब्राह्मण वर्ग को अपने पक्ष में करने की दृष्टि से चम्पा (चम्पानगर) की आय ब्राह्मण शोणदण्ड को समर्पित कर दी थी। संभवत: नये विजित प्रदेश में स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक था। धम्मपद की अट्ठकथा तथा बुद्धचर्या में उल्लेख मिलता है कि बिम्बिसार का राज्य 300 योजन तक विस्तृत था जिसे अजातशत्रु ने 200 योजन और बढ़ाया। विनयपिटक तथा महावग्ग से ज्ञात होता है कि उसके राज्य में 80,000 नगर या ग्राम थे। कहा गया है कि बिम्बिसार ने 80,000 गांवों के गामिनियों की एक सभा आयोजित की थी। हो सकता है कि यह संख्या अतिरंजित हो, किन्तु इससे यह पता चलता है कि बिम्बिसार के प्रशासन में गांव संगठन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में उभर आए थे। गामिनी गांवों के मुखिया तथा प्रतिनिधि थे।

मगध की प्राचीन राजधानी गिरिव्रज (कुशाग्रपुर) जो नगर के उत्तर में स्थित थी, वज्जिसंघ के आक्रमणों से असुरक्षित थी। वज्जि आक्रमण के समय आग लगने से यहां बहुत हानि हुई थी, ह्वेनसांग ने इसका उल्लेख किया था। अत: गिरिव्रज के उत्तर पूर्व में 'राजगृह' नामक नवीन राजधानी बसाई गयी। बिम्बिसार के वास्तुकार महागोविन्द ने इसकी योजना बनाई थी। यद्यपि फाह्यान ने नवीन राजधानी की स्थापना का श्रेय अजातशत्रु को दिया है।

बिम्बिसार कुशल प्रशासक था। उसने अयोग्य अमात्यों को सेवा से निष्कासित कर दिया तथा योग्य लोगों को पुरस्कृत किया। वस्सकार तथा सुनीथ जैसे अमात्यों को उच्च पद प्रदान किया। प्रशासनिक कार्यों में सहयोग हेतु अनेक पदाधिकारियों को नियुक्त किया—उपराजा, सब्बत्थक, वोहारिकमहामत्त, सेनानायक महामत्त, माण्डलिक ग्राम भोजक आदि। अपने बड़े पुत्र दर्शक को 'उपराजा' नियुक्त किया, जिसकी सहायता से वह प्रशासन संचालित करता था। 'सब्बत्थक' सामान्य कार्य देखता था। उसे प्रमुख मंत्री कहा जा सकता है। 'वोहारिक महामत्त' साम्राज्य के न्याय संबंधी कार्य करता था। विनयपिटक से ज्ञात होता है कि उस युग में अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। कारावास के अतिरिक्त कोड़े लगाने, लोहे से जलाने, जिह्वा काटने, पसलियां तोड़ने, अंगच्छेन एवं मृत्युदण्ड आदि का प्रावधान था। 'सेनानायक महामत्त' का बिम्बिसार जैसे साम्राज्यवादी सम्राट के लिए अत्यधिक महत्त्व था। उसकी सेना का संचालन किसी अनुभवी एवं विश्वस्त व्यक्ति द्वारा ही किया जाता होगा। सेनापति सैन्य विस्तार में भी सहयोग करता रहा होगा। 'ग्रामभोजक' संभवत: ग्रामीण क्षेत्रों से भू-राजस्व संग्रह करते थे। महावग्ग से जानकारी मिलती है कि राज्य सभा में समस्त ग्रामों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाता था। संभवत: उपज का 1/10 भाग भू-राजस्व के रूप में लिया जाता था।

बिम्बिसार का साम्राज्य उत्तर में गंगा के उत्तरी भाग, दक्षिण में छोटा नागपुर, पूर्व में अंग तथा पश्चिम में सोन नदी तक विस्तृत था। उसके साम्राज्य में पश्चिमी बंगाल का पश्चिमी क्षेत्र, दक्षिणी बिहार, उड़ीसा का उत्तरी भाग एवं

नोट

मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग सम्मिलित थे। महात्मा बुद्ध एवं बिम्बिसार के सम्पर्क का विवरण बौद्ध साहित्य में आया है। संन्यास लेने से पूर्व बुद्ध बिम्बिसार के सम्पर्क में आये थे। उसने इन्हें अपना सेनापति बनाने तथा विपुल धन सम्पत्ति देने की बात कही थी किन्तु बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया था। यह घटना बुद्ध के ज्ञान प्राप्ति से सात वर्ष पूर्व की थी। महात्मा बुद्ध का कुछ वर्षों बाद पुनः मगध में आगमन हुआ तो बिम्बिसार ने उन्हें वेणवन में ठहराया था। अपने वैद्य जीवक को उनकी सेवा में नियुक्त करने की जानकारी भी मिलती है। ललितविस्तर में विवरण मिलता है कि उसने बौद्ध भिक्षुओं से तरपण्य शुल्क (नाव पार करवाने का) न लिये जाने का आदेश प्रसारित किया था। दूसरी और जैन ग्रंथ उत्तराध्ययनसूत्र से ज्ञात होता है कि वह अपने पुत्रों, रानियों एवं दास-दासियों सहित जैन महावीर के चैत्य में जाता था एवं उपदेश सुनता था।

महावंश में बिम्बिसार द्वार 52 वर्ष शासन करने का विवेचन मिलता है। जबकि पुराणों में उसका कार्यकाल 28 वर्ष का कहा गया है तथा उसके पुत्र द्वारा 24 वर्ष शासन करने का उल्लेख मिलता है। पुराणों में अजातशत्रु द्वारा 32 वर्ष तथा उदायिन का 16 वर्ष शासन करने का विवरण आया है। महात्मा बुद्ध का निर्वाण सिंहली विवरणों के अनुसार 544 ईसा पूर्व में हुआ। चीनी डॉटेड रिकॉर्ड से ज्ञात होता है कि बुद्ध निर्वाण 487 ईसा पूर्व (कुछ विद्वानों के अनुसार 483 ईसा पूर्व) में हुआ। सैंहल विवरण से ज्ञात तिथि की यूनानी विवरण से ज्ञात तिथि से पुष्टि नहीं होती अतः चीनी डॉटेड रिकॉर्ड को ठीक माना जा सकता है। तत्कालीन साहित्य में जानकारी मिलती है कि बुद्ध निर्वाण अजातशत्रु के शासन काल के 8वें वर्ष में हुआ। इस प्रकार 52 वर्ष बिम्बिसार का कार्यकाल (दर्शक के 24 वर्ष को सम्मिलित करते हुए) एवं अजातशत्रु के 8 वर्ष का कार्यकाल ($52 + 8 = 60$ वर्ष) अर्थात् बुद्ध निर्वाण के 60 वर्ष पूर्व बिम्बिसार का राज्यारोहण हुआ। बुद्ध निर्वाण (चीनी डॉटेड रिकॉर्ड के आधार पर 487 ई.पू.) बिम्बिसार तथा अजातशत्रु की शासन अवधि के 60 वर्ष के आधार पर कहा जा सकता है कि (487 + 60) 547 या 546 ई. पू. में बिम्बिसार का राज्यारोहण हुआ। राय चौधरी ने बिम्बिसार का राज्याभिषेक 545-544 ईसा पूर्व स्वीकार किया है।

जीवन के अन्तिम वर्षों में बिम्बिसार को बहुत अधिक कष्ट सहन करने पड़े। कहा जाता है कि लगभग 15 वर्ष उसे कैद रखा गया। वह (बिम्बिसार) चम्पा के उपराजा एवं पुत्र अजातशत्रु के षड्यंत्र का शिकार हुआ, उसने अपने पिता को मरवा दिया था। विनयपिटक आदि बौद्ध ग्रंथों से विवरण मिलता है कि साले देवदत्त के उकसाये जाने से उसने ऐसी कार्यवाही की थी। बाद में महात्मा बुद्ध के समक्ष उसने अपने इस अपराध को स्वीकार किया। राय चौधरी ने भी लिखा है कि इतिहास जिसे अजातशत्रु, कूणिक तथा अशोकचन्द आदि अनेक नामों से जनता है, उस कृतघ्न पुत्र के संबंध में कहा जाता है कि उसने अपने पिता को मौत के घाट उतारा।

अजातशत्रु–बिम्बिसार के अनेक पुत्र थे, दर्शक एवं अजातशत्रु के अतिरिक्त महावग्ग में अभय तथा थेरागाथा में शीलवन्त एवं विमल कोण्डन्न का विवरण आया है। अजातशत्रु के भय से दर्शक एवं अन्य तीन भाई भिक्षु बन गये थे। संयुक्तनिकाय से विदित होता है कि वह प्रसेनजित की बहिन कोशलदेवी का पुत्र था। परन्तु जैन साहित्य में उसे 'विदेहीपुतो' कहा गया है, इस आधार पर उसे वैशाली राजा चेटक की पुत्री चेलना का पुत्र माना गया है। जैसा ज्ञात है कि अजातशत्रु ने अपने पिता का वध कर मगध का सिंहासन हस्तगत किया था। यह घटना बुद्ध महापरिनिर्वाण के आठ वर्ष पूर्व की है अर्थात् जब तक वह (बिम्बिसार) 52 वर्ष शासन कर चुका था। बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि बिम्बिसार की पटरानी कोशलदेवी ने अपने पति के शोक में व्यथित होकर प्राण त्याग दिये थे। कोशल नरेश प्रसेनजित ने अपनी बहिन के विवाह पर उसके निजी शृंगार आदि के व्यय हेतु दिया गया काशीग्राम पर अधिकार कर लिया, जिससे एक लाख कार्षापण की वार्षिक आय होती थी। वस्तुतः अजातशत्रु के व्यवहार (पितृहत्या) से क्षुब्ध होकर ही प्रसेनजित ने काशीग्राम मगध से वापस अपने कब्जे में ले लिया था। संयुक्त निकाय में जिक्र आया है कि काशीग्राम पर अधिकार को लेकर प्रसेनजित एवं अजातशत्रु में संघर्ष हुआ और शुरू में प्रसेनजित की हार हुई तथा उसे बाध्य होकर श्रावस्ती में एक माली के घर शरण लेनी पड़ी। उसकी पुत्री मल्लिका के प्रेम से प्रभावित होकर उससे प्रसेनजित ने विवाह भी किया। दूसरे आक्रमण में प्रसेनजित ने अजातशत्रु को बन्दी बना लिया। किन्तु कुछ समय बाद मुक्त कर अपनी पुत्री वाजिरा से उसका विवाह कर दिया एवं काशीग्राम भी मगध को लौटा दिया।

नोट

वज्जिसंघ का मगध में विलय—मगध के उत्तर में मल्ल एवं लिच्छवि गणराज्य स्थित थे। वैशाली का वज्जिसंघ एक शक्तिशाली गणराज्य था। जैसा विदित है कि 9 मल्ल, 9 लिच्छवि एवं काशी और कोशल के 18 शासकों ने एक संगठन बना लिया था। कुछ समय तक इन राज्यों के संगठन का नेतृत्व राजा चेटक के हाथ में था। राय चौधरी ने लिखा है कि लिच्छवि, मल्ल, काशी तथा कोशल का उपर्युक्त संगठन मगध राज्य का विरोधी था। ऐसा कहा जाता है कि बिम्बिसार के समय में भी वैशाली के शासक इतने ढीठ थे कि वे गंगा के पार वाले अपने पड़ोसी राज्य पर आक्रमण करने की धृष्टता प्रायः करते थे। अजातशत्रु के लिए भी इस संघ के शासक प्रारंभ में परेशानी का कारण रहे होंगे। मगध ने इस संघ के उन्मूलन का निश्चय किया।

जैन ग्रंथ उवासगदसाव एवं निरयावलीसूत्र से ज्ञात होता है कि बिम्बिसार ने वैशाली राजा चेटक की कन्या अर्थात् उसकी रानी चेलना (छलना) के पुत्रों हल्ल और वेहल्ल को अपना प्रसिद्ध हाथी सेयणग (सेचनक-अभिषेक में उपयोगी) तथा 18 लड़ियों का एक बहुमूल्य हीरे का हार उपहार में दिया था। अजातशत्रु ने राज्य हस्तगत करने के बाद अपनी रानी पद्मावती (पद्मावती) के उकसाये जाने पर अपने भाइयों को, पिता द्वारा दिये गये दोनों उपहार लौटाने को कहा। परन्तु दोनों भाइयों ने ऐसा करना स्वीकार नहीं किया एवं वे नाना चेटक के यहाँ भाग गये। अतः अजातशत्रु ने वैशाली के विरुद्ध आक्रमण कर दिया।

सुमंगलविलासिनी में इस संघर्ष का दूसरा कारण बताया गया है। जिसके अनुसार मगध एवं वज्जिसंघ के मध्य गंगानदी पर एक बन्दरगाह था एवं उसी के समीप खदानें भी थीं, पूर्व सन्धि के अनुसार बन्दरगाह एवं खदानों पर समान रूप से दोनों का अधिकार था। किन्तु पर्याप्त समय से वज्जिसंघ इन पर अधिकार जमाये हुए थे। अजातशत्रु ने इस विवाद का निपटारा शस्त्र बल से करने का निश्चय किया। युद्ध का कारण कुछ मूल्यवान हीरे तथा सुगन्धित द्रव्य को भी माना जाता है। इसके अतिरिक्त दोनों राज्यों के मध्य बहने वाली नदियों के पानी पर अधिकार तथा व्यापार आदि से संबंधित कारण भी संभवतः रहे थे।

दोनों राज्यों के जीवन दर्शन में भी मतभेद था। जहाँ एक ओर मगध में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली थी, वहाँ दूसरी और वज्जिसंघ गणराज्य थे। गणराज्यों में सब राज्यों के समान विकास की भावना निहित थी, किन्तु अजातशत्रु साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का समर्थक था। इस दृष्टि से वैशाली पर अजातशत्रु के आक्रमण का वास्तविक कारण मगध साम्राज्य की वृद्धि करना था। वज्जिसंघ के विरुद्ध युद्ध में पड़ोसी राज्यों को सम्मिलित करने का एक योजनाबद्ध प्रयास था।

युद्ध का विवरण महावग्ग एवं महापरिनिर्वाणसुत्त में मिलता है। वज्जियों के विरोध का सामना करने हेतु गंगा के दक्षिणी किनारे पर पाटलिग्राम में मगध के दो मंत्रियों सुनीथ एवं वस्सकार ने एक किले का निर्माण करवाया जिसे पाटलिपुत्र कहा गया। दोनों राज्यों की सीमाओं को भी सुदृढ़ किया गया। महापरिनिर्वाणसुत्त में कहा गया कि 'राजगृह की एक पहाड़ी पर वह परम सौभाग्यशाली (महात्माबुद्ध) रहा करते थे। उस समय मगध का राजा अजातशत्रु वज्जियों पर आक्रमण करने का इच्छुक था।' उसने कहा भी—"मैं वज्जियों का उन्मूलन कर दूंगा, चाहे वे कितने ही बली और ताकतवर क्यों न हों। मैं उन वज्जियों को उजाड़ दूंगा, मैं उन्हें नेस्तनाबूद करके रहूंगा।" मगध नरेश ने इस दृढ़ निश्चय की क्रियान्विति एवं इसमें सफलता प्राप्ति के उपाय जानने हेतु त्रिकूट पर्वत पर निवास कर रहे बुद्ध के पास अपने मंत्री वस्सकार को भेजा, यह जानने के लिए कि वज्जियों का विनाश किस प्रकार हो सकता है। बुद्ध ने अवगत करवाया था कि जब तक वज्जि लोग सात बातों को पूरा करते रहेंगे वे अजेय रहेंगे अर्थात् गणतंत्र जब तक 'अपरिहानिय धम्म' का पालन करते रहेंगे तब तक उनको नष्ट नहीं किया जा सकता, बल्कि उनकी शक्ति में वृद्धि होती रहेगी। यहाँ पर यह सवाल है कि बुद्ध ने गणतंत्रात्मक व्यवस्था के उन्मूलन का मार्ग क्यों प्रशस्त किया। विद्वानों की मान्यता है कि बुद्ध लिच्छवियों से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने बौद्ध संघ के नियम वज्जिसंघ का अनुकरण करते हुए बनाये थे। उन्होंने वस्सकार से लिच्छवियों के विषय में जो कुछ भी कहा था उसमें उनकी प्रशंसा ही थी। अजातशत्रु ने उनके कथन से अपने हितार्थ कोई अन्य अर्थ निकाल लिया तो यह उसकी बुद्धिमता थी। यह भी कहा गया है कि गणतंत्र तत्कालीन परिस्थितियों में अशक्त होते जा रहे थे। राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने की दृष्टि से भी ऐसा किया जाना आवश्यक था।

नोट

अजातशत्रु ने अपने अमात्य वस्सकार को उपलायन (कूटनीति) एवं मिथुभेद (संघभेद) की नीति अपनाने को कहा। वस्सकार वज्जिसंघ में इस आधार पर शरण प्राप्त करने में सफल हुआ कि वह अजातशत्रु के भय से किसी तरह बचकर आया है। इस तरह उसने वज्जिसंघ में शरण प्राप्त करके तीन वर्ष की अल्प अवधि में ही वज्जियों में परस्पर मतभेद उत्पन्न कर दिये। राय चौधरी ने उल्लेख किया है कि वैशाली तथा उनके मित्रों को विघटित व समाप्त करने के लिए मगध के वस्सकार आदि राजनीतिज्ञों ने मैक्यावली की कूटनीति से काम लिया था।

जैन ग्रंथ निरयावलिसुत से ज्ञात होता है कि चेतक ने अपनी सहायता हेतु 9 लिच्छवि, 9 मल्ल, काशी एवं कोशल को आमन्त्रित किया। 'उवासगदसाव' से जानकारी मिलती है कि रथमूसल एवं महासिलाकण्टग (फेंकने वाला अस्त्र) जैसे नवीन अस्त्रों का प्रयोग इस युद्ध में किया गया। युद्ध के परिणामस्वरूप गंगा के उत्तर में स्थित गणराज्यों के संघ की पराजय हुई और वैशाली एवं काशी का कुछ भाग मगध में सम्मिलित कर लिया गया। युद्ध कब प्रारंभ हुआ और कब तक चला स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है किन्तु निरयावली में उल्लेख आया है कि आजीवक आचार्य मंखलिपुत्त गोसाल भी इस युद्ध में मारे गये थे। मंखलिपुत्त महावीर निर्वाण के 16 वर्ष बाद तक थे, अर्थात् महावीर की मृत्यु के 16 वर्ष बाद तक यह युद्ध चलता रहा। रीजडेविड्स ने लिखा है कि अजातशत्रु ने अपने संबंधी लिच्छवियों के साथ वैसी ही क्रूरता की जैसी विरूद्धक ने पूर्व में की थी।

मगध साम्राज्य उत्तर में मध्य गंगा घाटी तक विस्तृत हो गया। जब अंग, वाराणसी, वैशाली आदि मगध राज्य के भाग बन गये थे। एक मात्र अवन्ति ही ऐसा राज्य था जो मगध का सामना कर सकता थ। वस्तुतः अजातशत्रु को अवन्तिराज से भय अवश्य रहा। प्रद्योत के आक्रमण की आशंका से उसने अपनी राजधानी राजगृह का दुर्गीकरण करवाया था। आर.एस. त्रिपाठी ने लिखा है कि वैशाली पर मगध की विजय ने मगध को उत्तर भारत में शक्तिशाली राज्य बना दिया। इससे स्वाभाविक रूप से ईर्ष्या बढ़ी और प्रद्योत के आक्रमण की आशंका प्रबल हो उठी। यद्यपि हम साहित्य में उसकी आशंका के वशीभूत अजातशत्रु को अपनी राजधानी की रक्षा के अर्थ उसकी प्राचीरों को सशक्त करने की बात तो पढ़ते हैं परन्तु यह आक्रमण सचमुच हुआ यह अत्यन्त संदिग्ध है।

अजातशत्रु के शासन काल की महत्त्वपूर्ण घटनायें, दो युग प्रवर्तक महावीरस्वामी एवं महात्मा बुद्ध का निर्वाण थी। प्रारंभ में अजातशत्रु का झुकाव जैन धर्म की ओर था। वह अपनी रानी के साथ महावीर स्वामी के दर्शन के लिए वैशाली गया एवं वहां उसने जैन शिक्षाओं तथा जैन भिक्षुओं की प्रशंसा की। जैन साहित्य में पितृहन्ता के रूप में उसे निन्दित नहीं किया गया है। दूसरी ओर बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि देवदत्त के प्रभाव से अजातशत्रु महात्मा बुद्ध से द्वेष रखता था किन्तु बाद में उसे पितृहत्या का पश्चाताप हुआ एवं बुद्ध से अपने अपराधों की क्षमा मांगी थी। महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ। अजातशत्रु ने इस अधिवेशन के लिए वैभार की पहाड़ी गुहा में सभा भवन निर्मित करवाया था। महापरिनिर्वाणसुत्त में विवरण मिलता है कि बुद्ध निर्वाण के पश्चात् अजातशत्रु ने बुद्ध के अवशेषों को लेकर राजगृह में एक स्तूप बनवाया। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के भरहुत लेख से ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध एवं अजातशत्रु की भेंट हुई थी, इस लेख में 'अजातशत्रु भगवतो वन्दते' उत्कीर्ण है।

उदायिन–पुराणों से जानकारी मिलती है कि अजातशत्रु के बाद दर्शक ने शासन किया, किन्तु इस तथ्य की पुष्टि बौद्ध साहित्य से नहीं होती है। बौद्ध साहित्य में अजातशत्रु के उत्तराधिकारी का नाम उदायिभट्ट मिलता है। इसका समर्थन सैंहल ग्रंथों से भी होता है। दीपवंश में कहा गया है कि अपने पिता के बाद वह गद्दी पर आसीन हुआ। जैन ग्रंथ कथाकोष, परिशिष्टपर्वन, समन्तपासादिका, सुमंगविलासिनी में 'उदय', उदायिन नाम मिलते हैं। पौराणिक साक्ष्यों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। परिशिष्टपर्वन में कहा गया है कि वह कुणिक की रानी पद्मावती का पुत्र था।

महावंश के अनुसार उदायिन ने अपने पिता की हत्या करके सिंहासन प्राप्त किया था। परन्तु डॉ. जायसवाल इस कथन को सत्य नहीं मानते हैं क्योंकि गार्गी संहिता में उसे धर्मात्मा कहा गया है। अतः वह पितृघाती नहीं हो सकता है। राय चौधरी के अनुसार गद्दी पर बैठने के पूर्व अजातशत्रु का पुत्र उदायिन या उदायिभट्ट अपने पिता की ओर से चम्पा का वायसराय (उपराजा) था।

नोट

गार्गी संहिता, वायुपुराण एवं जैन ग्रंथ परिशिष्टपर्वन से ज्ञात होता है कि उदायिन ने गंगा के तट पर कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) नगर की स्थापना की। यह नगर गंगा एवं सोन नदी के संगम पर बसाया गया। स्थविरावलीचरित में वर्णन आया है कि उदायिन ने एक पड़ोसी राज्य पर आक्रमण किया एवं राजा की हत्या कर दी, उस राजा के पुत्र ने अवन्ति की राजधानी उज्जैनी में शरण ली तथा साधुवेश से कपट से उदायिन की भी हत्या कर दी गई। परिशिष्टपर्वन में उल्लेख मिलता है कि अवन्ति का राजा 'पालक' (चण्डप्रद्योत का पुत्र) उदायिन का शत्रु था।

पुराणों में उदायिन का उत्तराधिकारी नन्दिवर्द्धन या महानन्दिन कहा गया है। सैंहल ग्रंथों में उसके उत्तराधिकारी क्रमशः अनुरुद्ध, मुण्ड एवं भागदासक बताये गये हैं। दिव्यावदान तथा अंगुत्तर निकाय में भी मुण्ड का उल्लेख आया है।

शिशुनाग—महावंश में शिशुनाग को तिथिक्रम की दृष्टि से बिम्बिसार के बाद रखा गया एवं उसे पृथक् वंश का संस्थापक बताया गया है। हर्यंकवंशी शासक पितृहन्ता थे अतः जनता ने नागदासक को अपहृत करके मंत्री (अमात्य) एवं काशी के उपशासक को राजा बना दिया। शिशुनाग ने अपने पुत्र को उपराजा नियुक्त किया तथा गिरिव्रज का जीर्णोद्धार करवाकर अपनी राजधानी बनाया। शिशुनाग को वैशाली की नगरशौभिनी एवं एक लिच्छवि राजा की सन्तान कहा गया है। संभवतः इसी कारण वैशाली दूसरी राजधानी बनाई गई। पुराणों का कथन है कि शिशुनाग प्रद्योतों की शक्ति का विनाश करेगा। यह भी उल्लेख मिलता है कि अवन्ति में विद्रोहों के परिणास्वरूप आर्यक (अजक) शासक बना एवं बाद में नन्दिवर्धन (वर्तिवर्धन)। प्रद्योत के पुत्रों का नाम गोपाल एवं पालक मिलता है। इनके उत्तराधिकारी विशाख एवं आर्यक थे और नन्दिवर्धन इनके बाद शासक बना। पुराणों में आगे कहा गया है कि शिशुनाग प्रद्योत की मान-मर्यादा को नष्ट कर राजा होगा। अवन्ति की पराजय का कारण आर्यक एवं गोपाल आदि में मतभेद माना गया है।

पुराणों में आया है कि शिशुनाग का पुत्र काकवर्ण था। दिव्यावदान ने इसका समर्थन किया है। सैंहल ग्रंथों में कालाशोक नाम आता है जो बनारस में राज्यपाल रह चुका था। काकवर्ण के काल की दो घटनायें उल्लेखनीय हैं—वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन, जिसमें बौद्ध संघ के दो भाग हो गये। दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी राजधानी को पुनः वैशाली से पाटलिपुत्र स्थानान्तरित किया जाना।

हर्षचरित में विवरण मिलता है कि काकवर्ण (शैशुनागी) की मृत्यु नगर के समीप छुरा भोंकने से हुई थी। महाबोधिवंश में उसके उत्तराधिकारी का नाम नन्दिवर्धन मिलता है। दिव्यावदान में उसके चार पुत्रों के नाम आये हैं। जबकि पुराणों में मात्र नन्दिवर्धन का नाम मिलता है। इसका समीकरण डॉ. के.पी. जायसवाल ने खारवेल के हाथी गुफा अभिलेख में उल्लिखित नन्दराज से किया है। डॉ. जायसवाल के अनुसार पटना (पवया) से प्राप्त सिरविहीन मूर्ति जिस पर "सप (सव) खते वट नन्दि" उत्कीर्ण है, वह भी इस राजा की थी। किन्तु आर.पी. चन्दा, राय चौधरी आदि जायसवाल के मत से सहमत नहीं हैं और उस मूर्ति को यक्ष मूर्ति माना गया है। राय चौधरी ने लिखा है कि शिशुनाग वंश नन्द वंश से बिल्कुल अलग था। पुराणों में ऐसी कोई बात नहीं कही गई जिसके आधार पर नन्दिवर्धन को कलिंग से संबंधित किया जा सके। काकवर्ण के पश्चात् उसके दस पुत्रों ने 22 वर्ष राज्य किया। इसके बाद शिशुनाग वंश का उन्मूलन हो गया एवं नन्द वंश का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार साम्राज्यवादी विस्तार का एक युग समाप्त हुआ। इस युग के सम्राटों ने यद्यपि भारत में एकता स्थापित करने के प्रयत्न किये किन्तु वे इसमें आंशिक रूप से ही सफल हुए।

इस संदर्भ में राय चौधरी ने संभावित तिथि क्रम दिया है। उसका उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा।

563 ई.पू.—बुद्ध का जन्म

560 ई.पू.—बिम्बिसार का जन्म

545-44 ई.पू.—बिम्बिसार का राज्याभिषेक

536 ई.पू.—बुद्ध का संन्यास

530 ई.पू.—बुद्ध एवं बिम्बिसार का मिलन

527 ई.पू.—महावीर का निर्वाण

493 ई.पू.—अजातशत्रु का राज्याभिषेक

नोट

486 ई.पू.–बुद्ध का परिनिर्वाण

461 ई.पू.–उदायिन का राज्याभिषेक

457 ई.पू.–पाटलिपुत्र की स्थापना

437 ई.पू.–नागदासक

413 ई.पू.–शिशुनाग

395 ई.पू.–काकवर्ण

386 ई.पू.–वैशाली की सभा

367 ई.पू.–काकवर्ण के पुत्र एवं महापद्मराज्य

345 ई.पू.–शिशुनाग वंश का अन्त।

नन्द वंश–मगध साम्राज्य में नन्द वंश के आविर्भाव के साथ पहली बार गांगेय प्रदेश के अतिरिक्त दक्षिण भारत के विस्तृत भू-भाग को सम्मिलित किया जा सका और सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में पिरोने की दृष्टि से भारतीय साम्राज्य की स्थापना की संभावना दृष्टिगोचर होने लगी। इस प्रकार के साम्राज्य में केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय लोगों के लिए परस्पर सम्पर्क, व्यापार एवं आवागमन की सुविधाओं का विकास हुआ। राय चौधरी ने लिखा है कि सप्त सिन्धु ने अन्ततोगत्वा जम्बद्वीप का रूप धारण कर लिया था। वह समय अधिक दूर नहीं था जब संस्कृति एवं राजनीति के क्षेत्र में भी भारत एकता के सूत्र में बंध गया था।

मगध साम्राज्य को गंगा की उपत्यका से बाहर दक्षिण की ओर बढ़ाने का श्रेय नन्द वंश को प्राप्त हुआ। शिशुनाग वंश को समाप्त कर मगध में नन्द वंश ने सत्ता स्थापित की गई। नन्द वंश की स्थापना के विषय में तत्कालीन साहित्य में रोचक आख्यान मिलते हैं। हेमचन्द्र ने परिशिष्टपर्वन में नन्द सम्राट को एक वेश्या के गर्भ से जन्मा दिवाकीर्ति नाई का पुत्र बताया है, जिसने नन्द वंश की स्थापना की थी। हरिभद्रसूरि के 'आवश्यकसूत्रवृत्ति' में 'नापितदास' एवं जिनप्रभ के विविध कल्पतरु में नापित गणिकासुत बताया गया है। पुराणों से भी इस तथ्य का समर्थन होता है। इसमें नन्द राजा को अंतिम शैशुनाग नृपति महानंदी द्वारा एक शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न (शूद्रागर्भोद्भव) एवं उसके वंशजों को 'शूद्रभूपाला:' कहा है। पुराणों के अनुसार महापद्म या महापद्मपति नन्द वंश का प्रथम नन्द था। महाबोधि वंश के अनुसार प्रथम नंद नरेश का नाम उग्रसेन था।

इन तथ्यों की पुष्टि पाश्चात्य लेखकों के प्राप्त विवरणों से होती है। उन आख्यानों को जो नन्द वंश के विषय में प्रचलित थे सिकन्दर के समकालीन लेखकों ने सुना होगा। कर्टियस ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि इसका पिता नाई था। बेचाना अपनी रोजाना की कमाई से किसी तरह जीवनयापन करता था। लेकिन, देखने-सुनने में काफी खूबसूरत था, इसलिए महारानी उसे बहुत मानती थीं। रानी के प्रोत्साहन के फलस्वरूप ही वह राजा के भी समीप पहुंच गया और राजा का विश्वासपात्र बन गया। एक दिन उसने छल से राजा की हत्या कर दी। अपने को राजकुमारों का अभिभावक घोषित करते हुए उसने राजा के सभी अधिकार अपने हाथ में कर लिये, कई राजकुमारों की हत्या भी की और नया राजकुमार पैदा किया। डायोडोरस ने कर्टियस के कथन का समर्थन किया है और 'गेंगेरदाई' एवं 'प्रासी' (गांगेय एवं प्राच्य) का तत्कालीन राजा जेण्ड्रमिज को अज्ञात कुल एवं नीच और जाति से नाई बताया है। इस बारे में मतभेद है कि जिस वर्तमान राजा (अग्रेमीस) की कर्टियस ने चर्चा की है और जो उसके अनुसार ई.पू. 326 में राज्य करता था वह नन्द वंश का पहला राजा था अथवा उसके पुत्रों में से कोई एक था। क्लासिकल ग्रंथों के प्रमाण के बाद इस बारे में किसी प्रकार के संशय की गुंजाइश नहीं रह जाती। अग्रेमीस राजा का पुत्र था। उसके पिता ने सारी सत्ता पहले ही हड़प ली थी और सिंहासन के वैध उत्तराधिकारियों की हत्या कर दी थी। कर्टियस ने जिस राजा का जिक्र किया है उसका वर्णन प्रथम नंद से मेल नहीं खाता जो गणिका कुक्षिजन्मा (गणिकासुत) था और जिसके पिता को प्रभुसत्ता प्राप्त नहीं था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अग्रेमीस या डायोडोरस का जेन्ड्रेमीस नन्द वंश की दूसरी पीढ़ी का राजा था और उसका पिता नन्द वंश का पहला राजा था अर्थात् भारतीय परम्परा का महापद्म उग्रसेन वही था।

नोट

पाश्चात्य विवरणों में यह भी कहा गया है कि पूर्वी प्रदेश के लोग (प्रासी) तथा गंगा घाटी के निवासी एक ही सम्राट द्वारा शासित थे। इनके साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र (पालिब्रोथ) थी। चन्द्रगुप्त ने 326 ई.पू. में पंजाब में सिकन्दर से भेंट की थी। उस समय पाटलिपुत्र में नन्द वंश का शासन था। इस दौरान 355 ई.पू. के कुछ समय बाद जेनोफन की मृत्यु हुई थी, उसने अपने प्रसिद्ध विश्वकोष में उल्लेख किया है कि भारत में एक शक्तिशाली राजा राज्य करता था। उसने पश्चिमी एशिया के महान सम्राटों के मध्य होने वाले संघर्षों में मध्यस्थ बनने की कामना की थी। विश्वकोष से यह भी ज्ञात होता है कि वह राजा बड़ा धनी था। यद्यपि जेनोफन ने उक्त राजा को छठी शताब्दी ईसा पूर्व का माना था जो पश्चिमी राष्ट्रों में मध्यस्थता करना चाहता था परन्तु छठी शताब्दी ईसा पूर्व में कोई ऐसा शासक नहीं था बल्कि उसका समकालीन नन्द वंश का शासक ही था और भ्रमवश पूर्ववर्ती मान लिया गया।

पुरातात्विक साक्ष्यों से भी नन्द वंश के विषय में जानकारी मिलती है। खारवेल के हाथी गुफा अभिलेख में नन्दराज एवं खारवेल के मध्य 'तिवससत' की अवधि का उल्लेख मिलता है और उसके पाँचवें वर्ष (खारवेल के राज्यारोहण के) में तीन सौ वर्ष पूर्व निर्मित नहर को 'तनसुलिय' के मार्ग से लाये जाने का उल्लेख हुआ है। खारवेल के बारहवें राज्य वर्ष में नन्दराज द्वारा हस्तगत की गई "जिन" की मूर्ति को पुनः प्राप्त किया।

महापद्मनन्द—नन्द वंश के संथापक को पुराणों में महापद्मनंद या महापद्मपति के नाम में अभिहित किया गया है। उसने सभी क्षत्रियों को समाप्त कर एकछत्र राज्य स्थापित किया। महाबोधि वंश में नन्द वंश की स्थापना अग्रसेन द्वारा किये जाने का विवरण आया है।

कर्टियस द्वारा उल्लिखित अग्रेमीज को राय चौधरी ने उग्रसेन के पुत्र औग्रसैन्य (संस्कृत) का बिगड़ा हुआ रूप माना है। बाण के हर्षचरित में नन्द वंश के संस्थापक द्वारा पूर्ववर्ती शैशुनाग वंश के शासक (काकवर्ण) की हत्या गले में तलवार भोंक कर किये जाने का अत्यन्त कारुणिक विवरण मिलता है। जैन ग्रंथ परिशिष्टपर्वन् से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

महापद्मनंद बिम्बिसार एवं अजातशत्रु की भांति घोर साम्राज्यवादी शासक था। पुराणों में नन्द वंश के संस्थापक को 'सर्वक्षत्रान्तक' एवं 'एकराट' कहा गया है। भागवत पुराण टीका से ज्ञात होता है कि नन्दराज के पास दस पद्म सेना अथवा इतनी ही सम्पत्ति थी अतः उसे महापद्म कहा जाने लगा। इससे संकेतित होता है कि न केवल उसके पास विशाल सेना थी बल्कि वह एक प्रबल विजेता भी था। पार्जिटर ने उल्लेख किया है कि महापद्म ने समकालीन सभी क्षत्रियों का उन्मूलन किया जिसकी पुष्टि पौराणिक विवरणों से होती है। स्थविरावलीचरित नन्द के एक मंत्री कल्पक का उल्लेख करता है जो अपनी बुद्धि एवं प्रपंचों के लिए प्रसिद्ध था, उसने मगध के विस्तार में पर्याप्त योगदान दिया। कहा गया है कि युद्ध कला में प्रवीण कल्पक के सहयोग से नन्द ने समुद्र तट का संपूर्ण प्रदेश अपने अधीन कर लिया था। महापद्म ने उत्तर भारत के लगभग सभी समकालीन शासकों को उत्क्षिप्त सत्ता विहीन किया, जिनका उल्लेख राय चौधरी ने इस प्रकार किया है—इक्ष्वाकु, पंचाल, काशी, हैहय, कलिंग, अश्मक, कुरु, मैथिल, शूरसेन तथा वितिहोत्र आदि।

इक्ष्वाकु राजा कोशल (आधुनिक अवध) का शासक था। अजातशत्रु ने कोशल नरेश को परास्त किया था। शिशुनाग ने भी राजसत्ता पर अधिकार किये जाने के बाद अपने पुत्र को यहाँ का वायसराय (उपराजा) नियुक्त किया था। कथासरित्सागर में अयोध्या में नन्द के सैनिक शिविर लगने का प्रसंग आया है। संभवतः अजातशत्रु द्वारा पराजित किये जाने के बाद पुनः स्वतंत्र हो गया था और नन्द के लिए दूसरा सैनिक अभियान आवश्यक हो गया।

गंगा के ऊपरी भाग एवं गोमती के मध्य दोआब क्षेत्र पर पांचालों का शासन था। गंगा घाटी एवं 'प्रासी' के लोग एक ही राजा के अधीन होने का उल्लेख जैन ग्रंथों में मिलता है। संभवतः इसमें पांचाल क्षेत्र सम्मिलित रहा होगा क्योंकि रेगिस्तान (राजस्थान) की बहादुर जातियों के भी उसके राज्य में सम्मिलित होने का संकेत मिलता है। ऐसा लगता है कि नन्द वंश के उदय से पहले मगध राज्य के साथ उसकी कभी लड़ाई नहीं हुई थी। नन्द वंश ने इन्हें पराजित करके अपने नियंत्रण में लिया होगा जैसा कि प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध प्रमाणों से प्रतीत होता है।

बनारस के निकटवर्ती प्रदेश को काशैय कहा जाता था बिम्बिसार एवं अजातशत्रु के समय यह मगध के अधीन था। शिशुनाग द्वारा मगध की राजधानी गिरिव्रज बनाये जाने पर एक राजकुमार को बनारस का शासक नियुक्त किया गया था। संभवतः इसी वंश के उत्तराधिकारी से नन्द ने बनारस क्षेत्र पर कब्जा किया होगा।

नोट

नर्मदा नदी घाटी के एक प्रदेश पर हैहय वंश का अधिकार था, इसकी राजधानी महिष्मति थी। हैहय वंश को यादवों की एक शाखा कहा गया है। पार्जिटर के अनुसार मान्धाता से इसका तादात्म्य किया जा सकता है। कुछ विद्वान महेश्वर नामक कस्बे को महिष्मती स्वीकार करते हैं जो नर्मदा के उत्तरी किनारे पर इन्दौर क्षेत्र में है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मालवा एवं गुजरात मगध साम्राज्य के अभिन्न अंग थे। संभवत: नन्दों द्वारा ही यह कार्य सम्पादित किया गया था। शिशुनाग द्वारा अवन्ति पर अधिकार किये जाने का उल्लेख पुराणों में मिलता है।

उड़ीसा में विजगापट्टम जिले एवं वराह नदी के विस्तृत क्षेत्र को कलिंग कहा जाता था। कलिंग पर नन्दों का आधिपत्य जिस क्षेत्र पर रहा उसकी राजधानी दंतपुर (या दंतकुर) कही गई है। गंजाम जिले में चिकाकोल के निकट लांगुल्य (लागुलिनी) नदी के तट पर स्थित दंतवक्त्र का तादात्म्य प्राचीन दंतपुर से किया जाता है।

खारवेल के हाथी गुफा अभिलेख में दो स्थलों पर नन्दराज का उल्लेख आया है। एक स्थल पर कहा गया है कि खारवेल तीन सौ पूर्व पूर्व नन्दराज द्वारा खुदवाई गई नहर को अपने शासन के पाँचवें वर्ष में तनसुलियवाट से राजधानी में लाया। अभिलेख में खारवेल के शासन के बारहवें वर्ष का वर्णन करते हुए लिखा है कि खारवेल उस 'जिन' प्रतिमा को वापस ले आया जिसे नन्दराज कलिंग से उठाकर ले गया था। कतिपय विद्वान नंदराज को स्थानीय (कलिंग) राजा मानते हैं किन्तु इस अभिलेख से इस कथन की पुष्टि नहीं होती। राय चौधरी ने लिखा है कि इन लेखों में नन्द राजा के कार्यों की चर्चा मिलती है। नन्द राजा की अनेक जीतों का भी उल्लेख इसमें है। नन्द राजाओं द्वारा कलिंग-विजय को देखते हुए अश्मक-विजय तथा दक्षिण भारत के अन्य छोटे-छोटे भागों की जीत लेना कोई असंभव बात प्रतीत नहीं होती। गोदावरी के तट पर नौ नन्द देहरा (नन्देर) नामक एक नगर था। इससे लगता है कि नन्द राजाओं ने दक्षिण भारत का भी काफी भाग अपने अधिकार में कर लिया था।

गोदावरी नदी घाटी के कुछ प्रदेश अश्मक कहलाते थे, इसकी राजधानी पाटेल (पोटुन/पोटन) कही गई है। पोतन शब्द बोधन के सदृश प्रतीत होता है जो आन्ध्र प्रदेश में निजामाबाद से कुछ दूर मंजीरा एवं गोदावरी के संगम के दक्षिण में स्थित है। निजामाबाद जिले के पश्चिम में राय चौधरी द्वारा उल्लिखित 'नौ-नंद-देहरा' नामक नगर स्थित है। अत: अश्मक पर आधिपत्य होने पर इस नगर की स्थापना की गई होगी।

कुरू प्रदेश को हस्तगत किये जाने के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते किन्तु गांगेय प्रदेश में यह क्षेत्र सम्मिलित था। कुरू, पंचाल और शूरसेन जनपदों पर नन्द युग के पूर्व मगध का अधिकार प्रमाणित नहीं होता। क्लासिकल लेखकों के विवरण से जानकारी मिलती है कि ये प्रदेश नंदों के अधिकार में थे। कर्टियस के अनुसार जब सिकन्दर व्यास नदी के किनारे पहुँचा तो फेगेलस नामक भारतीय शासक ने उसे बताया कि व्यास नदी के परे विशाल रेगिस्तान है और उसके बाद गंगानदी है जो समस्त भारत की सबसे बड़ी नदी है और उसके परे स्थित प्रदेश 'गेंगेरदाई' एवं 'प्रसिआई' नामक जातियाँ रहती हैं, जिनका राजा अग्रेजिम है। इस तरह के विवरणों के आधार पर आर.के. मुकर्जी ने नन्द साम्राज्य को पंजाब तक विस्तृत माना है।

नेपाल सीमा में जनकपुर नामक एक छोटे नगर से मैथिल का समीकरण किया जाता है जिसके दक्षिण में दरभंगा एवं मुजफ्फरपुर जिले की सीमायें मिलती हैं। अजातशत्रु ने इस क्षेत्र को अपने राज्य में सम्मिलित किया था, उसके समय वज्जि (लिच्छवि) गणराज्य था जिसकी राजधानी वैशाली थी। नन्दों ने भी संभवत: सैनिक छावनी के रूप में इसका उपयोग किया होगा।

वितिहोत्र का हैहय एवं अवन्ति क्षेत्र से निकट संबंध रहा है। विद्वानों की मान्यता है कि प्रद्योत वंश के उत्थान से पूर्व वितिहोत्रों की प्रभुसत्ता समाप्त हो चुकी थी। यदि भविष्यानुकीर्तन के अन्तिम पृष्ठों में कथित इस बात का कोई मूल्य है कि कुछ वीतिहोत्र शैशुनागों के समकालिक थे तो संभव है कि शैशुनागों ने प्रद्योतों का संपूर्ण यश हरणकर (यश: कृत्स्नं) अर्थात् परास्त कर पहले के राजवंश के किसी कुमार को पुन: स्थापित किया हो। चन्द्रगुप्त मौर्य का सम्पूर्ण पश्चिमी भारत पर नियंत्रण था, इससे यह संभावना बढ़ जाती है कि इसका मार्ग नन्दों ने ही प्रशस्त किया होगा। यह अवन्ति के उत्तर में आधुनिक मालवा प्रदेश में विस्तृत था। इस प्रकार नन्द साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फैला हुआ था। पश्चिम में शूरसेन, पूर्वी पंजाब, कुरु एवं दक्षिण पश्चिम में महाराष्ट्र, गुजरात तथा पूर्व में सम्पूर्ण बिहार, उड़ीसा का कुछ भाग और आन्ध्र का उत्तरी भाग नन्द साम्राज्य में सम्मिलित था। इतने विशाल साम्राज्य को

नोट

विजय करने तथा इसकी सुरक्षा की दृष्टि से एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी, उसकी सेना की विशालता का उल्लेख पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। कर्टियस के अनुसार औग्रसैन्य ने अपनी सीमाओं की रक्षा के लिए 20 हजार घुड़सवार, 2 लाख पैदल सेना तथा 2,000 रथों की सेना को तैनात किया था। इसके अलावा उन दिनों सशक्त मानी जाने वाली 3 हजार हाथियों की गज सेना भी देश की रक्षा के लिए तैनात की गई थी। डायोडोरस ने गजसेना में गजों की संख्या 4,000 तथा प्लूटार्क ने 6,000 दी है। बौद्ध ग्रंथों में सेनापति भद्धसाल का नाम भी आया है।

नन्दों के अतुल ऐश्वर्य के बारे में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने चर्चा करते हुए नन्द के सात प्रकार के अमूल्य रत्नों की पाँच निधियों का संकेत किया है। मुद्राराक्षस एवं कथासरित्सागर में नन्दराज द्वारा 990 करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ एकत्र करने का उल्लेख मिलता है। महापद्मनन्द मात्र सफल विजेता ही नहीं था बल्कि एक अच्छा शासक भी था। खारवेल नन्दराज द्वारा निर्मित नहर को तनुसुलिय मार्ग से नगर में ले गया था। महापद्म के उत्तराधिकारी आठ पुत्र कहे गये हैं जिन्होंने संभवत: एक साथ शासन किया था। सैंहल ग्रंथों में महापद्म एवं उसके पुत्रों की अवधि सम्मिलित करते हुए कुल नौ नन्दों के राजत्व काल को 22 वर्ष बताया गया है। परन्तु पुराणों में महापद्म को 18 वर्ष तथा 12 वर्ष उसके पुत्रों को दिये गये हैं। यदि संपूर्ण राज्यकाल की अवधि के बारे में सैंहल विवरणों को प्रामाणिक माना जाये तो कहा जा सकता है कि महापद्म ने दस वर्ष से अधिक शासन नहीं किया।

नव नन्दों का उल्लेख महाबोधिवंश में इस प्रकार मिलता है—पुण्ड्र, पुण्डगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविषाणाक, दशसिद्धक, कैवर्त एवं धन। अन्तिम शासक धननंद को क्लासिकल लेखकों ने अग्रेमिज तथा तत्कालीन साहित्य में औग्रसैन्य कहा है। संभवत: उसी का व्यंग्यात्मक नाम अतुल सम्पदा के कारण धननंद रहा होगा। उसने अनेक नवीन कर लगाकर धन एकत्र कर लिया था।

तिथिक्रम—बौद्ध संघ की द्वितीय संगीति महापरिनिर्वाण के (लगभग 387 या 386 ई.पू.) सौ वर्ष पश्चात् एवं कालाशोक के शासन के दसवें वर्ष में सम्पादित हुई थी। सैंहल ग्रंथों के अनुसार कालाशोक (काकवर्ण) ने 28 वर्ष एवं उसके दस पुत्रों ने 21 वर्ष राज्य किया। कालाशोक अपने शासन के नौ वर्ष (386 या 387 ई.पू.) व्यतीत कर चुका था एवं आगे उन्नीस वर्ष अधिक शासन किया। निश्चय ही 396 या 395 ईसा पूर्व में शासन करना प्रारंभ किया होगा। कालाशोक तथा उसके पुत्रों ने मिलकर पचास वर्ष राज्य किया। अत: महापद्म द्वारा (395-50 ई.पू.) लगभग 346 या 345 ई.पू. के बाद राज्यारोहण संभव है। सैंहल गाथाओं के आधार पर नवनंदों अर्थात् महापद्म तथा उसके आठ पुत्रों ने कुल बाईस वर्ष राज्य किया। इस प्रकार नंद वर्ष 324 या 323 ई.पू. समाप्त हुआ। तद्नन्तर मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य ने शासन स्थापित किया।

13.4 सारांश (Summary)

नगरीयकरण का ही एक परिणाम यह भी था कि वाणिज्य व्यापार एवं वाणिज्यिक मार्गों का विकास, चरमोत्कर्ष कुषाण काल में देखा जाता है। व्यापारिक मार्गों की चर्चा आगे की जायेगी यहाँ यह जान लेना पर्याप्त है कि रोमन साम्राज्य से होने वाले व्यापार का काफी बड़ा भाग इन मार्गों से होकर गुजरता था। पालि ग्रंथों से ज्ञात होता है कि व्यापारी पाँच-पाँच सौ बैलगाड़ियों से माल ढोकर ले जाते थे। कश्मीर व उज्जयिनी से लाई गई अनेक वस्तुएँ भड़ोच के बन्दरगाह से पश्चिमी देशों को भेजी जाती थीं। इस प्रकार नगरीय लोगों के आर्थिक विकास में योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

13.5 शब्दकोश (Keywords)

- उत्थान (Rising up)—प्रगति
- साम्राज्यवाद (Imperialism)—साम्राज्य शाही।

नोट

13.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. नागरीयकरण का अर्थ बताते हुए इसके पृष्ठभूमि की व्याख्या कीजिए?
2. छठी शताब्दी ई.पू. के नगरों की योजना का वर्णन करते हुए इसके प्रमुख व्यवसायों को बताइए?
3. नगरीयकरण के विघटन के क्या कारण थे?
4. ईसा पूर्व छटी शताब्दी के सोलह महाजन पदों का उल्लेख कीजिए।
5. मगध साम्राज्य के उत्थान की व्याख्या कीजिए?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. पालि	2. नगर	3. मिलिंदपन्हों	4. (*a*)
5. (*c*)	6. (*a*)	7. (*b*)	8. सही
9. गलत	10. सही	11. गलत।	

13.7 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*

नोट

इकाई–14: मानचित्र (Maps)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 सिन्धु घाटी सभ्यता के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थल (Important Historical Places of Indus Valley Civilization)

14.2 अशोक का साम्राज्य (Ashoka's Empire)

14.3 गुप्त साम्राज्य का विस्तार एवं समुद्रगुप्त का साम्राज्य (Extent of Gupta Empire and Empire of Samudragupta)

14.4 प्राचीन भारत की प्रमुख नदियाँ एवं पुरास्थल (Important Rivers and Old Places of Ancient India)

14.5 सारांश (Summary)

14.6 शब्दकोश (Keywords)

14.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

14.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सिन्धु घाटी सभ्यता के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थलों की जानकारी मिलेगी।
- अशोक का साम्राज्य विस्तार को मानचित्र के माध्यम से अवगत होंगे।
- मानचित्र द्वारा समुद्रगुप्त के साम्राज्य की जानकारी प्राप्त होगी।
- गुप्त साम्राज्य के विस्तार क्षेत्र को मानचित्र पर स्पष्ट रूप से देखने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

सिन्धु घाटी की सभ्यता के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थलों में हड़प्पा, मोहन-जोदड़ो, मेहरगढ़, अमरी, सरकोटाड़ा आदि प्रमुख हैं। गान्धार, अराकोशिया, श्रावस्ती, सहसाराम, तंजौर आदि अशोक का साम्राज्य था। गुप्त साम्राज्य कश्मीर, यौधेय, पल्लव, चोल, महेन्द्रगिरि आदि तक फैला हुआ था।

नोट

14.1 सिन्धु घाटी सभ्यता के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थल (Important Historical Places of Indus Valley Civilization)

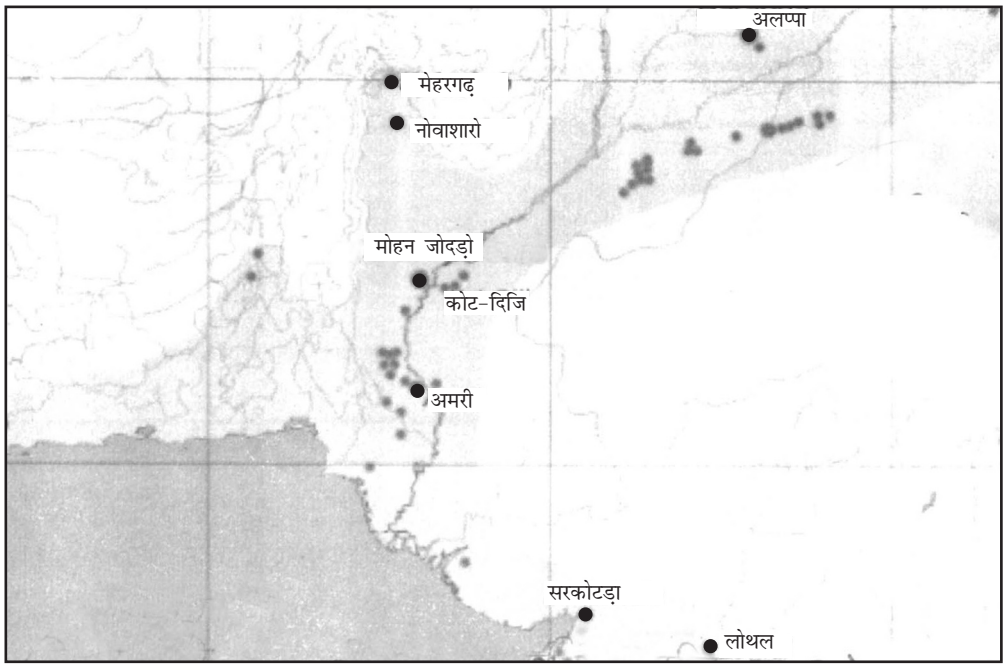

मानचित्र 1. सिन्धु घाटी सभ्यता के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थल

नोट

14.2 अशोक का साम्राज्य (Ashoka's Empire)

मानचित्र 2. अशोक का साम्राज्य

नोट

14.3 गुप्त साम्राज्य का विस्तार एवं समुद्रगुप्त का साम्राज्य (Extent of Gupta Empire and Empire of Samudragupta)

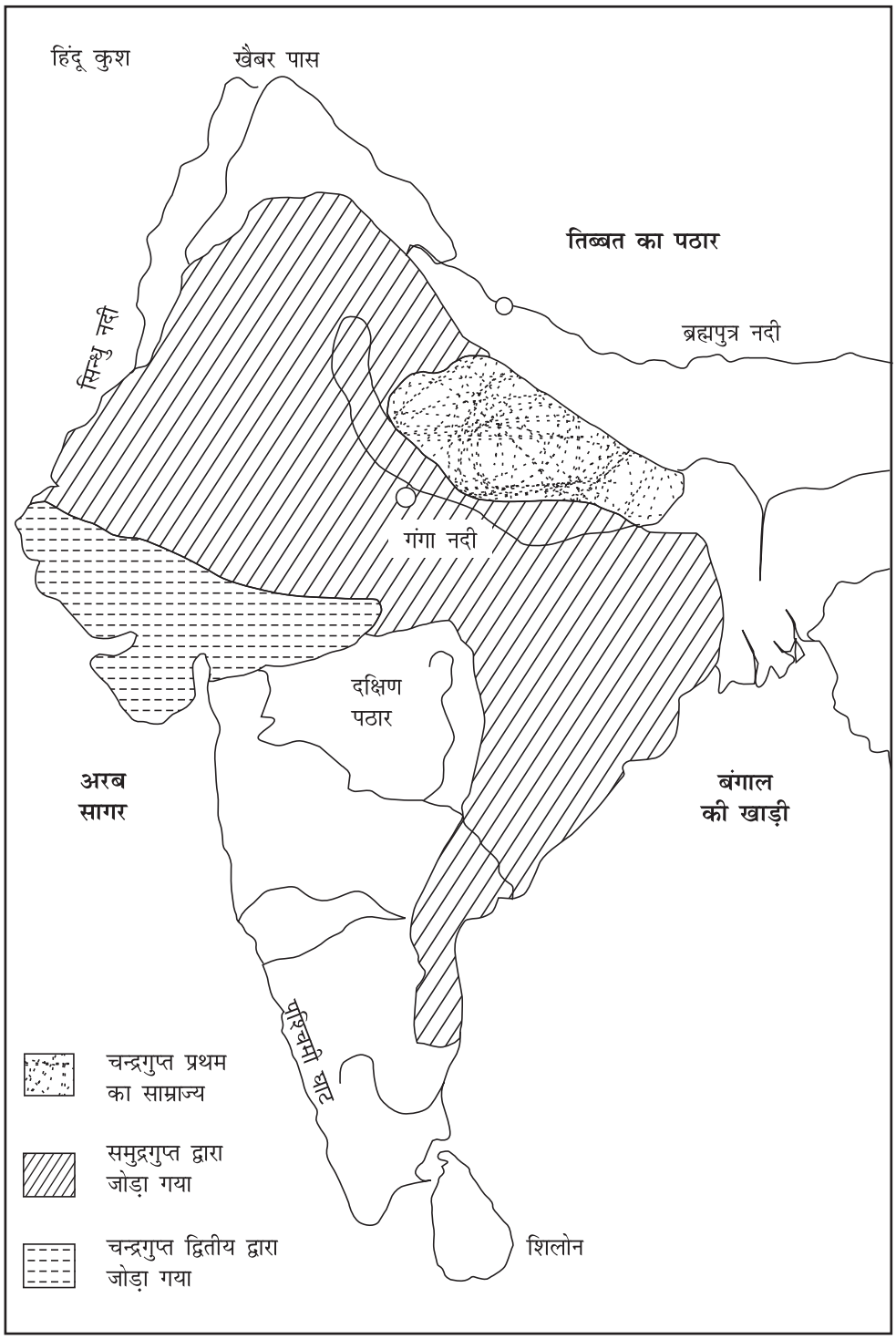

मानचित्र 3. गुप्त साम्राज्य का विस्तार एवं समुद्रगुप्त का साम्राज्य

नोट

14.4 प्राचीन भारत की प्रमुख नदियाँ एवं पुरास्थल (Important Rivers and Old Places of Ancient India)

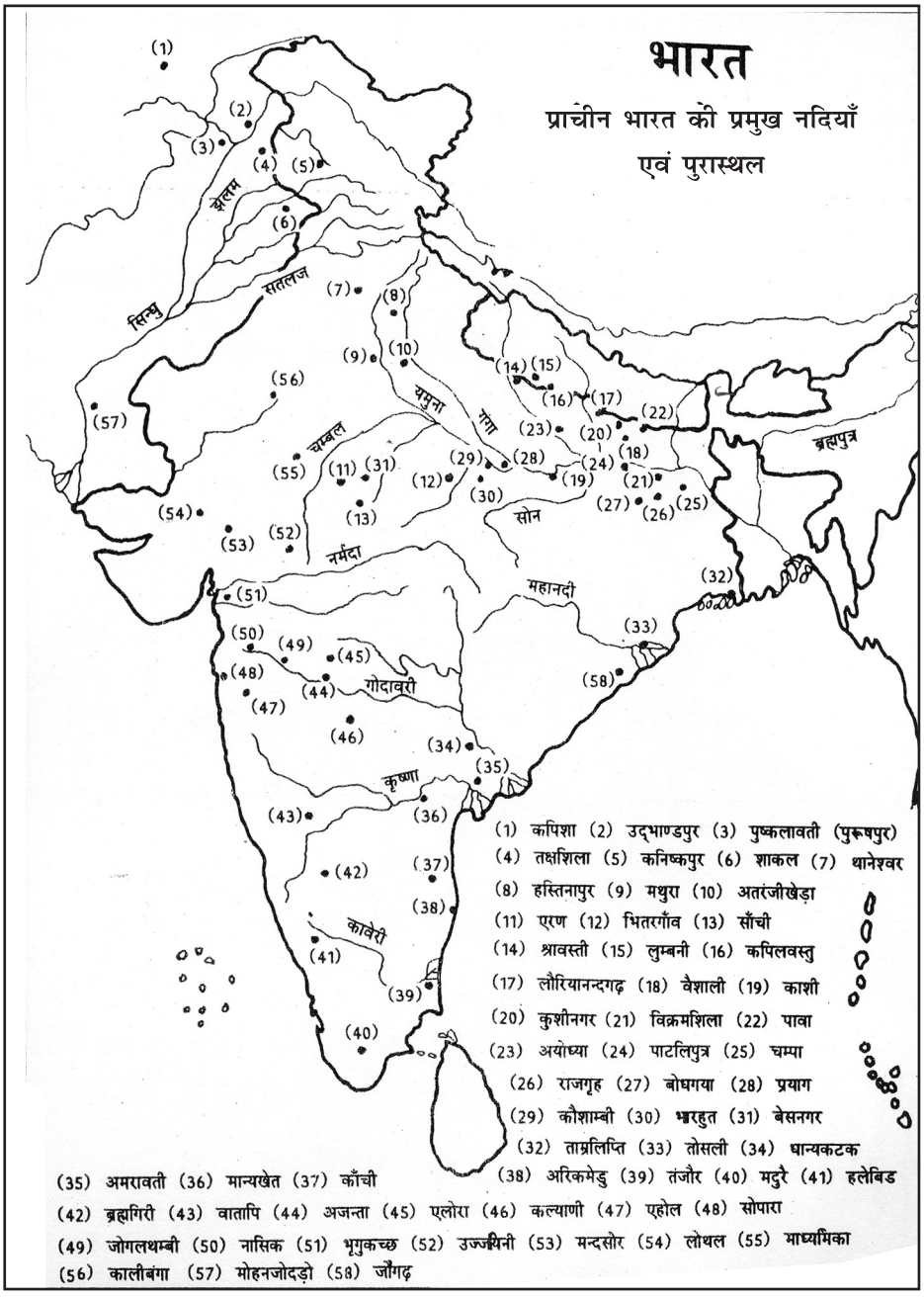

मानचित्र 5. प्राचीन भारत की प्रमुख नदियाँ एवं पुरास्थल

नोट

14.5 सारांश (Summary)

- सिन्धु घाटी की सभ्यता के प्रमुख ऐतिहासिक स्थल–हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, मेहरगढ़ आदि।
- अशोक का साम्राज्य–उज्ज्यन, गान्धार, तंजौर, पाटलिपुत्र आदि।
- गुप्त साम्राज्य–तक्षशिला, इन्द्रप्रस्थ, साँची, कौशल, बोध गया आदि।
- प्राचीन भारत की प्रमुख नदियाँ एवं पुरास्थल–झेलम, सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र, यमुना, कृष्णा, तक्षशिला, कनिष्कपुर, हस्तिनापुर, कपिलवस्तु, कौशाम्बी आदि।

14.6 शब्दकोश (Keywords)

- प्रमुख (Important) : महत्त्वपूर्ण
- ऐतिहासिक (Historical) : इतिहास से संबंधित

14.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. मानचित्र द्वारा सिन्धु घाटी सभ्यता के प्रमुख ऐतिहासिक स्थलों को दिखाएँ।
2. मानचित्र पर अशोक का साम्राज्य प्रदर्शित करें।
3. समुद्रगुप्त के साम्राज्य को मानचित्र द्वारा दिखाएँ।
4. गुप्त साम्राज्य का विस्तार क्षेत्र मानचित्र पर दर्शाएँ।
5. भारत के मानचित्र पर निम्नलिखित को दिखाएँ–
   सिन्धु, झेलम, सतलज, गंगा, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ब्रह्मपुत्र, सोन, गोदावरी।

14.8 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओम प्रकाश, न्यू एण्ड पब्लिशर्स।*
2. प्राचीन भारत का इतिहास एक नवीन दृष्टिकोण–*किट्टू रेड्डी, ज्ञान बुक्स।*
3. प्राचीन भारत का इतिहास–*शैलेन्द्र सेंगर, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।*
4. प्राचीन भारत का इतिहास–*डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा, ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. प्राचीन भारत का इतिहास–*ओम प्रकाश, ओम प्रकाश बुक्स।*

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in